द्रव्यगुणविज्ञानम्

उत्तरार्धस्य
औषधद्रव्यविज्ञानीयो नाम
द्वितीयः खण्डः

आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचितम्

प्रकाशक
शर्मा आयुर्वेद मन्दिर
दतिया ० झाँसी · वाराणसी · नागपुर

द्रव्यगुणविज्ञानम्

उत्तरार्धस्य औषधद्रव्यविज्ञानीयो नाम
द्वितीयः खण्डः

⁂

आचार्योपाह्वेन त्रिकमात्मजेन यादवशर्मणा
विरचितम्

⁂

: प्रकाशक :
श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर
दतिया ० झांसी ० वाराणसी ० नागपुर

प्रकाशक :
सुरेशकुमार शर्मा
श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर, दतिया (म. प्र.)
झांसी ० वाराणसी ० नागपुर

Vaidyaraj Zandu Bhatji
National [illegible] Library
Punjabi [illegible] Delhi-26
Call No. LX3 N86.2
Book No.
Acc. No. 000049

मूल्य Baidyanath
MAX. RETAIL PRICE INCL. OF ALL TAXES
Rs 85-00

चतुर्थ संस्करण : सं. २०४३
प्रतियाँ : ३०००
अक्टूबर : १९८६

मुद्रक :
स्वाती एण्टरप्राइज
२०, ग्रेट नाग रोड
नागपुर-९

लेखक का निवेदन

--०-०-०--

द्रव्यगुणविज्ञान का **पूर्वार्ध** (द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्मविवेचनात्मक) तथा उत्तरार्ध का **परिभाषाखण्ड** नाम का प्रथमखण्ड पहिले प्रकाशित हो चुके हैं। आज उत्तरार्ध का **औषधद्रव्यविज्ञानीय** नामक द्वितीयखण्ड पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है। इस खण्ड में उद्भिज्ज और जाङ्गम (प्राणिज) दो प्रकार के द्रव्यों का वर्णन किया गया है। पार्थिव द्रव्यों का वर्णन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिख रहा हूँ। आशा है कि उसको भी १-१। वर्ष में प्रकाशित किया जायगा। इस खण्ड को **उद्भिज्जाङ्गप्रत्यङ्गविज्ञानीय, उद्भिज्जद्रव्यविज्ञानीय और जाङ्गमद्रव्यविज्ञानीय** नाम के तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में उद्भिज्जों के अङ्गप्रत्यङ्गवाचक संज्ञाओं की व्याख्या दी गई है। उद्भिज्ज द्रव्यों के सम्यक् ज्ञान के लिये सर्व प्रथम उनके स्वरूप को जानना आवश्यक है। स्वरूप का वर्णन करते समय उद्भिज्जों के अङ्गप्रत्यङ्गों के नामों का जानना भी आवश्यक है। अतः इस अध्याय में उद्भिज्जों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के नाम और उनकी व्याख्या लिखी गई है। प्राचीन **कोशों में** उद्भिज्जों के मुख्य अङ्गों के लिये पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, परन्तु प्रत्यङ्गों के लिये विशेषतः आकृतिभेद से होनेवाले उनके भेदों के लिये पारिभाषिक शब्द नहीं मिलते। अतः उनके लिये आधुनिक उद्भिज्जशास्त्र (बॉटेनी) की सहायता से नवीन पारिभाषिक शब्द बनाने का यत्न किया है। प्रत्येक द्रव्य का वर्णन करते समय सर्व प्रथम उसके संहिताग्रन्थों में तथा आयुर्वेदीय निघण्टुओं में आये हुए मुख्य संस्कृत पर्याय (नाम), यथाशक्य उत्तर भारत में प्रचलित भिन्न भिन्न भाषाओं के नाम, यूनानी वैद्यक में प्रचलित अरबी और फारसी नाम तथा आधुनिक वैद्यक में प्रचलित लॅटिन (बॉटेनिकल) नाम दिये हैं। उसके वाद उस द्रव्य का संक्षिप्त परिचय, उपयुक्त अङ्ग और मात्रा लिखी हैं। गुण-कर्म का वर्णन करते समय चरक-सुश्रुत में गणों (वर्गों) में उनका उल्लेख कहाँ कहाँ मिलता है वह, तथा यदि चरक-सुश्रुत में उस द्रव्य के गुण-कर्म लिखे हों तो प्रथम वे और अनन्तर धन्वन्तरीय निघण्टु-राजनिघण्टु आदि निघण्टुओं से मैंने जिनको विशेष ठीक समझा वे गुण-कर्म लिखे हैं। अन्त में आधुनिक और यूनानी वैद्यकमतानुसार उस द्रव्य के गुण-कर्म लिखे हैं।

इस खण्ड में प्रायः वैद्यों के नित्य व्यवहार में आनेवाले और असंदिग्धद्रव्यों का वर्णन किया गया है। साथ में आयुर्वेद में अप्रचलित परन्तु यूनानी वैद्यक में और आधुनिक चिकित्साशास्त्र में विशेष प्रचलित बनफशाह, जूफा, सुरंजान, जुन्दबेदस्तर, डिजीटेलिस, बेलाडोना, अर्गट आदि कुछ द्रव्यों[1] का वर्णन दिया गया है।

औषधद्रव्यविज्ञानीय खण्ड में जिन ग्रन्थों की सहायता ली गई है उनके नाम और संकेत चिह्न—

अमरकोश (अ. को.)
शब्दार्थचिन्तामणि
पुरुषसूक्त
मनुस्मृति (म. स्मृ.)
सुश्रुतसंहिता की डल्लणकृत व्याख्या
राजनिघण्टु (रा. नि.)
वैजयन्तीकोश
चरकसंहिता (च.)
सुश्रुतसंहिता (सु.)
योगरत्नाकर
रसकामधेनु
रसरत्नसमुच्चय
कैयदेवनिघण्टु (कै. नि.)
वैद्यमनोरमा (वै. म.)
भारतीयभैषज्यतत्त्व (डॉ. कार्तिकचन्द्र वसु कृत)
रसेन्द्रचूडामणि (र. चू.)
रसार्णव
आयुर्वेदप्रकाश (आ. प्र.)
उद्भिज्जशास्त्र (वै. गंगाधरशास्त्री जोशीकृत)

वङ्गसेन
औषधिसंग्रह (डॉ. वा. ग. देसाई)
भावप्रकाशनिघण्टु (भा. प्र. नि.)
धन्वन्तरीय निघण्टु (ध. नि.)
काश्यपसंहिता
चक्रदत्तचिकित्सा (च. द. चि.)
गदनिग्रह (ग. नि.)
वाग्भट (अष्टाङ्गहृदय, वा.)
शार्ङ्गधरसंहिता (शा. सं.)
निघण्टुसंग्रह (नि. सं.)
राजवल्लभनिघण्टु (रा. व. नि.)
शोढलनिघण्टु (शो. नि.)
रसतरङ्गिणी (र. त.)
रसरत्नाकर–रसायनखण्ड
वनस्पतिशास्त्र (स्व. वा. जयकृष्ण इन्द्रजीकृत)
जन्तुजगत् (हिन्दुस्तानीएकेडेमीद्वारा प्रकाशित)
यूनानीद्रव्यगुणविज्ञान (वैद्य दलजीतसिंहजी कृत)

---

[1] ये द्रव्य विशेष उपयोगी हैं। यूनानी हकीम और डॉक्टर लोग चिकित्सा में उनका सफलतापूर्वक उपयोग करते हैं। वैद्यों को चाहिये कि वे भी उनके उपयोग से लाभ उठावें।

उद्भिज्जाङ्गप्रत्यङ्गवाचक नवीन शब्द बनाने में तथा कुछ संदिग्ध द्रव्यों के निर्णय करने में श्रीयुत **प्रो. बलवन्तसिंहजी ठाकुर** तथा श्रीयुत **वैद्य बापालाल जी शाहने** बहुत सहायता की है, इसलिये उनका मैं आभारी हूँ। वनस्पतियों के कश्मीरी भाषा के नाम बताने में श्रीनगर (काश्मीर) निवासी श्रीयुत **वैद्यराज पं. जीयालालजी, अयुर्वेदाचार्य पं. जानकीनाथजी हकीम** तथा **भिषगाचार्य पं. प्रेमानाथजी खजानची ने**, कुमाऊं के नाम बताने में **वैद्यराज पं. घनानन्दजी पन्त ने**, सिन्धी भाषा के नाम बताने में **आयुर्वेदाचार्य पं. नन्दलाल शर्मा ने**, मारवाडी भाषा के नाम बताने में श्रीयुत **वैद्यभूषण पं. गोवर्धन शर्मा छांगाणी ने** तथा अरबी और फारसीनाम बताने में श्रीयुत **हकीम दलजीतसिंहजी ने** जो सहायता की है उसके लिये मैं उनका आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थ के फ्रूफ देखने में मेरे प्रिय शिष्य पं. श्री रणजितराय आयुर्वेदालङ्कारने बड़ी सहायता की है, इसलिये उनको धन्यवाद देता हूँ।

डॉ. विगास स्ट्रीट, बम्बई, नं. २
ता. ९-१०-५०

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचाय

निवेदन

आपके समक्ष इस ग्रंथ की पृष्ठभूमिका का निवेदन कर रहा हूँ। गोलोकवासी यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रायः समस्त आयुर्वेद ग्रन्थों का संशोधन, परिवर्धन और सम्पादन किया। दुर्लभ ग्रन्थों को स्वयं प्रकाशित इसलिये किया कि प्रकाशकों को इनकी बिक्री का भरोसा नहीं था। स्वर्गीय पुण्यश्लोक श्री हरिप्रसन्नजी के साथ आयुर्वेद का अध्यापन भी ३० वर्ष तक कराया। गुरु परम्परा के स्थान में कालेज का पठन-पाठन प्रारम्भ हुआ तो आयुर्वेद के पाठ्य ग्रन्थों का अभाव प्रगट हुआ। इसकी पूर्ति के लिये श्री यादवजी आचार्य ने अपने शिष्यों से तथा अन्य विद्वानों से ग्रन्थ लिखाये तथा स्वयं भी आदर्श रूप से ग्रन्थ लिखे, जो आयुर्वेद कालेज में पाठ्य रूप से स्वीकृत हुए।

आचार्यजी ने किसी भी प्रकाशक से ग्रन्थ का मूल्य या रायल्टी नहीं ली, फिर भी पुनर्प्रकाशन का अधिकार अपने जिम्मे रख लिया। मैंने आपसे पूछा कि मेरे समझ में यह नहीं आता कि आप किसी भी प्रकाशक से कोई मूल्य नहीं लेते वह चाहे जितनी बार प्रकाशन करे, जैसा कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन कर रहा है। फिरभी प्रकाशन का अधिकार स्वाधीन क्यों रख लिया है? श्री यादवजी ने कहा कि मैं नहीं लेता परन्तु सन्तान का हक तो नहीं मार सकता, यह उनकी सम्पत्ति है।

श्री यादवजी के गोलोकवासी होने पर इस "द्रव्यगुण विज्ञान" का प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस से फिर नहीं हुआ। आयुर्वेद के हितैषी विद्वानों ने मेरे ऊपर बहुत दबाव डाला। आयुर्वेद छात्रों का भी आग्रह बहुत हुआ। मैं तो फिर भी तैय्यार नहीं हुआ लेकिन मेरे चतुर्थ पुत्र चि. **सुरेशकुमार शर्मा** ने श्री यादवजी की सन्तान को पांच हजार रुपया भेंट देकर प्रकाशन का अधिकार ले लिया और श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर, दतिया (मध्यप्रदेश) से इसका प्रकाशन कराके आपके सामने प्रस्तुत किया है।

बीस वर्ष पूर्व निर्णय सागर प्रेस से बारह रुपये मूल्य में यह प्रकाशन हुआ था। उस समय से वर्तमान में पुस्तकों का मूल्य तीनगुना–चौगुना हो गया है। आयुर्वेद की उन्नति की अभिलाषा से इसका मूल्य वही बारह रुपया मात्र रखकर चि. सुरेश कुमार शर्मा ने बहुत उत्तम काम किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आयुर्वेद छात्रों के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी होगा।

निवेदक,
पं० रामनारायण शर्मा वैद्य
संस्थापक तथा प्रधान निर्देशक
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा. लि.

तृतीय संस्करण–

प्रकाशकीय निवेदन

'द्रव्यगुण विज्ञानम्' (उत्तरार्द्ध) के द्वितीय संस्करण की समाप्ति के बाद अब तृतीय संस्करण विद्वान पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि प्रेमी विद्वानों द्वारा यह ग्रन्थ काफी समादृत किया गया जिसके फलस्वरूप पिछला संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो जाने से प्रस्तुत संस्करण विद्वानों के सामने उपस्थित करने का अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान समय की इस महार्घता में जबकि प्रकाशन-व्यय अधिक बढ़ गया है, पूर्वापेक्षा इस ग्रन्थ के मूल्य में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है फिर भी आयुर्वेद की प्रगति की अभिलाषा से तथा आयुर्वेद के छात्रों व प्रेमी पाठकों की उपयोगिता का समुचित ध्यान रखते हुए इसका मूल्य लागतमात्र से भी कम रखने का प्रयास किया गया है। आशा है आयुर्वेद के प्रेमियों का स्नेह पूर्ववत् बना रहेगा।

प्रकाशक
श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर
दतिया (म. प्र.)

स्वतन्त्रता दिवस
१५ अगस्त १९७८

चतुर्थ संस्करण का प्रकाशकीय निवेदन

आचार्य श्री यादवजी की अद्वितीय कृति 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' (उत्तरार्ध) पुस्तक का आयुर्वेद जगत में इतना समादर हुआ कि इसकी उपयोगिता के फलस्वरूप पुस्तक का तीसरा संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया, और विद्वान पाठकों द्वारा नये संस्करण की मांग दिन प्रति दिन होने लगी। अन्य प्रकाशनों की व्यस्तता से समयाभाव के कारण इसका अगला संस्करण शीघ्र तो निकलपाना सम्भव न हो सका परन्तु, आज ग्रन्थ का नया संस्करण (चतुर्थ संस्करण) विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करके हमें भी काफी सन्तोषानुभूति हुई है। पिछले संस्करण की अपेक्षा इस संस्करण के मूल्य में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है जो कि पुस्तक के प्रकाशनव्यय की लागत के अन्दर ही है। हमें आशा है कि विद्वद्वर्ग ग्रन्थ की उपयोगिता का पूर्ववत् समादर करके आयुर्वेद के उत्थान में हमें अपना स्नेहसहयोग प्रदान करेंगे।

विजयादशमी
संवत् २०४३
१२ अक्टूबर १९८६

प्रकाशक
श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर
दतिया (म. प्र.)

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

द्रव्य-गुण-विज्ञानम्

उत्तरार्धः

(औषधद्रव्यविज्ञानीयो नाम द्वितीय: खण्डः)

उद्भिज्जाङ्ग-प्रत्यङ्ग-विज्ञानीयो नाम प्रथमोऽध्यायः

योनिभेद से औषधद्रव्यों के भेद–

योनिभेद से औषधद्रव्य तीन प्रकार का होता है–[1] (१) औद्भिद[2], (२) प्राणिज[3] (जान्तव-जाङ्गम) और पार्थिव[4] (भौम) = "तत् पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जाङ्गमं भौममौद्भिदम् ।" (च. सू. अ. १)। इस खण्ड में प्रथम औद्भिद द्रव्यों का, पीछे प्राणिज द्रव्यों का और अन्त में पार्थिव द्रव्यों का वर्णन किया जायगा । इस अध्याय में 'उद्भिज्ज' शब्द की निरुक्ति, उद्भिज्जों के प्रधान भेद तथा उद्भिज्जों के स्वरूप का वर्णन करते समय उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों के लिये प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दी जाती है ।

'उद्भिज्ज' शब्द की निरुक्ति और पर्याय–

उद्भिदस्तरुगुल्माद्या उद्भिदुद्भिज्जमुद्भिदम् ।

(अ. को. ३ कां. विशेष्यनिघ्नवर्ग ५१ श्लो.)

'उद्भिनत्ति भुवम्' इति उद्भित्, उद्भिद् च; 'उद्भेदनमृद्भित्, ततो जायते, इति उद्भिज्जम् (क्षीरस्वामी व्याख्या) ।

वृक्ष, गुल्म, लता आदि भूमि को फोड़कर उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनको उद्भित्, उद्भिज्ज और उद्भिद्[5] कहते हैं। यह तीनों पर्याय (एकार्थवाचक नाम) हैं ।

वक्तव्य––वैदिकसाहित्य में उद्भिज्जों के लिये 'औषधि' शब्द का व्यवहार पाया जाता है (देखें पं. भगवद्दत्तजी विरचित वैदिककोष पृ. १२२–१२४) ।

---

[1] देखें इसी ग्रन्थ के पूर्वार्ध में पृ. १६-१८ प्रथम संस्करण में तथा पृ. १४-१८ द्वितीय संस्करण में। [2] Vegetable drugs-वेजिटेबल् ड्रग्स् । [3] Animal drugs-ॲनिमल् ड्रग्स् । [4] Mineral drugs–मिनरल ड्रग्स् । [5] Plant-प्लॅन्ट ।

लौकिक साहित्य में 'औषधि' शब्द का फलपाकान्त उद्भिज्जों के लिये विशेषार्थ में, तथा उद्भिज्जों के सब प्रकार के लिये सामान्यार्थ में भी व्यवहार होता है = **"औषधिः फलपाकान्ते व्रीहियवादौ, जातिमात्रविवक्षायामप्यस्य प्रयोगो भवति"** **(शब्दार्थ चिन्तामणि भा. १, पृ. ४४४)।** शार्ङ्गधराचार्यने **शार्ङ्गधर-पद्धति** के **उपवनविनोदाध्याय** (८२) म सब प्रकार के उद्भिज्जों के लिये **'पादप'** शब्द का प्रयोग किया है = **"बनस्पति-द्रुम-लता-गुल्माः पादपजातयः"**। हिन्दी भाषा में उद्भिज्जों के लिये **वनस्पति, औषधि** और **पेड़-पौधा** इन शब्दों का व्यवहार होता है।

उद्भिज्ज साशन और स्थावर वर्ग के हैं–

सृष्टि में उत्पन्न सब पदार्थों का मुख्यतः दो प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है; पहला **साशन** और **अनशन** भेद से, तथा दूसरा **स्थावर** और **जङ्गम** भेद से। इन दोनों प्रकार के वर्गीकरण का नीचे संक्षेप में वर्णन दिया जाता है.-

१. साशन और अनशन––

साशन–जो दूसरे बाह्य पदर्थों का अनशन करता है अर्थात् उन्हें खाता पीता है, बाह्यपदार्थों को खा-पीकर तथा उनको अपने शरीर में हजम करके जीवित रहता है, वढ़ता है और अपनी जाति की परंपरा कायम रखने के लिये सन्तति (अपने समान दूसरे को) उत्पन्न करता है, उसको **साशन** कहते हैं। जैसे उद्भिज्ज, पशु पक्षी, मनुष्य आदि। बाह्यपदार्थों का अनशन करना, खाये हुए पदार्थों का अन्तः क्रियाओं द्वारा सात्म्यीकरण[1] करना, बढना, सन्तति उत्पन्न करना, क्षीण होना और मरना ये सब धर्म सेवार जैसे क्षुद्र उद्भिज्ज से लेकर मनुष्य जैसे उच्च श्रेणी के प्राणीतक सब में समानरूप से देखने में आते हैं। अतः उद्भिज्ज और प्राणी दोनों साशन वर्गके अन्तर्गत हैं। इस साशन वर्ग को **सजीव**[2] **सेन्द्रिय**[3] **और** **चेतन**[4] भी कहते हैं। साशन वर्गके **उद्भिज्ज**[5] और प्राणी[6] ये दो उपवर्ग हैं।

अनशन जो अशन नहीं करते (बाह्यपदार्थों को खाते पीते नहीं), जिनमें अन्तः क्रियाओं द्वारा वाह्य पदार्थों का सात्म्यीकरण नहीं होता और जो सन्तति उत्पन्न नहीं करते, उनको **अनशन** कहते हैं। जैसे लोहा, पत्थर, मिट्टी आदि। अनशन वर्ग को **निर्जीव**[7] **निरिन्द्रिय**[8] **और** **अचेतन**[9] भी कहते हैं।

---

१. Assimilation–ऑसिमिलेशन्। २. Living-लिविंग्। ३. Organic–ओरगॅनिक। ४. Animate-ॲनिमेट्। देखें पूर्वार्ध पृ. ६-७। ५. Vegetable–वेजिटेबल्। ६. Animal– ॲनिमल्। ७. Non-living नॉन्-लिविंग्। ८. Inorganic—इनओररगॅनिक्। ९. Inanimate–इनॲनिमेट्।

इस प्रकार प्रथम वर्गीकरण के अनुसार यह सृष्टि साशन और अनशन दो वर्गों में विभक्त हुई है—"ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि" (पुरुषसूक्त मन्त्र ४)।

२. स्थावर और जङ्गम--

स्थावर[1]—जो स्वयं गति नहीं कर सकता उसको स्थावर और अचर कहते हैं। सब पार्थिव तथा कुछ अपवाद छोड़कर उद्भिज्ज स्थावर वर्ग के अन्तर्गत हैं।

जङ्गम[2]—जो स्वयं गति कर सकता है (एक स्थान से दूसरे स्थानपर जा सकता है) उसको जङ्गम और चर कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी जङ्गम वर्ग के हैं।

इस प्रकार दूसरे वर्गीकरण के अनुसार यह सृष्टि **स्थावर** और **जङ्गम** दो वर्गों में विभक्त हुई है।

ऊपर के वर्णन से विदित होगा कि—उद्भिज्ज, सृष्टि के प्रथम वर्गीकरण के अनुसार **साशन** और दूसरे वर्गीकरण के अनुसार **स्थावर** वर्ग के अन्तर्गत हैं।

उद्भिज्ज अन्तश्चेतन हैं—

उद्भिज्जों को सजीवावस्था में अन्तःसंज्ञा और सुखदुःख का ज्ञान होता है= "अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः" (मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ४५), अतः उद्भिज्ज अन्तःसंज्ञ (अन्तश्चेतन) हैं।

उद्भिज्जसृष्टि की मुख्य श्रेणियाँ—

समस्त उद्भिज्ज सृष्टि सपुष्प[3] और अपुष्प[4] इन दो मुख्य श्रेणियों (समूह) में विभक्त हुई[5] है। जिन उद्भिज्जों में पुष्प होते हैं (जैसे आम-नीम-चमेली-बड़-गूलर आदि) उनको सपुष्प कहते हैं। सपुष्प उद्भिज्जों में प्रथम पुष्प होते हैं, पुष्पों से फल होते हैं, प्रत्येक फल में एक या अधिक बीज होते हैं, इन बीजों से पुनः तत्सदृश दूसरा उद्भिज्ज उत्पन्न होता है, इस प्रकार सपुष्प उद्भिज्जों की पुनरुत्पत्ति प्रायः बीज से होती है। जिन उद्भिज्जों में पुष्प नहीं होते और पुष्प न होने से फल तथा बीज भी नहीं होते उनको अपुष्प कहते हैं। हंसराज, मयूरशिखा, सेवार आदि अपुष्प उद्भिज्ज हैं। इनकी

---

१. Stationary स्टेशनरी। २ Moving-मूविंग; Locomotive-लोकोमोटिव। ३. Phanerogams-फॅनरोगॅम्स् या Flowering plants-फ्लॉवरिंग प्लन्ट्स। ४. Cryptogams-क्रिप्टोगॅम्स् या Flowerless plants-फ्लॉवरलेस् प्लॅन्ट्स : ५. "याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः'. (ऋग्वेद् १०।९७।१५)।

पुनरुत्पत्ति प्रायः उनके पत्रादि में उत्पन्न पिष्टसम पराग से भरे हुए बीजकों से[1] होती है। सृष्टि में सपुष्प उद्भिज्जों की संख्या अधिक और अपुष्प उद्भिज्जों की संख्या अल्प है।

सपुष्प उद्भिज्जों में सन्तानोत्पत्ति अधिकांश में बीज से होती है, परन्तु कई सपुष्प उद्भिज्जों में बीज होने पर भी उनकी सन्तानोत्पत्ति बीज से न होकर ऊर्ध्वगामी काण्ड या अधोगामी काण्ड (कन्द) में लगी हुई अक्षि (आँख) से होती है। जिन उद्भिज्जों में बीज से सन्तानोत्पत्ति होती है उनको **बीजप्ररोही**[2] और जिनमें काण्ड में लगी हुई अक्षि से सन्तानोत्पत्ति होती है उनको **काण्डप्ररोही** कहते हैं। उद्भिज्जों की पुनरुत्पत्ति का विशेष वर्णन आगे पुनरुत्पत्ति के प्रकरण में किया जायगा।

सपुष्प उद्भिज्जों की उपश्रेणियाँ–

सपुष्प उद्भिज्जों में दो उपश्रेणियां हैं; -(१) आवृतबीज[3] और (२) नग्नबीज[4]। जिन उद्भिज्जों के बीज फलों से आवृत (ढके हुए) होते हैं (जैसे-अमरूद, अनार आदि में), उनको **आवृतबीज** और जिनके बीज फलों से ढके हुए नहीं किंतु खुले (नग्न) रहते हैं (जैसे–देवदार, चीड़, सरो आदि में), उनको **नग्नबीज** कहते हैं।

आवृतबीज उद्भिज्जों के विभाग–

आवृतबीज उद्भिज्जों में दो विभाग हैं; –(१) एकदल और (२) द्विदल। इन दो विभागों का वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

१. **एकदल**–इस विभाग के उद्भिज्जों के बीज के अन्दर एक ही दल[5] होता है, इसलिये इनको **एकदल**[6] कहते हैं। इनके बीजों को बोने पर अंकुरोत्पत्ति के समय अंकुर की बाजू से एक ही पत्र बाहर आता है, इसलिये इनको **एकबीजपत्र**⊞ भी कहते हैं। जो, गेहूँ, चावल आदि एकदल उद्भिज्ज हैं।

२. **द्विदल**–इस विभाग के उद्भिज्जों के बीज के ऊपर का आवरण (कवच) निकाल देने से दो दल (विभाग-दाल) देखने में आते हैं। ये दल स्वभावतः अलग होने से अंकुरोत्पत्ति के समय ऊपर का आवरण निकल जाने पर दो दल अपने आप अलग हो जाते हैं। ऐसे बीजवाले उद्भिज्जों को **द्विदल**[7] कहते हैं। द्विदल उद्भिज्ज के बीज को बोने पर अंकुरोत्पत्ति के समय प्रायः अंकुर के दोनों बाजुओं पर दो पत्र बाहर आते हैं, इसलिये उनको **द्विबीजपत्र**⊞ भी कहते हैं।

---

[1] Spores–स्पोर्स। [2]. 'उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः' (मनुस्मृति अ. १. श्लो. ४६)। [3]. Angiosperms-ऑन्जिओस्पर्म्स। [4]. Gymnosperms–जिम्नोस्पर्म्स। [5]. Cotyledons-कोटीलिडन्स [6]. Monocotyledons–मोनोकोटीलिडन्स्। [7]. Dicotyledons–डाइकोटीलिडन्स्। ⊞देखें डॉ. वा. ग. देसाईकृत औषधिसंग्रह का उपोद्घात पृ. ८।

एक दल और द्विदल उद्भिज्जों में भेददर्शक लक्षण--

अवयव	**एकदल में**	**द्विदल में**
मूल	जटा	शिफा
काण्ड	त्वक्सार	अन्तःसार
ग्रन्थि और पर्व	स्पष्ट	अस्पष्ट
पर्ण	अवृन्त और न झड़ने वाले	सवृन्त और झड़ने वाले
सिराचना	सरल (समानान्तर)	जालिनी
पुष्प के सब अवयव	तीन किंवा तद्गुणित	४,५ किंवा तद्गुणित

कुछ अपवाद छोड़कर इन लक्षणों से यह उद्भिज्ज एक दल है या द्विदल इसका निर्णय हो सकता है (यहाँ प्रयुक्त जटा, शिफा आदि पारिभाषिक संज्ञाओं की व्याख्या इसी अध्याय में आगे दी जायगी)।

उत्पत्ति और निवासस्थान के भेद से उद्भिज्जों के भेद--

उत्पन्न होने और रहने के स्थान के भेद से उद्भिज्जों के **स्थलज**, **जलज**, **वृक्षरुह** और **वृक्षादन (परोपजीवी)** ये चार भेद होते हैं। जो उद्भिज्ज स्थल (भूमि) पर उत्पन्न होते हैं (जैसे आम–नीम आदि), उनको **स्थलज**[१] कहते हैं। जो जल में या जल भरे हुए स्थान में उत्पन्न होते हैं (जैसे जलकुम्भी-कमल आदि), उनको **जलज**[२] कहते हैं। जो दूसरे वृक्ष के अन्दर अपने मूल दाखिल किये बिना ही उस पर उत्पन्न होते हैं (जैसे बंगाल की रास्ना और स्वर्णजीवन्ती), उनको **वृक्षरुह**[३] कहते हैं। जो दूसरे वृक्षपर उत्पन्न होते हैं और उसमें अपने मूल दाखिल करके उसके रस द्वारा अपना पोषण करते हैं (जैसे–अमरबेल, बाँदा आदि), उनको **वृक्षादन**[४] (परोपजीवी) कहते हैं।

आयुष्य के भेद से उद्भिज्जों के भेद--

आयुष्य के भेद से उद्भिज्जों के **एकवर्षायु** या **एकवर्षजीवी**, **द्विवर्षायु** (द्व्यत्वायु-द्व्यर्तुजीवी) और **बहुवर्षायु** या **बहुवर्षजीवी** ये तीन भेद होते हैं। जो उद्भिज्ज एक ऋतु (मौसिम) या एक वर्ष तक जीवित रहें, उनको **एकवर्षायु**[५] कहते हैं। जैसे– जौ, गेहूँ, मटर, मूंग आदि। जो उद्भिज्ज दो मौसिम (ऋतु) तक जीवित रहें (जैसे- गाजर–सलगम आदि), उनको **द्विवर्षायु**[६] कहते हैं। जो दो साल से अधिक अमर्याद समय तक जीवित रहें (जैसे–आम, बड़; देवदार आदि), उनको **बहुवर्षायु**[७] कहते हैं।

---

[१] Terrestrial plants-टेरेस्ट्रिॲल प्लॅन्ट्स। [२] Aquatic plants-ॲक्वेटिक् प्लॅन्ट्स। [३] Epiphytic plants–एपिफाईटिक् प्लॅन्ट्स्। [४] Parasitic plant–पॅरॅसाइटिक प्लॅन्ट्स। [५] Annuals–अँन्युअल्स्। [६] Biennials-बायेनिअल्स। [७] Perennials–पेरेनिअल्स्।

आकृति भेद से उद्भिज्जों के भेद–

ऊँचाई, फैलाव आदि आकार के भेद से उद्भिज्जों के **वृक्ष, क्षुप, गुल्म** और **लता** ये चार मुख्य भेद होते हैं। इन पारिभाषिक संज्ञाओं से उद्भिज्जों के स्थूल स्वरूप का सामान्य ज्ञान होता है। अतः इन पारिभाषिक संज्ञाओं की व्याख्या नीचे क्रमशः दी जाती हैं।

वृक्ष– जिन उद्भिज्जों की ऊँचाई तीन पुरुष से अधिक आठ–दश पुरुष तक हो, जिनके तलभाग में प्रायः शाखायें न निकलती हों और जिनका स्कन्ध मोटा, कठिन और काष्ठमय हो उनको सामान्यतः **वृक्ष**[1] (पेड़-दरख्त) कहते हैं। देवदार आदि वृक्ष जिनकी ऊँचाई ८–१० पुरुष से अधिक १५–२० पुरुष तक होती है, उनको **महावृक्ष**[2] (बड़ा पेड़) कहते हैं। वृक्षों के पत्र-पुष्प-फल आदि हाथ से तोड़ना हो तो उन पर चढ़कर ही तोड़े जा सकते हैं और उनके स्कन्ध तथा शाखायें उन पर चढ़ने योग्य मजबूत होते हैं। वृक्षवर्ग में पपीता आदि कई वृक्ष छोटे होते हैं, **उनको वृक्षक**[3] **(छोटा पेड़)** कहते हैं। संस्कृतभाषा में वृक्ष को, उसमें शाखायें बड़ी और अधिक लगती हैं इसलिये शाखी और इसकी लकड़ी पानी में तैरती है या इसकी लकड़ी द्वारा पानी में तैरा जाता है इसलिये तरु कहते हैं। जिस वृक्ष में फल लगते हों **उसको फलेगही** तथा **अवन्ध्य** और जिसमें फल न लगते सों उसको **वन्ध्य**, अफल तथा **अवकेशी** कहते हैं।

क्षुप- जिन उद्भिज्जों का आकार वृक्ष के जैसा हो परन्तु ऊँचाई आधे से एक पुरुषपर्यन्त हो तथा जड़ें और शाखायें छोटी हों, उनको **क्षुप** कहते हैं = "ह्रस्वशाखा शिफः क्षुपः" (अ. को. कां. २ वनौषधिवर्ग, श्लो. ८)। धमासा, चना आदि क्षुपवर्ग के हैं परन्तु उनकी ऊँचाई एक–दो फीट से अधिक नहीं होती, उनको **क्षुपक**[4] **(छोटा क्षुप)** कहते हैं।

गुल्म- जिन उद्भिज्जों में जमीन से ही एक मूल से अनेक काण्ड निकले हों उनको "**गुल्म**" (झाड़) कहते हैं = "गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः" (मनुस्मृति अ. १, श्लो. ४८ की टीका में कुल्लूकभट्ट)। धाय (धातकी) आदि गुल्म वर्ग के ही हैं परन्तु उनकी ऊँचाई एक पुरुष से कम होती है उनको, **गुल्मक**[6] (झाड़ी) कहते है। एक मूल से एक ही काण्ड निकलना यह वृक्ष का और एक मूल से अनेक काण्ड निकलना यह गुल्म का खास लक्षण है। वृक्ष, क्षुप और गुल्म के काण्ड **स्वावलम्बी** (बिना किसी के सहारे खड़े रहने वाले) होते हैं।

लता–जिन उद्भिज्जों के काण्ड नरम होनेसे स्वयं खड़े नहीं रह सकते-भूमिपर

---

[1] Tree–ट्री। [2] Tall tree टॉल् ट्री। [3] Small tree—स्मॉल ट्री। [4] Herb–हर्ब। [5] Shrub–श्रब। [6] Under shrub-अन्डर श्रब।

फैल जाते हैं या वृक्ष दीवार आदि आश्रय पाकर उनपर चढ़ जाते हैं, उनको लता कहते हैं। **प्रसर, वल्ली, आरोहिणी** और **प्रतानिनी** ये लता के चार भेद हैं। जिन में काण्ड जमीन से कुछ ऊपर बढ़नेपर उस से चारों ओर शाखायें निकलकर जमीनपर फैलती हैं और उनका फैलाव मर्यादित होता है उनको **प्रसर** कहते हैं। जैसे भटकटैया, बहुकली आदि = **"कण्टकार्यादिकाः प्रोक्ताः प्रसरा इति संज्ञिताः"** (शब्दार्थचिन्तामणि भा. १. पृ. ४४४)। जिसका काण्ड किसी वृक्ष आदि को चारों ओर से लपेट कर ऊंचे चढ़ता है उस को वल्ली[१] (बेल) कहते हैं। वल्ली के **वामावर्तिनी** और **दक्षिणावर्तिनी** ये दो भेद हैं। जो वल्ली बांई ओर से वृक्ष को लपेटकर ऊँचे चढ़ती है उस को **वामावर्तिनी** और जो दाहिनी ओर से वृक्ष को लपेटकर ऊँचे चढ़ती है उस को **दक्षिणावर्तिनी** कहते हैं। जो लता विना लपेटे ही दीवार आदि पर ऊंचे चढ़ती है (आरोहण करती है) उस को सामान्यतः **आरोहिणी**[२] कहते हैं। उस के **मूलारोहिणी**[३] **सूत्रारोहिणी**[४], **बडिशारोहिणी**[५] और **पत्रारोहिणी**[६] ये चार भेद हैं। जिन के काण्ड में थोड़े थोड़े अन्तर में पर्वसन्धि से सूक्ष्म जडें निकलें और उन के द्वारा वह दीवाल आदि को पकड़कर ऊपर चढ़े, उसको **मूलारोहिणी** कहते हैं। जिनमें काण्ड पर पत्रकोण या शाखाग्र से सूत्रसदृश सूक्ष्मतन्तु निकलें और उन के द्वारा जो दीवार आदि को पकड़कर ऊंचे चढे उनको **सूत्रारोहिणी** कहते हैं। जैसे कूष्माण्ड आदि की लतायें। कई लताओं में बडिश (मछली पकड़ने के कांटे) जैसे कांटे होते हैं, उन के द्वारा ये दीवार आदि को पकड़कर ऊँचे चढ़ती है, उनको **बडिशारोहिणी** कहते हैं। कई लताओं के पत्र का कुछ अंश स्पर्शग्राही होता है, जो दीवार आदि के संसर्ग में आते ही उसको पकड़ लेता है, इस प्रकार के पत्रोंद्वारा जो ऊंचे चढ़ती है उनको **पत्रारोहिणी** कहते हैं। जैसे कलिहारी। वल्ली और आरोहिणी लतायें यदि वृक्ष आदि का आश्रय न मिलनेपर अथवा दूर्वा जैसी लतायें जमीनपर अमर्यादरूप से फैलती जायें, तो उनको **प्रतानिनी** कहते हैं। प्राचीनों ने गुल्म और लता दोनों को वीरुध्[७] नाम दिया है।

उद्भिज्जों के अङ्ग—

जैसे प्राणियों के शरीर मे सिर,हाथ,पाँव आदि अंग होते हैं वैसे उद्भिज्जोंमें मूल, काण्ड, पत्र, पुष्प और फल ये पांच अंग (प्रधान[८] अंग) होते हैं। सामान्य भाषा में

---

[१] Twinning Plants–ट्विनिंग प्लॅन्ट्स [२] Climbing plants–क्लाइमिंग प्लॅन्टस। [३] Root climbers–रूट क्लाइमर्स। [४] Tendril climbers-टेन्ड्रिल क्लाइमर्स। [५] Hook climbers—हूक क्लाइमर्स। [६] Sensitive leaf climbers—सेन्सिटिव लीफ क्लाइमर्स। [७] "लता गुल्माश्च वीरुधः" हारीत। [८] Main ograns-मेन ओरगन्स।

इन पाँच अंगों को **वनस्पति के पंचांग** कहते हैं। इन पांच अंगों के जो अवयव होते हैं उन को **प्रत्यंग**[1] या **उपांग** कहते हैं। इन अंगों में से मूल और काण्ड ये दो अन्य अंगों का धारण करते हैं इस लिये इन दोनों को **धारक**[2] अंग कहते हैं। मूल-काण्ड और पर्ण ये तीन अंग उद्भिज्जों के लिये जमीन और वायु से आहार लेते हैं और लिये हुए आहार का रस बनाकर उसके द्वारा समग्र उद्भिज्ज का पोषण करते हैं, इसलिये उनको **पोषक**[3] **अंग** कहते हैं। पुष्प और फल सन्तानोत्पत्ति के लिये बीज तैयार करते हैं, इसलिये उन को **सन्तानोत्पादक**[4] या **जनक** अंग कहते हैं। जिन उद्भिज्जों में ये **पांचों** अंग मौजूद हों उनको **पूर्ण**[5] **उद्भिज्ज** और जिन में इन पांचों में से किसी एक या अनेक अंगों का अभाव हो, उन को **अपूर्ण**[6] उद्भिज्ज कहते हैं।

उद्भिज्जों के स्वरूप ज्ञान के लिये उन के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करना और ज्ञान संपादन करना आवश्यक है। अतः इन पाँच अंगों और उनके प्रत्यंगों का क्रमशः वर्णन किया जाता है। उद्भिज्जों की सूक्ष्म रचना और उनकी अन्तः क्रियाओं का वर्णन करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। इस विषय में जिनको जिज्ञासा हो उनको उद्भिज्जशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ ही देखने चाहिये।

मूल[7]–जड़

उद्भिज्जों के पाँचों अंगों में से प्रधानतः मूल के द्वारा उद्भिज्जों का धारण और पोषण होता है, इसलिये सब से प्रथम मूल का वर्णन किया जाता है।

'मूल' शब्द की निरुक्ति––

'मूल' प्रतिष्ठायां, धातु से 'मूलति–प्रतितिष्ठति उद्भिज्जं भूमौ अनेन, इति मूलम् = जिस से उद्भिज्ज जमीन में फैलकर स्थिर रहता है वह मूल कहलाता है' इस व्युत्पत्ति से 'मूल' शब्द बना है। जैसे मनुष्य आदि प्राणी पाद (पाँव) के आधार पर खड़े रहते हैं वैसे वृक्षादि उद्भिज्ज भी मूल के आधार पर स्थिर रहते हैं इसलिये मूल को पाद और अंघ्रि भी कहते हैं।

मूल का स्वभाव–

उद्भिज्ज के इस अंग का स्वभाव काण्ड और प्रकाश से विरुद्ध दिशा में जमीन के अन्दर जल और अन्धेरे की ओर जाने का होता है। अर्थात् मूल का स्वभाव अधोगामी होता है। बड़, केवड़े आदि के काण्ड या शाखा से जो मूल (अवरोह) निकलते हैं उनकी

---

[1] Secondary organs–सेकन्डरी ओरगन्स। [2] Supporting-सपोर्टिंग। [3] Nutritive-न्यूट्रिटिव् [4] Reproductive—रिप्रॉडक्टिव। [5] Complete plant–कम्प्लीट प्लैंन्ट्। [6] Incomplete plant–इनकम्प्लीट् प्लैंन्ट। [7] Root––रूट्।

प्रवृत्ति भी नीचे जमीन की ओर जाने की होती है। वे जब अधिक बढ़ते हैं तब जमीन में जाकर घुसते हैं[1]।

मूल का स्वरूप–

बीज को जमीन, पानी और उष्णता योग्य प्रमाण में मिलने पर उसमें अंकुर-प्ररोह उत्पन्न होता है। बीजोद्‌भेद के समय नवजात सन्तान (उद्भिज्ज) दो अंकुरों के रूप में उत्पन्न होता है। एक अंकुर नीचे की ओर जाता है उस से मूल बनता है और दूसरा अंकुर जो पहले से ही संबद्ध रहता है ऊपर की ओर जाता है जिससे काण्ड बनता है। प्रयोग के लिये मटर के २–४ बीजों को जल भरे हुए काँच के प्याले में डालकर खुले स्थान में रख दें। प्रथम मटर के ऊपर का कवच छिलका खुलकर अलग होगा। छिलका अलग होने पर उसमें दो दल (दाल) और दलों के बीच में बीजांकुर[2] (अंकुर जैसा बीज) दिखाई देगा। यह बीजांकुर एक सिरेपर मोटा और दूसरे सिरेपर पतला नोकदार होगा। मटर के बीज में जब अंकुरोद्भेद होगा तब बीजांकुर का पतला सिरा लम्बा बढ़कर जमीन में जायगा। उस को **आदिमूल**[3] (मूल का पूर्वरूप) कहना चाहिये, क्योंकि यह जमीन में जाकर आगे पूर्ण मूल के रूप में परिणत होता है। बीजांकुर का दूसरा स्थूल सिरा ऊपर की ओर बढ़कर जमीन के ऊपर आता है उसको प्ररोह[4] (काण्ड का पूर्वरूप) कहते हैं, क्योंकि यह बढ़कर आगे पूर्ण उद्भिज्ज के रूप में परिणत होता है।

मूल और काण्ड में भेद–

ऊपर के वर्णन से मूल और काण्ड का स्वरूप और इन दोनों के बीच का भेद मालुम होगा। तथापि हल्दी-अदरख बच आदि कई उद्भिज्जोंके भौमिक काण्ड जमीनके अन्दर

---

१. इस विषय में वैद्य **बापालालजी शाह** अपने उद्भिज्जशास्त्र नाम के ग्रन्थ में लिखते हैं कि—"हम भले ही इस आशा से पौधे को उलटा लटकायें कि उनके मूल ऊपर की ओर जायँ या बढ़ें, परन्तु उस स्थिति में रखनेपर भी मूल तो जमीन की ओर ही जायंगे। मूलों का यह **अधोगमनानुराग** (Geotropism–जिऑट्रोपिझम्) गुरुत्वाकर्षण के कारण होता है। जैसे मूल अधोगमनानुरागी होते हैं वैसे काण्ड और पत्र जहाँ प्रकाश हो उधर ही गमनशील होते हैं। अन्धेरे कमरे में पौधों को रखने से जिस ओर बारी-खड़की होगी उसी ओर काण्ड और पत्ते प्रकाश ग्रहण करने के लिये बढेंगे। यह **प्रकाशानुराग** (Heliotropism-हेलिओ-ट्रोपिझम) भी गुरुत्वाकर्षणमूलक ही होता है। २. वास्तव में बीज में सन्तानोत्पादक अवयव यही है, जो आगे संपूर्ण उद्भिज्ज के रूप में परिणत होता है। दाल, नवजात मूल—काण्ड आदि स्वयं अपने पोषण करने में समर्थ न हो तबतक उनके पोषण के लिये तथा छिलका बीजांकुर और दालों के रक्षण के लिये होता है। ३. Radical–रॅडिकल ४. Plumule–प्ल्युम्युल।

जाकर बढते हैं और मूल जैसे दिखते हैं, ऐसे काण्डों में मूल का भ्रम न हो इसलिये मूल और काण्ड दोनों में जो भेदक लक्षण हैं वे लिखे जाते हैं,–(१) मूल की वृद्धि भूमि की ओर होती है, परन्तु काण्ड प्रायः प्रकाश की दिशा में पृथ्वी के ऊपर बढ़ता है । (२) ताजे मूल बाहर से प्रायः सफेद रङ्ग के होते हैं, उनमें हरापन कभी नहीं होता, परन्तु काण्ड का रङ्ग प्रायः हरा या हरापन लिये हुए सफेद अथवा अन्य किसी रंग का हो सकता है । (३) काण्डपर ग्रन्थियाँ और पर्व होते हैं । ग्रन्थियों से पत्तियां निकलती रहती हैं । इन पत्तियों के पत्रकोण में अक्षियाँ होती हैं, जिनके विकास से वायवीय शाखायें उत्पन्न होती हैं । काण्ड में पर्व और ग्रन्थियाँ होने से काण्ड से निकलनेवाली शाखाओं का उत्पत्तिक्रम नियमित होता है, परन्तु मूल में पर्व और ग्रन्थियाँ न होने से उसकी शाखाओं (उपमूलों) का उत्पत्तिक्रम नियमबद्ध नहीं होता । (४) काण्डपर यदि रोम होते हैं तो काण्ड के संपूर्ण पृष्ठपर होते हैं और उन का मुख्य कार्य केवल काण्ड की रक्षा करना होता है, परन्तु मूल में रोम एक निश्चित भागपर होते हैं और उनका मुख्य कार्य पृथ्वी से क्षारमिश्रित जल का शोषण करना होता है । (५) काण्ड के अग्रभागपर शृङ्ग (अक्षि) होता है परन्तु मूल का अग्रभाग मूलकोष से ढका रहता है । इन लक्षणों पर ध्यान देने से मूल और भौमिक काण्ड में कदापि भ्रम न होगा ।

मूल के विभाग–

मूल के चार विभाग (हिस्से) होते हैं । (१) मूलकोष, (२) वर्धनशीलभाग, (३) शोषणशीलभाग और (४) शाखायुक्तभाग । **मूलकोष**[1]–मूल का अग्रभाग टोपी जैसे एक कोष (थैली) से ढका रहता है । जिसे **मूलकोष**–कहते हैं । यह कोमल वर्धनशील अग्रभाग की रक्षा करता है । यह केवड़ा और बड़ के अवरोह मूलों में आँख से देखा जा सकता हैं । जलवासी पौधों में मूलकोष नहीं होता । **वर्धनशीलभाग**[2]-यह मूलकोष के पीछे का भाग है । इस भाग के घटकसर्वदा विभक्त होकर नये घटक बनाते रहते हैं, जिस से मूल लम्बाई में बढ़ता रहता है । **शोषणशीलभाग**[4]-वर्धनशीलभाग के पीछे शोषणशीलभाग होता हैं । इस भाग में बारीक मुलायम रोम (**मूलकेश**[5]) होते हैं । ये मूल की बाहरी घटकतह के बढे हुए भाग हैं । ये मिट्टीके कणों के बीचमें प्रवेश करके वहांसे क्षारमिश्रित जलका शोषण करते हैं । **शाखायुक्तभाग**[6]–काण्ड के आधार भाग और शोषणशील भाग के बीच का शेष संपूर्ण भाग मूल का **शाखायुक्तभाग** होता है । इस भाग से प्रधान मूल के पार्श्व से

---

१. Root cap–रूट कॅप । २. Growing region--ग्रोइंग रीजन ।
३. Cells–सेल्स । ४. Absorbing region—एब्सोर्बिंग रीजन ।
५. Root hairs—रूट हेअर्स । ६. Branching region—ब्रांचिंग रीजन ।

उपमूल (मूलशाखायें) क्रमशः निकलते रहते हैं। उपमूल अन्तर्जात[१] (मूल के भीतरी तन्तुओं से निकलने वाले) होते हैं।

मूल के भेद—

प्राचीन उद्भिज्जवेत्ताओं ने स्वरूप भेद से मूल के **शिफा, जटा** और **अवरोह** ये तीन भेद माने हैं। प्रत्येक मूलभेद की संपूर्ण रचना को **मूलसंस्थान**[२] कहते हैं। इन तीनों प्रकार के मूलभेदों का नीचे क्रमशः वर्णन किया जाता है।

शिफा[3]—'शीङ्' स्वप्ने (सोना), धातु से 'शेते भूमौ इति शिफा' जैसे 'मनुष्य हाथ-पाँव रूप शाखाओं को फैलाकर सोता है, वैसे जो मूल जमीन में अपनी शाखाओं को फैलाकर सोता है (पड़ा रहता है) वह **शिफा** कहलाता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जमीन में शाखायें फैलाकर पड़े रहने वाले मूल के लिये **'शिफा'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। आम-जामुन-मटर आदि द्विदल उद्भिज्जों में शिफामूल होते हैं। द्विदल उद्भिज्जों में आदिमूल[४] बढ़कर शंकु (कीच) के आकार में जमीन में प्रायः सीधा गहरा जाता है, उसको **प्रारम्भिक मूल**[५] कहते हैं। प्रारम्भिक मूल जमीन में कुछ नीचे जानें पर उसके पार्श्व से क्रमशः गोपुच्छाकार शाखा-प्रशाखायें निकलती हैं, उनको **उपमूल**[६] कहते हैं। उपमूल जमीन में प्रायः तिरछे फैलते हैं। यदि प्रारम्भिक मूल बराबर बढ़ता रहे और मोटा होता जाय तथा उसमें पार्श्व से शाखाये निकलने पर भी वह सबसे बड़ा और प्रधान बना रहे तो उसको **प्रधानमूल**[७] कहते हैं। यदि प्रारम्भिक मूल मोटा हो परन्तु लम्बाई में छोटा रह जाय और उसके पार्श्व से सूत्रवत् पतले और लम्बे उपमूल निकलें तो उसको **सूत्रवत् शाखायुक्त प्रधान मूल**[८] कहते हैं।

जटा[९]—'जट' संघाते, धातु से **'जटा'** शब्द बना है, जिसका अर्थ 'संघात-समूह'-रूप में उत्पन्न होने वाले मूल, ऐसा होता है। गेहूं-मक्का आदि एकदल उद्भिज्जों में जमीन के समीप काण्ड के तल (आधार भाग) से प्रायः समान आकार के अनेक सूत्रवत् पतले मूल संघातरूप में निकलते हैं। ये मूल संघातरूप में निकलते हैं और देखने में जटा (शिखा) जैसे मालूम होते हैं, अतः प्राचीनों ने इनका **'जटा'** नाम रखा है।

अवरोह[१०]—'अव' उपसर्ग पूर्वक 'रुह' उद्भवे, धातु से 'अवरोहति लम्बते' इति अवरोहः, इस व्युत्पत्ति से **'अवरोह'** शब्द बनता है। जिसका 'हवा में लटकनेवाले या

---

[१] Endogenous-एन्डोजीनस। [२] Root system-रूट सिस्टम। [३] Normal root-नॉर्मल रूट। [४] Radical-रॅडिकल। [५] Primary root-प्राइमरी रूट। [६] Secondary roots-सेकन्डरी रूट्स। [७] Tap root-टॅप रूट। [८] Fibrous branching tap root-फाइब्रस ब्रांचिंग टॅप रूट। [९] Fibrous roots-फाइब्रस रूट्स। [१०] Aerial roots--एरिअल रूट्स।

आश्रय लेने वाले मूल' यह अर्थ होता है। केवड़ा, बड़, दूर्वा आदि में स्कन्ध, काण्ड या शाखाओं से जो मूल निकलते हैं उनको **अवरोह** कहते हैं। अवरोह मूल यदि स्कन्ध से निकलें (जैसे केवड़े में), तो उनको **स्कन्धोद्भव** कहते हैं। ये मूल स्कन्ध की निचली ग्रन्थियों से निकलकर तिरछे बढ़ते हुए जमीन में प्रवेश करते हैं और पौधे को सीधा खडे रहने में सहायक होते हैं इस लिये इनको **सहायकमूल**[१] भी कहते हैं। अवरोह मूल यदि काण्ड से निकलें (जैसे दूर्वा में) तो उनको **काण्डोद्भव** कहते हैं। मूलारोहिणी लताओं के काण्ड पर से छोटे छोटे अवरोह मूल निकलते हैं जो वृक्ष-दीवाल आदि के सहारे उस लता को दृढ़ता से थामे रखते (अवलम्बन देते) हैं (जैसे पोई और पान की वेल आदि में), उन्हें **अवलम्बक**[२] कहते हैं। अवरोह मूल यदि वृक्ष की शाखाओं से निकलें (जैसे बड़-पीपल आदि में) तो उनको **शाखोद्भव** कहते हैं। ये मूल काण्ड की दूर तक फैली हुई शाखाओं से निकलकर नीचे की ओर बढ़ते हैं और जमीन में पहुँच कर मोटे तथा काष्ठमय होकर फैली हुई काण्डशाखाओं को स्तम्भ-(खम्भे) के जैसा सहारा पहुँचाते हैं इसलिये इनको **स्तम्भाकार**[3] (अवरोहमूल) भी कहते हैं।

निवास स्थान के भेद से मूल के भेद---

निवास स्थान के भेद से मूलों के तीन भेद होते हैं;--(१) **भौमिक**, (२) **जलवासी**[४] और (३) **वायवीय**[५]। जो मूल प्रायः भूमि में रहते हैं उनको **भौमिक** कहते हैं; जो मूल जल में रहते हैं उनको **जलवासी** कहते हैं; और जो मूल जमीन के बाहर हवा में रहते हैं उनको **वायवीय** कहते हैं। शिफा और जटा ये दोनों मूल भौमिक तथा अवरोह मूल वायवीय हैं।

आधुनिक मत से मूल के भेद---

आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने मूल के दो प्रधान भेद माने हैं; —(१) **नियमित** और (२) **अनियमित**। जो मूल काण्ड के तल (आधार) भाग से आदि मूल से गोपुच्छाकार क्रम से निकलते हैं उन्हें **नियमित**[६] मूल कहते हैं और जो मूल ऊपर बतलाये हुए नियत स्थान से न निकलकर काण्ड के किसी भाग से (जैसे मक्का और दूर्वा में), शाखा से (जैसे बड़ आदि में) अथवा पत्र से (जैसे पथरचूर आदि में) निकलते हैं, उनको **अनियमितमूल**[७] कहते हैं।

---

१. Stilt roots-स्टिल्ट रूट्स। २. Clinging roots-क्लिंगिंग रूट्स। ३. Prop, pillar or columnar roots-प्रॉप, पिलर ऑर कॉल्युम्नर रूट्स। ४. Acquatic roots-अँक्वेटिक रूट्स। ५. Aerial roots-एरिअॅल रूट्स। ६. Normal roots-नॉर्मल रूट्स। ७. Adventitious-अॅड्वेन्टिशस रूट्स।

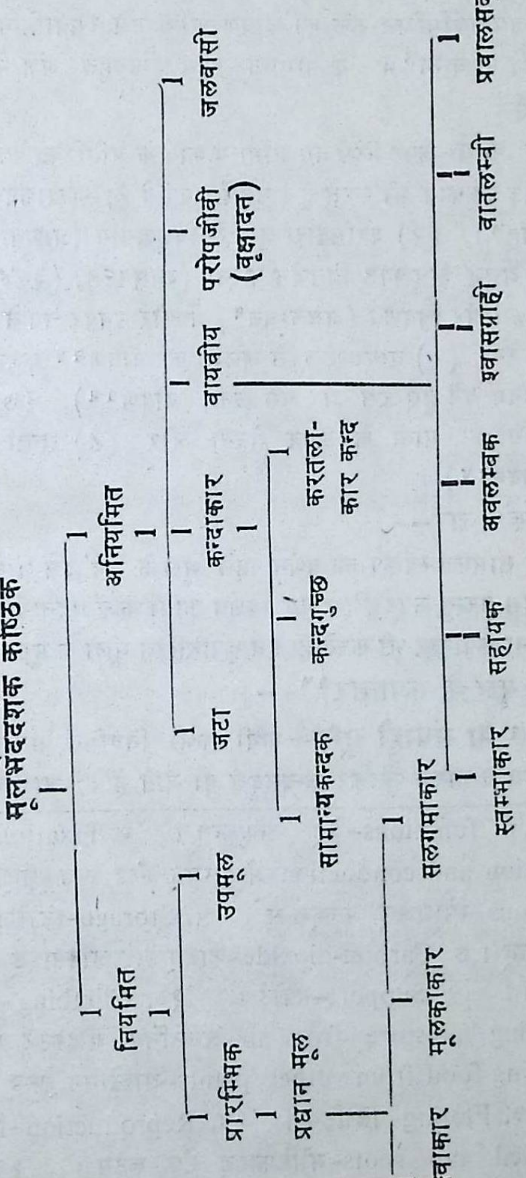
मूलभेददर्शक कोष्ठक
नियमित
प्रारम्भिक
प्रधान मूल
शंक्वाकार
मूलकाकार
सलगमाकार
उपमूल
अनियमित
जटा
कन्दाकार
सामान्यकन्दक
कन्दगुच्छ
करतलाकार कन्द
वायवीय
स्तम्भाकार
सहायक
अवलम्बक
श्वासग्राही
वातलम्बी
प्रवालसदृश
परोपजीवी (वृक्षादन)
जलवासी

मूल के कार्य––

मूल के कार्य दो प्रकार के होते हैं; (१) सामान्य और (२) विशेष।

सामान्य [1]कार्य–मूल के सामान्य कार्य दो हैं:-(१) उद्भिज्जों को हवा के झोंके और प्राणियों को रगड़ (घर्षण) से संरक्षण मिले इसलिये भूमि आदि में फैलकर दृढ़ता प्रदान करना[2], तथा (२) उद्भिजों के पोषण के लिये भूमि, जल अथवा हवा से खाद्यपदार्थमिश्रित जल का शोषण करके उसे रसवाहिनियों द्वारा समग्र उद्भिज्ज में पहुँचाना[3]। ये सामान्य कार्य थोड़ेबहुत अंश में सब प्रकार के मूल करते हैं।

विशेष[4] कार्य–ऊपर लिखे हुए सामान्य कार्य के अतिरिक्त कई प्रकार के मूल विशेष प्रकार का कार्य भी करते हैं। उनमें मुख्य ये हैं;–(खाद्यपदार्थों का संचय करना (**संग्रह[5]**), (२) श्वासद्वारा हवा से विशुद्धवायु (प्राणवायु[6]) का ग्रहण करना और अशुद्ध वायु का[7] विसर्जन करना (**श्वसन[8]**), (३-४) लताओं को वृक्ष-दीवार आदिपर चिपकने (**अवलम्बन[9]**) में और उनपर चढ़ने (**आरोहण[10]**) में सहायता देना, (५) वायुमण्डल से जलांश का शोषण[11] करना, (६) वृक्षों में घुसकर उनमें बने हुए रस को चूस लेना (चोषण[12]), (७) **संतरण[13]**–जलवासी पौधों का पानी के ऊपर तैरना और (८) सन्तति उत्पन्न करना (**सन्तानोत्पादन[14]**)।

मूल के रूपान्तर––

मूल के सामान्य स्वरूप का वर्णन पहले '**मूल के भेद**' इस शीर्षक प्रकरण में किया गया है। परन्तु ऊपर लिखे हुए विशेष कार्यों के संपादनार्थ मूल भिन्न भिन्न प्रकार से अपना रूपान्तर भी करते हैं। इन रूपान्तरित मूलों के मुख्य प्रकार ये हैं:–

नियमित मूल के रूपान्तर[15]––

संग्राहक[16] या संग्राही मूल––कभी कभी नियमित प्रधान मूल खाद्य पदार्थों के संचय के कारण फूलकर कन्दसदृश हो जाते हैं। आकार भेद से उसके

---

[1] Main functions–मेन् फन्क्शन्स्। [2] Fixation–फिक्सेशन्। [3] Absorption and conduction–अॅब्सोर्प्शन् अॅन्ड कन्डक्शन्। [4] Special functions–स्पेशिअल् फन्क्शन्स्। [5] Storage–स्टोरेज् [6] Oxygen–ऑक्सिजन्। [7] Carbon-dioxide–कार्बन् डाइ ऑक्साइड्। [8] Breathing–ब्रीदिंग्। [9] Support–सपोर्ट। [10] Climbing–क्लाईम्बिंग्। [11] Obtaining moisture from air–ओब्टेनिंग् माइस्टर फ्राम् एअर। [12] Obtaining food from other plants–ओब्टेनिंग् फुड् फ्रॉम अदर् प्लॅन्टस्। [13] Floting–फ्लोटिंग्। [14] Reproduction–रिप्रॉडक्शन्। [15] Modified tap roots–मोडिफाइड् टॅप् रूट्स्। [16] Storing roots–स्टोरिंग् रूट्स्।

तीन भेद होते हैं:—(१) **शंक्वाकार**[1], (२) **मूलकाकार**[2] और (३) **सलगमाकार**[3] । जो मूल ऊपर मोटे और अग्र की ओर क्रमशः पतले हों (जैसे गाजर में),उनको **शंक्वाकार** कहते हैं। जो मध्य में सबसे अधिक मोटे और दोनों सिरों पर क्रमशः पतले हो गये हों (जैसे मूली में), उसको **मूलकाकार** कहते हैं। जो ऊपर के सिरे पर बहुत मोटा होकर गोल हो गया हो और नीचे के सिरे पर एकाएक बहुत पतला हो (जैसे सलगम और बीट में), उसको **सलगमाकार** कहते हैं ।

अनियमित मूलों के रूपान्तर——

(१) **कन्दाकार**[4] **मूल**- जटामूल सामान्यतः पतले और सूत्रसदृश होते हैं, परन्तु किसी किसी पौधों में ये खाद्यपदार्थों के संचय के कारण मोटे, फुले हुए और मांसल हो जाते हैं। उनके (१) **सामान्यकन्द**[5], (२) **कन्दगुच्छ**[6] और (३) **करतलाकारकन्द**[7] ये तीन भेद होते हैं । जब कुछ अनियमित भौमिक मूल मांसल, मध्य में मोटे और दोनों सिरों पर क्रमशः पतले हो गये हों (जैसे शकरकन्द और रतालू में), तो उनको **सामान्यकन्द** कहते हैं। जब काण्ड के तल (आधार) भाग से बहुत से मूल निकलें और सभी मांसल तथा कन्दाकार हों (जैसे शतावरी में), तो उन्हें **कन्दगुच्छ** कहते हैं। जब मूलकन्द से कई शाखाकन्द इस प्रकार निकले हों जैसे करतल से अंगुलियाँ निकली रहती हैं (जैसे सालमपँजा में), उन्हें **करतलाकारकन्द** कहते हैं ।

(२) **वायवीयमूल**—मूल सामान्यतः जमीन के अन्दर होते हैं, परन्तु कुछ पौधों में कुछ मूल विशेष कार्यों को पूरा करने के लिये जमीन के ऊपर भी होते हैं। इनके ये भेद किये जा सकते हैं;—(१) **स्तम्भाकार या शाखोद्भव**—इनका वर्णन अवरोह मूल के भेदों में किया गया है। (२) **सहायक या स्कन्धोद्भव**—इनका वर्णन अवरोह मूल के भेदों में किया गया है। (३) **अवलम्बक**—इनका वर्णन अवरोह मूलों के भेदों में किया गया है। (४) **श्वासग्राही मूल**[8]—खारे जल में होने वाले बिना आदि पौधों की जड़ों को श्वासक्रिया (श्वसन) के लिये कीचड़ से यथेष्ट मात्रा में प्राणवायु नहीं मिलती। अतः ये मूल प्राणवायु खींचने के लिये अद्भुत-विचित्र योजना करते हैं। ये पौधे ऐसे मूल उत्पन्न करते हैं जिनके पार्श्व पर अनेक छिद्र होते हैं। ये

---

[1] Conical-कोनिकल ।
[2] Fusiform-फ्युसीफोर्म ।
[3] Napiform-नेपीफोर्म ।
[4] Tuberous-ट्यूबरस ।
[5] Simple tuberous-सिम्पल ट्यूबरस ।
[6] Fasciculated tuberous-फेंसीक्युलेटेड ट्यूबरस ।
[7] Palmated tuberous-पॅल्मेटेड ट्यूबरस ।
[8] Breathing roots-ब्रीदिंग रूट्स ।

मूल जमीन के भीतर के मूलों की शाखाओं के रूप में जमीन के ऊपर निकल कर अपने छिद्रों द्वारा वायुमण्डल से प्राणवायु ग्रहण करते हैं । (५) **वातलम्बी[1] मूल**--कई वृक्षरुह उद्भिज्ज अन्य वृक्षों पर उगते हैं, परन्तु वे उनसे किसी प्रकार का खाद्य पदार्थ नहीं लेते । कुछ छोटी छोटी जड़ों के द्वारा केवल उन वृक्षों से चिपके रहते हैं । उनसे दूसरी लम्बी जड़ें निकलकर हवा में लटकती रहती हैं । ये जडें अपने जीवननिर्वाह के लिये हवा से जल और प्राणवायु ग्रहण करती हैं तथा हरी होने से खाद्यपदार्थों का निर्माण भी कुछ न कुछ कर लेती हैं अर्थात् पत्तियों का कार्य भी कर लेती हैं । इन मूलों को **वातलम्बी मूल** कहते हैं । (६) **प्रवालसदृश[2] मूल**---साईकस नामक वृक्ष में सामान्य मूलों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के मूल जमीन के ऊपर हवा में आकर अनेक शाखाओं से वैसे ही युक्त हो जाते हैं जैसे प्रवाल पैदा करने वाले प्राणियों में शाखायें होती हैं, इसलिये इनको **प्रवालसदृश मूल** कहते हैं ।

चोषक मूल--

परोपजीवी उद्भिज्जों के मूल अन्य (आश्रयदाता) वृक्षों में घुस, उस वृक्ष की रसवाहिनियों के साथ अपनी रसवाहिनियाँ मिलाकर उसमें बने हुए रस का चूषण करते हैं, उन्हें **चोषक मूल**[3] कहते हैं ।

सन्तानोत्पादक मूल--कुछ उद्भिज्जों के मूलों पर भी अक्षियाँ निकल आती हैं । इन मूलों की कलम करके लगाने से नये पौधे तैयार किये जाते हैं । जैसे--अमरूद, नाशपाती, कैथ आदि में । ऐसे मूलों को **सन्तानोत्पादक मूल** कहते हैं ।

काण्ड (तना)

काण्ड शाखा, पर्ण, पुष्प और फल सब का आधारभूत होने से मूल के पीछे काण्ड का वर्णन किया जाता है ।

काण्ड की व्याख्या--

मूल के ऊपर से लेकर अन्तिम शाखा निकलने तक के उद्भिज्ज के अवयव को काण्ड कहते हैं । वृक्षों का जो काण्ड मोटा, मजबूत और काष्ठमय हो तथा जहाँ से शाखायें निकलनी आरम्भ होती हों वहांतक के काण्ड को **प्रकाण्ड** (प्रकृष्टःकाण्डः प्रकाण्डः) और **स्कन्ध** कहते हैं = 'अस्त्री प्रकाण्डःस्कन्धःस्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः' (अ.को.कां.२, व.४,श्लो १०)। काण्ड पर प्रथम शाखायें निकलती हैं, पीछे उन पर

---

[1] Epiphytic roots--एपिफाईटिक रूट्स । [2] Coralloid roots-कोरॅलाइड रूट्स । [3] Parasitic roots--पॅरसाइटिक रूट्स । ४. Reproductive roots- रिप्रोडक्टिव रूट्स ।

पर्ण, पुष्प और फल आते हैं। काण्ड[१] प्रायः भूमि के पृष्ठभाग पर प्रकाश की ओर बढ़ता है तथा सामान्यतः रंग में हरा होता है।

काण्ड के विभिन्न भाग——

काण्ड में जहाँ से पत्तियां निकलती हैं वह स्थान कठिन और चारों ओर से उभड़ा हुआ होता है, उसको **परुस, पर्वसन्धि** या **ग्रन्थि**[२] कहते हैं। दो ग्रन्थियों के बीच के सरल भाग को पर्व[३] कहते हैं। बाँस, गन्ने आदि त्वक्सार उद्भिज्जों के काण्ड में ग्रन्थि और पर्व स्पष्ट दिखते हैं। बड़ आम आदि अन्तःसार उद्भिज्जों के काण्ड में ऊपर ही ऊपर बनते हुए त्वचा के स्तरों से ग्रन्थियां ढक जाने से पर्व और ग्रन्थियां स्पष्ट नहीं दिखते। काण्ड और पत्ती से बने हुए कोण को **पत्रकोण**[४] कहते हैं। पत्रकोण में प्रायः एक अक्षि[५] होती है। काण्ड के या शाखा के अग्रपर भी अक्षि होती है। अक्षि का आगे स्वतन्त्र वर्णन किया जायगा।

काण्ड के कार्य——

काण्ड के कार्य दो प्रकार के होते हैं;—(१) **सामान्य कार्य** और (२) **विशेष कार्य**।

सामान्य कार्य--(१) पत्तियों को इस प्रकार स्थान देना कि जिस से उनको सूर्य का प्रकाश और हवा अच्छीतरह मिल सके। (२) भूमि से मूलद्वारा शोषित क्षारमिश्रित जल को रसवाहिनियों द्वारा ऊपर ले जाकर समग्र उद्भिज्ज में पहुँचाना और ऊपर पत्तियों द्वारा बने हुए खाद्यपदार्थों को अभीष्ट भागों में पहुँचाना।

विशेष कार्य—(१) **संचय**--बहुत से पौधे अनुकूल ऋतु में बने हुए और खर्च से बचे हुए खाद्य पदार्थों को भविष्य के लिये संचय कर के रखते हैं जो उन को प्रतिकूल समय में जीवननिर्वाह के लिये काम में आता है। (२) **अवलम्बन**-आरोही लतायें अपने दुर्बल काण्ड के कारण उँचे आश्रय स्थानपर चढ़ने में असमर्थ होती हैं। ऐसे काण्ड विशेष प्रकार के अवयवों (तन्तु, काँटे, आदि) को उत्पन्न कर के उनकी सहायता (अवलम्बन) से आश्रय स्थानपर चढ़ते हैं। (३) **संरक्षण**—कुछ काण्ड अत्यधिक जलत्याग और प्राणियों से बचने के लिये कण्टकीभूत शाखायें उत्पन्न करते हैं। (४) **खाद्यपदार्थों का निर्माण**--पत्राभास काण्ड पत्तियों की तरह चिपटे और हरे होकर खाद्यपदार्थ भी बनाते हैं। (५) **शोषण**--जलमग्न काण्ड सामान्य जड़ों की तरह जल तथा उस में घुले हुए पदार्थों का शोषण करते हैं। (६) **सन्तानोत्पत्ति**-- कुछ पौधों के अक्षिसमेत काटे हुए काण्ड से और अक्षिवाले भौमिक काण्डों से बिना बीज के नवीन पौधे तैयार किये जाते हैं।

---

[१] Stem स्टेम। [२] Node-नोड। [३] Inter node-इन्टर नोड। [४] Axil-अक्सिल। [५] Bud बड।

काण्ड के आकार--

काण्ड के आकार अनेक प्रकार के होते हैं; (१) गोल[1], (२) अर्धगोल, (३) त्रिकोण[2] (त्रिधारा), (४) चतुष्कोण[3] (चतुर्धार), (५) चिपटा[4] (६) नलाकार[5] (भीतर से पोला), (७) शाखारहित[6] (जैसे मक्का, ताड आदि में)।

काण्ड का पृष्ठ[7]—

काण्ड का पृष्ठ चार प्रकारका होता है;--(१) मसृण[8] (चिकना-रोमरहित); (२) रोमश[9] (मृदु-मुलायम रोयेंदार); (३) कर्कश या खर (सख्त रोयेंदार) और (४) कण्टकी[10] (कांटेदार)। कण्टकी काण्ड के मृदुकण्टकी, तीक्ष्ण कण्टकी और दृढकण्टकी ये तीन उपभेद होते हैं।

काण्ड के प्रकार–

सब प्रकार के काण्ड मुख्य दो भेदों में विभक्त किये जाते हैं-(१) वायवीय[11] और (२) भौमिक[12]।

वायवीय काण्ड--ये जमीन के ऊपर बढ़ते हैं और उन के सब भागों को वायु तथा प्रकाश मिलता है। ये **स्वावलम्बी**[13] (कठिन) और **परावलम्बी**[14] (मृदु-दुर्बल) दो प्रकार के होते हैं। **स्वावलम्बी**—ये कठिन होने से बिना किसी के सहारे वायु तथा प्रकाश में खड़े रहते हैं। वृक्ष, गुल्म और क्षुप के काण्ड स्वावलम्बी होते हैं। **परावलम्बी**--ये प्रायः पतले, लम्बे और दुर्बल होने से अपने को खड़े रखने में असमर्थ होते हैं। ये या तो जमीनपर फैलते हैं(विसर्पी) या वृक्षादि का सहारा पाकर ऊपर चढ़ जाते हैं (आरोही)। इनके प्रसर, वल्ली आरोहिणी और प्रतानिनी ये चार भेद होते हैं; जिनका वर्णन पहले पृ. ७ पर किया गया है।

भौमिक काण्ड[15] -काण्ड स्वभावतः प्रायः मूल की विरुद्धदिशा में जमीन के ऊपर प्रकाश की ओर हवा में बढ़ता है अर्थात काण्ड प्रायः ऊर्ध्वगामी–ऊर्ध्ववर्धिष्णु होता है। परन्तु कुछ काण्ड नीचे जमीन में जाकर बढ़ते हैं अर्थात अधोगामी-अधोवर्धिष्णु होतेहैं। ऐसे काण्डों को भौमिक काण्ड कहते हैं। भौमिक काण्ड

---

१. Rounded–राउन्डेड। २. Triangular-ट्राएन्ग्युलर। ३. Square—स्केअर। ४. Flattend - फ्लैटन्ड। ५. Fistular फिस्च्युलर। ६. Caudex कॉडेक्स। ७. Surface of stem सर्फेस ऑफ स्टेम। ८ Glabrous—ग्लेब्रस। ९. Hairy—हेअरी। १०. Thorny—थोर्नी। ११. Aerial—एरिअल। १२. Subterranean–सबटेरॉनिअन। १३. Erect Stems–इरेक्ट स्टेम्स। १४. Weak Stems-वीक स्टेम्स। १५. Subterranean Stem–सबटेरानिअॅन स्टेम।

और मूल के बीच के भेदक लक्षणों का वर्णन पीछे मूल के प्रकरण में पृ० १० पर किया गया है। भौमिक काण्ड स्थूल, मांसल; रसदार तथा मेदे (स्टार्च) और शर्करासदृश खाद्यपदार्थो से परिपूर्ण होते हैं। भौमिक काण्डों का मुख्य कार्य—(१) खाद्यपदार्थों का संग्रह करके रखना, जिससे प्रतिकूल ऋतु में उस खाद्यसामग्री से पौधे के जीवन की रक्षा हो तथा (२) प्रजननावयवों के बिना भी सन्तति उत्पन्न करना है। भौतिक काण्ड जमीन के नीचे कुछ गहराईपर कन्द के रूप में रहते हैं और इन के ऊपर वायवीय शाखायें निकलती हैं। भौमिक काण्ड के भेदों का वर्णन आगे रूपान्तरित भौमिक काण्ड के प्रकरण में किया जायगा।

अक्षि[1] –

काण्ड का सिरा, पत्रकोण,मूल,कन्द,पत्र आदि से जो नये पौधे उत्पन्न करने वाले अंकुर उत्पन्न होते हैं उन को अक्षि (आंख) कहते हैं। अक्षि में पर्व, ग्रन्थि और पत्तियाँ कत्र खूब दबकर रही हुई होती हैं। अक्षियां तीन प्रकार की होती है।(१)काण्ड या शाखा के अग्रभागपर अक्षियां निकलती हैं। ये प्रायः वल्कपत्रों या पुंखपत्रों से ढंकी रहती हैं। इन को **शुङ्ग**[2] या **अन्तिमांकुर** कहते हैं। जैसे बड़, पीपल आदि में। (२) पत्रकोण से अक्षियां निकलती हैं। इनको पत्रकोणोद्भव[3] अक्षि कहते हैं (३) काण्ड या शाखा के अग्र और पत्र कोण के अतिरिक्त पौधे के अन्य स्थानों पर भी अक्षियां निकलती हैं, उनको अनियमित[4] अक्षि कहते हैं। अनियमित अक्षियों के चार भद होते हैं;—(१) कुछ वृक्षों में उनके पुराने स्कंन्धपर अक्षियां निकलती हैं (जैसे कटहल में,) उन को स्कन्धोद्भव कहते हैं। (२) काण्ड के कटे हुए भाग के समीप उस के चारों ओर नवीन शाखाओं की उत्पत्ति के लिये अक्षियां उत्पन्न हो जाती हैं (जैसे सहिजन–नींम आदि में), उनको काण्डोद्भव कहते हैं। (३) किसी किसी पौधे के मूलपर भी अक्षियां उत्पन्न होती हैं (जैसे कैथ,अमरूद आदि में), उनको मूलोद्भव कहते हैं। (४) पत्थरचूर आदि की पत्तियोंपर अक्षियां उत्पन्न होती हैं, उन को पत्रोद्भव कहते हैं। (५)कुछ पौधों में पत्रकोणोद्भव अक्षि के अतिरिक्त एक या दो और अक्षियां होती है, जो एक दूसरे के पार्श्व में या ऊपर-नीचे होती है,इन्हें अतिरिक्त[5]अक्षि कहते हैं। अक्षियां एक प्रकार के सजीव अंकुर हैं "अक्षीणि पर्वसन्धिषु प्ररोहजननसमर्था अंकुराः" (ड.सु.सू.अ, ४५. श्लो. १५६) इनसे नई शाखा या नया पौधा उत्पन्न होता है। मांसल अक्षि[6]–यह पत्रकोण से निकलनेवाली मांसल अक्षि है जो जनक पौधे से अलग होकर नया पौधा तैयार कर सकती है। जैसे लहसुन, वाराहीकन्द की लता, अनानास आदि में। यह काण्ड के रूपान्तररूप होती है।

Buds—बड्स। २. Terminal Buds—टर्मिनल बड्स। Axiliary-Buds-ॲक्सिलरी बड्स। ४. -Adventitious buds-ॲडवेन्टिसस बड्स। ५. Accessory Buds—ॲक्सेसरी बड्स। ६. Bulbil—बल्बिल

शाखोद्भव[1]--

काण्ड से जो शाखाओं का उद्भव (निकलना) होता है उस को शाखोद्भव कहते हैं। शाखोद्भव दो प्रकार का होता है;—(१) **पार्श्विक**[2] और (३) **अग्रच या द्विविभक्त**[3]। **पार्श्विक**—जब काण्ड के पार्श्वभाग से शाखायें निकलती हैं तब उस को **पार्श्विक शाखोद्भव** कहते हैं। पार्श्विक शाखोद्भव के दो प्रकार होते हैं;--(१) **अपरिमित**[4] **या अकुण्ठिताग्र** और (२) **परिमित या कुण्ठिताग्र**[5]। जब शृङ्ग के द्वारा मुख्य काण्ड अपरिमित (अकुण्ठित) रूप से बिना रुकावट के ऊंचा बढ़ता जाता है और उस के पार्श्वभाग से गोपुच्छाकार क्रम से शाखायें निकलती रहती हैं (जैसे देवदार–चीड़ आदि में), तो उस को **अपरिमित शाखोद्भव** कहते हैं। जब मुख्य काण्ड के कुछ बढ़ने के बाद उस की वृद्धि रुक जाती है (कुण्ठित होती है) और बाजू से शाखायें फूटती हैं, शाखायें भी कुछ बढ़कर रुक जाती हैं और उन पर प्रशाखायें निकलती हैं (जैसे करौंदा, गुल अब्बास आदि में), तब उसको **परिमित या कुण्ठिताग्र शाखोद्भव** कहते हैं। **अग्रच या द्विविभक्त शाखोद्भव**--जब काण्ड के सिरे की अक्षि (शृङ्ग) के दो भाग होकर दो शाखायें उत्पन्न होती हैं तब उसको **अग्रच या द्विविभक्त शाखोद्भव** कहते हैं।

काण्ड के रूपान्तर--

काण्ड कई विशेष कार्यों के संपादन करने के लिये अपने को रूपान्तरित कर लेता है,काण्ड के रूपान्तर के मुख्य दो भेद होते हैं?-(१) **वायवीय रूपान्तर** और (२) **भौतिक रूपान्तर**।

काण्ड के वायवीय रूपान्तर[6]--ये मुख्य पाँच प्रकार के होते हैं;--(१) **मूलिनी शाखा**, (२) **प्ररोहिणी शाखा** (३) **पत्राभास काण्ड**, (४) **कण्टकीभूत काण्ड** और (५) **सूत्रीभूत काण्ड**। इन पाँचों का वर्णन क्रमशः नीचे किया जाता है।

मूलिनी शाखा—इसके (१) **दीर्घमूलिनी**, (२)—**ह्रस्वमूलिनी** और (३) **नतमूलिनी** ये तीन भेद होते हैं। **दीर्घमूलिनी**[7]--यह पतली लम्बी जमीनपर फैलनेवाली शाखा है जो जमीनपर कुछ दूरतक फैल, जड़े पैदाकर, उन्हें

---

(१)Branching–ब्रांचिग। २. Lateral Branching लेटरल ब्रांचिग। ३. Terminal or Dichotomous–टर्मिनल ऑर डाइकोटोमस। ४. Racemose, Indefinite or Monopodial–रासिमोस, इन्डोफिनिट ऑर मोनोपोडिअल। ५. Cymose, Difintite or Sympodial–साइमोस, डेफिनिट ऑर सिम्पोडिअल ६. Aerial Modifications of Stems–एरिअल मोडिफिकेशन्स ऑब स्टेम्स। (७) Runner–रनर।

जमीन में स्थापित कर, एक नये पौधे के रूप में ऊपर बढ़ जाती हैं; जैसे ब्राह्मी में। **ह्रस्वमूलिनी**[1]--यह दीर्घमूलिनी जैसीही होती है परन्तु उसका काण्ड छोटा तथा मोटा होता है और उस पर पत्तियों का गुच्छा होता है; जैसे जलकुंभी में। **नतमूलिनी**[2]--यह एक पतली लम्बी शाखा है जो किसी पत्ती के पत्रकोण से निकलकर पहले ऊपर की ओर बढ़ती है और फिर नीचे की ओर झुककर बढ़ने लगती है। जब जमीन तक पहुँचती है तो इससे जड़ें निकलकर जमीन में चली जाती हैं और उनसे वहां नया पौधा तैयार होता है; जैसे पिपरमेन्ट में।

प्ररोहिणी[3] **शाखा**--यह भौतिक काण्ड से निकली हुई शाखा है जो जमीन में कुछ दूर तक बढ़ने के बाद बाहर निकल आती है और उससे नया पौधा तैयार हो जाता है; जैसे पुदीना और गुलाब में।

पत्राभास काण्ड[4]--यह एक हरा चिपटा काण्ड या शाखा है जो देखने में पत्राकार होता है और पत्र के सामान्य कार्य को भी सम्पन्न करता है। इस पर पत्तियाँ बहुत छोटी होती हैं या कोमल काँटों में रूपान्तरित होती हैं अथवा कभी कभी उनका सर्वथा अभाव रहता है। पत्राभास काण्ड प्राय: शुष्क भूमि में पाये जाते हैं, जहाँ जमीन में जल की मात्रा कम होती है। अत: इनमें जलत्याग रोकने के लिए पत्तियों की उत्पत्ति कम या नहीं होती है, जैसे नागफनी, थूहर में। शतावरी में सूई की तरह पतले, लम्बे, नोकीले तथा एक पर्व वाले पत्राभास काण्ड होते हैं, उनको सूच्याकर कहते हैं।

कण्टकीभूतकाण्ड-प्राणियों से पौधों की रक्षा करने और पत्रोत्पत्ति बन्द करके जलत्याग रोकने के लिये काण्ड काँटों में रूपान्तरित होते हैं। काँटों के तीन भेद होते हैं;--(१) **शाखोद्भव**[5] (२) **पत्रोद्भव**[6] और (३) **उभयोद्भव**[7]। **शाखोद्भव**—ये काँटे कठिन और तीक्ष्णाग्र होते हैं। ये रूपान्तरित शाखायें हैं। क्योंकि ये शाखा के जैसे पत्रकोण से निकलते हैं, अन्तर्जात होते हैं, आन्तरिक रचना में काण्ड की रचना के समान होते हैं इन पर कई बार पत्र और पुष्प निकलते हैं और कई बार इन से प्रशाखायें (अन्य काँटे) भी निकलती है। **पर्णोद्भव**-ये पर्ण या पर्ण का कोई अवयव रूपान्तरित होकर बनते हैं। ये तीक्ष्णाग्र और बहिर्जात होते हैं (अर्थात् इनका संबन्ध काण्ड के ऊपरी भाग से होता है), पत्तियों के क्षेत्रफल (स्थान) को कम करके जलत्याग को कमकर देना और प्राणियों से पौधे की रक्षा करना इनका मुख्य कार्य है; जैसे नागफनी थूहर में। ये काँटे पत्र के पृष्ठ पर, किनार-धार-पर या दोनों होते हैं। थूहर और कीकर में उपपत्र तथा दारुहल्दी में मुख्य काण्ड के

---

[1] Stolon-स्टोलोन। [2] Offset-ऑफ्सेट। [3] Sucker-सकर। [4] Phylloclade-फाइलोक्लेड। [5] Thorns-थोर्न्स। [6] Spines-स्पाइन्स। [7] Prickles-प्रिकल्स।

समग्र पत्र काँटों में रूपान्तरित होते हैं । **उभयोद्भव**–ये सख्त, तीक्ष्णाग्र पत्रोद्भव काँटों से छोटे और प्रायः टेढे होते हैं। ये काण्ड या पत्रादि पर अनियमित रूप से निकलते हैं और बहिर्जात होते हैं। इनको बगल से दबाने से ये आसानी से अलग हो जाते हैं। इनको न तो काण्ड के और न तो पत्र के रूपान्तर कहा जा सकता है, किन्तु इन्हें काण्डादि के **बहिरुद्भेद**[1] कह सकते हैं।

तन्तुभूत काण्ड[2]–ये पतले तार या सूत की तरह होते हैं, इनमें पत्तियां नहीं होतीं। ये तार की तरह लिपटे हुए और स्पर्शग्राही होते हैं, जिससे किसी सहारे को स्पर्श करते ही उसे लपेटकर पौधे को उस पर चढ़ने में सहायता करते हैं। जैसे रक्त कूष्माण्ड (काशीफल), अंगूर आदि सूत्रारोहिणी लताओं में।

काण्ड के भौमिक रूपान्तर––

भौमिक काण्ड का सामान्य वर्णन पीछे पृष्ठ १८-१९ पर किया गया है। यहाँ रूपान्तरित भौमिक काण्ड के भेदों का वर्णन किया जाता है। भौमिक काण्ड को सामान्यतः कन्द और शास्त्रीय परिभाषा में **काण्डकन्द** कहते हैं। काण्डकन्द के चार भेद होते हैं;—(१) **अनियताकार कन्द**[3], (२) **गोलाकार कन्द**[4], (३) **वज्रकन्द**[5] और (४) **वल्कीकन्द**[6]। **अनियताकार कन्द**—यह पुष्ट, मोटा और मांसल भौमिक काण्ड है जिसमें मेदे (स्टार्च) के रूप में खाद्यपदार्थ भरा रहता है। यह सामान्यतः जमीन के अन्दर अनेक शाखाकन्दों में फैलकर पड़ा रहता है। इनमें ग्रन्थि, पर्व, वल्कपत्र और अक्षियां होती हैं। इससे वायवीय शाखायें जमीन के ऊपर निकलती रहती हैं और नीचे पृष्ठ से अनियमित रूप में जड़ें निकलती रहती हैं; जैसे अदरक और हल्दी। अनियताकार कन्द प्रायः बहुशाखी होते हैं, परन्तु कभी कभी एकशाखी भी होते हैं; जैसे जंगली अरवी में। **गोलाकारकन्द**—भौमिक काण्ड या शाखा के भेद के रूप में संचित खाद्य-पदार्थ के कारण फूले हुए मांसल तथा गोल अग्रभाग को गोलाकार कन्द कहते हैं। इसके पृष्ठ पर अनेक छोटे छोटे खड्ढे होते हैं जिनमें छोटी छोटी अक्षियाँ (आँखें) होती हैं, प्रत्येक अक्षि से एक स्वतन्त्र पौधा तैयार हो सकता है। जैसे आलू, कसेरू, कमल के कन्द आदि। **वज्रकन्द**—यह कन्द में बड़ा, मांसल-फूला हुआ, आकार में प्रायः गोल और मेदे सदृश खाद्यद्रव्य से प्रचुर मात्रा में भरा रहता है। इस पर आँखें और आधारभाग में अनियमित मूल भी होते हैं; जैसे सूरण। **वल्कीकन्द**—इसमें भोज्य पदार्थों का संचय वल्कपत्रों में रहता है और वास्तविक काण्ड बहुत छोटा रहता है, जो मोटे तथा मांसल वल्कपत्रों से पूर्णतः ढका रहता है; जैसे प्याज। वल्कीकन्द को **पत्रमयकन्द** भी कहते हैं।

---

[1] Out—growth—आउट ग्रोथ। [2] Stem—tendril—स्टेम टेन्ड्रिल।
[3] Rhizome-राइझोम। [4] Tuber—ट्यूबर। [5] Corm कोर्म।
[6] Bulb—बल्ब।

पर्ण[1]–पत्ता

'पर्ण शब्द की निरुक्ति–

'पर्ण' शब्द 'पर्ण' हरितभावे, 'पृ' पालनपूरणयोः, अथवा 'पृण' प्रीणने, इन धातुओं से पर्णयतीति पर्णं = जो स्वयं हरा होकर उद्भिज्ज में हरापन लाता है, 'पितर्तीति पर्ण = जो उद्भिज्ज का पालन और पोषण करता है, अथवा पृणतीति पर्णं = जो उद्भिज्ज का प्रीणन-तर्पण करता है, वह पर्ण कहलाता है; इन तीनों में से किसी एक व्युत्पत्ति से बनता है। इन व्युत्पत्तियों से स्वयं हरा होना, उद्भिज्ज में हरापन लाना और खाद्यसामग्री उत्पन्न करके उद्भिज्ज का पालन, पोषण, और तर्पण करना ये पर्ण के गुण-कर्म व्यक्त होते हैं। उद्भिज्ज के सब अंगों में पत्ते में ये गुण-कर्म प्रधानतया वर्तमान होने से उसको पर्ण नाम दिया गया है। उद्भिज्ज के सब अंगों में पत्तियां उत्पन्न होकर शीघ्र गिर जाती हैं, इस लिये उनको पत्र भी कहते हैं = **पततीति पत्रम्**। आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने 'काण्ड या शाखा से निकला हुआ पार्श्विक प्रवर्धन जिसके पत्रकोण में अक्ष उत्पन्न होती है उसको पत्र कहना चाहिये, यह पत्र का सामान्य लक्षण लिखा है।

पत्र के कार्य——

पत्र के सामान्य कार्य–(१) प्रकाश की सहायता से खाद्यपदार्थों का निर्माण[2] करना, (२) विशुद्ध वायु लेना और अशुद्ध वायु को बाहर निकालना।[3] (श्वसन), तथा (३) मूल के द्वारा शोषित और आवश्यकता से अधिक जल का भाप के रूप में बाहर निकालना (जलत्याग[4]) ये तीन हैं। पत्तियों के विशेष कार्य और उनके सम्पादनार्थ पत्तियों के रूपान्तरित होने का वर्णन इस प्रकरण के अन्त में किया जायगा।

पर्ण के भेद

आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने पर्ण के (१) **बीजपत्र**, (२) **वास्तवपर्ण**, (३) **वल्कपत्र**; (४) **उपपत्र** (पुङ्खपत्र) (५) **पुष्पच्छद** और (६) **सबीजक पत्र** ये छः भेद माने हैं।

बीजपत्र[5]-बीज के अन्दर एक, दो अथवा कहीं दो से अधिक दल (विभाग-दाल) होते हैं, जो बीजोद्भेद के बाद पौधे की सर्व प्रथम निकली हुई पत्तियों के रूप में प्रायः बाहर आते हैं जो उनको **बीजपत्र** कहते हैं।

वास्तवपर्ण[6]–उद्भिज्जों की सामान्य हरी पत्तियों को **वास्तवपर्ण** या **प्रामाणिक**

---

[1] Leaf-लीफ। [2] Photosynthesis or Carbon assimilation—फोटोसिन्थिसिस ऑर कार्बन ॲसिमिलेशन। [3] Respiration or breathing-रेस्पिरेशन ऑर ब्रीथिंग। [4] Transpiration ट्रान्स्पिरेशन।

[5] Seed--leaves or cotyledons—सीडलीव्ज ऑर कोटीलीडन्स।

[6] Foliage–Leaves-फोलिएज लीव्ज।

पत्र (सच्ची पत्तियाँ) कहते हैं । इनके लिये केवल पर्ण या पत्र शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

वल्कपत्र[1]—मगर या मछली की पीठपर जो त्वचा होती है उसको वल्क कहते हैं । जैसे वल्क में एक के ऊपर एक कई परत होते हैं वैसे इस पत्र में एक के ऊपर एक कई परत होते हैं, इसलिये इसको **वल्कपत्र** कहते हैं । ये प्रायः छोटे, शुष्क और भूरे रंग के होते हैं । ये भौमिक काण्ड (कन्द) या शाखा पर अक्षियों के पार्श्व से निकलते हैं । इनमें वृन्त नहीं होता । ये स्वतः काण्ड से ठीक लगे रहते हैं । आंख की रक्षा करना इनका मुख्य कार्य है ।

उपपत्र[2]—पर्णवृन्त के मूल से दोनों ओर एक एक (मिलकर दो) छोटे छोटे पत्र निकलते हैं, उन्हें **उपपत्र** कहते हैं । ये पत्र वृन्त के दोनों ओर निकलते हैं और देखने में बाण के पुङ्ख के जैसे मालूम होते हैं इसलिये इन्हें **पुङ्खपत्र**, तथा ये पर्णकलिका को ढांककर उसकी रक्षा करते हैं अतः इन्हें **पर्णच्छद** भी कहते हैं । कई उद्भिज्जों में उपपत्र बहुत स्पष्ट मालूम होते हैं और कइयों में ये होते ही नहीं ।

पुष्पच्छद[3]—पुष्पवृन्त के तलभाग से या पुष्प की पंखड़ियों के नीचे प्रायः हरे रंग के पत्र निकलते हैं, ये कलिकावस्था में पुष्प को आच्छादित कर के उसकी रक्षा करते हैं, अतः इन्हें **पुष्पच्छद** कहते हैं ।

सबीजकपत्र[4]—इन पत्तियों में अलैङ्गिकी सन्तानोत्पत्ति के निमित्त बीजक होते हैं । जैसे हंसराज आदि अपुष्प उद्भिज्जों में ।

पर्ण के विभाग—

पर्ण के मुख्य तीन भाग होते हैं;— (१) पर्णतल, (२) पर्णवृन्त और (३) फलक ।

पर्णतल[5]—पर्ण, काण्ड या शाखा की ग्रन्थि पर जिस भाग से चिपका रहता है उसको **पर्णतल** कहते हैं । पर्ण प्रायः वृन्त के अधोभाग से काण्ड पर चिपका हुआ होता है, परन्तु कई पर्ण वृन्तरहित होते हैं (जैसे सत्यानाशी का पर्ण), वे पत्र (फलक) के मूलभाग से काण्ड पर ठीक सटे हुए होते हैं, उन्हें **काण्डसंसक्त** पत्र कहते हैं । पर्णतल चिपटा और काण्ड पर फैला हुआ होता है । दूर्वा, मक्का, प्याज, आदि बहुत एकदल उद्भिज्जों में और धनिया-जीरा सौंफ आदि कुछ द्विदल उद्भिज्जों में पर्णतल या पर्णवृन्त फैलकर कोषाकार हो जाता है और काण्ड को चारों ओर पूरा पूरा या कुछ दूर तक घेर लेता है, उसे परिवेष्टक[6] कहते हैं ।

---

१. Scale-Leaves or Cata-phylls-स्कॅल लीव्स ऑर केटॉफेल्स । २. Stipules-स्टिप्युल्स । ३. Bracts-ब्रॅक्टस । ४. Sporophylls-स्पोरोफिल्स । ५. Base of Leaf-बेस ऑव लीफ । ६. Perfoliate-पर्फोलिएट ।

पर्णवृन्त[१]–पर्णतल और फलक के बीच के भाग को **पर्णवृन्त**(पान की डंडी; डंडी या डंठल) कहते हैं। जो पर्ण वृन्तवाला हो उसको **सवृन्त**[२] और जो वृन्तरहित हो उस को **अवृन्त**[३] कहते हैं। **पर्णवृन्त** प्रायः फलक के मूलभाग से जुड़ा रहता है, परन्तु किसी किसी पत्र में मध्य में अधरपृष्ठपर जुड़ा हुआ होता है। जैसे एरण्ड, कमल आदि के पत्र में। उस को **पत्रमध्यलग्न**[४] कहते हैं। पर्णवृन्त साधारणतः गोल, नीचे से संकरा और ऊपर से कुछ चौड़ा (अर्धबेलनाकार) होता है। जलवासी पौधों का पर्णवृन्त प्रायः फूला हुआ होता है। उस के अन्दर वायुपूर्ण छिद्र होते हैं, जिस के कारण वे पौधे जल के ऊपर तैरा करते हैं (जैसे जलकुंभी का पर्ण), उस को **स्फीत**[५]-पर्णवृन्त कहते हैं।

फलक[६]-पर्णवृन्त के ऊपर लगे हुए पर्ण के पतले और चौड़े भाग को **फलक** कहते हैं। स्व. वा. वैद्य गंगाधर शास्त्री जोशी ने वृन्तसमेत फलक को **पर्ण** और वृन्तरहित फलक को **पत्र** नाम दिया है। यह पर्ण का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। खाद्यपदार्थों का निर्माण, श्वसन और जलत्याग ये पर्ण के मुख्य कार्य इसी के द्वारा होते हैं। यह रंग में प्रायः हरा होता है। फलक में मध्यरेखा के दोनों बाजू दो पार्श्व होते हैं। दोनों पार्श्व मिलकर पूर्ण फलक बनता है। पत्र का जो आकार और माप लिखा रहता है वह पूर्ण फलक का समझना चाहिये। उस में प्रायः वृन्त का समावेश नहीं किया जाता।

पत्रपृष्ठ[७] –पत्र में ऊपर-नीचे दो पृष्ठ होते हैं। आकाश और सूर्य की किरण की ओर के पृष्ठ को अपरपृष्ठ[८] तथा जमीन और काण्ड की ओर के पृष्ठ को अधरपृष्ठ[९] कहते हैं। पत्रपृष्ठ चमकीला और चिकना हो तो उस को **मसृण**[१०], मुलायम रोयेंदार हो तो **रोमश**[११], कड़े रोयेंदार (खुरदार) हो तो **खर**[१२] या कर्कश और कांटेदार हो तो उसे **कण्टकी**[१३] कहते हैं।

फलकमूल—जहां फलक वृन्त से जुड़ा हुआ होता है और जहाँ से किनारे निकलती हैं उस भाग को फलकमूल या पत्रमूल[१४] कहते हैं।

---

१. Petiole or Leaf-stalk-पेटिओल ऑर लीफस्टॉक। २. Petiolate पेटिओलेट। ३. Sessile-सेसाईल। ४. Peltate—पेल्टेट। ५. Swollen स्वोलन। ६. Lamina or Leaf-Blade-लॅमिना ऑर लीफ ब्लॅड। ७. Surface of Leaf-सर्फेस ऑव लीफ। ८. Upper Surface-अपर सर्फेस। ९. Lower Surface-लोअर सर्फेस। १०. Glabrous-ग्लॅब्रस। ११. Pubescent-प्युबेसेन्ट। १२. Hispid-हिस्पिड। १३. Spinous-स्पाइनस। १४. Lamina base-लंमीना-बेस।

पत्राग्र[1]–पत्र में जहाँ दोनों ओर की किनारें मिलती हैं तथा मध्यसिरा समाप्त होती हैं उस भाग को पत्राग्र कहते हैं। पत्र का अग्रभाग यदि नोकीला हो (जैसे आम में), तो उस को तीक्ष्णाग्र[2]; यदि लम्बा, क्रमशः पतला और आगे की ओर बहुत निकला हुआ हो (जैसे पीपल में), तो उसको लम्बाग्र[3]; यदि गुठ्ठल हो (जैसे बड़ में) तो उस को कुण्ठिताग्र[4]; यदि अग्रभाग मध्यसिरापर भीतर की ओर दबा हुआ हो (जैसे कचनार में), तो उस को नताग्र[5] और यदि देखने में ऐसा मालूम हो कि पत्र का अग्रभाग काट दिया है तो उस को छिन्नाग्र[6] कहते हैं।

पत्रधारा[7]–पत्र में दाहिनी और बाईं दोनों बाजू जो किनार-कोर होती है, उस को **पत्रधारा** कहते हैं। जब पत्रधारा कहीं से भी खण्डित (कटी) हुई न हो (जैसे वटपत्र में), तो उसको अखण्ड[8] कहते हैं। जब पत्र की धार अखण्ड परन्तु लहर की तरह नीचे ऊपर उठी हुई हो (जैसे आम के पत्र में), तो उसे लहरदार[9] (तरङ्गसदृश) कहते हैं। जब पत्र की धार आरे (करौत) के समान तोक्ष्णदाँतोंवाली हो (जैसे गुलाब के पत्ते में) तो उस को तीक्ष्णदन्तुरा[10] कहते हैं। जब पत्र की धार गुठ्ठल नोकवाले दांतोंवाली हो (जैसे ब्राह्मी की पत्तो में) तो उस को कुण्ठितदन्तुरा[11] कहते हैं।

पत्रसिरा[12]–पत्र में चारों ओर जो रसवाहिनियाँ फैली होती हैं, उन को पत्रसिरा कहते हैं। इन सिराओं के कारण ही पत्र में अकडाई और उस का चपटा आकार कायम रहता है। पत्रके मध्य में पत्रमूल से पत्राग्रतक गई हुई मध्यसिरा को माढि[13] या मध्यसिरा कहते हैं। पत्र में विविध प्रकार की जो सिराओं की रचनायें होती हैं उन को सिरारचना[14] या सिराक्रम कहते हैं। सिरारचना मुख्य दो प्रकार की होती है;-(१) जालिनी[15] और (२) समानान्तर[16] जालिनी-इस रचना में मध्यसिरा से या बड़ी बड़ी मुख्य सिराओं से अनेक शाखासिरायें निकलकर और अनियमितरूप में विभक्त होकर परस्पर मिल जाती हैं और जालसदृश रचना बना लेती हैं। इस के पक्षाकार[17] और करतलाकार[18] दो भेद होते हैं। पक्षाकार-इस रचना में मुख्यसिरा एक होती

---

१. Apex of Leaf–ॲपेक्स ऑफ लीफ। २. Acute–ॲक्युट ३. Acuminate–ॲक्युमिनेट। ४. Obtuse–ओब्टयूस। ५. Emarginate–इमार्जिनेट। ६. Truncate–ट्रन्केट। ७. Margin of the Leaf मार्जिन आव दि लीफ। ८. Entire–एन्टायर। ९. Wavy–वॅवी। १०. Serrate–सेररेट। ११. Crenate–क्रिनेट। १२. Vein of the Leaf-वेइन ऑव दि लीफ। १३. 'पत्रमध्यसिरा माढिः' (वैजयन्तीकोष, भूमिकाण्ड, वनाध्याय)'। १४. Venation–वेनेशन। १५. Reticulate–रेटिक्युलेट। १६. Parallel–पॅरॅलल। १७. Unicostate यूनिकोस्टेट। १८. Multicostate–मल्टिकोस्टेट।

है, जिस से शाखायें और उससे प्रशाखायें निकलकर जाल की तरह फैली रहती हैं। जैसे आम-बड़ आदि में। **करतलाकार**- इस रचना में पत्रमूल से कई बड़ी-बडी सिरायें निकलकर ऊपर की ओर जाती हैं। इस में भी दो भेद होते हैं। प्रथम में पर्णवृन्ताग्र से कई सिरायें निकलती हैं, परन्तु ऊपर जाती हुई इस प्रकार घूमकर जाती हैं कि पत्राग्रपर सभी फिर मिल जाती हैं; जैसे बेर आदि के पत्र में। दूसरे में पर्ण वृन्ताग्र से कई बडी बडी सिरायें निकलकर ऊपर इस प्रकार फैली रहती हैं कि ऊपर की ओर क्रमशः एक दूसरे से दूर होती जाती हैं, जैसे एरण्ड, पपीता आदि के पत्र में। **समानान्तर सिरारचना**—इस क्रम में मुख्य सिरायें और उन से निकली हुई शाखायें भी समानान्तर क्रम से फैली रहती हैं। जैसे अनेक एकदल उद्भिज्जों के पत्र में। इस के दो भेद होते हैं; —(१) एकपर्शुक और (२) बहुपर्शुक। **एकपर्शुक**-इस में माढि से दोनों ओर शाखा-सिरायें निकलकर एक दूसरे के समानान्तर फैलकर किनारों की तरफ या अग्र की ओर जाती हैं; जैसे केला, अदरक, हल्दी आदि में। **बहुपर्शुक**—इस में पत्र मूल से कई बडी सिरायें निकलकर पत्र में एक दूसरे के समानान्तर फैली रहती हैं। इस के भी दो भेद होते हैं। प्रथम में एक कद या लम्बाई की कई बडी सिरायें पत्राग्र पर जाकर मिल जाती है; जैसे मक्का, बाँस आदि में। दूसरे में पत्रमूल से सिरायें निकलकर पत्रधारा की ओर बढ़ती हुई क्रमशः एक दूसरे से दूर होती जाती हैं; जैसे ताड़ में।

पत्राकृति[1]—

पत्र के आकार अनेक प्रकार के होते हैं। जब पत्र लम्बा, पतला तथा नोकीला सूई के आकार का हो (जैसे चीड़ में), तो उसको **सूचिकाकार**[2] कहते हैं। जो पत्र हृदय के आकार का हो (जैसे गिलोय में), उसको **हृदयाकार**[3] कहते हैं। जो वृक्क (गुर्दे) के आकार का हो (जैसे ब्राह्मी में), उसको **वृक्काकार**[4] कहते हैं। जो मूल और अग्रमें सँकरा तथा मध्य में चौड़ा हो (जैसे जामुनका पत्र), उस को **अण्डाकार**[5] कहते हैं। जो लम्बाई लिये गोल हो (जैसे आक का पत्र), उस को **लम्बगोल**[6] कहते हैं। जो पत्र गोल हो (जैसे कमल का पत्र), उस को **वर्तुल**[7] कहते हैं। जो पत्र भाले की तरह मध्य में अधिक चौड़ा और दोनों ओर क्रमशः पतला हो गया हो (जैसे कनेर का पत्र), उस को **भल्लाकार**[8] कहते हैं। जो पत्र लम्बा परन्तु कम चौड़ा हो और चौड़ाई मूल से अग्रतक एकसी हो (जैसे घास और मक्की का पत्र), उस को **रेखाकार**[9] कहते हैं। जो पत्र ऊपर के भाग में चौड़ा और मूल में सँकरा अणीदार हो

---

[1] Shapes of the Leaves-शेप्स ऑब द लीव्ज। [2] Acicular-ऑसिक्युलर। [3] Cordate-कॉर्डेट। [4] Reniform-रेनिफॉर्म। [5] Elliptical-एलिप्टकल। [6] Oblong-ऑब्लोंग। [7] Orbicular-आर्बिक्युलर। [8] Lanceolate-लॅन्सिओलेट। [9] Linear-लीनियर।

(जैसे थूहर का पत्र), उस को दर्व्याकार[1] कहते हैं। जो पत्र मूल में सब से अधिक चौड़ा और गोल हो तथा अग्र की ओर क्रमशः पतला होकर नोकीला हो गया हो (जैसे बड़ का पत्र) उस को लट्वाकार[2] कहते हैं। जो पत्र अग्रभागपर सब से अधिक चौड़ा हो और नीचे की ओर क्रमशः सँकरा होकर नोकीला हो गया हो (जैसे देशी बादाम और कटहल का पत्र), उसको विपरीतलट्वाकार[3] कहते हैं।

पर्ण के भेद--

पर्ण के दो भेद होते हैं; (१) एकाकी और सदल। जिस पर्ण में उस की किनार (पत्रधारा) मध्य सिरातक खण्डित न हुई हो (जैसे तुलसी, बड़ आदि में), उस को एकाकी[4] (अकला-सादा) पर्ण कहते हैं और जिस पर्ण में पत्र (फलक) मध्यसिरातक कई स्वतन्त्र दलों में विभक्त हो गया हो (जैसे अमलतास, कीकर, बेल आदि में), उस को सदल[5] (अनेक दलों में विभक्त) या संयुक्तदल पर्ण कहते हैं। सदल पर्ण में जो पत्रसदृश विभाग होते हैं उन को दल[6] कहते हैं। एकाकी पर्ण की किनार भी विभक्त होती हैं (जैसे एरण्ड आदि के पत्र में), परन्तु वह मध्यसिरातक विभक्त नहीं होती किन्तु कुछ भागतक ही विभक्त रहती है। एकाकी पत्र के ये विभाग उस की किनार कई स्थानों में कुछ दबकर जैसे हथेली से अंगुलियाँ निकली हुयी हों ऐसे दिखते हैं, उनको पत्राङ्गुल कहते हैं। एरण्ड का पञ्चाङ्गुल नाम प्रसिद्ध है। एकाकी और सदल पर्ण में अन्य भी विशेषतायें होती हैं; जैसे—(१) एकाकी पर्ण के पर्णकोण में अक्षि होती है परन्तु सदल पर्ण के किसी भी दल के पत्रकोण में अक्षि नहीं होती, (२) एकाकी पर्ण के वृन्तमूलपर प्रायः पुङ्खपत्र (उपपत्र) होते हैं परन्तु सदल पर्ण के किसी दल के वृन्तमूलपर उपपत्र नहीं होते।

सदल पर्ण और शाखा में भेद--

(१) शाखा के अग्रभागपर अक्षि (शुंग) होती है, परन्तु सदल पर्ण में मध्यदण्ड के अग्रपर अक्षि कभी नहीं होती; (२) सदल पर्ण के दल शाखा की तरह गोपुच्छाकार क्रम से नहीं निकलते; (३) किसी शाखा के कोण में अक्षि नहीं होती किन्तु वह स्वयं किसी पत्ती के पत्रकोण से निकलती है, परन्तु सदल पत्ती किसी पत्ती के पत्र कोण से नहीं निकलती। पक्षाकार सदलपर्ण एक साधारण शाखा की तरह मालूम होते हैं इसलिये प्रारम्भ में सदल पत्ती में शाखा का भ्रम होने की संभावना है, परन्तु ऊपर लिखे हुए लक्षणों से आसानी से दोनों को अलग कर सकते हैं।

---

१. Spatulate-स्पॅच्यूलेट। २. Ovate-ओवेट। ३. Obovate-ओबओवेट। ४. Simple Leaf-सिम्पल लीफ। ५. Compound Leaf-कम्पाउन्ड लीफ। ६. Leaflets-लीफलेट्स।

सदल पर्ण के भेद–

सदल पर्ण के मुख्य दो भेद हैं:—(१) पक्षाकार[1] और (२) करतलाकार[2] जैसे पँख में मध्यदण्ड से दोनों ओर बाल निकले हुए होते हैं वैसे जिस पर्ण में मध्यसिरा (मध्यदण्ड) से दोनों ओर दल निकले हों उसको पक्षाकार कहते हैं। पक्षाकार पर्ण के तीन उपभेद होते हैं;—(१) समदल (२) विषमदल और (३) उपपक्षयुक्त। जिस पर्ण में मध्यदण्ड के दोनों ओर समसंख्या में दल विभक्त हों (जैसे अमलतास, कसौंदी आदि में) उसको समदल[3] कहते हैं। जिस पर्ण में मध्यदण्ड के दोनों बाजू समसंख्या में दल विभक्त हों और मध्यदण्ड के अग्रपर एक दल अधिक हो (जैसे गुलाब, कोयल आदि में), उसको विषमदल[4] कहते हैं। जिस पर्ण में मध्यदण्ड से कई छोटी छोटी शाखायें (उपपक्ष) निकली हों और इन शाखाओं पर भी पक्ष की तरह दोनों बाजू दल हों (जैसे गुलमोर, कीकर, लाजवंती आदि में), तो उसको उपपक्षयुक्त[5] कहते हैं। जब सदल पर्ण के वृन्ताग्र से दल इस प्रकार निकले हों जैसे करतल (हथेली) से अंगुलियाँ निकलती हैं और उसका आकार करतल जैसा मालूम होता हो तो उसको करतलाकार पर्ण कहते हैं। करतलाकार पर्ण में जब वृन्त के अग्र से एक दल निकला हो (जैसे नीबू-संतरा आदि में), तब उसको एकदल[6]; जब दो दल निकले हों (जैसे इंगुदी में), तब उसको द्विदल[7]; जब तीन दल निकले हों (जैसे बेल, वरुण, चाङ्गेरी आदि में), तब उसको त्रिदल[8]; जब चार दल निकले हों (जैसे सुनिषण्णक-चोपतिया में) तब उसको चतुर्दल[9] और जब पाँच या पाँच से अधिक दल निकले हों (जैसे गोरखइमली, हुरहुर आदि में), तो उसको बहुदल[10] कहते हैं।

पर्णक्रम–[11]

पत्तियों को उचित मात्रा में सूर्य का प्रकाश प्राप्त होने के लिये काण्ड या शाखा पर उनके निकलने का जो विशेष प्रकार का क्रम होता है उसको पर्णक्रम या पर्णविन्यास कहते हैं। पर्णक्रम तीन प्रकार का होता है; (१) अभिमुख[12], (२) वर्तुल[13] और (३) पेचदार[14]। जब काण्ड या शाखा पर प्रत्येक ग्रन्थि से आमने सामने दो पत्तियाँ निकली हों तब उसको अभिमुख कहते हैं। जब

---

१. Pinnate–पिनेट। २. Palmate–पामेट। ३. Paripinnate–पेरिपिनेट। ४. Imparipinnate–इम्पेरिपिनेट। ५. Bipinnate–बाइ-पिनेट। ६. Unifoliate–यूनिफोलिएट। ७. Bifoliate–बाईफोलिएट। ८. Trifoliate–ट्राइफोलिएट। ९. Quadrifoliate–क्वाड्रीफोलिएट। १०. Multifoliate–मल्टीफोलिएट। ११. Phyllotaxis–फायलोटॅक्सिस १२. Opposite–ऑपोझिट। १३. Verticillate–वर्टिसिलेट। १४. Alternate–ऑल्टर्नेट।

प्रत्येक ग्रन्थि से चारों ओर दो से अधिक पत्तियाँ निकली हों (जैसे कनेर, सप्तपर्ण आदि में), तो उसको वर्तुल कहते हैं। जब प्रत्येक ग्रन्थि से एक एक पत्ती अन्त देकर (बल खाकर) निकले और उसका दृश्य पेच जैसा मालूम हो तो उसको पेचदार या एकान्तर पर्णक्रम कहते हैं जैसे जपा, बड़, आसोपालव आदि में।

मधुग्रथियाँ[1]——

पत्ते में शहद जैसे मधुर पदार्थ से भरी हुई ग्रन्थियाँ होती हैं, उन्हें मधुग्रन्थि कहते हैं। कसौंदी के काण्ड पर पत्रकोण में नीले काले रंग की मधुग्रन्थियाँ होती हैं। अर्जुन के पत्र के अधरपृष्ठ पर मध्यसिरा के दोनों ओर दो बड़ी मधुग्रन्थियाँ होती हैं। कई अन्य वनस्पतियों के पत्ते पर भी ऐसी ग्रन्थियाँ होती हैं।

तैल ग्रन्थियाँ[2]——

नीबू का पत्ता लेकर सूर्यप्रकाश के सामने रखें तो उसमें अनेक पारदर्शक बिन्दुसदृश ग्रन्थियाँ दिखाई देंगी। इन ग्रन्थियों में तैल भरा होता है। प्राय: सुगन्धित पत्तियों में तैलग्रन्थियाँ होती हैं।

पत्र का संगठन[3]——

जो पत्ती मोटी और रसाल हो (जैसे पथरचूर का पत्र) उसको मांसल[4], जो कुछ कड़ी हो (जैसे बड़ और आम्र का पत्र) उसको चर्मसदृश[5], जो कड़ी और आसानी से टूट सके ऐसी हो (जैसे हारसिंगार की पत्ती) उसको भङ्गुर[6] और जो पतली और मुलायम हो (जैसे गुलाबास की पत्ती) उसको कौशेयसदृश[7] (रेशमी वस्त्र जैसी) कहते हैं।

विशेष कार्यों के लिये पत्तियों का रूपान्तर——

प्रामाणिक पत्तियों के खाद्यपदार्थों का निर्माण, श्वसन और जलत्याग ये तीन कार्य होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ उद्भिज्जों में विशेष कार्यों के निमित्त उनकी पत्तियों के विशेष प्रकार के रूपान्तर होते हैं। जिन विशेष कार्यों के निमित्त पत्तियाँ रूपान्तरित होती हैं वे छ: हैं:-(१) अवलम्बन[8] (सहारा), (२) शोषण[9] (३) आक[10]

---

[1] Nectarial glands—नेक्टॅरीअल ग्लॅन्ड्स। [2] Oil glands—ऑइल ग्लॅन्ड्स। [3] Texture of the Leaf-टेक्स्चर ऑव दि लीफ। [4] Succulent-सक्यूलेन्ट। [5] Coriaceous-कोरिएसस। [6] Crustaceous—क्रस्टेसस। [7] Membranous-मेम्ब्रेनस। [8] Support सपोर्ट। [9] Absorption—ॲब्सॉर्प्शन। [10] Attraction—ॲट्रॅक्शन।

षण; (४) सन्तानोत्पत्ति[१] (५) संचय[२] और (६)रक्षा[3]। इनका वर्णन क्रमशः किया जाता है। **सहारा**-सहारा देना या वायवीय अंगों का धारण करना यह काण्ड का मुख्य कार्य है, परन्तु कई पत्तियाँ रूपान्तरित होकर यह कार्य करती हैं। उनके चार प्रकार होते हैं।-(१) **धारक वृन्तमूल**[४] (२) **तन्तुभूत पत्र,**[५] (३) **पत्रोद्भूत बडिश**[६] और (४)**स्फीत वृन्त**[७]। **धारकवृन्तमूल**-कुछ पौधों में वृन्तमूल बहुत लम्बे हो जाते हैं और ऐसे अनेक वृन्तमूल इस प्रकार मिल-जुलकर अपनी वृद्धि करते हैं कि उनसे काण्डसदृश रचना बन जाती है; जैसे केला, अदरक आदि में। **तन्तुभूत पत्र**—कुछ दुर्बलकाण्ड उद्भिज्जों में पूरी पत्ती या उसका कुछ भाग तन्तु जैसा हो जाता है जो किसी सहारे को लपेटकर पौधे को उसपर चढ़ने में सहायता देता है; जैसे मटर लाङ्गली आदि में। **पत्रोद्भूत बडिश**-कुछ आरोहिणी लताओं में पत्तियों से बडिशाकार रचनायें निकली रहती हैं, उनको दूसरे आश्रय-स्थान पर चढ़ने में सहायता देती है। **स्फीतवृन्त**—कई जलवासी पौधों के पर्णवृन्त फूले हुए होते हैं, इनसे ये पत्तियाँ पानी में तैरती रहती हैं। जैसे सिंघाड़ा में। **शोषकपत्र**-पृथिवी से क्षारमिश्रित जल का शोषण करना यह जड़ों के प्रधान कार्यों में से है। परन्तु कुछ पौधों में यह कार्य करने योग्य पत्तियाँ भी होती हैं। इनके दो भेद हैः-(१) **जलशोषक**[८]और (२) **मांसाहारी**[९]। **जलशोषक**-जलमग्न पौधों की पत्तियाँ जलाशयों से क्षारमिश्रित जल का शोषण करती हैं। शुष्क भूमि में होने वाले कुछ पौधों के पत्र पर शोषक रोम होते हैं, ये रोम बरसाती पानी या ओस का शोषण कर लेते हैं। **मांसाहारी**-मांसाहारी पौधे अपनी पत्तियों की ऐसी विचित्र योजना करते हैं कि उन पर बैठे हुए कीटादि से भोज्य पदार्थ का शोषण कर लेती हैं (इनका विशेषविवरण उद्भिज्ज शास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थों में देखें, विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया है)। **आकर्षकपत्तियाँ**[१०]—पुष्प की रंगीन पँखड़ियों का मुख्य कार्य पराग-वितरण के लिये कीड़ों को आकर्षित करना है। कुछ पौधों मे पुष्प बहुत छोटे होने से अनाकर्षक होते हैं, इसलिये उनमें रंगीन पत्तियाँ होती हैं जो कीड़ों को आकर्षित करती हैं। **संतानोत्पादक पत्र**[११]—कुछ पौधों की पत्तियों में छोटी अक्षियाँ होती हैं। उन पत्तियों को जमीन में लगाने से नया पौधा उत्पन्न होता है; जैसे पथर–

---

१. Reproduction–रीप्रॉडक्शन। २. Storage–स्टोरॅज। ३. protection-प्रोटेक्शन। ४. Supporting leaf-bases-सपोर्टिंग लीफ बेसिस। ५. Leaf–tendrils–लीफ टेन्ड्रिल्स। ६. Leaf–hooks-लीफ हूक्स। ७. Leaf-floats–लीफ फ्लोट्स। ८. Water–absorbing leaves–वॉटर अॅब्सोर्बिंग लीव्स। ९. Carnivorous leaves–कार्निवोरस लीव्स। १०. Attractive leaves–अॅट्रॅक्टिव लीव्स। ११. Reproductives leaveS-रीप्रोडक्टिव लीव्स।

चूर में । **संग्राही**[१] **पत्तियाँ**-ऐसी पत्तियाँ प्रायः मांसल और मोटी होती हैं । इनके तीन भेद होते हैं-(१) जिनमें जलसंचय[२] के लिये विशेष प्रकार के तन्तु हों (जैसे घीकुँवार, थहर आदि के पत्र, (२) जिसमें भोज्यपदार्थ[३] के संचय के लिये विशेष प्रकार के तन्तु हों, (जैसे प्याज आदि में) और (३) जिन में खाद्यपदार्थ के संचय के लिये छोटी थैलियाँ[४] हों । **रक्षक पत्तियाँ**-कुछ पौधों में संपूर्णपत्ती या उसका कुछ भाग पौधे की रक्षा के लिये रूपान्तर कर लेता है । रक्षक पत्तियों के तीन प्रकार हैं ।

(१) कण्टकीभूत पत्र, (२) गतिशील पत्र और (३) कलिकावल्क ।
कण्टकीभूत[५] **पत्र**-इनका वर्णन पीछे काँटों के वर्णन में पृ. २१-२२ पर किया गया है । **गतिशील पत्र**[६]-लाजवन्ती की पत्ती को हम स्पर्श करते हैं तो उसकी पत्ती के सभी दल गतिशील होकर संकुचित हो जाते हैं । **कलिकावल्क**[७]-कुछ पौधों में विशेष प्रकार की पत्रवत् रचनायें होती हैं, जो जाड़ों में कलिका की रक्षा करती हैं; उन्हें **कलिकावल्क** कहते हैं । ये रचनायें संपूर्ण पत्ती, पुंखपत्र या अर्धविकसित फलकवाली पत्तियों के पत्रवृन्तों के रूपान्तर से प्राप्त होती हैं जैसे पीपल, कटहल, चम्पा आदि में ।

पुष्प[८]-फूल

उद्भिज्जों के धारक और पोषक अवयवों का वर्णन किया । अब सन्तानोत्पादक अवयवों का वर्णन किया जाता है । उद्भिज्जों में संतानोत्पादक अवयव दो होते हैं-(१) पुष्प और (२) फल । प्रथम पुष्प होकर पीछे उसमें फल लगते हैं, इसलिय पहले पुष्प का वर्णन किया जायगा ।

'पुष्प' शब्द की निरुक्ति---

'पुष्प' विकसने, धातु से 'पुष्प्यतीति पुष्पं = जो विकसित होता है (खिलता है) वह पुष्प कहलाता है, इस व्युत्पत्ति से पुष्प शब्द बनता है' । उद्भिज्ज में विकसित होने वाले अवयव को पुष्प कहते हैं ।

पुष्प की अवस्थायें---

पुष्प जब अविकसित होता है तब उसको **कलिका**[९] या कोरक (फूल की कली) कहते हैं । कलिका जब विकासोन्मुख होती है तब उसको कुड्मल या

---

[१] Storing leaves-स्टोरिंग लीव्स । [२] Water storage-वॉटर स्टोरेज । [३] Food-storage-फूड स्टोरेज [४] Pocket leaves-पोकेट लीव्स । [५] Leaf-spines लीफ स्पाइन्स । [६] Motile leaves-मोटाइल लीव्स । [७] Bud-scale-बड्स्केल । [८] Flower-फ्लावर । [९] Bud-बड ।

मुकुल कहते हैं और जब पूर्ण विकसित होती है तब उसको फुल्ल (खिला हुआ फूल) **कहते हैं**।

पुष्पोद्भव और पुष्पविन्यास[1]—

काण्ड या शाखा के अग्रभाग से या पत्रकोण से पुष्पकलिका का निकलना पुष्पोद्भव कहलाता है। पुष्पोद्भव यदि काण्ड या शाखा के अग्रभाग से हुआ हो तो उस पुष्प को अग्रज[2] या अग्रोद्भूत और पत्रकोण से हुआ हो तो उसको **पत्रकोणोद्भूत**[3] कहते हैं। काण्ड या शाखा के अग्रभाग से या पत्रकोण से निकले हुए पुष्पों की जो विभिन्न प्रकार की रचनायें होती हैं उनको **पुष्पविन्यास** या **पुष्पव्यूह** कहते हैं। पुष्पविन्यास दो प्रकार का होता है; —(१) एकाकी[4] और (२) **कुसुमोच्चय** या **पुष्पसमूह**। काण्ड या शाखा के अग्रभाग से अथवा पत्रकोण से यदि एक ही पुष्प निकला हो तो उसको **एकाकी पुष्प** कहते हैं और एक पुष्पस्तम्भ से अनेक पुष्प समूह रूप में निकले हों तो उसको **कुसुमोच्चय** कहते हैं। कुसुमोच्चय के रचनाभेद से तीन मुख्य भेद होते हैं—(१) गुच्छ, (२) मञ्जरी और (३) स्तबक। गुच्छ के दो मुख्य भेद होते हैं- (१) **मुकुटाकार** या **चूड़ाकार**[5] और (२) **छत्राकार**[6]। यदि एक लम्बे पुष्पस्तम्भ (पुष्पदण्ड) पर भिन्न भिन्न स्थलों पर से चारों ओर अनेक सवृन्त पुष्प निकले हों तो उसको **मुकुटाकार या चूड़ाकार** कहते हैं। यदि एक लम्बे पुष्पदण्ड के सिरे पर एक ही स्थल से अनेक सवृन्त पुष्प चारों ओर से निकले हों और उसका दृश्य छतरी का सा हो तो उसको **छत्राकार** कहते हैं। यदि एक पुष्पदण्ड पर अनेक अवृन्त पुष्प भिन्न भिन्न स्थलों से निकले हों तो उसको **मञ्जरी**[7] कहते हैं। यदि मञ्जरी का अग्रभाग सिंह की पूंछ या हाथी की सूंड के समान मुड़ा हुआ हो तो उसको **सिंहपुच्छाकार** या **हस्तिशुण्डाकार**[8] मञ्जरी कहते हैं। जब वृन्ताग्र तश्तरी जैसा गोल और चौड़ा हो (जैसे सूरजमुखी के फूल में) तथा उस पर अनेक अवृन्त छोटे छोटे पुष्प लगे हों तो उसको **स्तबक**[9] कहते हैं। जब वृन्ताग्र गेंद के जैसा गोल हो (जैसे बबूल के फूल में) और उस पर अनेक अवृन्त पुष्प लगे हों तो उसको **कन्दुकाकार** या **उन्नतोदर स्तबक** कहते हैं। जब वृन्ताग्र बटुए जैसा हो अर्थात् उसका मध्यभाग नीचे की ओर हो और किनारी संकुचित होकर ऊपर की ओर मिल गई हो तथा अन्दर की ओर में अनेक अवृन्त पुष्प लगे हों (जैसे बड़, गूलर आदि में) तो उसको **गुह्यपुष्प** या **नतोदर स्तबक** कहते हैं।

---

[1] Infloresence-इन्फ्लोरेसन्स्। [2] Terminal-टर्मिनल्। [3] Axillary–ॲक्सिलरी। [4] Solitary सॉलिटरि। [5] Raceme-रेसीम। [6] Umbel–अम्बेल। [7] Spike-स्पाइक। [8] Scorpioid-स्कॉर्पिऑइड। [9] Capitulum कॅपिटचुलम।

पुष्प के अवयव--

प्रत्येक पूर्ण पुष्प में पांच प्रधान अवयव होते हैं—(१) **वृन्त**[१] (२) **वाह्यकोश**[२], (३) **आभ्यन्तरकोश**[३], (४) **पुंकेशर**[४] और (५) **स्त्रीकेशर**[५]। जिस पुष्प में ये पांचों अवयव विद्यमान हों उसको **पूर्णपुष्प**[६] और जिसमें इनमें से कुछ अवयवों का अभाव हो उसको **अपूर्णपुष्प**[७] कहते हैं। इन पाँचों अवयवों का क्रमशः वर्णन नीचे किया जाता है।

वृन्त—पुष्प के नीचे जो डंठल होता है उसको वृन्त या **पुष्पवृन्त** कहते हैं। जिस पुष्प के नीचे डंठल हो उसको **सवृन्त पुष्प**[८] और जिसके नीचे डंठल न हो उनको **अवृन्त पुष्प**[९] कहते हैं। जिस पुष्पवृन्त पर अनेक दूसरे वृन्त शाखा रूप से निकले और उन प्रत्येक शाखावृन्त पर एक एक पुष्प लगकर कुसुमोच्चय (पुष्पसमूह) बने, उसको **पुष्पस्तम्भ**[१०] या **पुष्पदण्ड** कहते हैं। पुष्पसमूह में प्रत्येक पुष्प के नीचे जो शाखावृन्त होता है उसको **वृन्तक**[११] (छोटी डंडी) कहते हैं। पुष्पच्छद और शाखावृन्त रहित जो लम्बा पुष्पवृन्त सीधा जड़ (मूलभण्डार) से निकले (जड़ की पत्तियों के बीच से निकले) और उसके अग्रपर पुष्प निकले, उसको **पुष्पध्वज**[१२] कहते हैं। पुष्पवृन्त के सिरे को जहां से पँखड़ियाँ पुंकेशर और स्त्रीकेशर निकलते हैं **वृन्ताग्र**[१३] (ढेंप) या **पुष्पासन** कहते हैं।

पुष्पच्छद—जैसे पूर्णवृन्त के नीचे उपपत्र (पर्णच्छद) होते हैं और प्रारम्भावस्था में पर्णकलिका उनसे आच्छादित होती है, उसी प्रकार पुष्प के नीचे भी उपपत्र होते हैं जो कलिकावस्था में पुष्प को ढांके रखते हैं, इन्हें **पुष्पच्छद**[१४] कहते हैं। पुष्पच्छद वहुत करके वृन्तमूल से निकलते हैं, परन्तु गुड़हल (जपा) के फूलों में वृन्तमूल के अतिरिक्त बृन्ताग्र में कलिका के नीचे चक्राकार में भी पुष्पच्छद लगे हुए होते हैं, इनको **पुष्पच्छदवलय**[१५] कहते हैं। केले के फूल में प्रत्येक पुष्पसमूह पर एक वड़ा पुष्पच्छद पुष्पसमूह को ढाँककर लगा हुआ रहता है। पुप्पच्छद प्रायः हरे रंग के होते हैं, परन्तु कभी कभी अन्य रंग के भी होते हैं, जैसे—केले में।

पुष्पबाह्यकोश—पुष्प में सबसे बाहर जो कोश (आच्छादन) या पुट

---

१. Pedicel-पेडिसिल। २. Calyx-कॅलिक्स। ३. Corolla-कॉरोला। ४. Androecium-ॲन्ड्रिसिअम्। ५. Gynoecium-गायनेसिअम्। ६. Complete flower-कम्प्लीट् फ्लावर्। ७. Incomplete flower-इन्कम्प्लीट फ्लावर। ८. Pedicillate-पेडिसिलेट्। ९. Sessile-सेसाइल। १०. Rachis-रॅचिस। ११. Pediuncle-पिडन्कल। १२. Scape-स्केप। १३. Thalamus-थॅलेमस्। १४. Bract-ब्रॅक्ट। १५. Epicalyx-एपिकॅलिक्स।

होता है उसको **बाह्यकोश**[१] या **बाह्यपुट** कहते हैं। बाह्यकोश प्रायः हरे रंग का होता है, परन्तु कहीं कहीं अन्य रंग का भी देखा जाता है। इसका कार्य कलिकावस्था में पुष्प के अन्य अंगों को आच्छादित करके उनकी रक्षा करना है। बाह्यकोश की जो पत्तियाँ होती हैं उनको **पुष्पबाह्यकोश के दल**[२] कहते हैं। पुष्पबाह्यकोश के दल यदि पूर्णतः विभक्त हों तो उसको **विभक्त दल**[३] और यदि अंशतः मिले हुए हों तो **उसको संयुक्त दल**[४] (पुष्पबाह्यकोश) कहते हैं। संयुक्त दल में भी ऊपर की ओर दल कुछ न कुछ विभक्त होते हैं। इन स्वतन्त्र दलों (विभागों) को गिनकर बाह्यकोश के दलों की संख्या बताई जाती है। बाह्यकोश के दल यदि नीचे से थोड़े-बहुत भी जुड़े हुए हों तो **उनको बाह्यकोशनलिका** कहते हैं, तथा शेष स्वतन्त्र **विभागों को दांते,** खण्ड या **विभाग**[५] कहते हैं। कई पुष्पों में पुष्पकलिका के खिलने के साथ बाह्यकोश के दल गिर जाते हैं (जैसे सत्यानासी में), **उसको पूर्वपाती**[६] (पुष्पबाह्यकोश) कहते हैं। परन्तु बहुत से पुष्पों में बाह्यकोश पुष्प के साथ सूखकर गिरता है, **उसको पश्चात्पाती**[७] कहते हैं। बहुत से पुष्पों में वह फल तैयार होने पर उसको आच्छादित करके रहता है (जैसे रसभरी में), **उसको स्थायी**[८] **(पुष्पबाह्यकोश)** कहते हैं। बाह्यकोश के दल यदि बाहर से चिकने हों तो उन्हें **मसृण,** खुरदरे (सख्त रोयेंदार) हों तो खर या **कर्कश,** मृदु रोयेंदार हों तो **रोमश** और कांटेदार हों तो उन्हें **कण्टकी** कहते हैं। बाह्यकोश के समग्र दल आकार और कद में यदि समान हों तो उनको **नियताकार**[९] और यदि असमान हों तो उन्हे **अनियताकार**[१०] (पुष्पबाह्यकोश) कहते हैं। बाह्यकोश की आकृति के भेद से उसके विभिन्न नाम रखे जाते हैं। यथा—बाह्यकोश यदि नलिका की तरह नीचे से ऊपर तक एक चौड़ाई का हो तो **नलिकाकार**[११]; यदि बाह्यकोश का एक दल सर्प की फण के आकार का हो और इतना बड़ा हो कि पुष्प के शेष भाग उसके नीचे पड़ जायँ तो **फणाकार**[१२]; यदि छोटी घंटी के आकार का हो तो **घण्टिकाकार**[१३]; यदि नीचे कम चौड़ा और ऊपर क्रमशः अधिक चौड़ा होता गया हो तो **गलन्तिकाकार**[१४]; और यदि बाह्यकोश की नलिका नीचे चौड़े पेटवाली होकर लगभग गोल हो गई हो

---

१. Calyx–कॅलिक्स। २. Sepals—सेपल्स। ३. Polysepalous पोलीसेपल्स्। ४. Gamosepalous–गेमोसेपलस। ५. Teeth, Lobes, Segments,–टीथ्; लोब्स अथवा सेग्मेन्टस। ६. Caducous–कॅडच्युकस। ७. Deciduous-डेसिडच्युअस। ८. Persistent-पर्सिस्टन्ट। ९. Regular–रेग्युलर। १०. Irregular—इर्रेग्युलर। ११. Tubular–टच्युब्युलर। १२. Hooded—हुडेड। १३. Campanulate-कम्पन्युलेट्। १४. Funnal–shaped–फनल–शेप्ड्।

और सिरे की ओर सँकरी होकर पुनः थोड़ी विस्तृत होकर सुराही के जैसी दीखती हो तो उसको **सुराहीसदृश**[1] (पुष्पबाह्यकोश) कहते हैं। बहुत से पुष्पों में बाह्यकोश के अतिरिक्त एक और दलचक्र होता है उसको **उपबाह्यकोष** कहते हैं।

पुष्पाभ्यन्तरकोश–पुष्प में बाह्यकोश के भीतर जो दूसरा कोश या पुट होता है उसको **पुष्पाभ्यन्तरकोश, आभ्यन्तरकोश** या **आभ्यन्तरपुट** कहते हैं। कई पुष्प ऐसे होते हैं जिनमें बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कोश एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, दोनों रंग रूप में समान होने से मानो एक ही हों ऐसे प्रतीत होते हैं, ऐसी अवस्था में उसे **बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश**[2] कहते हैं। आभ्यन्तरकोश अनेक पत्तियों से बनता है; इन पत्तियों को **आभ्यन्तरकोश के दल**[3], पँखडी या पखड़ी कहते हैं। ये पँखड़ियाँ सफेद या नाना रंग की तथा बाह्यकोश के दलों की अपेक्षया कोमल और प्रायः सुगन्धयुक्त होती हैं। पँखड़ियों का प्रधान कार्य गर्भाधान के लिये अपने सुंदर रंग और सुगन्ध द्वारा भ्रमर–पतंग आदि को आकर्षित करना है। इसलिये गर्भाधान के बाद प्रायः वे सूख जाती हैं। ये कलिकावस्था में पुंकेशर और स्त्रीकेशर को आच्छादित करके उनका रक्षण भी करती हैं। पुंकेशर के चारों ओर आभ्यन्तरकोश के दलों का जो चक्र होता है उसको **दलचक्र** कहते हैं। जिस आभ्यन्तरकोश में इकहरा दलचक्र हो उसको **एकदलचक्र**, जिसमें दोहरा दलचक्र हो उसको **द्विदलचक्र** और जिसमें दो से अधिक दलचक्र हों उसको **बहुदलचक्र** (**आभ्यन्तरकोश**) कहते हैं।

आभ्यन्तरकोश की रचना और आकृति प्रायः बाह्यकोश के जैसी ही होती है। अतः विशेषणरूप से जो पारिभाषिक संज्ञायें बाह्यकोश के लिये लिखी गई हैं वे आभ्यन्तरकोश के लिये भी यथासंभव प्रयुक्त होती हैं। जब उनको आभ्यन्तरकोश या उसके दलों के लिये प्रयुक्त करना हो तब उन संज्ञाओं के आगे **आभ्यन्तरकोश** या **आभ्यन्तरकोश के दल** इन विशेष्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।

पुष्प के सन्तानोत्पादक अवयव–

मनुष्य आदि प्राणियों में जैसे सन्तानोत्पादन के लिये पुरुष में अण्ड और शिश्न ये पुंजननेन्द्रियाँ तथा स्त्रियों में गर्भाशय, अन्तःफल और योनि ये स्त्रीजननेन्द्रियाँ होती हैं इसी प्रकार उद्भिज्जों में भी परागकोशसहित पुंकेशर, **पुंजननेन्द्रिय** और बीजाणु, गर्भाशय, परागवाहिनी तथा योनिसमेत स्त्रीकेशर ये स्त्रीजननेन्द्रियाँ होती हैं। पहले पुंजननेन्द्रिय पुंकेशर और पीछे स्त्रीजननेन्द्रिय–स्त्रीकेशर–का वर्णन किया जाता है।

---

[1] Urceolate–अर्सिआलेट। [2] Perianth-पेरिअॅन्थ। [3] Petals पेटल्स।

पुंकेशर——

पुष्प में आभ्यन्तरकोश के भीतर पुंकेशर[1] होते हैं। पुंकेशर के दो मुख्य अवयव हैं; (१) केशरसूत्र[2] और (२) परागकोश[3] : पुंकेशर में परागकोश के नीचे जो तन्तुसदृश भाग होता है उस को **केशरसूत्र** कहते हैं। पुंकेशर में यदि केशरसूत्र हो तो उसको **ससूत्र** और यदि केशरसूत्र न हो तो उस को **असूत्र पुंकेशर** कहते हैं। केशरसूत्र के ऊपर जो कोशसदृश भाग होता है उसको **परागकोश या पुंकेशरमणि** कहते हैं। परागकोश के अन्दर जो सूक्ष्म रजःकण होते हैं उनको **पराग**[4] **या पुष्परज** कहते हैं। परागकोश के अन्दर पराग प्रायः धूल के छोटे छोटे कणों के रूप में पाया जाता है। परन्तु कभी कभी पराग मोम जैसा नरम भी होता है। उनको **सिक्थसदृश (पराग)** कहते हैं। परागकण प्रायः अलग रहते हैं, परन्तु कहीं कहीं आपस में मिलकर पिण्ड जैसे बन जाते हैं, उन्हें **परागपिण्ड**[5] कहते हैं। पराग पुष्प में सन्तानोत्पादन के कार्य में **पुंबीज** (वीर्य) का काम करता है। जैसे मनुष्य के **अण्डकोश** में दो अण्ड होते हैं वैसे परागकोश में प्रायः दो **थैलियाँ**[6] (प्रसेव) होती हैं। इन थैलियों में प्रायः पीले रंग का पराग बनता है। ये दो थैलियाँ कलिकावस्था मे जुड़ी हुई होती हैं। उन के संयोगस्थान पर एक परदा(**संयोजक**[7]) रहता है। परागकण जब परिपक्व होते हैं और पुष्प खिलता है तब परागकोश फटकर पराग बाहर आता है। इस प्रकार परागकोश के फटने को **परागकोशस्फुटन**[8] कहते हैं। परागकोश यदि अन्दर की तरफ स्त्रीकेशर की ओर फटे तो उसको **अन्तःस्फुटन**[9] और उसकी विरुद्ध दिशा में बाहर की ओर फटे तो उसको **बहिःस्फुटन**[10] कहते हैं। यदि पुंकेशर में परागकोश न हो या होने पर भी उसमें पराग उत्पन्न न होता हो तो उसको **षण्ढपुंकेशर**[11] कहते हैं। **पुंकेशरों की संख्या निश्चित नहीं होती।** अदर में पुंकेशर १, जाई में २, गेहूँ में ३, मरोडफली में ४, धतूरे में ५, चावल में ६, और किसी किसी पुष्प में इस से अधिक भी होते हैं। तुलसी के वर्ग के फूलों में प्रायः चार पुंकेशर दो जोड़ियों में होते हैं। इन में एक जोड़ी बड़ी और दूसरी छोटी होती है। ऐसी जोड़ी को **विषमयुग्म**[12] कहते हैं। पुंकेशर प्रायः अलग अलग रहते हैं, परन्तु कभी कभी वे आपस में मिलकर गुच्छाकार हो जाते हैं।

---

१. Stamens-स्टेमन्स । २. Filament-फिलामेन्ट । ३. Anther-ॲन्थर । ४. Pollen-grains-पोलन ग्रेन्स । ५. Pollinium-पोलिनिअम । ६. Cells-सेल्स । ७. Connective कनेक्टिव । ८. Dehiscence of Anthers-डिहीसन्स ऑफ ॲन्थर्स । ९. Introrse-इन्ट्रोर्स । १०. Extrorse-एक्स्ट्रोर्स । ११. Staminode-स्टॅमिनोड् । १२. Didynamous-डाइडेनेमस ।

स्त्रीकेशर--

पुष्प के चार अवयबों में से मध्यवर्ती अवयव को **स्त्रीकेशर**[1] कहते हैं। स्त्रीकेशर आकार में सुराही जैसा होता है। जैसे सुराही नीचे चौडी, मध्य में संकरी होती हुई और सिरेपर फिर कुछ चौड़ी होती है, स्त्री केशर भी वैसा ही होता है। स्त्री केशर के तीन विभाग होते हैं;—(१) **गर्भाशय**[2] (२) **परागवाहिनी**[3] या **स्त्रीकेशरनलिका** और (३) **परागवाहिनीमुख**[4]। स्त्रीकेशर के नीचे के फूले हुए चौड़े पोले भाग को **गर्भाशय** कहते हैं। गर्भाशय में एक या अधिक खाने या अवकाश होते हैं, इनको **बीजकोश**[5] कहते हैं। प्रत्येक बीजकोश में एक या अधिक **बीजाणु (स्त्रीबीज[6])** होते हैं। गर्भाशय के अन्दर जिस भाग पर स्त्रीबीज संसक्त (लगे हुए) होते हैं और जिसके द्वारा बीज को पोषक पदार्थ मिलता है उसको **उल्ब**[7] कहते हैं। जिस सूत्रसदृश भागद्वारा स्त्री बीज उल्ब से चिपके हुए होते हैं उसको **बीजनाल**[8] कहते हैं। यदि गर्भाशय में एक बीजकोश हो तो उस को **एककोश**[9] और दो या उससे अधिक बीजकोश हो तो उसको **बहुकोश**[10] कहते हैं। स्त्री केशर एक[11] या अनेक[12] हो सकते हैं। अनेक होने पर यदि बीजकोश एक दूसरे के साथ थोड़े बहुत जुड़े हुए हों तो उसको **संयुक्त**[13] और यदि एक दूसरे से अलग हों तो उसको **असंयुक्त**[14] स्त्रीकेशर कहते हैं। गर्भाशय के ऊपर जो नली होती है उसको **परागवाहिनी** या **स्त्रीकेशरनलिका** कहते हैं। परागवाहिनी के सिरेपर जो सच्छिद्र फूला हुआ भाग होता है उसको **वाहिनीपरागमुख या योनि** कहते हैं। योनि विभक्त, गोल या पंख जैसी होती है। जिन पुष्पों में वायुद्वारा पराग आकर गर्भाधान होता है उनकी **योनि** गद्दीसरीकी होती है और जिनमें भ्रमर आदि जन्तुओं द्वारा गर्भाधान होता है उनकी योनि छोटे बिन्दुसरीखी होती है। गर्भाशय में जितने खाने (बीजकोश) होते हैं योनिपर प्रायः उतने ही कोण दिखाई देते हैं। हुलहुल के फूल में

---

[1] Pistil–पिस्टिल। [2] Ovary–ओवरी। [3] Style–स्टाईल। [4] Stigma–स्टिग्मा। [5] Loculus–लोक्युलस। [6] Ovules–ओव्युलस। [7] Placenta–प्लेसेन्टा। [8] Funicle–फ्युनिकल। [9] Unilocular–युनिलोक्युलर। [10] Polylocular–पोलिलोक्युलर। जब संयुक्त गर्भाशय (Compound Ovary–कम्पाउन्ड ओवरी) के भीतर रहे हुए बीजाणुओं के बीच में परदा नहीं होता या गर्भाशय के भीतर एक पोल दिखने के बदले अनेक पोल दिखें इस प्रकार ये परदे मध्य में जुडे हुए न हों तब उसको एककोश कहते हैं परन्तु जब दो या अधिक पोल स्पष्टतया दिखें इस प्रकार गर्भाशय की पोल के बीच में परदे रहे हुए हों तब उसको बहुकोश कहते हैं। [11] Monocarpellary–मोनोकार्पेलरी। [12] Polycarpellary--पोलिकार्पेलरी। [13] Syncarpous–सिनकार्पस। [14] Apocarpous–अॅपोकार्पस।

योनि सादी (कोण रहित) होती है, क्योंकि उसके गर्भाशय में एक ही बीजकोश होता है। गोखरू के परागवाहिनी के मुखपर पाँच कोण होते हैं, क्योंकि उसके गर्भाशय मे पाँच खाने होते हैं। जब गर्भाशय वृन्ताग्र (पुष्पासन) के ऊपर हो और वाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश तथा पुंकेशर नीचे की बाजू किनारे पर जुड़े हों (जैसे बेंगन के फूल में) तो उस पुष्प को **ऊर्ध्वस्थगर्भाशय**[१] और **अधःस्थकोश**[२] कहते हैं। जब पुष्पासन प्याले जैसा नतोदर हो, गर्भाशय पुष्पासनपर मध्य में अधिष्ठित हो और शेष भाग (बाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश और पुंकेशर) पुष्पासन के किनारेपर जुड़े हों (जैसे गुलाब के पुष्प में) तो उस पुष्प को **परिस्थकोश**[3] कहते हैं। यहां भी गर्भाशय ऊर्ध्वस्थ होता है। जब पुष्पासन के किनारे बढ़कर उसे केवल गहरे प्याले के आकार का नहीं बनाते बल्कि बढ़ते बढ़ते ऊपर जाकर मिल जाते हैं जिससे गर्भाशय पूर्णतः पुष्पासन में बन्द हो जाता है और शेष तीनों भाग गर्भाशय के सिरे से निकले हुए मालूम होते हैं (जैसे अनार के फूल में) तब उस पुष्प को **ऊर्ध्वस्थकोश**[४] और **अधःस्थ गर्भाशय**[५] कहते हैं।

पुष्प में जातिभेद--

जिस पुष्प में केवल पुंकेशर हों परन्तु स्त्रीकेशर न हों, उसे **पुंपुष्प**[६] **(नरफूल)** कहते हैं। जिस पुष्प में केवल स्त्रीकेशर हों परन्तु पुंकेशर न हों उसको **स्त्रीपुष्प**[७] **(मादा फूल)** कहते हैं। यदि एक ही पुष्प में पुंकेशर और स्त्रीकेशर दोनों हों तो उसको **उभयलिङ्ग**[८] कहते हैं। पुष्प प्रायः उभयलिङ्ग होते हैं। जिस पुष्प में पुंकेशर और स्त्रीकेशर दोनों न हों उस को **नपुंसक**[९] कहते हैं। जब किसी कारणवश पुष्प में पुंकेशर और स्त्रीकेशर दोनों हों परन्तु वे फलोत्पादन में समर्थ न हों तो उस को **वन्ध्य पुष्प** कहते हैं। यदि किसी उद्भिज्जपर केवल नर या मादा फूल लगते हों तो उस को **एकलिङ्ग**[१०] **पुष्प** कहते हैं। यदि नर और मादा दोनों प्रकार के पुष्प एक ही उद्भिज्जपर अलग अलग लगते हों तो उस उद्भिज्ज को **पृथगुभयलिङ्ग**[११] **पुष्प** कहते हैं।

उद्भिज्जों में सन्तानोत्पत्ति-

प्रत्येक जीवधारी-प्राणी या उद्भिज्ज के जीवन का प्रधान उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति कर के अपने वंश की परंपरा चालू रखना होता है। उद्भिज्जों में सन्तानोत्पत्ति दो

---

[१] Superior Ovary—सुपीरिअर ओवरी। [२] Hypogynous—हाइपोजिनस। [३] Perigynous—पेरिजिनस। [४] Epigynous—एपिजिनस। [५] Inferior Ovary—इन्फीरिअर ओवरी। [६] Male Flower—मेल फ्लावर। [७] Female Flower—फीमेल फ्लावर। [८] Bisexual—बाइसेक्श्यूअल। [९] Neuter—न्युटर। [१०] Unisexual—यूनिसेक्श्यूअल्। [११] Monoecious—मोनिसिअस्।

प्रकार से होती है—(१) लैङ्गिकी[1] और (२) अलैङ्गिकी[2]। दोनों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

लैङ्गिकी सन्तानोत्पत्ति——

गर्भाशय में जब बीजाणु (स्त्रीबीज) परिपक्व अर्थात् गर्भाधान के योग्य होते हैं तब योनि से मधुर रसवाला चिकना द्रव पदार्थ (रज) झरने लगता है। इस चिकने रसपर जब पराग पड़ता है तो वह इस रस के साथ परागवाहिनी द्वारा गर्भाशय में पहुँचकर स्त्रीबीज से मिलता है। इस प्रकार उद्भिज्जों में गर्भाधानक्रिया संपन्न होती है। गर्भाधानक्रिया संपन्न होने पर गर्भ बढ़ने लगता है। गर्भाधान होने के कुछ समय बाद पहले बाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश और पुंकेशर सूखकर गिर जाते हैं तथा पीछे योनि और परागवाहिनी भी गिर जाती है और गर्भाशय से फल बनता है तथा बीजाणु से बीज बनते हैं। सपुष्प उद्भिज्जों में प्रायः इस प्रकार से सन्तानोत्पत्ति होती है। इस प्रकार की सन्तानोत्पत्ति **पुंबीज** (पराग) और **स्त्रीबीज** के संयोग से होती है, इसलिये इसको **लैङ्गिकी** कहते हैं।

अलैङ्गिकी सन्तानोत्पत्ति---

काण्ड के प्रकरण में कहा गया है कि—काण्ड के सिरे (अग्रभाग), पत्रकोण, मूल, कन्द, पत्र आदि से जो नये पौधे उत्पन्न करनेवाले अंकुर निकलते हैं उनको **अक्षि** (आँख) कहते हैं। काण्ड का वह भाग जिसपर एक या अनेक आँखें लगी हों उसको जमीन में बोने पर या जमीन में स्थित जिस अधोगामी काण्ड (कन्द) पर आँखें निकली हों, उनको अनुकूल अवस्था मिलनेपर इन आँखों के नीचे से **जड़ें निकलकर** जमीन में जाती हैं और ऊपर से प्राङ्कुर निकल कर **जमीन से बाहर** बढ़ने लगता है, जो बढ़कर नया पौधा बन जाता है। इस प्रकार केल, वांस, हल्दी, प्याज, सूरण आदि में काण्ड से निकली हुई आँखों से सन्तानोत्पत्ति होती है। दूर्वा आदि में काण्ड से जो अवरोहमूल निकलते हैं वे जमीन में जाकर नया पौधा उत्पन्न करते हैं। पत्थरचूर-जखमेहयात आदि की पत्तियों में आँखें होती हैं। आंखों वाली उनकी पत्ती जमीनपर गिरकर जमीन में घुसने पर या उसको जमीन में घुसेड़ने पर उस से तत्सदृश नया पौधा उत्पन्न होता है। हंसराज आदि अपुष्प उद्भिज्जों की पत्तियों में बीजक[3] होते हैं उनसे भी इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति होती है। इस प्रकार की सन्तानोत्पत्ति पराग (पुंबीज) और बीजाणु (स्त्रीबीज) के संयोग के विना ही होती है, इसलिए उसको **अलैङ्गिकी सन्तानोत्पत्ति** कहते हैं।

---

[1] Sexual reproduction-सेक्श्यूअल रीप्रोडक्शन् [2] Asexual reproduction-ऐंसेक्श्यूअल रीप्रोडक्शन : [3] Spores-स्पोर्स।

फल और बीज

उद्भिज्ज के सन्तानोत्पादक अवयवों में से पुष्प का वर्णन अगले प्रकरण में किया गया है। उद्भिज्जों में प्रधान सन्तानोत्पादक अवयव बीज होता है। बीज फल के भीतर रहता है और फल बीज का रक्षण करता है, इसलिये इस प्रकरण में पहले फल का और पीछे बीज का वर्णन किया जायगा।

'फल' शब्द की निरुक्ति–

'फल' शब्द 'फल निष्पत्तौ' इस धातु से 'फलति निष्पद्यते' इति फलं = जो उद्भिज्जजीवन में अन्त में उत्पन्न होता है वह फल कहलाता है, इस व्युत्पत्ति से बना है।

फल के अवयव–

फल में **(१) वृन्त, (२) त्वचा, (३) मांस, (४) अस्थि** और **(५) बीज** ये पांच अवयव होते हैं। पुष्प के प्रकरण में कहा गया है कि पुष्प में गर्भाधान होने के बाद बाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश और पुंकेशर सूखकर गिर जाते हैं। पुष्पवृन्त के ऊपर केवल स्त्रीकेशर (स्त्रीकेशर के गर्भाशय का भाग) ही बीज के पोषण और रक्षण के लिये शेष रह जाता है। फल बनने पर पुष्पवृन्त को ही **फलवृन्त**[१] नाम दिया जाता है। गर्भाशय परिपक्व होने पर परिपक्व **गर्भाशय**[२] (फल की दीवाल) तीन तहों में विभक्त हो जाता है। सबसे ऊपर की तह जो चर्मवत् होती है उसको **फलत्वचा**[३] कहते हैं। बीच की मांसल (गूदेदार) तह को **फलमांस** या **मांस** (गूदा) कहते हैं। अन्दर की कठोर तह को **अस्थि** या **अष्टि**[५] कहते हैं। आम, जामुन आदि रसाल फलों में ये तीनों तहें स्पष्ट देखी जा सकती हैं। फल की दीवाल के भीतर **बीज** होता है। बीज का विशेष विवरण बीज के प्रकरण में किया जायगा। कच्चे फल को **शलाटु**[६] और सूखे हुए फल को **वान**[७] कहते हैं।

फलों का वर्गीकरण––

प्राचीन और अर्वाचीन उद्भिज्जवेत्ताओं ने फलों का भिन्न भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। उनमें से मुख्य मुख्य वर्गों का वर्णन नीचे दिया जाता है।

प्राचीनमत से फलों का वर्गीकरण–

प्राचीनों ने सब प्रकार के फलों का तीन वर्गों में समावेश किया है–(१) **शूकवर्ग**, (२) **शम्बीवर्ग** और (३) **शस्यवर्ग**। जिन फलों में बीजकवच और फलत्वचा

---

[१] Carpophore–कार्पोफोर। [२] Peri-Carp–पेरिकार्प। [३] Epicarp–एपिकार्प। [४] Mesocarp–मेसोकार्प। [५] Endocarp–एन्डोकार्प। [६] Raw fruit–रॉ फ्रूट [७] Dry fruit—ड्राय फ्रूट।

मिलकर एक से हो गये हो उनको **शूकफल या शूकधान्य**[१] कहते हैं; जैसे शालि, गेहूँ, मकई आदि। जो फल नीरस, एकबीज या बहुबीज और प्रायः विदारी (बीज पकने पर जिनकी त्वचा संधिस्थान पर से अपने आप फट जाय ऐसे) हों उनको **शिम्बीफल**[२] (सेम) कहते हैं। शिम्बी अविदारी भी होती है, जैसे अमलतास और मूंगफली की शिम्बी। इन दोनों वर्गों से भिन्न अन्य सब प्रकार के फलों को प्राचीनों ने **शस्य या फल** नाम दिया है।

आधुनिक मत से 'फल' शब्द की व्याख्या—

सामान्य बोलचाल में आम, अमरूद, सेव, शहतूत, कटहल, अंजीर, मटर की सेम आदि जिनको हम 'फल' कहते हैं, उनके लिये शास्त्रीय परिभाषा में भिन्न भिन्न पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

वास्तविक और फलाभास फल—

शास्त्रीय परिभाषा में स्त्रीकेशर के नीचे का गर्भाशय परिपक्व (फल के रूप म परिणत) होकर जो फल बनता है उसको **वास्तविक**[३] (सच्चा) फल कहते हैं; जैसे आम, जामुन आदि। कहीं कहीं पुष्प के अन्य अवयव भी गर्भाशय के साथ फल बनने में सहायता पहुँचाते हैं अर्थात् फल के रूप में परिणत होते हैं। जैसे सेव और नासपाती में पुष्पवृन्ताग्र गर्भाशय के चारों ओर बढ़कर मांसल हो जाता है और फल का रूप धारण करता है, भव्य (चाल्ता) में पुष्पबाह्यकोश कायम रहकर मांसल हो जाता है और यह फल का अधिकांश होता है, काजू और भिलावे में पुष्पवृन्त ही मांसल और फूला हुआ होता है, जो फल जैसा दिखता है और खाया जाता है। इस प्रकार के फलों को **फलाभास**[४] कहते हैं।

एकाकी, सामूहिक और संयुक्त फल—

फल के मुख्य तीन भेद होते हैं—(१) **एकाकी**[५]; (२) **सामूहिक** और (३) **संयुक्त फल**। जो फल एक ही पुष्प से (वह पुष्प एककोश हो या अनेककोश हो परन्तु संयुक्त गर्भकोश हो उससे) बनता है उसको **सादा या एकाकी**[५] फल कहते हैं; जैसे आम, नारियल आदि। जो फल असंयुक्तगर्भकोश (पृथग्गर्भकोश) वाले एक ही पुष्प से बनता है उसको **सामूहिक**[६] फल कहते हैं; जैसे कमल, सीताफल (शरीफा) आदि। जो फल पुष्पसमूह से बनता है उसको **संयुक्त**[७] फल कहते हैं; जैसे अंजीर, शहतूत, कटहल, अनन्नास आदि।

---

[१] Caryopsis—केरिओप्सिस। [२] Legume—लेग्युम्। [३] True fruits—ट्रू फ्रूट्स। [४] Pseudo carp False-fruits—सूडोकार्प या फॉल्स फ्रुट्स। [५] Simple friuts—सिम्पल फ्रुट्स। [६] Aggregate fruit—अॅग्रिगेट फ्रूट। [७] Composite fruit—कॉम्पोझिट फ्रूट।

रसाल और नीरस फल–

आम, अनार, अंगूर, संतरा आदि फलों में पक्वदशा में रसवाला भाग होता है, इसलिये उनको **रसाल**[1]या **मांसल फल** कहते हैं । मटर, चना, मूंगफली आदि फलों में पक्वदशा में रसवाला पदार्थ नहीं होता, इसलिये उनको **नीरस**[2]फल कहते हैं।

विदारी और अविदारी फल–

जो फल बीज पकने पर बीजों को बाहर निकालने के लिये अपने आप विदीर्ण होते हैं–फटते हैं, **उनको बिदारी**[3]कहते हैं; जैसे मटर, कोयल की सेम आदि। जो फल अपने आप न फटकर पकने पर सूखकर जमीन पर गिरते हैं उनको **अविदारी**[4]कहते हैं । विदारी फलों में विदरण (फटना) कई प्रकार से होता है। मटर, मूंग आदि की सेम दोनों बाजुओं पर संविस्थान से फटती हैं और बीज बाहर आते हैं । सरसों, राई आदि की सेम दोनों सन्धियों पर नीचे से ऊपर की ओर फटती है, परन्तु बीज एक परदे पर चिपके रहते हैं। भिंडी की फली अनेक सन्धियों पर फटती है । अफीम के फल में अग्रभाग पर अनेक सूक्ष्म छिद्र होते हैं। कड़वी तोरई में फल के अग्रपर एक बड़ा छिद्र होता है । इस प्रकार कहीं से भी सूखनें पर अपने आप फटनेवाले फलों को सामान्यतः **विदारी** फल कहते हैं।

एकबीज, बहुबीज और अबीज फल–

जिन फलों में एक ही बीज होता है **उनको एकबीज**[5]कहते हैं; जैसे आम, जामुन आदि । जिनमें एक से अधिक बीज होते हैं **उनको बहुबीज** कहते हैं; जैसे अमरूद, अनार आदि । जिन फलों में बीज न हों **उनको अबीज** कहते हैं; जैसे किशमिश (बेदाना अंगूर) ।

फलों के अन्य प्रकार–

तूलफल-आक, रूई, सेमल आदि के फलों में रूई होती है, ऐसे फलों को तूलफल कहते हैं ।

अष्टिल फल[6]––

जिन फलों में अष्टि हो उनको अष्टिल कहते हैं; जैसे आम, नारियल, बादाम आदि ।

संयुक्त फल--जब एक फल एक पुष्प से नहीं किन्तु संपूर्ण पुष्पसमूह-(कुसुमोच्चय) से बनता है आर्थात् संपूर्ण कुसुमोच्चय फल के रूप में परिणत होता है, उसको **संयुक्त फल** या **संकीर्ण फल** कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं

---

[1] Fleshy or succulent–फ्लेशि या सक्युलेन्ट । [2] Dry fruit–ड्राय्फ्रूट । [3] Dehiscent–डिहिसेन्ट । [4] Indehiscent–इन्डिहिसेन्ट । [5] Achene–अॅकीन । [6] Drupe–ड्रूप ।

(१) गोलाकार और (२) शंक्वाकार। जब वृन्ताग्र (कर्णिका) पोला और गोल बटुए के आकार का होता है और भीतर अनेक छोटे छोटे फल ढके हुए होते हैं तथा कर्णिका बढ़कर और मांसल होकर फल जैसी मालूम होती है, उसको **गोलाकार[१] संयुक्त फल** कहते है। जैसे अंजीर, गूलर के फल आदि। जब एक पुष्पमञ्जरी से एक मांसल फल बनता है तो उसको **शंक्वाकार[२] संयुक्त फल** कहते हैं। ऐसे फलों में गर्भाधान के बाद पुष्पसमूह के सब पुष्प आपस में तथा पुष्पदण्ड के साथ ऐसे मिल जाते हैं कि संपूर्ण पुष्पसमूह एक फल कहा जाने लगता हैं। जैसे अनन्नास, कटहल, शहतूत आदि।

सपक्ष फल—

कई फलों में फलकवच में से पाँखें फूटती हैं। इन पंखों की सहायता से फल हवा में उड़ सकते हैं। ऐसे फलों को **सपक्ष[3]** (**पंखवाले**) फल कहते हैं।

बीज[४]

गर्भाधान के बाद बीजाणु से बीज बनता है यह पहले कहा गया है। बीज के दो भेद होते हैं—(१) **आवृतबीज[५]** और (२) **नग्नबीज**। जो बीज फल से आवृत (ढके हुए) होते हैं (जैसे आम, मटर, अनार आदि के बीज) उनको आवृतबीज और जो फल से ढके हुए नहीं होते अर्थात् खुले (नग्न) होते हैं उनको **नग्नबीज[६]** कहते हैं। बीज में **बीजत्वचा** (बीजकवच) और **बीजगर्भ** ये दो मुख्य भाग होते हैं। बीज के बाहर जो आवरण होता है **उसको बीजत्वचा** कहते हैं। धान्य की त्वचा को **तुष** कहते हैं। बीज की त्वचा (छिलका) दो स्तरों से बनी हुई होती है। बाहर का स्तर मोटा होता है, **उसको बहिस्त्वक्[७]** और अन्दर का स्तर पतला होता है **उसको अन्तस्त्वक्[८]** कहते हैं। शालि, गेहूँ, मकई आदि में बीज की त्वचा और फल की त्वचा मिलकर एकसी हो जाती है। बीज की त्वचा कभी रसाल (जैसे अनार के बीज में), प्रायः नीरस, कभी चिकनी (जैसे कोयल के बीज में), कभी खर (जैसे चने के बीज में), कभी रूई वाली (जैसे सेमल, कपास आदि में), इत्यादि विविध प्रकार की होती हैं। चने आदि के बाज पर कुछ उभरा भाग होता है, **उसको नाभि[९]** कहते हैं। इस नाभि से **बीजनाल[१०]** निकल कर उल्ब से संसक्त होता है। बीजनाल गिरने पर

---

[१] Syconus- सायकोनस। [२] Sorosis सोरोसिस। [३] Samara-समारा। [४] Seed-सीड। [५] Angiospermous-ॲन्जिओस्पर्मस्। [६] Gymnospermous--जिम्नोस्पर्मस्। [७] Embryo--एंब्रिओ। [८] Testa-टेस्टा। [९] Tegmen—टेग्मेन। [१०] Hilum- हिलम्।

नाभिस्थान पर सूक्ष्म छिद्र रह जाता है, उसको बीजरन्ध्र[1] कहते हैं। बीज को जल में भिगोकर कुछ समय रखने पर वह फूल जाता है। फूले हुए बीज को दबाने से इस बीजरन्ध्र से पानी की बूंद बाहर आती है। बीजगर्भ में एक या दो दल[2] (दाल), प्ररोह[3] और आदिमूल[4] (बुध्र) होता है[5]।

प्राचीनमतेनोद्भिज्जानां भेदाः—

द्रव्यं यदङ्कूरजमाहुरार्यास्तत्ते पुनः पञ्चविधं वदन्ति । वनस्पतिश्चापि स एव वानस्पत्यः क्षुपो वीरुदथौषधी च ॥ ज्ञेयः सोऽत्र वनस्पतिः फलति[6] यः पुष्पैर्विना, तैः फलाद्वानस्पत्य इति स्मृतस्तनुरसौ ह्रस्वः क्षुपः कथ्यते । या वल्लत्यगमादिसंश्रयवशादेषा तु वल्ली स्मृता, शाल्यादिः पुनरोषधिः फलपरीकावसाना मता ॥

जो उद्भिज्ज पुष्प के विना उत्पन्न होता है उसको **वनस्पति**, जो पुष्प से उत्पन्न होता है उसको **वानस्पत्य**, जो वृक्ष छोटा हो उसको **क्षुप**, जो वृक्ष आदि आश्रय को लपेटती है उसको **वल्ली** और फल पकने पर जिसका नाश होता है उसको **औषधि** कहते हैं (रा. नि.)।

उद्भिज्जानां पाञ्चभौतिकत्वम्--

यत् काठिन्यं सा क्षितिर्यो द्रवोऽम्भस्तेजस्तूष्मा वर्धते यत् स वातः । यच्छिद्रं तन्नभः स्थावराणामित्येतेषां पञ्चभूतात्मकत्वम् ॥ (रा. नि. १ वर्गः)।

उद्भिज्जों में जो काठिन्य है वह पृथ्वी का, द्रवत्व जल का, ऊष्मा और रूप तेज का, बढ़ना वायु का और छिद्र आकाश का अंश (कार्य) है, इसलिये सब उद्भिज्ज पाञ्चभौतिक हैं।

प्राचीनकोशषूक्ता उद्भिजाङ्गानां पर्यायाः--

वृक्षनाम--कुजः क्षितिरुहोऽङ्घ्रिप शिखरिपादपो विष्टरः कुटस्तरुरनोकहः कुरुहभूरुहद्रुद्रुमाः । अगो नगवनस्पती विटपिशाखिभूजागमा महीजधरणीरुहक्षितिजवृक्षशा(सा)लाह्वयाः ॥ **फलितवृक्षनाम**--फलितः फलवानेष फलिनश्च फली तथा । फलेग्रहिरवन्ध्यो यः स्यादमोघफलोदयः ॥ **अफलवृक्षनाम्**--अथावकेशी वन्ध्योऽयं विफलो निष्फलोऽफलः । **मूलनाम**– मूलं तु नेत्रं पादः स्यादङ्घ्रिश्चरणमित्यपि॥ **अङ्कुरनाम**–उद्भेदस्त्वङ्कुरोज्ञेयः प्ररोहोऽङ्कूर इत्यपि। अवाग्भागोऽस्य बुध्नः स्यान्नितम्बः स पृथुर्भवेत् । **प्रकाण्डनाम**--आस्कन्धा (त्) तु प्रकाण्डः स्यात् काण्डो दण्डश्च कथ्यते ॥ स्कन्धः प्रघाणो; **शाखानाम**-ऽस्य

---

[1] Funicle–फ्युनिकल । [2] Micropyle–माइक्रोपाइल । [3] Cotyledon–कॉटिलिडन् । [4] Plumule–प्ल्युम्युल । [5] Radical–रॅडिकल । [6] फलति निष्पद्यते ।

लतास्तु शाखाः, शाखोत्थशाखास्तु भवन्ति शालाः । **जटानाम**--जटाः शिखास्तस्य, किलावरोहः शाखाशिफाः **सारनाम**---मज्जनि सारमाहुः ॥ **कोटरत्वङ्नाम**–निष्कुटं कोटरं प्रोक्तं, त्वचि वल्कं तु वल्कलम् । **वल्लरीनाम**—नवपुष्पाढ्यशाखाग्रे वल्लरी मञ्जरी तथा ॥ **पर्णनाम**—पर्णं पत्रं दलं बर्हं पलाशं छदनं छदः । **पल्लवनाम**--स्यात् पल्लवः किश(स)लयः प्रवालः पल्लवं नवम् ॥ **विटप-शिखरनाम**—विस्तारो विटपः प्रोक्तः, प्राग्रं तु शिखरं शिरः । **पर्णसिरा-वृन्तनाम**—माढिः पर्णसिरा ज्ञेया, वृन्तं प्रसवबन्धनम् ॥ **कलिकानाम**--कोरक-मुकुल-क्षोरक-जालक-कलिकास्तु कुड्मले कथिताः । **पुष्पनाम**–कुसुमं सुमनः प्रसूनप्रसवसुमं सून-फुल्ल-पुष्पं स्यात् ॥ **मकरन्दनाम**--मकरन्दो मरन्दश्च मधु पुष्परसाह्वयम् । **परागनाम**--पौष्पं रजः परागः स्यान्मधूली धूलिका च सा ॥ **गुच्छनाम**--गुच्छो गुलुञ्छः स्तबको गुच्छकः कुसुमोच्चयः । ××× । **फलनाम**--आहुस्तरूणां फलमत्र सस्यं तदाममुक्तं हि शलाटुसंज्ञम् । शुष्कं तु वानं प्रवदन्ति; **गुल्मनाम**--गुल्मस्तम्बौ प्रकाण्डै रहिते महीजे ॥ **लतानाम**--उलपं गुल्मिनी बीरुल्लता वल्ली प्रतानिनी । व्रतती व्रततिश्चैषा विस्तीर्णा वीरुदुच्यते (रा. नि. २ वर्ग) ॥ वृक्षो द्रुमो भूरुहो द्रुर्विटपी विष्टरोऽङ्घ्रिपः । अनोकहो नगो भूरुट् तरुः शाखो कुठः कुजः ॥ वसुः करालिकोऽगच्छो ज(जी)र्णो रूक्षः पुलाक्यपि । **वानस्पत्यः**--पुष्पफली, **फली त्वेव वनस्पतिः** ॥--**औषधिः** फलपाकान्ता, ह्रस्वशाखाशिफः **क्षुपः** । अप्रकाण्डे **स्तम्बगुल्मावुलपस्तु** प्रतानिनी ॥ गुल्मिन्यपि च, **वल्ली** तु व्रततिर्व्रतती लता । वन्ध्यो वृक्षोऽवकेशी स्यादगन्ध्यस्तु **फलेग्रहिः** ॥ **पुष्पितः** स्यात् कुसुमितः, फलितः फलिनः फली । फुल्ले प्रफुल्लसंफुल्लव्याकोचविकचस्फुटाः॥ उत्फुल्लोन्मिषितोन्निद्रा उब्दुन्द्वोन्मीलितस्मिताः । फलमामं **शलाटुः स्याद्वानं शुष्कतरं** फलम् ॥ त्रिषु वन्ध्यादयोऽथ स्यादङ्कुरोऽङ्कूरमस्त्रियौ । **प्ररोहश्चाथ** वंशस्स्याद्योऽङ्कुरः पर्वसूत्थितः ॥ **परुः पर्वं** पुमान् ग्रन्थिर्निर्यासः खपुरो लशः । **शिफा** जटाऽवरोहस्तु सा शाखाजा वटादिषु ॥ **मूलं** बुध्नोऽङ्घ्रिनामा स्यादास्कन्धात् स्यात् **प्रकाण्डकम्** । स दारुमात्रः **स्थाण्वस्त्री, दारु** काष्ठमथत्रयी ॥ छल्ली त्वक् स्त्री त्वचा न वली वल्कलं चोलकोऽस्त्रियौ । चोचं वल्कं च, सारस्तु **मज्जा,** स्रावः किनाटकम् ॥ **निष्कुटः कोटरो न स्त्री, विदलं** दारु पाटितम् । स्कन्धः प्रधाणोऽथ शिखा शाखाऽथ **शिखरं शिरः** ॥ स्कन्धशाखा तु **शाला** स्यात्, **प्रवालः** पल्लवाङ्कुरः । विस्तारो विटपस्स्तम्ब, उच्छ्रावस्तु समुन्नतिः ॥ छदस्तु छदनं पत्रं पलाशं पतनं **दलम्** । पर्णं बर्हं पतत्रं च, त्रयी **शुङ्गाऽस्य कोशिका** ॥ **पल्लवोऽस्त्री** किसलयं किसलोऽपि नवे दले । पत्रमध्यसिरा **माढिः, पुष्पोऽस्त्री** कुसुमं सुमम् ॥ मणीवकं प्रसूनं च सूनं सुमनसः स्त्रियः । **मकरन्दो** मरन्दोऽस्य

रसे, जालं तु जालकम् ।। कलिका कोरकश्चाथ कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियो। गुच्छो गुलुञ्छस्तबको मञ्जर्यां मञ्जरिवल्लरी ।। प्रसवः पिप्पलं सस्यं फलं, वृन्तं तु बन्धनम्। (वैजन्तीकोश) ।। वृक्षोऽगः शिखरी च शाखिफलदावद्रिर्हरिद्रुर्द्रुमो जीर्णो द्रुर्विटपी कुटः क्षितिरुहः कारस्करो विष्टरः। नन्द्यावर्तकरालिको तरुवसू पर्णी पुलाक्यङ्घ्रिपः सालाऽनोकहगच्छपादपनगा रूक्षागमो पुष्पदः ।। पुष्पैस्तु फलवान् वृक्षां वानस्पत्यो, विना तु तैः। फलवान् वनस्पतिः स्यात्, फलावन्ध्यः फलेग्रहिः ।। फलवन्ध्यत्ववकेशी फलवान् फलिनः फलो। औषधिः स्यादौषधिश्च फलपाकावसानिका ।। क्षुपो ह्स्वशिफाशाखाः प्रततिर्व्रततिर्लता। वल्लचस्यां तु प्रतानिन्यां गुल्मिन्युलपवीरुधः ।। स्यात् प्ररोहोऽङ्कुरोऽङ्कूरो रोहश्च, स तु पर्वणः। समुत्थितः स्याद्बलिशं शिखाशाखालताः समाः ।। साला शाला स्कन्धशाखा, स्कन्धः प्रकाण्डमस्तकम्। मूलाच्छाखावधिर्गण्डिः प्रकाण्डोऽथ, जटा शिफा ।। प्रकाण्डरहिते स्तम्बो विटपो गुल्म इत्यपि। शिरोनामाऽग्रं शिखरं, मूलं वुध्नोऽङ्घ्रिनाम च ।। सारो मज्जि, त्वचि छल्ली चोचं वल्कं च वल्कलम्। स्थाणो तु ध्रुवकः शङ्कु, काष्ठे दलिकदारुणी ।। निष्कुहः कोटरो, मज्जा मज्जरिर्वल्लरिश्च सा। पत्रं पलाशं छदनं बर्हं पर्णं छदं दलम् ।। नवे तस्मिन् किसलयं किसलं पल्लवोऽत्र तु। नवे प्रवालोऽस्य कोशी शुङ्गा, माढिर्दलस्नसा ।। विस्तारविटपी तुल्यो, प्रसूनं कुसुमं सुमम्। पुष्पं सूनं सुमनसः प्रसवश्च मणीवकम् ।। जालकक्षारको तुल्यो कलिकायां तु कोरकः। कुड्मले मुकुलं, गुञ्छे गुच्छस्तबकगुत्सकाः ।। गुलुच्छोऽथ, रजः पौष्पं परागोऽथ रसं मधु। मकरन्दो मरन्दश्च, वृन्तं प्रस्रवबन्धनम् ।। प्रवुद्धोज्जृम्भफुल्लानि व्याकोशं विकचं स्मितम्। उन्मिषितं विकसितं दलितं स्फुटितं स्फुटम् ।। प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लोच्छ्वसितानि विजृम्भितम्। स्मेरं विनिद्रमुन्निद्रविमुद्रहसितानि च ।। संकुचितं तु निद्राणं मीलितं मुद्रितं च तत्। फलं तु सस्यं, तच्छुष्कं वानसाम्रं शलाटु च ।। ग्रन्थिः पर्वं परुर्वीजकोशी शिम्बा शमी शिमिः। शिम्बिश्च (अभिधानचिन्तामणौ भूमिकाण्डः) ।। वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः। अनोकहः कुटः सा (शा.) लः पलाशी द्रुद्रुमागमाः ।। वानस्पत्यः फलैः पुष्यात, तैरपुष्पाद्वनस्पतिः। औषधिः फलपाकान्ता, स्यादबध्यः फलेग्रहिः ।। बन्धोऽफलोऽवकेशी च, फलबान् फलिनः फली। प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः। फुल्लश्चैते विकसिते स्युरबन्ध्यादयस्त्रिषु। स्थाणुर्वा ना ध्रुवः शङ्कुर्ह्स्वशाखाशिफः क्षुपः ।। प्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ, वल्ली तु व्रततिर्लता ।। लता प्राततिनी वीरुदगुल्मिन्युलप इत्यपि। नगाद्यारोह उच्छ्राय उत्सेधश्चोच्छ्रयश्च सः ।। अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः। समे शाखालते, स्कन्धशाखाशाले शिफाजटे ।। शाखाशिफाऽवरोहः

स्यान्मूलाच्चाग्रं गता लता। शिरोऽग्रं **शिखरं** वा ना, **मूलं** बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः॥ **सारो मज्जा नरि, त्वक् स्त्री** वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्। काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम्। निष्कुहः **कोटरं** वा ना, वल्लरिर्मञ्जरिः स्त्रियौ॥ **पत्रं** पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्। **पल्लवोऽस्त्री** किसलयं, विस्तारो **विटपोऽस्त्रियाम्**॥ वृक्षादीनां फलं सस्यं वृन्तं प्रसवबन्धनम्। आमे फले शलाटुः स्याच्छुष्के वानमुभे त्रिषु॥ क्षारको जालकं क्लीबे, कलिका कोरकः पुमान्। स्याद्गुच्छकस्तु स्तबकः, कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्॥ स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसून **कुसुमं सुमम्**। मकरन्दः पुष्परसः परागः सुमनोरजः॥ किंशारुः सस्यशूकं स्यात्, कणिशं सस्यमञ्जरी। धान्यं व्रीहिः स्तम्बकरिः, स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः॥ नाडी नालं च काण्डोऽस्य, पलालोऽस्त्री स निष्फलः। कडङ्गरो बुसं क्लीबे, धान्यत्वचि तुषः पुमान्। शूकोऽस्त्री सूक्ष्मतीक्ष्णाग्रे, शमी शिम्बा त्रिषूत्तरे[1]। वीजकोशे वराटः स्यात्, किञ्जल्कः केशरः पुमान्। (अमरकोश, भूम्यादिकाण्ड)॥

---

१. 'वृश्चयते छिद्यते' इति **वृक्षः** 'मह्यां रोहति' इति **महीरुहः**, 'शाखा अस्यास्ति इति शाखी। 'विटपः शाखाविस्तारोऽस्त्यस्य' इति विटपो। 'पादैः मूलैः पिबति' इति पादपः। 'तरति, तरन्त्यनेन वा' इति तरुः 'अनसःशकटस्याकं गति हन्ति इति'अनोकहः। 'कुटति' ('कुट' कौटिल्ये) इति कुटः। 'पलाशानि पत्राणि सन्त्यस्य' इति पलाशी। 'द्रवत्यूर्ध्वं' इति द्रुः 'द्रुः शाखा अस्त्यस्य' इति द्रुः। **त्रयोदश वृक्षस्य** 'ओष प्लोषो दीप्तिर्वा धीयतेऽत्र' इति ओषधिः; एकं फलपाकान्तस्य व्रीहियवादेः। 'फलानि गृह्णाति' इति फलेग्रहिः। **फलसमये फलग्राहकस्य**। 'बध्नाति फलं' इति बन्ध्यः। 'अवसन्नाः केशा यस्य सोऽवकेशः निष्केशःसोऽस्ति दृष्टान्तत्वेनास्य' इति स यथा निष्केशः एवमयं निष्फलः **अवकेशी**। **त्रीणि ऋतावपि फलरहितस्य**। फलवानित्यादीनि त्रीणि **फलसहितवृक्षस्य**। 'प्रकर्षेण उत्कर्षेण सम्यक् वा फुल्लति' ('फुल्ल' विकसने) इति प्रफुल्लोत्फुल्लसफुल्लाः। 'व्यावृतः कोशः संकोचो यस्मात्' इति व्याकोशः। 'विगतः कचो यस्मात्'। ('कच' बन्धने) इति विकचः। 'स्फुटति' इति स्फुट। **अष्टौ प्रफुल्लितवृक्षस्य** 'तिष्ठति' इति स्थाणुः। 'ध्रुवति' ('ध्रुव' गतिस्थैर्ययो) इति ध्रुवः। 'शङ्कते अस्मात्' इति शङ्कु। **त्रीणि शाखापत्ररहिततरोः**। स्तम्बगुल्मौ अप्रकाण्डे स्कन्धरहिते। 'वल्लते' ('वल्ल' संवरणे) इति वल्ली। 'प्रकृष्टा ततिर्यस्याः, 'प्रतनोति' इति वा प्रततिः; पृषोदरादित्वात यस्य वो वा व्रततिः। 'लतति इति लती '(लतिः सौत्रो धातुर्वेष्टनार्थं) **त्रीणि लतामात्रस्य**। 'शाखापत्रसंचयः प्रतानः, सोऽस्त्यस्या' इति प्रतानिनी। 'इदृशी लता वारुधादिशब्दवाच्या। विरुणद्धि' इति वीरुध्। 'गुल्मः प्रतानोऽस्त्यस्याः' इति गुल्मिनीदि 'उल्यते' ('उलः' सौत्रो धातुरावरणार्थ) इति उलपः। '**त्रीणि शाखादिभिर्विस्तृतलतायाः**। उच्छ्रायोत्सेधोच्छ्रयाः **वृक्षादिदैर्घ्यस्य**। शाखति व्याप्नोति' इति शाखा शाखालते द्वे **वृक्षादिशाखायाः**। स्कन्धशाखाले द्वे स्कन्धात् **प्रथमोत्पन्न शाखायाः**। 'शेते भूमौ' इति शिफा। 'जटति सङ्घ तेनोत्पद्यते' इति जटा। **द्वे तरुमूलस्य**। 'अवरोहति

कुज,क्षितिरुह, अङ्घ्रिप, शिखरी,पादप,विष्टर,कुट(ठ),तरु,अनोकह, कुरुह, महीरुह, द्रु, द्रुम,अग, नग,वनस्पति,विटपी,शाखी, भूज, अगम, महोज, धरणीरुह, क्षितिज, वृक्ष, साल, बसु, करालिक, अगच्छ, जी(जर्ण),रुक्ष,पुलाकी, फलद अद्रि, हरि, कारस्कर, नन्द्यावर्त, पर्णी, गच्छ, पुष्पद और पलाशी ये वृक्ष के पर्याय हैं। फलित, फलवान्, फली, फलिन, फलेग्रहि, अव (ब)न्ध्य और अमोघफलोदय ये फल वाले(जिसमें फल लगते हों ऐसे) वृक्ष (उद्भिज्ज)के पर्याय हैं। अवकेशी, व (ब)न्ध्य, विफल, निष्फल और अफल ये जिसमें फल न लगते हों ऐसे उद्भिज्ज के पर्याय हैं। पत्र और शाखारहित वृक्ष को 'स्थाणु' 'ध्रुब' और 'शङ्कु' कहते हैं। जिस वृक्ष में शाखायें और मूल छोटे हों उसको 'क्षुप' कहते हैं। प्रकाण्डरहित उद्भिज्ज को 'गुल्म', 'स्तम्ब' और 'विटप' कहते हैं। वल्ली, व्रतति (ती), प्रतति (ती) और लता ये वेल-लता के पर्याय हैं। अनेक शाखा और पत्रों के संचय से जो लता बहुत विस्तारवाली हो उसको 'प्रतानिनी', वीरुध्',

---

लम्बते' इति अवरोहः; वटादेः शाखाया अवलम्बिनी शिफा। एकं शाखामूलस्य। मूलादूर्ध्वं गता शिफा लता स्यात्। एकं वृक्षाग्रगामिन्या लतायाः। शिरः, अग्रं, शिखरं त्रीणि वृक्षादिशिखरस्य। 'मूलति'('मूल''प्रतिष्ठायां')इति मूलम्। 'बध्यते' 'वुध्यते अनेन'इति वा वुध्नः। अङ्घ्रेर्नाम यस्य सः अङ्घ्रिनामकः,तेन पादादयोऽपि। त्रीणि मूलमात्रस्य। 'सरति'('सृ' स्थिरे)इति सारः। 'मज्जति' इति मज्जा। द्वे वृक्षादेः स्थिरांशस्य। 'त्वचति'('त्वच' संवरणे)इति त्वक्। 'बलति('वल'संवरणे), इति बल्कम्। 'वल्कं लाति' इति वल्कलम्। त्रीणि वृक्षादित्वचः। 'काशते' ('काशृ' दीप्तौ)इति काष्ठम्। 'दीर्यते'('दृ'बिदारणे)इति दारु। द्वे काष्ठमात्रस्य। 'निश्चयेन कुहयते'('कुह' विस्मापने)इति निष्कुहः। कुटनं कीटः('कुट' कौटिल्ये), 'कोटं राति' इति कोटरः। द्वे वृक्षादिरन्ध्रस्य। वल्लरिः, मञ्जरिः, द्वे तुलस्यादेर्नवोद्भिदि। 'पतति' इति पत्रम्। 'पलति रक्षति' इति पलाशम्। 'छद्यते अनेन' ('छद' अपवारणे)इति छदम्। 'दलति' ('दल' विदारणे) इति दलम्। 'पिपर्ति' 'पृ' पालनपूरणयोः),' 'पृणति' ('पृण' प्रीणने), 'पर्णयति' ('पर्ण' हरितभावे) इति वा पर्णम्। 'छाद्यते अनेन' इति छदः। षट् पत्रमात्रस्य। पल्लवः, किसलयं द्वे नवपत्रस्य। विस्तारः, विटपः, द्वे शाखादिविस्तारस्य। 'फलति निष्पद्यते' इति फलम्। 'शस्यते हिंस्यते भक्षणार्थम्' इति शस्यम्। द्वेफलस्य। 'वृणोति'('वृन्' वरणे) इति वृन्तम्। प्रसवस्य पुष्प-फल-पत्रस्य वन्धनम्। द्वे पुष्पादिमूलाधारवृन्तस्य। शलाटुः एकमपक्वफलस्य। 'वायति स्म ('ओ वै' शोषणे)' इति वानम्। एकं शुष्कफलस्य। क्षारकः, जालकः, द्वे नवकलिकावृन्दस्य। कलिका, कोरकः, द्वे अविकसितकलिकायाः। गुत्सः, स्तबकः, कुड्मलः मुकुलः, चत्वारि ईषद्विकासोन्मुखकलिकायाः। सुमनः, पुष्प, प्रसूनं, कुसुमं चत्वारि पुष्पसामान्यस्य। मकरन्दः, पुष्परसः, द्वे पुष्पमधुनः। परागः, सुमनोरजः, द्वे पुष्परेणोः (अमरकोश की व्याख्याओं से उद्धृत)।

'गुल्मिनी' और 'उलप' कहते हैं। वृक्षादि की ऊँचाई को 'उच्छ्राय, उत्सेध' और 'उच्छ्रेय' कहते हैं। वृक्षादि के फैलाव को 'विस्तार', 'विटप' और 'स्तम्ब' कहते हैं। पुराने वृक्ष में जो पोल होती है उसको 'निष्कुह(ट)' और 'कोटर' कहते हैं। मूल, नेत्र, पाद, अङ्घ्रि, चरण, शिफा, जटा और बुध्न ये मूल के पर्याय हैं। बड़, पीपल आदि में जो शाखा से मूल निकलते हैं उनको 'अवरोह' कहते हैं। उद्भेद, अङ्कु(ङ्कू)र, प्ररोह और रोह ये बीज से निकले हुए अंकुर के पर्याय हैं। पर्व (सन्धि) से निकले हुए अङ्कुर को 'बलिश' कहते हैं। अंकुर के नीचे के चौड़े भाग को जो जमीन में जाकर मूल बनता है उसको 'बुध्न' और 'नितम्ब' कहते हैं (रा. नि.)। मूल के ऊपर से लेकर जहां से शाखायें निकलती हैं वहांतक के वृक्ष के भाग को 'गण्ड', 'प्रकाण्ड', 'स्कंध', 'प्रघाण', 'काण्ड' और 'दण्ड' कहते हैं। शिक्षा, शाखा, साला, शोला और लता ये शाखा के पर्याय हैं। वृक्ष के अग्र (ऊपर के) भाग को 'शिर' 'अग्र'; 'प्राग्र' और 'शिखर' कहते हैं। वृक्ष के स्थिर (कठिन) भाग को 'सार' और 'मज्जा[1]' कहते हैं। छल्ली, त्वक्, त्वचा, वल्कल, चोलक, चोच और बल्क ये छाल के पर्याय हैं। वृक्ष के गोंद को 'निर्यास', 'खपुर' और 'लश' कहते हैं। 'परुष्', 'पर्व' और 'ग्रन्थि' ये काण्ड की ग्रन्थि (गाँठ) के पर्याय हैं। काष्ठ, दलिक, दारु, इन्धन, इध्म, एध, एधस् और समित् ये लकड़ी (काष्ठ) के पर्याय हैं। फाड़े हुए काष्ठ को 'विदल' कहते हैं। पर्ण, पत्र, दल, बर्ह, पलाश, छदन, छद, पतन और पतत्र ये पत्ती के पर्याय हैं। नयी पत्ती को 'किश(स)लय' 'किशल', 'प्रबल' और 'पल्लव' कहते हैं। पत्ती की कली को 'शुङ्ग' और 'शुङ्गा' कहते हैं। पत्र के मध्य की सिरा को या पत्र की समस्त सिराओं को 'माढि' कहते हैं। पत्र, पुष्प और फल के बन्धन को (जिसके द्वारा पत्र, पुष्प और फल काण्ड या शाखा से बंधे हुए होते हैं उसको) वृन्त कहते हैं। नये पुष्प की शाखाओं के अग्रभाग को 'मञ्जा(ञ्जी', 'मञ्जार (री)' और 'वल्लरि (री)' कहते हैं। कोरक, मुकुल, क्षारक, जालक, कलिका और कुड्मल य फूल की कलिका के पर्याय हैं। कुसुम, सुमनस्, प्रसून, सून, प्रसून, फुल्ल, पुष्प और मणीवक ये फूल के पर्याय हैं। गुच्छ (ञ्छ), गुलुञ्छ, स्तबक, गुच्छक, गुत्सक और कुसुमोच्चय ये फूल के गुच्छे (पुष्पसमूह) के पर्याय हैं। पुष्परज, पराग, मधूली, धूलिका और सुमनोरज ये पराग के पर्याय हैं। मकरन्द, मरन्द, मधु और पुष्परस ये मधु (पुष्प के अन्दर रहे हुए शहद) के नाम हैं। प्रसव (क), पिप्पल, स(श)स्य और फल ये फल के नाम हैं। कच्चे फल को 'शलाटु' और सूखे फल को 'वान' कहते हैं। उज्जृम्भित, उज्जृम्भ, स्मित, उन्मिषित, विनिद्र, उन्निद्र, उन्मिलित, विजृम्भित, उद्बुद्ध, अङ्कुदुर, उद्भिन्न, विकसित, हसित, विकस्वर, विकच, व्याकोश, फुल्ल, संफुल्ल, स्फुट, उदित, दलित, दीर्ण, स्फुरित

---

[1] फल के भीतर के मगज को भी 'मज्जा' कहते हैं।

उत्फुल्ल और प्रफुल्ल ये खिले हुए फूल के नाम हैं। शालि, यव आदि धान्य के अग्रभाग को 'किशारु' कहते हैं। शालि, यव आदि धान्य की मञ्जरी को 'कणिश' कहते हैं। शालि; मकई आदि के काण्ड को 'नाडी' और 'नाल' कहते हैं। धान्य-बीज-रहित यव आदि के काण्ड को 'पलाल' कहते हैं। धान्य की त्वचा को 'तुष कहते हैं। वृक्षादि की स्नायु को 'किनाटक[1]' कहते हैं। यव आदि के सूक्ष्म और तीक्ष्ण अग्रभाग को 'शूक' कहते हैं। शमी, शिम्बा और शिम्बी ये सेम-फली के नाम हैं। कमल के बीजकोश को 'वराटक' और 'कर्णिका' कहते हैं। कमल आदि के फूल में रहे हुए तन्तुसदृश भाग को 'केशर' और 'किञ्जल्क' कहते हैं।

उद्भिज्जेभ्य औषधार्थमुपयुज्यमानान्यङ्गानि–

मूल-त्वक्-सार-निर्यास-नाल(ड)-स्वरस-पल्लवाः ।
क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः ॥
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहश्चौद्भिदो गणः ।
(च. सू. अ. १) ।

मूलं शिफादि, त्वक् वल्कलं, सारः अन्तर्गतः स्थिरांशः, निर्यासः वेष्टकं यथा लाक्षा-सर्जरसादि, नाडः नालं, पल्लवः किशलयः, क्षीरं क्षीरवन्निर्यासः यथा स्नुहीक्षीरादि, तैलानि बीज-दारु-प्रभवाः स्नुहाः पत्राणि पर्णानि किसलयभिन्नानि, प्ररोहा अंकुराः (यो.) । सारः काष्ठान्तर्भूतः परिणतः, निर्यासः स्वतो विनिर्गत-वेष्टकं, शुङ्गा अग्रभागाः (ग.) ।

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्-पत्र-पुष्प-फल-मूल-कन्द-निर्यास-स्वरसादयः प्रयोजनवन्तः (सु. सू. अ. १) ॥

स्वरसादय इति आदिग्रहणात्तैल-क्षार-भस्म कण्टकादिग्रहणम् (ड.) ।

शिफा आदि सब प्रकार के मूल, वृक्ष--लता-फल-आदि की त्वचा (छाल); वृक्ष के मध्य का काष्ठ (सार-हीर, जैसे चन्दन, चीड़, देवदार आदि की लकड़ी), निर्यास (वृक्ष से निकला हुआ गोंद, हींग-गंधाबिरोजा आदि), नाड (कमल आदि के नाल--पोली लंबी डंठी और पोला लंबा काण्ड), स्वरस (ताजी वनस्पति को कूट और निचोड़कर निकाला हुआ स्वरस तथा नीम आदि वृक्षों से स्वयं निकला हुआ जलसदृश मद), पल्लव (कोंपल), क्षार, क्षीर (आक—थूहर आदि से निकला हुआ दूध), फल, फूल, भस्म (राख), तैल (बीज-लकड़ी आदि से निकाला हुआ स्थिर या उड़ने वाला तेल), कण्टक (कांटे), पत्र, शुंग (शखा के अग्रभाग से निकली हुई अक्षि—पर्ण—

---

[1] 'किनाटक' शब्द की व्याख्या देते हुए शब्दार्थचिन्तामणि में कहा है कि-'वृक्षस्य त्वचोऽभ्यन्तरे काष्ठसंलग्ने वल्कलरूपे'; इससे प्रतीत होता है कि वृक्ष की रेशेदार अन्तर्छाल को 'किनाटक' कहते हैं।

कलिका) और कन्द ये उद्भिज्जों के अंग आहार और औषध के रूप में उपयोग में लिये जाते हैं ।

वक्तव्य—चरक में 'प्ररोहाश्च' यहां 'च' शब्द से तथा सुश्रुत में 'स्वरसादय:' यहां 'आदि' शब्द से काण्ड, बीज, केशर, मज्जा (मग्ज) आदि मूल में अनुक्त अंगों का ग्रहण करना चाहिये । आगे वनस्पतियों के उपयुक्त अंग का निर्देश करते हुए इन शब्दों का प्रयोग किया जायगा ।

द्रव्यों का प्राचीन और आधुनिक मत से वर्गीकरण

प्राचीन मत से द्रव्यों का वर्गीकरण—

चरकने औषध द्रव्यों का उनके एक एक प्रधान कर्म के अनुसार या उनके प्रधान रस के अनुसार वर्गीकरण किया है । चरक सू. अ. २ में तथा वि. अ. ८ में वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्मों के अनुसार पांच वर्ग लिखे हैं । सू. अ. ४ में कर्मों के अनुसार जीवनीय आदि पचास गण दिये हैं । वि. अ. ८ में मधुरादि रसों के अनुसार छ: गुण लिखे हैं । सुश्रुतने भी सूत्रस्थान के अ. ३८ में अनेक समान कर्म करने वाले द्रव्यों के विदारिगन्धादि आदि ३७ वर्ग लिखे हैं । सूत्रस्थान के अ. ३९ में एक एक कर्म करने वाले द्रव्यों के ऊर्ध्वभागहर, अधोभागहर, शिरोविरेचन, वातसंशमन, पित्तसंशमन और कफसंशमन ये छ: वर्ग लिखे हैं । सूत्रस्थान अ. ४२ में रसों के अनुसार मधुरादि छ: वर्ग लिखे हैं । वृद्धवाग्भट और वाग्भटने द्रव्यों के वर्गीकरण के विषय में चरक-सुश्रुत का ही अनुसरण किया है । चरक, सुश्रुत, वृद्धवाग्भट और वाग्भट इन चारों संहिताकारों का दिया हुआ वर्गीकरण कर्मानुसार होने से द्रव्यगुणशास्त्र की दृष्टि से शास्त्रीय पद्धति के अनुसार है । परन्तु धन्वन्तरीयनिघण्टु, राजनिघण्टु, कैय्यदेवनिघण्टु, आदि पीछे लिखे गये निघण्टु ग्रन्थों में जो गुडूच्यादि, हरीतक्यादि आदि वर्ग दिये गये हैं उनमें कर्मानुसार या रचनानुसार वर्गीकरण करने पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है । अत: उनके वर्गीकरण को शास्त्रीय नहीं कहा जा सकता ।

उद्भिज्ज द्रव्यों के रचनानुसार वर्गीकरण पद्धति प्राचीन काल में प्रारम्भ हुई थी, परन्तु उसका विकास नहीं हुआ था । वेदों में उद्भिज्जों के सपुष्प और अपुष्प इन दो प्रधान वर्गोंका उल्लेख मिलता है। पीछे के ग्रन्थों में वनस्पति, वानस्पत्य, औषधि, वृक्ष, क्षुप, गुल्म, लता आदि नामों से रचनानुसार वर्गीकरण करने का यत्न किया गया है । कोशकारों में श्रीहेमचन्द्राचार्य ने अपने निघण्टुशेष नाम के कोश में उद्भिज्ज द्रव्यों के रचनानुसार वृक्षकाण्ड, गुल्मकाण्ड, लताकाण्ड, शाककाण्ड, तृणकाण्ड और

---

१. द्रव्यों के कर्मानुसार वर्ग, उनकी व्याख्या और उदाहरण इसी ग्रन्थ के पूर्वार्ध में प्रथम संस्करणमें पृ.२२से६५तक तथा द्वितीय संस्करण में पृ.२२सेपृ.७९तक दिया है।

धान्यकाण्ड ये छः वर्ग लिखे हैं। अमरकोश, वैजयन्तीकोश, राजनिघण्टु आदि में उद्भिज्जों के अङ्गों के रचनाबोधक पर्याय दिये हैं।

आधुनिक मत से द्रव्यों का वर्गीकरण--

आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान (मेटीरिया मेडिका) के ग्रन्थों में द्रव्यों के शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों पर होने वाली क्रियाओं के अनुसार उनका वर्गीकरण किया जाता है। उद्भिज्ज द्रव्यों के रचनानुसार वर्गों का नाममात्र देकर उल्लेख होता है। उद्भिज्जशास्त्र-(बॉटॅनी) के स्वतन्त्र ग्रन्थों में उद्भिज्ज द्रव्यों के रचनानुसार वर्गीकरण का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वैद्यों को उसका सामान्य परिचय कराने के लिये उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

यूरोप में ईसा की १७ वीं शताब्दी के मध्य तक उद्भिज्जशास्त्र का विकास नहीं हुआ था। ईसा की १७ वीं शताब्दी के अन्त में युरोप के कई विद्वानों ने उद्भिज्जों के अंग-प्रत्यंगों का सूक्ष्म अवलोकन करना आरम्भ किया। उन्होंने उद्भिज्जों के अंग-प्रत्यंगों के विशेषतःसंतानोत्पादक अवयवोंके साम्य और विभिन्नता के आधार पर उनके श्रेणी, गण, वर्ग कुटुंब, जाति आदि भेद निश्चित किये और तदनुसार उद्भिज्जों का वर्णन लिखना आरम्भ किया। इस प्रकार उद्भिज्जों के वर्णन करने की पद्धति से उद्भिज्जों के जिज्ञासुओं को उनका परिचय प्राप्त करने में बड़ी सरलता हो गई। इस वर्गीकरण पद्धति का स्थूल परिचय नीचे दिया जाता है।

हम आम या पीपल के सौ-पचास वृक्ष देखेंगे तो उन सबके काण्ड, पत्र, पुष्प, फल आदि में समानता देख कर आसानी से समझ सकेंगे कि ये सब भिन्नभिन्न व्यक्ति होने पर भी एक जाति[१] (आम या पीपल) के वृक्ष हैं। एक जाति उद्भिज्ज के बीज से उसी जाति का उद्भिज्ज उत्पन्न होता है। परन्तु खेती, खाद, जलवायु, जमीन, कलम करना (पैबन्द लगाना) आदि कारणों से एकही उद्भिज्ज के अनेक प्रकार बनते हैं। उसे उस का जाति भेद[२] या प्रकार कहते हैं। उद्भिज्जों की असंख्य जातियाँ हैं। उनका वर्गीकरण किये बिना ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है। अतः उनका सरलता से ज्ञान प्राप्त करने के लिये वर्गीकरण पद्धति निकाली गई। समान जातियों के समूह को कुटुँब[3] नाम दिया गया। एक कुटुंब की सब जातियों के आकार और रूप-रंग में भिन्नता होने पर भी उनके सन्तानोत्पादक अवयवों में (पुष्प-फल और बीज में) समानता पाई जाती है, इसलिये उनका एक कुटुम्ब में समावेश किया गया। ऐसे समान कुटुंबों के फिर वर्ग बनाये गये। इन वर्गों को प्राकृतिक[४] वर्ग कहते हैं। इस ग्रन्थ में इन

---

[१] Species. [२] Varietes. [३] General. [४] Natural-order.

वर्गों के उद्भिज्जों में से जो उद्भिज्ज विशेष प्रसिद्ध और परिचित हैं उनके नाम के साथ 'आदि' शब्द लगाकर वर्गों के नाम रखे गये हैं। जैसे वत्सनाभादि वर्ग, गुडूच्यादि वर्ग, दारुहरिद्रादि वर्ग आदि। आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने उद्भिज्जों के नाम लेटिन भाषा के दो शब्दों में रखे हैं। उनमें से पहला शब्द कुटुंबवाचक और दूसरा शब्द जातिवाचक होता है। प्राकृतिक वर्गों के भी उनके सन्तानोत्पादन अवयवों की समानता के आधार पर गण बनाये गये हैं। उद्भिज्जसृष्टि दो प्रधान श्रेणियों में विभक्त हुई है–(१) सपुष्प (सबीज) और(२) अपुष्प (अबीज)। सपुष्प (सबीज) उद्भिज्जों की दो उपश्रेणियाँ हैं--(१) आवृतबीज और (२) नग्नबीज। आवृतबीज उपश्रेणि के दो विभाग हैं--(१) द्विदल और एकदल। द्विदल उद्भिज्जों के तीन गण किये हैं–(१) विभक्तदल, (२) संयुक्तदल और (३) अपूर्णपुष्प। विभक्तदल गण के पुष्प में बाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश, पुंकेशर और स्त्रीकेशर ये चारों अवयव होते हैं। इस गण के पुष्प में आभ्यन्तरकोश के दल विभक्त (अलग–पृथक्) होते हैं, इसलिये इस गण को विभक्तदल कहते हैं। विभक्त दल गण के तीन उपगण होते हैं--(१) अधःस्थकोश, (२) परिस्थकोश और (३) उर्ध्वस्थकोश। संयुक्त दल गण के पुष्प में आभ्यन्तरकोश के दल संयुक्त होते हैं। इसके दो उपगण होते हैं--(१) अधःस्थ-गर्भाशय और उर्ध्वस्थ गर्भाशय। अपूर्ण पुष्प गण के पुष्प में पुष्प के चार उपाङ्गों में से (बाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश, पुंकेशर और स्त्रीकेशर में से) कोई एक उपांग का अभाव होता है या बाह्याभ्यन्तर संयुक्तकोश होता है। एकदल उद्भिज्जों के दो गण होते हैं--(२) अधःस्थ गर्भाशय और (२) उर्ध्वस्थ गर्भाशय।

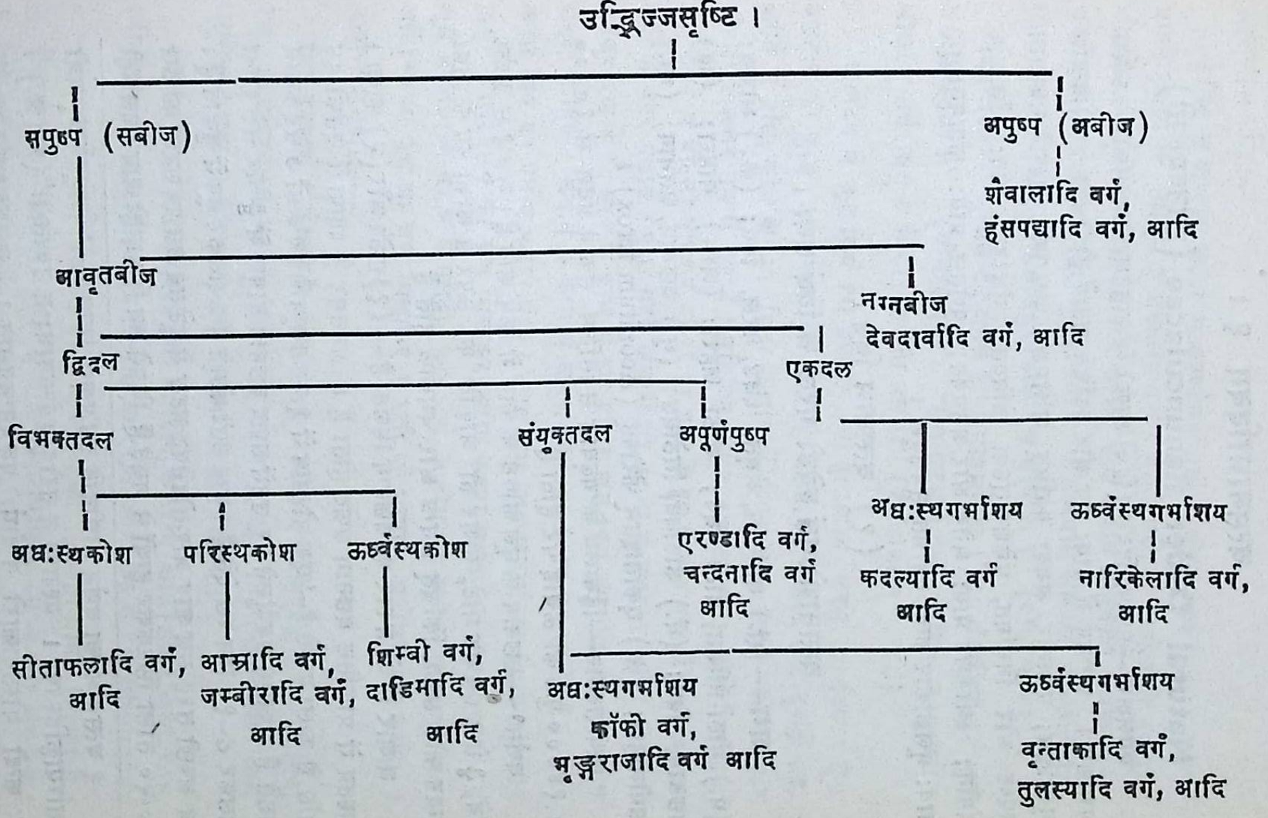
उद्भिज्जसृष्टि ।
सपुष्प (सबीज)
अपुष्प (अबीज)
शैवालादि वर्ग,
हंसपद्यादि वर्ग, आदि
आवृतबीज
नग्नबीज
देवदार्वादि वर्ग, आदि
द्विदल
एकदल
विभक्तदल
संयुक्तदल
अपूर्णपुष्प
अधःस्थगर्भाशय
ऊर्ध्वस्थगर्भाशय
अधःस्थकोश
परिस्थकोश
ऊर्ध्वस्थकोश
एरण्डादि वर्ग,
चन्दनादि वर्ग
आदि
कदल्यादि वर्ग
आदि
नारिकेलादि वर्ग,
आदि
सीताफलादि वर्ग,
आदि
आम्रादि वर्ग,
जम्बीरादि वर्ग,
आदि
शिम्बी वर्ग,
दाडिमादि वर्ग,
आदि
अधःस्थगर्भाशय
काँकी वर्ग,
भृङ्गराजादि वर्ग आदि
ऊर्ध्वस्थगर्भाशय
वृन्ताकादि वर्ग,
तुलस्यादि वर्ग, आदि

उद्भिज्जद्रव्यविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

वत्सनाभादिवर्ग १ ।

Natural Order Ranunculacae (रेननक्युलेसी)

वर्गलक्षण--सपुष्प, द्विदल (द्विबीजपर्ण), विभक्तदल, अधःस्थकोश ऊर्ध्वस्थ गर्भाशय । इस वर्ग में प्रायः क्षुप और क्वचित् लतायें होती हैं । पर्णविन्यास मूलोद्भव; एकान्तर अथवा क्वचित् अभिमुख; पुष्प पूर्ण; पुष्प के सब भाग स्पष्ट और नियमित, पुंकेशर संख्या अनियत; पँखडियाँ प्रायः पाँच और रंगीन; स्त्रीकेशर प्रायः अनेक और असंयुक्त; पर्णतल प्रायः कोषमयः मूल प्रायः मूलकाकार कन्द, क्वचित् सूत्रसदृश ।

(१) वत्सनाभ विष ।

वत्सनाभोऽमृतं क्ष्वेडो गरलं च विषं तथा ।

नाम--(सं.) वत्सनाभ, अमृत, क्ष्वेड, गरल, विष; (क.) मोहन्द; (पं.) मीठा तेलिया, मीठा विष; मीठा जहरा; (जम्मू) मोहरा; (हिं) बछनाग, विष; (बं.) काठविष, मिठेविष; (गु.) बछनाग, बसनाग; (मा.) सिंगीमोहरा; (ले.) एकोनाइटम् फेरोक्स् (Aconitum ferox) ।

उत्पत्तिस्थान--हिमालय के गढ़वाल से सिकिम तक के प्रदेश में १०००० से १४००० फुट की ऊँचाई पर होता है ।

वर्णन[१]--बछनाग के मूल औषध के काम में लिये जाते हैं। मूल १ से ३ इंच लंबे, ½ से १ इंच तक मोटे, गाजर की आकृति के, ऊपर से खाकी रंग के तथा अन्दर फीके सफेद, किंचित् स्निग्ध और चमकीले होते हैं।

बाजार में दो प्रकार का बछनाग मिलता है--(१) सफेद और (२) काला। वास्तव में प्राकृतिक बछनाग सफेद होता है। अमृतसर के व्यापारी उसको इस विधि से काला बनाते हैं--"एक लोहपात्र में १ मन गोमूत्र लेकर उसमें ७ सेर कसीस डालते हैं। कसीस सब घुलने पर उसमें सफेद बछनाग गोमूत्र में ¾ भर सके इतना डालकर ८-१० दिन रख देते हैं। बाद उसी गोमूत्र में उबालकर धूप में सुखाते हैं। जब अच्छी तरह सूख जाय और तोड़नेपर चटख से टूटे तब उस पर सरसों का तेल १०-२० तोला छिड़ककर हाथों से मलते हैं, जिससे सब स्निग्ध हो जाय। बस यही

---

[१] वत्सनाभ का वर्णन प्राचीनोंने इस प्रकार किया है- "सिन्धुवारसदृक्पत्रो वत्साभ्याकृतिस्तथा । यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स उच्यते ॥" (भा. प्र.) । ‘य: कन्दो गोस्तनाकारो न दीर्घः पञ्चमाङ्गुलात् । न स्थूलो गोस्तदूर्ध्वं", ‘‘वत्सनाभं तु पाण्डुरम्" (र. र. स.) ।

काला बछनाग है जो अमृतसर से सब जगह भेजा जाता है। इस प्रकार रंगे हुए वछनाग में कीड़े नहीं लगते" (स्वामी हरिशरणानंदजी वैद्य के पत्र से उद्धृत)।

वत्सनाभशुद्धिः--

"विषं तु खण्डशः कृत्वा वस्त्रखण्डेन बन्धयेत्। गोमूत्रमध्ये निक्षिप्य स्थापयेदातपे त्र्यहम्॥ गोमूत्रं तु प्रदातव्यं प्रत्यहं नूतनं बुधैः। त्र्यहेऽतीते तदुद्धृत्य शोषयेदातपे मृदौ॥ शुध्यत्येवं विषं सम्यक् सेव्यं भवति चार्तिजित्। अन्यच्च--खण्डीकृत्य विषं वस्त्रपरिबद्धं तुं दोलया। अजापयसि संस्विन्नं यामतः शुद्धिमाप्नुयात्। अजादुग्धाभावतस्तु गव्यक्षीरेण शोधयेत्।" (योगरत्नाकर)।

विषमारणं--"तुल्येन टङ्कणेनैव द्विगुणेनोषणेन च। विषं संयोजितं शुद्धं मृतं भवति सर्वथा॥" (योगरत्नाकर) "समांशटङ्कणोपेतं[1] तद्विषं मृतमुच्यते। योजयेत् सर्वरोगेषु न विकारं करोति तत्॥" (रसकामधेनु पृ. ४८)

आयुर्वेद में शुद्ध किये हुए वछनाग का ही प्रयोग करने का विधान है। बछनाग की शुद्धि इस प्रकार की जाती है--बछनाग के छोटे छोटे टुकड़े कर, कपडे में बांध, कांच के या मिट्टी के पात्र में गोमूत्र भर; उसमें बछनाग की पोटली डालकर धूप में रख दें। प्रतिदिन गोमूत्र वदलता रहे। चौथे दिन उन्हें धो, कपडे में पोटली बांधकर बकरी या गाय के दूध में दोलायन्त्र में[2] ३ घण्टेतक मंदी आंचपर पकावें। पीछें गरम जल से धो, छाया में सुखा, कांच की शीशी में भरकर रख दें। खाने के काम में इस प्रकार शुद्ध किये हुए विष का ही प्रयोग करना चाहिये। लगाने के काम में अशुद्ध विष का प्रयोग कर सकते हैं। यदि केवल विष का प्रयोग करना हो तो उसमें सम भाग शुद्ध टंकण (सुहागा) और द्विगुण काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। अथवा एक भाग शुद्ध बछनाग में नौ भाग मुलेठी का चूर्ण, गिलोय का सत्त्व, सांभरशृंगभस्म, अतिविष या बच का चूर्ण मिलाकर १ रत्ती की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

वत्सनाभगुणाः--

विषं रसायनं बल्यं वातश्लेष्मविकारनुत्। व्यवायि शीतनुद्वाहि कुष्ठ-शोथविनाशनम्॥ अग्निमान्द्य-श्वास-कास-प्लीहोदर-ज्वरापहम्। कण्ठरुक्-सन्निपातघ्नं मधुमेहहरं तथा॥ प्रक्षेपाच्छ्वयथुं पीडामपचीं च विनाशयेत्।

बछनाग विष[3], रसायन, बल्य तथा वातरोग, कफरोग, शीत (ठंडी), कुष्ठ, शोथ; अग्निमान्द्य, श्वास, खांसी, प्लीहा की वृद्धि, उदररोग, ज्वर, कण्ठ के रोग, सन्निपातज्वर

---

[1] आयुर्वेद में विषघटित योगों में टङ्कण का उपयोग प्रायः मिलता है।

[2] दोलायन्त्र का विधान इसी ग्रन्थ के परिभाषाखण्ड में पृ. ७४ पर देखें।

[3] विष का लक्षण इसी ग्रन्थ के पूर्वार्ध में पृ. ६७-६९ पर देखें। विष के जो गुण-कर्म वहां लिखे हैं वे सब वत्सनाभ में विद्यमान हैं ऐसा समझना चाहिये।

और मधुमेह को दूर करता है। बछनाग का लेप शोथ, पीड़ा और अपची का नाश करता है।

नव्य मत—"अशोधित बछनाग का प्रयोग निषिद्ध है। शोधित बछनाग हृदयोत्तेजक, स्वेदजनक तथा पीड़ाशामक है और अशुद्ध बछनाग जैसा हृदयावसादक नहीं है।" (भा. भै. त. पृ. ३९८)। "गोमूत्र में शुद्ध किया हुआ बछनाग हृदय को बल देता है, रक्त का दबाव और शाखागत रक्ताभिसरण को बढ़ाता है। यह प्रभाव देर तक रहता है। बछनाग को गोमूत्र के बदले गोदुग्ध में शुद्ध किया जावे तो यह परिवर्तन विशेष स्पष्ट रूप से मालूम होता है" (डॉ. म्हसकर)। "बछनाग खाने को देने से आमाशय के ज्ञानतन्तु संज्ञारहित होते हैं, आमाशय का रस और कफ कम होता है। इसलिये आमाशय की पीड़ा, दाह और गर्भिणी के वमन में बछनाग दिया जाता है। बछनाग का वीर्य रक्त में शीघ्र मिलकर हृदय, हृदयकेन्द्र, श्वासोच्छ्वास केन्द्र, त्वचा और मूत्रपिंड (वृक्को) पर शीघ्र क्रिया करता है x x x। बछनाग से पसीना और मूत्र पुष्कल होता है तथा सब शरीर के ज्ञानतन्तु थोड़ेबहुत संज्ञारहित होते हैं। इन सब गुणों से बछनाग का उपयोग जब शोथ, ज्वर और पीड़ा हो तब किया जाता है। शरीर में कहीं भी शोथ हो तब ज्वर होता है। ज्वर में बछनाग देने से पसीना होता है, पेशाब छूटता है और नाड़ी की गति कम होती है तथा शोथ और ज्वर भी कम होता है। x x x। गला, श्वासनलिका, फुप्फुस, फुप्फुसावरणकला, हृदय, अन्त्र, अन्त्रावरणकला, सन्धि आदि के शोथप्रधान रोगों में प्रारम्भ में ही बछनाग देने से व्याधि शांत होता है और आगे की अवस्थाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। बछनान उत्तम पीडाशामक होने से शिर का दर्द, दांत की पीड़ा, कान का दर्द, पीठ का दर्द आदि ज्ञानतन्तुओं के पीड़ा युक्त रोगों में खाने को दिया जाता है और लेप[१] किया जाता है। बछनाग में पीडाशामक गुण है परन्तु वह औषधीय मात्रा में देने से बहुत सौम्य होता है। इसलिये बछनाग के साथ अफीम, धतूरा या खुरासानी अजवायन देते हैं। सर्दी से स्त्रियों का मासिक वन्द हो गया हो तो बछनाग दिया जाता है। मधुमेह, बहुमूत्र, तन्तुमेह, स्वप्न में शुक्रस्राव और पेशाब होना इन रोगों में बछनाग दिया जाता है। बछनाग के आयुर्वेदोक्त पुराने योग सब अच्छे हैं, परन्तु उनमें बछनाग की मात्रा कम करनी चाहिये। बछनाग के योगों में सुगन्धित द्रव्य मिलाने चाहिये" (औ. सं. पृ. ३९-४३ से सारांश रूप में उद्धृत)।

---

[१] एक तोले शार्ङ्गधरोक्त दशांगलेप में १ माशा बछनाग मिला, धत्तूर की पत्तियों के रस में पीसकर लेप करने से शीघ्र पीड़ा और शोथ शांत होता है।

(२) शृंगीविष ।

नाम--(क.) मोहरी; (पं.) श्याममोहरी, मोहरी; (ले.) एकोनाइटम् चस्मेन्थम् (Aconitum chasmanthum) ।

उत्पत्तिस्थान--पश्चिम हिमालय के चित्राल और हजारा से लेकर कश्मीर तक के प्रदेश में ७००० से १२००० फुट की ऊँचाई पर होता है ।

वर्णन—शृंगी विष के मूल (कन्द) औषध के लिये उपयोग में लिये जाते हैं। मूल—द्विवर्षायु युग्म गोलाकार कन्द, १ से १॥ इंच लंबे, ।। से ।॥ अंगुली जितने मोटे, भूरे या कालापन[1] लिये भूरे रंग के, भीतर से कुछ सफेद, झुर्री (शिकन) वाले और बछनाग की अपेक्षया वजन में हलके होते हैं।

शोधन--शृंगीविष का शोधन भी बछनाग के समान ही किया जाता है।

गुण-कर्म—शृंगी विष के गुण-कर्म भी वत्सनाभ के समान ही हैं। कश्मीर; उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त और पंजाब में यह प्रसिद्ध है। वहां के वैद्य औषधार्थं इसका प्रयोग करते हैं। वहां के वैद्यों का कहना है कि वत्सनाभ से यह अधिक तीक्ष्ण और गुणकारक है योगों में ग्रन्थोक्त प्रमाण से आधी मात्रा में इसे डालना चाहिये।

वक्तव्य—चरक चि. स्था. के अ. २३ में मूलविषों की गणना में वत्सनाभ और शृंगीविष का उल्लेख आया है। चरकने चि.स्था. अ. ३, पा.३ में ऐन्द्र-रसायन में १ मात्रा में तिल प्रमाण विष डालने को लिखा है। सुश्रुत कल्पस्थान के दूसरे अध्याय में कन्द विषों में वत्सनाभ और शृंगीविष का उल्लेख आया है। चरकने जङ्गम विष को अधोभागदोषहर और मूलविष को ऊर्ध्वभागदोषहर, तथा दोनों को परस्पर विरोधी कहा है और एक-दूसरे के विकारों में प्रयोग करने का विधान किया है-- "जङ्गमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजम्। तस्माद्दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मौलं च दंष्ट्रजम् ॥" (च. चि. अ. २३) ।

रसग्रन्थों में ज्वर, अतिसार, अग्निमान्द्य, ग्रहणी, कास, श्वास, कफरोग, वातरोग आदि में वत्सनाभ और शृङ्गीविष का पुष्कल प्रयोग देखने में आता है। रसरत्नसमुच्चय के विषकल्प नाम के २९ वें अध्याय में विष के भेद, शोधन, मात्रा, भिन्न भिन्न रोगों में विष के प्रयोग आदि विषय विस्तार से वर्णित हैं। वैद्यों को वह अध्याय अवश्य देखना चाहिये। उसमें से कुछ महत्व के वचन यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"उद्धृतं फलपाके तु नवं स्निग्धं घनं गुरु। अव्यापन्नं विषहरैरवातातपशोषितम्। रक्तसर्षपतैलेन लिप्ते वाससि धारितम्। ××× अथ गोमूत्रसंयुक्तमातपे

---

१. "शृङ्गिकं कृष्णपिङ्गलम्" (र. र. स.)। २. एकोनाइटम् चस्मेन्थम् के पत्र और पुष्प का रंगीन चित्र "Wild Flowers of Kashmir" नामक ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में पृ. १९ पर दिया है।

धारितं त्र्यहम् ।। विषं, बृंहणमेतद्धि विषस्यादौ प्रशस्यते । आरोटं भक्षयेद्देवि विषं सर्षपमात्रकम् ।। प्रथमे दिवसें,पश्चाद्द्वितीयादौ द्विसर्षपम् । पञ्चमे दिवसे देवि भक्षयेत् सर्षपत्रयम् ।। षट्सप्ताष्टदिनेऽप्येवं, नवमे वेदसंख्यया । भक्षयेद्राजिका-वृद्धया यावद्गुञ्जामितं भवेत ।। मासत्रयप्रयोगेण कुष्ठान्यष्ट हरेद्विषम् ××× । षण्मासस्य प्रयोगेण कामरूपो भवेन्नरः । संवत्सरप्रयोगेण सर्वरोगान् व्यपोहति ।। अमृतं सहसा युक्तं सेवितं विषमेव वा । सात्म्यासात्म्यविकाराय मृत्यवे च वरानने । ××× । विषं युञ्जीत नित्यं हि रसायनगुणैषिणः । घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताशिनः ।। सात्त्विकस्योदिते भानौ योज्यं शीतवसन्तयोः । ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ, न वर्षासु न दुर्दिने ।। न क्रोधिनि न पित्तार्ते न क्लीवे राजवेश्मनि । क्षुत्तृष्णाश्रमवर्माध्वव्याध्यान्तरनिपीडिते ।। गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु । अभ्यस्तेऽपि विषे यत्नाद्वर्जनीयान् विवर्जयेत् । कटवम्ललवणं तैलं दिवास्वप्नानलातपान् । ब्रह्मचर्यं वरारोहे विषकालं समाचरेत् ।। गव्ये क्षीरघृते पेये शाल्यन्नं गोधुमं तथा । शीतलं च पिबेत्तोयं मधुराणि च सेवयेत् ।।"

वत्सनाभ आदि के फल पक जांय तब उनके जो मूल–कन्द ताजे, स्निग्ध, भरे हुए, वजनदार और अन्य विषघ्न औषधों से अनुपहत हों उनको लेकर जहां प्रबल हवा न चलती हो और धूप न हो ऐसे स्थान में (छाया में) सुखा, लाल सरसों के तैल में तर किये हुए कपड़े में लपेटकर कांच के पात्र में रख छोड़े। उपयोग में लाने के पहले तीन दिन गोमूत्र में डालकर सुखा ले। इस संस्कार से विष का कर्षण (अवसादक) गुण नष्ट होकर विष में बृंहण (बलकारक) गुण उत्पन्न होता है। रसायन प्रयोग के लिये शुद्ध विष पहले दिन १ सर्षपप्रमाण; दूसरे, तीसरे और चौथे दिन २ सर्षप; पाँचवें, छठें, सातवें और आठवें दिन ३ सर्षप; नववें दिन से ४-४ दिन के बाद १–१ राई की मात्रा बढ़ाकर १ रत्ती तक की मात्रा में प्रयोग करे। ३ मास के प्रयोग से आठों प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं। ६ मास के प्रयोग से पुरुष सुन्दर रूपवान् होता है। एक वर्ष के प्रयोग से अन्य औषधों से अच्छे न होनेवाले रोगों से मुक्त होता है। पहले घृतपान से स्नेहन और पीछे शोधन (वमन, विरेचन और आस्थापन) कराकर रसायन के लिये विष का प्रयोग करना चाहिये। शीत और बसन्त ऋतु में प्रातःकाल विष प्रयोग का आरम्भ करना चाहिये। क्रोधी, पित्तरोगों से पीड़ित, नपुँसक, राजा, क्षुधा–तृषा–श्रम–धूप और मार्गगमन से पीडित, गर्भिणी स्त्री, बालक और वृद्ध को विष का प्रयोगविधि से सेवन नहीं कराना चाहिये। विष का सेवन करते समय कटु, अम्ल और लवणरसवाले द्रव्य (तथा अन्य पित्तकारक पदार्थ), तैल, दिन में सोना; धूप में बैठना–फिरना और अग्नि के पास बैठना ये न करना चाहिये। विष सेवन काल में ब्रह्मचर्य पालना चाहिये। गाय का दूध और घी, चावल, गेहूँ, ठंडा जल और मधुर पदार्थ का सेवन करना चाहिये।

इस समय सारे हिन्दुस्तान के वैद्य जिस विष का उपयोग कर रहे हैं और बाजार में जो मिलता है वह वत्सनाभ (एकोनाइटम् फेरोक्स्[१]) है। शृंगीविष (एकोनाइटम् चस्मेन्थम्) का उपयोग केवल कश्मीर, उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त और पंजाब के कुछ वैद्य करते हैं। एकोनाइटम् चस्मेन्थम् कश्मीर सरकार बेचती है।

मात्रा—शोधित विष की $\frac{१}{८}$ रत्ती।

वत्सनाभ के विषलक्षण--

अशोधित या औषधीय मात्रा से अधिक विष खाने से ये लक्षण होते हैं--प्रथम अवस्था में आमाशय में उष्णता मालूम होती है और थोड़ा जी मिचलाता है (वमन की इच्छा होती है)। थोड़े समय के बाद समग्र शरीर गरम मालूम होता है एवं ओष्ठ तथा जीभ में झनझनाहट मालूम होती है और क्रमशः हाथ की अंगुलियों में झनझनी मालूम होने लगती है। मांसपेशियां शिथिल और दुर्बल होती हैं। नाड़ी और श्वास की गति मन्द (एक मिनिट में नाड़ी की गति ७२ से ६४ तक और श्वास की गति १८ से १६ तक) होती है। द्वितीयावस्था में बाहु पर्यन्त झनझनी होती है और स्पर्शज्ञान का ह्रास होता है। १-१॥ घंटे में नाड़ी की गति एक मिनिट में ५६ और श्वास की गति १३ होती है। श्वास लेने में श्रम मालूम होता है। शारीरिक अवसाद इतना होता है कि उठने से सिर में चक्कर आता है, चारों ओर अंधेरा मालूम होता है और हाथ-पांव ठंढे होते हैं। तृतीय अवस्था में सारे शरीर में झनझनी होकर शरीर अवश हो जाता है। अत्यन्त दौर्बल्य, सिर घूमना, नेत्र में विकृति, नाड़ी की क्षीणता और अनियमितता, सन्धिस्थान में वेदना, श्वास की गति शीघ्र और अनियमित, शरीर शीतल, पसीना आना, अत्यन्त वमन और क्वचित् दस्त होते हैं। चतुर्थावस्था में मुखमण्डल फीका, मुंख से फेन आना, नाड़ी क्षीण और अव्यवस्थित, कभी लुप्त, शरीर ठंढा और पसीने से तर, श्वास की गति अत्यन्त क्षीण और द्रुत होती है तथा दर्शन, श्रवण और बोलने की शक्ति नष्ट होकर मृत्यु होती है। मृत्यु के पहले कभी आक्षेप भी होता है। अन्त तक संज्ञा बनी रहती है, मृत्यु हृदय के अवसाद से होती है।

विष की चिकित्सा--

यदि विष खाने को अधिक समय न हुआ हो, विष आमाशय में हो और वमन न होता हो तो रोगी को वमन करावे, स्टमक पम्पद्वारा गरम जल से वारंवार आमाशय धोवे, यदि विष अन्त्र में चला गया हो तो एरण्डतैल देकर विरेचन करावे। गाय के[२]

---

१. कभी कभी बाजार में जो बछनाग मिलता है, उसमें विष की अन्य जाति के मूल भी मिले हुए होते हैं। २. "अतिपात्रा यदा भुक्तं तदाऽऽज्यं टङ्कणं पिबेत्। लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां संपिष्टामर्जुनत्वचम् ॥" (रसकामधेनु)।

घी में सुहागा मिलाकर पिलावे, अर्जुन के वृक्ष की त्वचा का चूर्ण शहद और गाय के घी में मिलाकर पिलावे। जद्वार पानी में घिस कर थोड़ी थोड़ी देर से चटावे[1]।

(३) अतिविषा।

अतिविषा शुक्लकन्दा भङ्गुरा घुणवल्लभा।

नाम—(सं.) अतिविषा (विषमतिक्रान्ता अतिविषा—विष के वर्ग की होनेपर भी विष नहीं है ऐसी), शुक्ल (श्वेत) कन्दा (सफेदकन्दवाली); भङ्गुरा (शीघ्र, आसानी से टूटनेवाली), घुणवल्लभा (कीड़ों को प्रिय—जिसमें कीड़े लगते हैं ऐसी), काश्मीरा (काश्मीर में अधिकता से होनेवाली; (क.) पतीस; पत्रीस; (पं.) पतीस, बतीस; (हिं.) अतीस; (म.) अतिविष; (बं.) आतईच; (गु.) अतिविष (ख.), अतवखनी कळी; (ता.) अतिबिदयम्, (ले.) एकोनाइटम् हेटरोफाइलम् (Aconitum Heterophylum)।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय के सिन्धुनदी से कुमाऊँ तक के प्रदेश में ६००० से १२००० फुट की ऊँचाई पर होती है।

वर्णन—अतीस का २ से ४ फुट ऊँचा क्षुप होता है। मूल द्विवर्षायु, लंबगोल कन्द के आकार के होते हैं। मूल बाजार में अतीस के नाम से बिकते हैं। अतीस ऊपर से भूरे रंग की; तोड़ने से भीतर श्वेत, पिष्टमय पदार्थ युक्त और मध्य में ४–५ बिन्दुओं (छिद्रों) वाली होती हैं। लंबाई १ से १॥ इंच, क्वचित् दो इँच होती हैं। स्वाद अति तिक्त (कड़ुआ)। कोई खास गन्ध नहीं होता। औषध के लिये जो मूल नये, ऊपर से कुछ भूरे, अंदर से श्वेत, मध्य में ४–५ बिन्दुवाले और भंगुर हों वे ही लेने चाहिये[2]।

गुण-कर्म-"अतिविषा-दीपनीय पाचनीय-संग्राहक-सर्वदोषहराणाम् (श्रेष्ठा)" (च. सू. अ. २५)। चरकेण (सू. अ. ४) पञ्चाशन्महाकषायेषु लेखनीये, अर्शोघ्ने च गणेऽतिविषा पठ्यते। सुश्रुतेन (सू. अ. ३९) पिप्पल्यादौ, मुस्तादौ, वचादौ[3] च गणेऽतिविषा पठिता। "विषा सोष्णा लघुस्तिक्ता दीपनी पाचनी

---

[1] डिजिटेलिन के इंजेक्शन से अच्छा लाभ होता है। [2] एकोनाइटम हेटरोफाइलम् के पत्र और पुष्प का रंगीन चित्र 'Wild Flowers of Kashmir" नामक ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में पृ. २५ पर दिया है। रॉयल के फ्लोरा ऑफ् कश्मीर के दूसरे खण्ड में अतीस का रंगीन चित्र दिया है (प्लेट नं १३)। [3] "पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः। निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः। एतौ वचा-हरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ। आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ॥ एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः। योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा॥" (सु. सू. अ. ३८)।

जयेत्। कफपित्तातिसारामविष-कास-वमि-क्रिमीन्" (कै. नि.) "कास-ज्वरच्छर्दिभिरर्दितानां समाक्षिकां चातिविषां तथैकाम्" (वङ्गसेन बालरोगाधिकार)।

अतीस रस में तिक्त, विपाक में लघु, उष्णवीर्य, लेखन, पाचन, दीपन, संग्राहक, सर्वदोषहर; स्तन्यशोधन, आमपाचन, दोषपाचन तथा अतिसार, ग्रहणी रोग, विष (अन्नाजीर्णोत्थ विष), कास, वमन (अन्नाजीर्णजन्य), अर्श, ज्वर कृमि, प्रतिश्याय, अरुचि, शूल और आमातिसार का नाश करती है।

नव्य मत–अतीस उत्तम कटुपौष्टिक[1], विषमज्वरनाशक और ग्राही है। किसी भी कारण से शरीर में दुर्बलता आई हो और शरीर फीका पड़ गया हो तब इसके सेवन से भूख लगती है, अन्न पचता है और शरीर की सब विनिमय क्रियायें सुधरती हैं। कटुपौष्टिक और ग्राही होने से अतिसार और ग्रहणी में इससे अच्छा लाभ होता है। बच्चों के जुलाव, उलटी और ज्वर में अतीस उत्तम औषध है। बच्चों और प्रसूता स्त्रियों के अतिसार में अतीस और साँबरशृंगभस्म मिलाकर देना चाहिये। अतीस, शुद्ध भांग और वच का चूर्ण अतिसार में लाभ करता है। सुगन्धि द्रव्यों के साथ मिलाकर देने से अतीस शीघ्र लाभ करता है। विषमज्वर को रोकने के लिये अतीस बड़ी (३ माशे की) मात्रा में देना चाहिये। अतीस बच्चों को विशेष माफक आती है। ज्वरातिसार में १५ गुंजा अतीस और १५ गुंजा रसोत थोड़े जल में मिलाकर देते हैं। अतीस में अतिसीन नामक सत्त्व (अॅल्केलॉइड) पाया जाता है (डॉ. वामन गणेश देसाई)।

यूनानी मत—दूसरे दर्जे में गरम और पहले दर्जे में खुश्क (रूक्ष), बाजीकर, पाचन, दीपन, ज्वर को रोकने वाली, ग्राही, रक्तस्तम्भन, कोष्ठवातहर, कफहर तथा अतिसार, प्रवाहिका, अर्श, जलोदर और वमन को दूर करती है। समभाग अतीस और दाडिमपुष्प का चूर्ण वच्चों के दस्त बन्द करने को देते हैं। मात्रा-१ माशा।

उपयुक्त अंग – मूल-कन्द। मात्रा—५ से ३० रत्ती तक।

(४) प्रतिविषा।

नाम–(सं) प्रतिविषा ('विषं प्रति विरुद्धा' इति प्रतिविषा–विषवर्ग की होने पर भी विष नहीं-विष के विरुद्ध ऐसी); श्यामकन्दा (कुछ सफेदाई लिये हुए काले रंग की); (हि.) विखमा, विखमा; (म.) वखमा; (गु.) वखमो; वखमो; (ले.) एकोनाइटम् पामेटम् (Aconitum palmatum)।

प्राप्तिस्थान–हिमालय के पूर्व प्रदेश (नेपाल से सिकिम तक) में १०००० से १६००० फुट की ऊँचाई पर होती है।

वर्णन-मूल द्विवर्षायु, युग्म शंक्वाकार या ढोल जैसे लंबगोल कन्द १॥ से ४ इंच लंबे, $\frac{१}{५}$ इंच से $\frac{१}{३}$ इंच मोटे और वजनदार होते हैं। तोड़ने से चट जैसा

---

[1] Bitter tonic.

शब्द होकर टूटते हैं। ऊपर से रंग सफेदाई लिये काला और तोड़ने पर अन्दर से लोबानी (ब्राउन) रंग या कुछ पीलापन लिया हुआ सफेद होता है। कन्द तोड़ने पर अन्दर कुछ चमकीले दिखते हैं। स्वाद-अति कड़ुआ होता है और जीभ पर देर तक कड़ुआपन रहता है। अतीस नरम और भंगुर होती है, परन्तु विखमा सख्त होता है।

गुण—विखमा रस में तिक्त (कड़ुआ), विपाक में लघु, उष्णवीर्य, वातहर; कृमिघ्न, शूलघ्न, दीपन-पाचन और ज्वरघ्न है। इसमें अतिसीन नाम का सत्त्व पाया जाता है।

उपयोग—अजीर्ण, पेट का दर्द, अजीर्णजन्य वमन, अतिसार और आध्मान में इसकी काली मिर्च और जावित्री के साथ मिलाकर चूर्ण के रूप में देते हैं। जीर्णज्वर और कृमिविकार में इसके सेवन से लाभ होता है। हैजे में भी इससे लाभ होता है।

मात्रा--२-५ रत्ती।

वक्तव्य--महाराष्ट्र और गुजरात के वैद्य इसका विशेष रूप से प्रयोग करते हैं। अन्य प्रान्त के वैद्यों को भी इसका उपयोग करना चाहिये। विखमा को प्राचीन निघण्टुकारों ने अतीस की एक जाति माना है--"अतिविषा शुक्लकन्दाऽपरा प्रतिविषा" (कैय्यदेवनिघण्टु)। 'अपरा प्रतिविषा' इससे स्पष्ट होता है कि कैय्यदेव प्रतिविषा को अतिविषा से भिन्न उसकी एक जाति मानते थे।

---

(५) निर्विषा।

नाम--(सं.) निर्विषा(षी), अपविषा, विषा, विषहा, विषदन्त्री, विषभवा, अविषा, विषवैरिणी; (हिं.) निर्विषी; (फा.) माहबरवीन; (अ.) जद्वार; (ले) डेल्फिनिअम् डेन्युडेटम्; (Delphinium denudatum)।

उत्पत्तिस्थान--हिमालय के खोतान (खता), लद्दाख, नेपाल, भोटान, तिब्बत आदि प्रदेशों में ८००० से १२००० फुट की ऊँचाई पर होती है। राजनिघण्टुकार ने इसका उत्पत्तिस्थान केदारनाथ (जि. गढ़वाल) बताया है।

वर्णन--बाजार में जद्वार के कालाई लिये खाकी रंग के मूल मिलते हैं। मूल १ से १॥ इंच लंबे और शंक्वाकार होते हैं। स्वाद पहले कुछ मधुर और बाद में तिक्त होता है। इसको छीलकर चबाने से बछनाग जैसी जीभ पर सुन्नता और सनसनाहट नहीं मालूम होती[1]।

विक्रयस्थान—(मंडी)—अमृतसर और दिल्ली।

---

[1] डेल्फिनिअम् डेन्यूडेटम के पत्र और पुष्प का रंगीन चित्र Wild Flowers of Kashmir नामक ग्रन्थ के ३ खंड में पृ. १३ पर दिया है।

गुण-कर्म–निर्विषी रस में कडवी, उष्णवीर्य, बलकारक, सर्वदोषहर, व्रणरोपक और कफ, वातरक्त तथा अनेक प्रकार के विषदोषों का नाश करनेवाली है। इसका लेप सूजन को दूर करता है[1]।

यूनानी मत—जद्वार एक बूटी की जड़ है जो बछनाग के समान शंक्वाकार (सनोबरी शक्ल की), किञ्चित् सख्त और कड़वी होती है। यूनानी वैद्यक में इसके ये पाँच भेद लिखे हैं-(१) बाहर से श्यामवर्ण, भीतर से बनफशई रंग की तथा गोपुच्छाकार होती है। चखने पर प्रथम मधुर और बाद को अत्यन्त कड़वी मालूम होती है। इस भेद को जद्वार खताई कहते हैं। क्योंकि यह खता-(खोतान) की पर्वतमाला में बहुतायत से उत्पन्न होती है और यही अधिकतया औषध में प्रयुक्त होती है। (२) भीतर और बाहर से पिलाई लिये श्यामवर्ण, स्वाद में तिक्त और वृश्चिकपुच्छाकार होती हैं। इसको **जद्वार अकरबी**[2] कहते हैं। यह नेपाल और तिब्बत में होती है। (३) भीतर और बाहर से श्यामवर्ण, पीसने पर नीलवर्ण और स्वाद में तिक्त होती है। यह नेपाल और तिब्बत में होती है। (४) स्याही, मायल और तिक्त होती है। यह भी नेपाल और तिब्बत में होती है। (५) यह काली, नरम, अतितिक्त और एक बित्तातक लम्बी होती है। यह बछनाग के समीप एक ही स्थान में[3] उत्पन्न होती है। **प्रकृति**--(मिजाज-वीर्य) तीसरे दर्जे में गरम और रूक्ष। **गुण-कर्म**—विषनाशक, सौमनस्यजनन, उत्तमाङ्गों को[4] और नाडी को बलप्रद, दोषविलयन, प्रमाथी, तारल्यजनक, दोषपाचन, वाजीकर, प्रवर्तक, अश्मरीनाशक, वेदनाशामक, लेखन तथा कफज और सोदावी रोगों को दूर करनेवाली है। **अहितकर**—उष्ण प्रकृति को। **निवारण**—धारोष्ण दूध और यवमण्ड। **मात्रा**—½ से १ माशे तक। **आमयिक प्रयोग**—विषनाशक होने के कारण सब प्रकार के उष्ण-शीत और खाद्य-पेय एवं दंशज विषों में प्रयोग की जाती है। इसको घिसकर पिलाते हैं तथा दंशज विषों में घिसकर दंशस्थानपर

---

[1] "निर्विषाऽपविषा चैव विविषा विषहा तथा। विषहन्त्री विषभवा ह्यविषा विषवैरिणी ॥ निर्विषा कटुका सोष्णा कफवातास्रदोषनुत्। अनेकविषदोषघ्नी व्रणसंरोपणी च सा ॥ भाषानाम-निर्विषी। केदारे उत्पत्तिः" (राजनिघण्टु-बनारस-मुद्रित, पिप्पल्यादि वर्ग)। "निर्विषी श्यामकन्दायां स्त्री।" इयं चतुर्विधा भवति। "रक्ता श्यामा भृशं कृष्णा पीतवर्णा तथैव च। यथापूर्वं तु विज्ञेया बल्या श्रेष्ठा गुणोत्तमा ॥ सर्वदोषहरी भुक्ता लेपाच्छ्वयथुनाशिनी। श्लेष्मजान् विंशति रोगान् सद्योहन्यान्निषेवणात् ॥" भाप्र. (श. चि., पृ. १४२७; वा. बृ. पृ. ४१०४)।
[2] 'अकरब' अरबी भाषा में बिच्छू को कहते हैं।
[3] राजनिघण्टुकारने निर्विषी का एक पर्याय विषभवा लिखा है (विषस्य समीपे भवतीति विषभवा)
[4] मस्तिष्क, हृदय और सिर को यूनानी वैद्यक में उत्तमाङ्ग (आजाऽरईसा) माना है।

लगाते हैं। बच्छनाग के विष में वमन कराने के बाद इसको दूध में घिसकर पिलाते हैं। वृश्चिक आदि के दंशपर मद्य में घिसकर लगाते हैं। उत्तमाङ्गों को बलप्रद, सौमनस्यजनन और विषनाशक गुण के कारण जनपदोद्ध्वंसक रोगों में यह एक उत्तम रोगनिवारक है। प्लेग और हैजे में उपयोग करने से यह उत्तमाङ्गों का रक्षण करती है और उनकी शक्ति को बनाए रखती है। पीड़ाशामक होने से बाह्य और आन्तरिक वेदनाओं को शमन करने के लिये इसका लेप किया जाता है तथा इसको खिलाते भी हैं। श्वयथुविलयन होने के कारण सब प्रकार के शोथोंपर इसका प्रलेप किया जाता है। लेखन होने के कारण इस के लेप से सिध्म, श्वित्र, व्यंग तथा चेहरे के अन्य चिन्ह दूर होते हैं। जद्वार स्रोतों के अवरोध को दूर करनेवाली और दोषविलयन होने के कारण स्रोतों का अवरोध, कामला, मूत्रकृच्छ्र, कष्टार्तव और जलोदर में लाभ करती हैं। वातनाड़ियों को बलप्रद होने से पक्षाघात, अर्दित, अपस्मार, कम्पवात, त्वचा की सुप्तता आदि वातरोगों में इसका प्रयोग किया जाता है। जद्वार प्रतिश्याय आदि कफरोगों में प्रयुक्त होती है (यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान से उद्धृत)।

वक्तव्य—जद्वार एक उत्तम औषध है। हकीम लोग इसका पुष्कल प्रयोग करते हैं। वैद्यों को भी इसका प्रयोग करना चाहिये।

(७) ममीरा।

नाम—(सं.) पतिमूला; (हिं. म.) ममीरा, ममीरी; (गु.) ममीरो, ममीरी; (आ.) मिष्मीतीता[1]; (फा.) मामीरान (ले.) कोटिप्स् टीटा (Coptis teeta)।

उत्पत्तिस्थान—काबुल से लेकर आसाम तक हिमालय के प्रदेश में तथा चीन में होता है।

वर्णन—इसका काण्डहीन छोटा क्षुप होता है। क्षुप वर्षायु, परंतु मूल बहुवर्षायु होता है। पत्ती देखने में हंसराज की पत्तीसी मालूम होती है। मूल ऊपर से श्यामवर्ण और भीतर से पीले होते हैं।

उपयुक्त अंग—मूल। मूल में दारुहारिद्रिक (बर्बेन्रि) नाम का सत्त्व पाया जाता है। **मात्रा**—एक से दो माशे तक।

गुण-कर्म—ममीरा रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण और रूक्ष, लेखन, शोथहर, चक्षुष्य, ज्वरहर, दीपन, पाचन और सर हैं।

---

[1] यह आसाम की मिष्मी नाम की पर्वतमाला में अधिकतया होता है, वहां की मिष्मी नाम की जाति के लोग इसको बेचने के लिये लाते हैं, तथा स्वाद में तीता (तिक्त) होता है, इसलिये इस को आसाम में मिष्मीतीता कहते हैं।

उपयोग—नेत्राभिष्यन्द में आँखपर इसका लेप किया जाता है और २० भाग गुलाब के अर्क में १ भाग ममीरा महीन पीस, कपड़े से छानकर बनाये हुए द्रव की बूंदें नेत्र में डाली जाती हैं। आँख की फूली में शहद में घिसकर लगाते हैं। आँख में लगाने के सुरमे में डाला जाता है। विषमज्वर को रोकने के लिये १॥-३ मासे तक की मात्रा में ज्वर आने के पूर्व ३-३ घंटे से ३ मात्रा देते हैं। यह कटुपौष्टिक और दीपन-पाचन होने से रोगान्तदौर्बल्य में ५ से १० रत्ती की मात्रा में अकेला या लोहभस्म के साथ मिलाकर दिया जाता है।

यूनानी मत—यूनानी वैद्यक में ऊपर लिखे हुए गुणों के अतिरिक्त इसको कोष्ठवातप्रशमन और मूत्रल माना है। लेखन होने के कारण नखों का सफेद होना, श्वित्र, सिध्म, कच्छू तथा त्वचा के दाग (धब्बे) में मधु और सिरके के साथ इसको पीसकर लेप करते हैं। मूत्रल होने के कारण अवरोधजन्य कामला में अनीसून के साथ पीसकर मिलाते हैं।

---

(८) पियाराँगा-पीआरंग

नाम— (सं.) पीतरङ्ग; (हिं.) पियाराँगा, पीलीजडी, शूम्रक; (ले.) थेलिक्ट्रम् फोलिओलसम् (Thalictrum foliolosum)।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय में सर्वत्र ५ से ९ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है। खासिया पर्वतमाला पर विशेष होता है।

वर्णन—पियाराँगा के मूल ललाई लिये पीले रंग के, १ अंगुली तक मोटे, ६ से ८ इंच तक लंबे और स्वाद में बहुत तिक्त होते हैं। इसके मूल विशेषतः चूर्ण के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। कहीं कहीं इन को ममीरा भी कहते हैं।

उपयुक्त—मूल। इसके मूल में दारुहारिद्रिक (बर्बेरीन् Berberin) सत्व पाया जाता है।

गुण-कर्म—पियाराँगा रस में तिक्त; वीर्य में उष्ण और रूक्ष; कटुपौष्टिक दीपन-पाचन, शोथहर, ज्वरघ्न, चक्षुष्य, मृदुरेचक, श्लेष्मनिःसारक और श्वासहर है।

नव्यमत—पियाराँगा खाने से पेट में गरमी मालूम होती है, जठररस उत्पन्न होता है और अन्न पचता है। इस में उत्तम कटुपौष्टिक गुण होने के साथ यह सारक भी है। इस में थोडा विषमज्वर को रोकने का गुण भी है। जीर्णज्वर में भी यह उपयोगी है। गंभीर रोग के पीछे जो शरीर में दुर्बलता आती है उसमें और आमाशय की शिथिलता से जो कुपचन होता है उसमें विशेष उपयोगी है। इससे रोगी को भूख लगती है और प्रकृति अच्छी है ऐसा मालूम होता है। आँख की

बीमारियों में पियारांगा का उपयोग ममीरी के समान किया जाता है। मात्रा २ से ५ रत्तीतक (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत--पियारांगा वेदनास्थापन, श्वयथुविलन, दीपन, श्लेष्मनिःसारक और विषनाशक है। हैजे में गुलाबपुष्पार्क में घिसकर वारंवार पिलाते हैं। शीतल शोथों को बैठाने के लिये और कई प्रकार के दर्दों को शमन करने के लिये इसका लेप करते हैं। कास, श्वास और फुफ्फुसशोथ में उपयुक्त भेषजों के साथ इसका प्रयोग करते हैं। मात्रा—४ से ८ रत्तीतक।

(९) उपकुञ्चिका-कलौंजी।

उपकुञ्ची च पृथ्वीका कालिका स्थूलजीरकः।

नाम--(सं.) उपकुञ्ची, पृथ्वीका, कालिका, स्थूलजीरक; (हिं.) कलौंजी, मँगरैला; (गु.) कलोंजी (म.) कलोंजी (ब) कालजीरा; (फा.) शोनिज, स्याह दाने; (अ.) हब्बतुस्सौदा; (ले.) नाईजेला सेटाइवा (Nigella sativa)।

वर्णन--कलौंजी के त्रिकोणाकार काले रंग के बीज होते हैं। उनको मसलने से नींबू जैसी तीक्ष्ण सुगन्ध आती है। बीज को काटनेपर उसमें तैल से भरा हुआ सफेद मगज दिखता है। बीजों को गरम मसाले में डालते हैं।

उपयुक्त अंग--बीज।

गुण-कर्म--"कारवी कुञ्चिकाऽजाजी यवानी-धान्य-तुम्बरु। रोचनं दीपनं वात-कफ-दौर्गन्ध्यनाशनम् ।।" (च. सू अ. २७, आहारयोगिवर्ग)। "तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम्। कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ।। कारवी करवी तद्वद्विज्ञेया सोपकुञ्चिका ।।" (सु. सू. अ. ४६)। "जीरकत्रितयं[1] रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राहि पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ।। ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत् ।।" (भा. प्र. हरीतक्यादिवर्ग)। "पृथ्वीका कटुतीक्ष्णोष्णा वातगुल्मामदोषनुत्। श्लेष्माध्मानहरा जीर्णा जन्तुघ्नी दीपनी परा ।।" (रा. नि.)।

कलौंजी रस में कटु और तिक्त; विपाक में कटु (लघु); वीर्य में उष्ण, रूक्ष और तीक्ष्ण; रोचन; दीपन (अग्निवर्धक), दौर्गन्ध्यनाशन, ग्राही, पित्तकर, मेध्य, गर्भाशय शोधन, पाचन, बलकारक, वृष्य सुगन्धी तथा कफ, वात, गुल्म, आमदोष, अफारा, वातगुल्म, वमन, अतिसार, कृमि और ज्वर का नाश करनेवाली है।

---

[1] जीरकत्रितयं—सफेद जीरा, स्याहजीरा और कलौंजी। सुश्रुत और भावमिश्रने इन तीनों के गुण समान लिखे हैं।

नव्यमत——कलौंजी तिक्त, सुगन्धी, कोष्ठवातप्रशमन, दीपन, ज्वरहर, कृमिघ्न और स्तन्यजनन है। इससे भूख लगती है, अन्न तथा घृत-तेल पचता है और पेट में हवा नहीं भरती। यह त्वचा, स्तन या मूत्रपिंड के रास्ते से बाहर निकलती है और बाहर निकलते समय इन अवयवों को उत्तेजित करती है; अतः मूत्र तथा दूध बढ़ता है और पसीना आता है। गर्भाशय पर इसको प्रत्यक्ष क्रिया होती है। गर्भाशय का संकोच-विकास जोर से होता है और ऋतु साफ होता है। प्रसव के बाद स्त्रियों को केवल कलौंजी देने से भूख लगती हैं, घी और अन्न पचता है, पेट में हवा नहीं भरती, ऋतु साफ होता है, कमर की पीड़ा कम होती है, मूत्र साफ होता है और पुष्कल दूध उत्पन्न होता है। विषमज्वर में $\frac{१}{२}$ तोला कलौंजी जरा भूनकर गुड़ के साथ मिलाकर देते हैं। त्वग्रोग में कलौंजी खाने को देते हैं और तैल में मिलाकर लगाते हैं। इससे कण्डू कम होती है। सूजे हुए अर्श को कलौंजी की धूनी देते हैं, इससे मसे की वेदना और सूजन कम होती हैं। इसको खिलाने से गोलकृमि पड़ते हैं। विरेचन द्रव्यों के साथ मिलाकर देने से पेट में मरोड़ (ऐंठन) नहीं होता। (डॉ. व. ग. देसाई)।

यूनानी मत——दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। मात्रा १ से ३ माश तक। **प्रतिनिधि**-अनीसून। कलौंजी आर्तव, स्तन्य और मूत्र का प्रवर्तन करती है। सर्द खाँसी, प्रतिश्याय, उरोवेदना, जलोदर, वातजन्य, उदरशूल और पेट के कृमि में लाभकारी है। इसके लेप से सूजन उतरती है। कलौंजी को जलाकर बनाई हुई मसी मोम और तेल में मिलाकर सिर के गंज पर लगाना गुणकारी है। इससे छाछ में पीस, गरम करके नारू पर लगाने से नारू बाहर निकल आता है। कलौंजी ५ तोला, बावची ५ तोला, गूगल ५ तोला, दारुहल्दी ५ तोला और गन्धक २।। तोला, इनके कल्क में १ प्रस्थ नारियल का तेल सिद्ध करके लगाने से पामा, विचर्चिका आदि त्वचा के रोगों में लाभ होता है।

---

(१०) ऊदसलीब।

नाम——(अ.) ऊदसलीब; (पं.) मामेख(?); (इं.) हिमालयन् पेओनी (Himalian Paeony); (ले.) पेओनिआ इमोडी (Paeonia emodi)।

वर्णन——ऊदसलीब के मूल जो बाजार में मिलते हैं वे प्रायः यूरोप से आते हैं। हिमालय में यह हजारा से कुमाऊं तक के प्रदेश में ५से १०हजार फुट तक की ऊंचाई पर होता है। मूल १ से ३ इंच लंबे, $\frac{१}{२}$ से $\frac{3}{४}$ इंच मोटे, मध्य में मोटे और दोनों छोरों की ओर गोपुच्छाकार होते हैं। बाहरी पृष्ठ भूरा होता है और उसपर लंबाई के रुखमें गहरी रेखायें होती हैं। भीतरी भाग सफेद श्लिष्टमय होता है। काटने पर छिलका कड़ा और पीले रंग का मालूम होता है। स्वाद किञ्चित् चरपरा होता है।

उपयुक्त अंग मूल । इसका चूर्ण के रूप में प्रयोग होता है । यूनानी हकीम इसका अधिक उपयोग करते हैं ।

गुण कर्म—ऊदसलीब उष्ण और रूक्षवीर्य, रज.प्रवर्तक, मूत्रल तथा नाडियों-(ज्ञानतन्तुओं) को बल देने वाला है। ऊदसलीब गर्भाशय के रोग, उदरशूल, जलोदर, अपस्मार, आक्षेपक, अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), कम्पवात, पक्षाघात, अश्मरी और पित्तावरोध में प्रयुक्त होता है । बच्चों को रक्तशोधनार्थ देते हैं ।

मात्रा--१ से ३ माशे तक । अधिक मात्रा में देने से सिर का दर्द, कान में आवाज, दृष्टिभ्रम और वमन होता है। निवारण—गुलकन्द और मुलेठी ।

भव्यादि वर्ग २.

N. O. Dilleniaceae (डल्लेनिएसी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधस्थबीजकोश; पर्णक्रम-एकान्तर; पर्ण सादे, बडे, चर्मसदृश; पुष्पबाह्यकोश के दल ५, स्थायी; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४ से ५, पूर्वपाती; पुंकेशरसंख्या अनियमित; परागकोश अन्तर्मुख होते हैं ।

------

(११) भव्य

(सं.) भव्य; (ब.) चालता; (म.) करंबळ; (ले.) डिल्लेनिआ इन्डिका (Dillenia Indica) ।

वर्णन—यह फल बंगाल, उड़ीसा और कोंकण आदि में होता है । पके फल दाल, साग और चटनी में खटाई के लिये डालते हैं । कच्चे फल कषाय और पके फल खट-मीठे होते हैं । भव्य में पुष्पबाह्यकोश कायम रह कर मांसल हो जाता है और यह फल का अधिकांश होता है ।

गुणकर्म--"हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम् । पित्तश्लेष्मकरं ग्राही गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।।" (सु. सू. अ. ४६ फलवर्ग) । "मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम् । पित्तश्लेष्मकरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम् ।।" (च. सू. अ. २७ फलवर्ग) ।

भव्य रस में मधुर, अम्ल और कषाय; विपाक में गुरु; शीतवीर्य ; हृद्य, ग्राही, विष्टम्भि, मुंह को साफ करने वाला और कफ तथा पित्त को उत्पन्न करने वाला है ।

नव्यमत-फल के रस में चीनी और जल मिलाकर ज्वर में शीतल पानक के रूप में दिया जाता है। इसे खासी में देनेसे कफ पतला होकर गिर जाताहै और दस्त भी साफ होता है । फल अधिक खाने से अतिसार होता है । वृक्ष की त्वचा और पत्र ग्राही हैं ।

चम्पकादि वर्ग ३.

N. O. Magnoliaceae. (मॅग्नोलिएसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश, पर्ण अखंड और एकान्तर; पुष्प सुगन्धि, नियमित, शाखा के अग्रसे या पत्रकोण से निकलते हैं; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ३–३ चक्राकार में होते हैं; पुंकेशर अनियत; फलों के गुच्छे लगते हैं और उसमें वड़े बीज होते हैं।

(१२) चम्पक।

चम्पकः स्वर्णपुष्पश्च काञ्चनः षट्पदातिथिः।

नाम–(सं.) चम्पक, स्वर्णपुष्प, पीतपुष्प, काञ्चन, षट्पदातिथि; (हिं.) चंपा; (पं) चंपा, चंबा; (बं.) चांपा; (म.) पिवळा चांफा, सोनचांफा; (गु.) पीळो चंपो, रायचंपों; (ते.) चांपेमु, चंपकमु ; (ता.) संबगम्। (का) संपिगे; (मल.) चंपकम्; (ले.) माइकेलिया चंपक (Mihelia Champaca)।

वर्णन–चंपा के वृक्ष अपने सुगन्धि पुष्पों के कारण बगीचों में लगाये जाते हैं। वृक्ष सुंदर, सीधा और ऊँचा होता है। पर्ण एकान्तर; नीचे चौड़े, सिरेपर नोकदार ८ से १० इंच लंबे और २॥ से ४ इंच चौड़े होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं और वर्षाऋतु में आते हैं। त्वचा बाहर से फीके भूरे रंग की और भीतर से ललाई लिये भूरे रंग की होती है।

उपयुक्त अंग–पुष्प और त्वचा। त्वचा कटु, कुछ, तिक्त, कषाय और सुगन्धित होती है। त्वचा में सुगन्धि तैल के साथ मिश्रित कटु और कषाय द्रव्य होता है। छाल को फांट किंवा चूर्ण बनाकर देना चाहिये, क्वाथ नहीं करना चाहिये। क्वाथ करने से सुगन्धि तैल उड़ जाता है और केवल कषाय द्रव्य काढे में अधिक उतरता है।

गुण कर्म–"चम्पकं रक्तपित्तघ्नं तिक्तोष्णं कफनाशनम्" (सु. सू. अ. ४६. पु. व.) "चम्पकः कटुकस्तिक्तः शिशिरो दाहनाशनः। कण्डूकुष्ठव्रणहरः कफपित्तविनाशनः॥" (रा. नि.)। "चम्पकं कटुकं तिक्तं कषायं मधुरं हिमम्। निहन्ति कफपित्तास्रमूत्रकृच्छ्रविषक्रिमीन्॥" (कै. नि.)। "चम्पकशिफाकषायो निरुणद्धि मूत्रमवशगम्" (वै. म.)। "चम्पकं कुसुमं शीतं चक्षुष्यं विशदं शुभम्॥ (क्षे. कु.)।

चंपा रस में कटु, तिक्त, कषाय और मधुर; शीतवीर्य; चक्षुष्य तथा रक्तपित्त, दाह. कुष्ठ, कंडू, व्रण, मूत्रकृच्छ्र, विष, कृमि; रक्तविकार, कफ और पित्त का नाश करने वाला है।

नव्य-मत—चंपक की त्वचा कटुपौष्टिक, सुगन्धि, दीपन, स्वेदजनन, विषमज्वर-प्रतिबन्धक, मूत्रजनन, वातहर, कफहर, आमनाशन, गर्माशयोत्तेजक, शोथहर, व्रणशोधन और रसायन है। चंपा के फूल तिक्त, दीपन, वायुनाशक, संकोचविकाशप्रतिबन्धक, मूत्रजनन, दाहनाशन, कुष्ठ-कण्डू-व्रणहर और उत्तम उत्तेजक है। मूल की त्वचा मूत्रविरजन, आर्तवजनन और शोथहर है।

उपयोग—विषमज्वर में चंपा की छाल का फांट ठंढी भरने के पहले १-१ घंटे से तीन बार और ज्वर चढ़ने के बाद ३-३ घंटे से दिया जाता है। उपदंश की दूसरी अवस्था में व्रण, दुष्टव्रण, कोथ, गण्डमाला और सन्धिबन्धन का मोटा होना इत्यादि विकारों में त्वचा दी जाती है। आमवात और जीर्ण सन्धिवात में त्वचा उपयोगी है। मूल की छाल अनार्तव और पीडितार्तव में उपयोगी है। फूलों का फांट सुजाक में देने से पेशाब की जलन कम होती है और मूत्र का प्रमाण बड़ता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

सीताफलादि वर्ग ४

N. O. Anonaceae (अँनोनेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल, अध:स्थबीजकोश; पर्ण-सादे, एकान्तर, अखण्डित किनारीवाले; पुष्पबाह्यकोश के दल ३; पँखडियां ६, ३-३ के दो चक्रों में पुंकेशर अनियत; स्त्रीकेशरनलिका बहुत बारीक; बीज बड़ा और सख्त।

(१३) सीताफल।

सीताफलं गण्डगात्रं कृष्णबीजं तथैव च।

नाम--(सं.) सीताफल, गण्डगात्र, कृष्णबीज; (हिं. म. गु.) सीताफल (बं.) आता; (ता) आत्तापळम्; (अ) शरीफा; (ले.) एनोना स्क्वॅमोसा (Anona squamosa)।

वर्णन—सीताफल एक प्रसिद्ध फल है जो खाया जाता है।

उपयुक्त अंग—फल खाया जाता है। पत्र और बीज का कल्क लेप के काम में आता है।

गुण-कर्म—सीताफलं तु मधुरं शीतं हृद्यं बलप्रदम्। तर्पणं बृंहणं दाहरक्तपित्त-मरुत्प्रणुत्॥

सीताफल मधुर, शीतवीर्य, हृद्य, बलकारक, तृप्तिजनन, बृंहण तथा दाह, रक्तपित्त और वायु का नाश करने वाला है।

सीताफल के पत्र या बीज का कल्क सिर में लगाने से सिर के बालों में पड़ी हुई जूं

मर जाती हैं। कल्क लगाकर सिर को कपडे से बांध लेना चाहिये। २-३ घंटे बाद सिर को नीचा कर के आँखों में पानी न जाने पावे इस प्रकार सावधानी से सिर धोना चाहिये। दुष्टव्रण में कीड़े पड़े हों तो इसके पत्र का कल्क लगाया जाता है। इससे कीडे मर जाते हैं।

गुडूच्यादि वर्ग ५.

N. O. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णक्रम-एकान्तर; वर्ण-सादे, अखंड, लंबे, सवृन्त; पुष्प छोटे, हरे किंवा पीले, नियमित और पत्रकोणोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ६-६; पुंकेशर नियत और पुष्कल; दोनों कोशों के दल और पुंकेशर दो चक्रोंमें; बीज मांसल होते हैं।

---

(१४) गुडूची।

नाम-(सं.) गुडूची, अमृता, छिन्नरुहा, छिन्नोद्भवा, कुण्डलिनी, चक्रलक्षणा, वत्सादनी; (हिं.) गिलोय; (बं.) गुलंच; (म.) गुळवेल; (कों.) गरुडवेल; (गु.) गळो; (सिं.) गिलोर; (कच्छ) गडू; (फ.) अमरदवळिळ; (ते.) तिप्पतीगे; (मल.) चिट्टामृतम्; पैय्यमृतम्; (ले.) टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (Tinospora cordifolia)।

वर्णन—गिलोय की बहुवर्षायु, मांसल और बड़े वृक्षोंपर चढ़नेवाली बड़ी लता होती हैं: पत्र एकान्तर, मसृण और हृदयाकृति होते हैं। इसके काण्ड से अवरोह मूल निकलते हैं। फूल छोटे, पीले रंग के गुच्छों में लगते हैं। फल लाल रंग के होते हैं। काण्ड की अन्तस्त्वचा हरे रंग की और मांसल होती हैं। बाह्यत्वचा सफेदाई लिये हुए भूरे रंग की होती हैं। काण्ड को काटने से अन्दर का भाग चक्राकार दिखता है।

गुण-कर्म ''वायुं वत्सादनीहन्यात्''(च. सू. अ. २७)। "अमृता सांग्राहिक-वातहर-दीपनीय-श्लेष्म-शोणित-विबन्धप्रशमनानाम्" (च. सू. अ. २५)। ××× गुडूची × × ×। × × × तिक्ता पित्तकफापहा।" (सु. सू. अ. ४६)। "ज्ञेया गुडूची गुरुरुष्णवीर्या तिक्ता कषाया ज्वरनाशिनी च। दाहार्ति तृष्णा-वमि-रक्तवात-प्रमेह-पाण्डु-भ्रमहारिणीच।"(रा. नि.)। चरके(सु.सू.अ.४)तृप्तिघ्ने स्तन्यशोधने, तृष्णानिग्रहणे, दाहप्रशमने, वयःस्थापने च गणे; तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) आरग्वधादौ, पटोलादौ, काकोल्यादौ, गुडूच्यादौ, वल्लीञ्चपमूले च गणे गुडूची पठ्यते। रसायने गुडूची "× रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्या"।

च. चि. अ.१) । विषमज्वरे गुडूची—"गुडूच्या रसमेव वा" (च. चि. अ. ३) । कामलायां गुडूची" × × गुडूची वा × × रसम् । शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः । (च.चि. १६) ।

गिलोय रस में तिक्त,कुछ कषाय; गुरु, उष्णवीर्य, ग्राही, दीपनीय, रक्तशोधन, विबन्धप्रशमन, वात-पित्त-कफहर; तृप्तिघ्न, स्तन्यशोधन, तृषानिग्रहण, दादप्रशमन, वयःस्थापन रससायन और ज्वर, वमन, वातरक्त, प्रमेह, पाण्डूरोग, कामला, श्वेतप्रदर तथा भ्रम को दूर करनेवाली है ।

नव्यमत--गिलोय कटुपौष्टिक, पित्तसारक, संग्राहक, त्वग्रोगहर, मूत्रजनन और ज्वरहर है । गिलोय उत्तम मूत्रजनन और मूत्रविरजनीय है । इस कार्य के लिये गिलोय बड़े प्रमाण में देनी चाहिये । सर्व प्रकार के प्रमेह में गिलोय का स्वरस या सत्त्व देते हैं। बस्तिशोथ में सत्त्व बहुत गुणकारक है। मूत्रेन्द्रिय के अभिष्यन्दप्रधान रोग में गिलोय के साथ पाठा देना चाहिये । नये सुजाक में गिलोय का स्वरस देने से मूत्र का दाह कम होता है और प्रमाण बढ़ता है । सर्व प्रमेह में गिलोय के दो से तीन ड्राम स्वरस में पाषाणभेद का चूर्ण (५ से ८ रत्ती) और शहद मिलाकर देते हैं। गिलोय त्वग्रोगों (कुष्ठ) में प्रधान औषध है । इससे त्वचा की कण्डू और दाह कम होता है । गिलोय से भूख लगती है, अन्न पचता है, रक्त बढ़ता है और शक्ति में वृद्धि होती है । ज्वर किंवा अन्य बीमारीके बाद जो दुर्बलता आती है उसमें गिलोय देते हैं । गिलोयसे पित्त अच्छी तरह से बहने लगता है और यकृत् की पित्तवाहिनियों का और आमाशय के अन्दर की श्लेष्म त्वचाका अभिष्यन्द कम होता है । इसलिए कुपचन, पेटका हलका दर्द और कामला में गिलोय से लाभ होता है । जीर्ण अतिसार तथा आंव और अम्लपित्त में गिलोय का सत्त्व हितावह है । इससे पचननलिका की अधिक अम्लता कम होती है । गिलोय का मिश्रित फांट उत्तम रसायन है । इससे जीर्ण आमवात और फिरंगोपदंश की द्वितीयावस्था में अच्छा लाभ होता है ।

गुडूची का मिश्रित फांट--१० तोले ताजी गिलोय को धो और पीसकर बनाया हुआ कल्क तथा १० तोले अनन्तमूल का चूर्ण दोनों को १०० तोले उबलते हुए जल में डाल, पात्र को बंद करके दो घंटे रख छोड़े । बाद हाथ से मसलकर कपड़े से निचोड़ ले । मात्रा–५से १० तोला दिन में ३ बार देवे । यह फांट उत्तम रसायन और मूत्रजनन है" (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

गुडूच्यादि चूर्ण--गिलोय, अतीस, सोंठ, चिरायता, कालमेघ, नागरमोथा, पीपल, यवक्षार, कासीसभस्म और चंपाके वृक्ष की छाल—प्रत्येक समभाग; एकत्र मिलाकर चूर्ण बनावे । मात्रा १० रत्ती । इससे यकृत् और प्लीहा के रोग, पाण्डुरोग,अग्निसान्द्य,अरुचि,ज्वर आदि विविध रोगोंमें लाभ होता है(भा.भै.र.)।

गुडूचीप्रधानयोग—संशमनी वटी (सि. यो. सं., ज्वराधिकार), गुडूच्यादिमोदक (सि. यो. सं , राजयक्ष्माधिकार), गुडूचीसत्त्व (द्र. गु. वि., प. खं. पृ. ४८), अमृताद्यरिष्ट (भै. र. ज्वराधिकार) ।

उपयुक्त अंग—काण्ड । जहांतक बने गिलोय ताजी काम में लेना चाहिये । सुखाकर रखना हो तो बाह्यत्वचा निकाल, छोटे छोटे टुकडे कर, छाया में सुखाकर रखनी चाहिये ।

मात्रा——चूर्ण १॥ से ३ माशा; क्वाथ ४-८ तोला; सत्त्व ५-१५ रत्ती ।

संग्रहणकाल—ग्रीष्मऋतु में वर्षा के पूर्व संग्रह करना चाहिये ।

(१५) पाठा ।

नाम——(सं.) पाठा, अम्बष्ठा, अम्बष्ठकी, वन(र.) तिक्ता, अविद्धकर्णी, पीलुफला; (हिं) पाढ; (गु.) काली पाठ, करंढियुं; (म.) पहाडवेल, वेल पाडली, पाड़ावल; (बं.) आकनादि; (ते.) पाडा; (फा.) पाड़ावलि, (मल.) पार्डक्किळंगु; (ले.) राजपाठा-साइक्लिआ पेल्टेटा-(Cyclea pelteta), लघुपाठा-सिसेम्पेलोझ् पॅरेरा (Cissampelos Pareira) ।

वर्णन—पाठा की छोटी और बड़ी दो जातियाँ होती हैं । बडी को राजपाठा और छोटी को लघुपाठा कहते हैं । चरक चि. अ. १८ में त्र्यूषणादिघृत में 'द्वे पाठे' ऐसा उल्लेख है । उसकी व्याख्या में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं कि "द्वे पाठे इत्यनेन स्वल्पपत्रां द्वितीयां पाठां ग्राहयन्ति" ।

पाठा की आरोहिणी या प्रतानिनी लता होती है । पत्र हृदयाकृति, लोमश; पत्र का अपर पृष्ठ गहरे हरे रंग का और थोड़ा रोमश तथा अधर पृष्ठ फीके रंग का और अधिक रोमश होता है । इसमें नर और मादा पुष्प अलग अलग होते हैं । पुष्प का रंग पीलाई लिये हुए होता है । राजपाठा के फल उड़द की दाल जैसे और रोमश होते हैं तथा लघुपाठा के फल मटर के बराबर, लाल रंग के और पीलु जैसे होते हैं ।

गुण-कर्म——"पाठा ×× शाकं ××। विद्यागम्दाहि त्रिदोषघ्नं" (च सू. अ. २७) । चरके (सू. अ. ४) सन्धानीये, स्तन्यशोधने, ज्वरहरे च गणे तथा । सुश्रुते (सू. अ. ३८) आरग्वधादौ, पिप्पल्यादौ, बृहत्यादौ, पटोलादौ, अम्बष्ठादौ, मुस्तादौ च गणे पाठा पठ्यते । "पाठा तिक्तरसा बल्या विषघ्नी कुष्ठकण्डुनुत् । छर्दिहृद्रोगज्वरजित्त्रिदोषशमनी परा ॥ पाठातिसारशूलघ्नी कफपित्तज्वरापहा।" (ध. नि. गुडूच्यादि वर्ग) ।

पाठा रस में तिक्त, विपाक में लघु, उष्णवीर्य, ग्राहि, सन्धानीय, स्तन्यशोधन,

त्रिदोषशमन, बल्य तथा ज्वर, अतिसार, विष, कुष्ठ, कण्डू, वमन, शूल (पेट का दर्द) और हृद्रोग का नाश करने वाली है ।

नव्यमत--पाठा लघु, तिक्त, बल्य, ग्राही, मूत्रजनन और शोथहर है । अल्प प्रमाण में देने से भूख लगती है, अन्न पचता है और अन्त्र की श्लेष्मलत्वचा (कला) को शक्ति मिलती है । बड़े प्रमाण में देने से दस्त साफ होता है । मूत्रेन्द्रिय की श्लेष्मकला पर इसकी संग्राहक, शामक और बलकारक क्रिया होती है । पाठा मूत्रेन्द्रिय से बाहर निकलती है इसलिये मूत्रेन्द्रिय को उत्तेजित करके मूत्र का प्रमाण बढ़ाती है । नूतन और जीर्ण वस्तिशोथ, बस्ति का अभिष्यन्द; मूत्रकृच्छ्र, रक्तमूत्र और सान्द्रमेह में पाठा बड़े प्रमाण में दी जाती है । इन विकारों में पाठा के साथ गिलोय और मुलेठी भी देते हैं । कुपचन, पेट का दर्द, अतिसार, ज्वरातिसार तथा रक्तप्रवाहिका में पाठा अल्प प्रमाण में देते हैं आँतों की बीमारी में पाठा के साथ सुगन्धि द्रव्य देते हैं (डॉ. वा. ग. देशाई) ।

उपयुक्त अंग--मूल । **मात्रा**--मूल का चूर्ण १०-३० रत्ती ।

------

(१६) कलंबा ।

नाम--(म.) कलमकाचरी; (गु.) कलुंबो; (इं.) केलुम्बा रूट (Galuba root); (ले.) जेटीओराइझा पामेटा (Jateorhisa palmata) ।

वर्णन--बाजार में कलंबा के चक्राकार में काटे हुए मूल मिलते हैं । ये अफ्रीका के मोजाम्बिक प्रदेश से हिन्दुस्तान में बिकने के लिये आते हैं ।

गुण-कर्म--कलंबा रस में तिक्त, विपाक में लघु, उष्णवीर्य, दीपन-पाचन और जीर्णज्वरनाशक है ।

नव्यमत--इसमें दारुहारिद्रिक, कलंबीन और पिष्ठ ये सत्त्व पाये जाते हैं । यह कटुपौष्टिक, दीपन और पित्तसारक है । इसका कटुपौष्टिक गुण उत्तम है । तिक्त (कड़ुए) पदार्थ मुँह में डालने पर लाला उत्पन्न होती है । लालारस आमाशय में जाने पर आमाशय उत्तेजित होता है और अम्लरस अधिक उत्पन्न होता है । इसके आमाशय की पचनक्रिया अच्छो होती है और वह अच्छी होनेपर पक्वाशय की पचनक्रिया भी अच्छी सुधरती हैं, इस प्रकार दोनों स्थानोंकी पचनक्रिया सुधरनेपर वसा[१] नामक रस बढ़ता है और उससे रक्त और रक्तके अन्दर के पोषक द्रव्य भी बढ़ते हैं । वसारस बढ़ने से हृदय और नाडियोंको पुष्टि मिलतीहैऔरइससे सर्व शरीर को पुष्टि मिलकर शरीर की सब क्रियाएँ उत्तम रूपसे चलती हैं। सब कड़वे (तिक्त) द्रव्योंकी क्रियाशरीर पर इसप्रकार होती है । इसलिये ऐसे पदार्थों को कटुपौष्टिक[२] मानते हैं । कटुपौष्टिक

---

[१] Chyle-काइल । [२] Bitter Tonics-बिटर टॉनिक्स ।

द्रव्यों की आवश्यकता दो प्रकार के व्याधियों में होती है। एक आमाशय और आंतों के रोग जिनमें भूख नहीं लगती, अन्न नहीं पचता और दस्त अधिक होते हैं, जैसे अतिसार और ग्रहणीरोग। दूसरा जब सर्व शरीर में शिथिलता आती है तब इन द्रव्यों की आवश्यकता होती है। पचनेन्द्रियों के शैथिल्यप्रधान रोगों में कलंबा देते हैं।" (डॉ. वा. ग. देसाई)।

कलंबा चूर्ण या हिम के रूप में दिया जाता है। मात्रा–चूर्ण ५–२० ग्रेन। हिम २–४ तोला।

बंबई प्रान्त के वैद्य कलंवा का चिरकाल से प्रयोग करते हैं। अन्य प्रान्तों के वैद्यों को भी इसका प्रयोग करना चाहिए।

दारुहरिद्रादि वर्ग ६.

N. O. Berberidae (बर्बेरिडी)

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्ण–सादे किंवा संयुक्त; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल दो चक्रों में; बीजकोश एक; फल मांसल।

(१७) दारुहरिद्रा।

नाम–(सं.) दारुहरिद्रा, कटङ्कटेरी, पचम्पचा, दार्वी; (क.) कावदचछ-मूल, बालिद्धर; (पं.) दारहल्दी, सिम्लू (पहाडी इलाका); (म.) दारुहळद; (ग.) दारुहळदर; (बं.) दारुहरिद्रा, (ग.) किनगोड, तोतरा, (फा.) दारचोब, (ले.) बर्बेरिस् ऑरिस्टेटा (Berberis Aristata)।

प्राप्तिस्थान–हिमालय में ५–७ हजार फुट को ऊंचाई पर होती है।

वर्णन–दारुहलदी का कांटेदार ६–८ फुट ऊंचा गुल्म होता है। पत्र कठोर, पत्र की किनारी कांटेदार; फूल पीले रंग के और फल छोटी किशमिश जैसे ललाई लिये हुए काले रंग के होते हैं। छाल धूसरवर्ण और भीतर की लकड़ी हलदी जैसे पीले रंग की होती है। इसलिये इसको दारुहरिद्रा कहते हैं।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. ४.) लेखनीये, अर्शोघ्ने, कण्डुघ्ने च गणे तथा। सुश्रुते (सू. अ. ३८) हरिद्रादौ, मुस्तादौ, लाक्षादौ च गणे दारुहरिद्रा पठ्यते। "तिक्ता दारुहरिद्रा स्याद्रुक्षोष्णा व्रणमेहनुत्। कर्णनेत्रमुखोद्भूतां रुजं कण्डूं च नाशयेत्॥" (ध. नि. गु. व.)। "कण्डूविसर्पत्वग्दोषविषकर्णाक्षिरोगहृत।" (रा. नि. पि. व.)।

कल्प- रसाञ्जन[१] — क्वाथो दार्व्याः पुनः पाकाद्घनीभूतो रसाञ्जनम् । **रसाञ्जनगुणाः**—रसाञ्जनं हिमं तिक्तं रक्तपित्तव्रणापहम् । व्रणशोथहरं नेत्र्यं विषमज्वरनाशनम् ।।

दारुहलदी रस में तिक्त; विपाक में कटु, रूक्ष, उष्णवीर्य, लेखन तथा अर्श, कुष्ठ, कण्डू, व्रण, प्रमेह, मुख-नेत्र-कर्ण-रोग और विसर्प का नाश करने वाली है।

रसाञ्जन-वर्षाऋतु के अन्त में दारुहलदी के मूल और लकड़ी का क्वाथ कर, उस क्वाथ को फिर पका करके रसक्रिया बनाते हैं; उसको रसाञ्जन[१] कहते हैं।

नाम–(सं.) रसाञ्जन- ; (हिं.) रसौंत; रसोंत; (म.) रसाञ्जन; (गु.) रसवन्ती; (सिंध) रसबल।

गुण- कर्म–रसाञ्जन तिक्त, शीतवीर्य; तथा रक्तपित्त, व्रण, व्रणशोथ, नेत्र के रोग और विषमज्वर को नाश करने वाला है। दारुहलदी और रसाञ्जन दोनों व्रणशोधन और व्रणरोपण हैं।

नव्यमत—दारुहलदी तिक्त, उष्ण, कटुपौष्टिक, सोम्य, ग्राही, विषमज्वरघ्न, स्वेदजनन, ज्वरहर, श्लेष्मघ्न और त्वग्दोषहर है। रसौत शोथघ्न, कफघ्न, विषमज्वरप्रतिबन्धक और स्रंसन है। दारुहलदी के फल (झरिष्क) शीतल, अम्ल और रोचक हैं। थोड़ी मात्रा में दारुहलदी कटुपौष्टिक, दीपन और सौम्य ग्राही हैं। बड़ी मात्रा में जोरदार स्वेदन, ज्वरहर और मृदु रेचक है। बड़ी मात्रा में यह पाली के ज्वर को रोकती है। इसका यह गुण कुनैन जैसा है। परन्तु कुनैन से जैसा रोगी को त्रास होता है ऐसा इससे नहीं होता। जीर्णज्वर में जैसे कुनैन से वढी हुई प्लीहा का संकोचन होता है ऐसा इससे भी होता है। विषमज्वर में पहले हलका जुलाब देकर पीछे १५ रत्ती रसौत जल में मिलाकर देते हैं। ऐसी दिन में ३ मात्रा देते हैं। रसौत देने के बाद रोगी को खूब कपड़ा ओढ़ाकर सोने देना चाहिये। कुछ देर के बाद रोगी को प्यास लगेगी। परन्तु जल पीने को नहीं देना चाहिये। एक घंटे बाद उसको पसीना आवेगा। पसीना पोंछ कर उसको पेय या गरम दूध पिलाना चाहिये। दारुहलदी से त्वचा और त्वचा के नीचे की रसग्रन्थियों की विनिमयक्रिया सुधरती है। इसलिये फिरंगोपदंश, गंडमाला, अपची, नाड़ीव्रण, भगन्दर, व्रण और विसर्प में दारुहलदी से लाभ होता है। इन रोगों में रसौत खाने को देते हैं और इसका लेप कराया जाता है। श्वेतप्रदर और गर्भाशय की शिथिलता से उत्पन्न अत्यार्तव में दारुहल्दी का क्वाथ या रसौत दी जाती हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

[१] रसौत अपने घर पर बनाकर उपयोग में लेना चाहिये। बाजार की रसौत में मिट्टी, पत्ती, आदि अन्य द्रव्य मिले होते हैं। उसको चौगुने पानी में घोल, १-२ घंटा रख; ऊपर का पानी निथार, कपड़े से छानकर मंदाग्नि पर रसक्रिया जैसा गाढ़ा कर ले। बाजार की रसौत को इस प्रकार शुद्ध करके ही काम में लेना चाहिये।

रसौत, फिटकिरी और अफीम को नींबू के रस में पीसकर आँख की सूजन में आँख पर लेप किया जाता है। अर्श में रसौत और नीम के फल की मज्जा समभाग ले, उसको मूली के स्वरस की सात भावनायें देकर बनाई हुई गोलियाँ खिलाने से लाभ होता है। व्रणशोथ पर रसौत का लेप किया जाता है। एक औंस उत्तम गुलाब के अर्क में २ रत्ती रसौंत और २ रत्ती फिटकिरी डालकर बनाये हुए द्रव के विन्दु नेत्र में डालने से नेत्राभिष्यन्द में लाभ होता है। उबले हुए जल में रसौत मिलाकर बनाये हुए द्रव से व्रण को धोने से और सुजाक में शिश्न में तथा प्रदर में योनि में उत्तरबस्ति देने से लाभ होता है। रक्तार्श और रक्तप्रदर में रसौत केवल या नागकेशर और खूनखराबा (दम उल अखवेन) के साथ मिलाकर खाने को देते हैं।

यूनानी मत—दारुहल्दी शीत, रूक्ष, शोथविलयन, पीड़ाशामक और रक्तशोधन है। कामला, फोड़े-फुन्सी और कंडू में इसका प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यन्द के लिये यह उत्तम है। रसौत बाहर लगाने से दोष के फैलाव को रोकती है और संकोचक है। खिलाने से गरमी को शांत करती है और आँतों पर ग्राही असर करती है। रसौत को गरम शोथों पर सूजन और पीड़ा शान्त करने के लिये लगाते हैं। कर्णस्राव में इसका द्रव कान में डालते हैं। गले और मसूढ़ों के गरम शोथ में इसके द्रव के कुल्ले कराते हैं। रसौत अर्श में लाभप्रद है। मात्रा १–२ माशा।

झरिष्क—दारुहलदी फल को झरिष्क कहते हैं। यह किशमिश से छोटा, रंग में कालाई लिये लाल और स्वाद में खटमीठा होता है। झरिष्क शीत, रूक्ष; पित्त और रक्त के प्रकोप को शांत करने वाली, आमाशय तथा यकृत् की गरमी को शान्त करने वाली और उनको शक्ति देने वाली है। पैत्तिक ज्वर में वमन, तृषा और मितली को दूर करने के लिये झरिष्क को पानी में पीस, कपड़े से छानकर पिलाते हैं। पैत्तिक रोगों में और पित्तप्रकृति वालों को अन्न के साथ खिलाते हैं।

उपयुक्त अंग—दारुहलदी के मूल और कांड के नीचे के भाग की पीले रंग की लकड़ी काम में ली जाती है। हकीम लोग इसके फल (झरिष्क) का औषधार्थ प्रयोग करते हैं।

(१८) वनवृन्ताक।

नाम—(सं) वनवृन्ताक; (पं.) बनककडी (की); (क.) बनबांगुन; (ले.) पोडोफाइलम् इमोडी (Podophyllum Emodi)।

वर्णन—वनककडी हिमालय के कश्मीर आदि प्रदेशों में होती है। इसमें ग्रीष्मऋतु में टमाटर जैसे लाल रंग के परन्तु छोटे; मांसल और पुष्कल बीजवाले फल लगते हैं। फल खाये जाते हैं। मूल औषध के लिये काम में आते हैं। मूल में एक प्रकार की राल होती है।

गुण-कर्म - बनककडी पित्तसारक और विरेचन है। पित्तप्रकोप में विरेचन के लिये मूल का चूर्ण २ से ५ रत्ती की मात्रा में देते हैं। इससे पीले रंग के पतले दस्त होते हैं, यकृत् शोथ का उतरता है और उसकी क्रिया सुधरती है। इससे पेट में मरोडा होता है, अत: इसको सुगन्धि द्रव्य या अजवायन खुरासानी के साथ मिलाकर देना चाहिये। आमवात, वातरक्त, त्वग्रोग आदि में स्रोतों को खोलने के लिये इसका जुलाब देते हैं (डॉ. बा. ग. देसाई)।

कमलादिवर्ग ७.

N. O. Nymphaeaceae (निम्फीएसी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपत्र; विभक्त दल; उर्ध्वस्थबीजकोश: पत्र-बडे, गोल, पानी पर तैरते रहते हैं। पुष्प एकाकी; सफेद, लाल, पीले, आसमानी आदि अनेक रंग के होते हैं और पानी के ऊपर खिलते हैं। पुष्पवृन्त लंबा, मोटा और सच्छिद्र होता है। पुष्पबाह्यकोश के दल ३-६; पंखडियाँ ३ से ६ या उससे अधिक; पुंकेशर और स्त्रीकेशर बहुत होते हैं। परागकोश अन्तर्मुख होता है। बीजकोश ८ या अधिक और संयुक्त; पुष्पासन (कर्णिका) खूब बढ़ी हुई होती है। कमल की दो जातियाँ होती हैं। (१) सूर्यविकाशी; और (२) चंद्रविकाशी (रात्रिविकाशी)।

(१९) कमल।

नाम--(सं.) कमल, पद्म; (सूर्यविकाशी) (हिं.) कमल कंवल; (म. गु.) कमल; (का.) पम्पोश; (बं.) पद्म; (ता.) तामरै; (ले.) निलम्बिअम स्पेसिओझम् (Nelumbium speciosum)

---

(२०) कुमुद।

नाम-- (सं.) कुमुद, उत्पल (हि.) कूईं, कोंई; (बं.) सुँदि, शालूक; (गु.) पोयणुं (क.) बुम्पोश; (म.) कमोद; (फा.) नीलोफर; (ले. निम्फीआ स्टेलेटा (Nymphoea stellata)।

रंगभेद से कमल के संस्कृत नाम-- (श्वेत) पुण्डरीक; (रक्त) कोकनद, राजीव; (नील) इन्दीवर।

वर्णन--सूर्यविकाशी कमल पुष्प सूर्योदय के समय में खिलते हैं और सन्ध्या को बंद हो जाते हैं। इसके बीज को कमलगट्टा कहते हैं। चन्द्रविकाशी या रात्रिविकाशी कुमुद के पुष्प सन्ध्या समय में खिलते हैं और सूर्योदय के समय बन्द हो जाते हैं। रात्रिविकाशी कूईं के बीज छोटे $\frac{१}{४}$ से $\frac{१}{६}$ लाईन व्यास के; कच्ची हालत में लाल और पकने पर काले होते हैं। बिहार और बंगाल में इनके बीजों की लाजा बनाकर उसके लड्डू बनाते हैं। उसको रामदाने के लड्डु कहते हैं।

कमल के भिन्न-भिन्न अंगों के नाम--

बीज--(सं.) पद्मबीज, कमलाक्ष, पद्मकर्कटी; (हिं.) कमलगट्टा; (गु.) पबडी, कमलकाकडी; (म.) कमलाक्ष, कमळकांकडी।

कमलनाल--(सं.) बिस, मृणाल; (हिं.) मुरार, भसींड; (म.) भिसें।

कमलकन्द--(सं.) शालूक, करहाटक; (गु.) लोढ।

कमलबीजकोश--(सं.) वराटक, बीजकोश, कर्णिका; (हिं.) कमल का छता; (म.) घौंगुढ, ढांपणी; (गु.) घीतेलां, कुमडां (रात्रिविकाशिका)।

गुण-कर्म--"उत्पलानि कषायाणि रक्तपित्तहराणि च। कुमुदोत्पलनालास्तु सपुष्पाः सफलाः स्मृताः।। शीताः स्वादुकषायाश्च कफमारुतकोपनाः। कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतम्।। पौष्करं तु भवेद्बीजं मधुरं रसपाकयोः।" (च. सू अ. २७)। "सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम्। मधुरं पिच्छिलं स्निग्धं कुमुदं ल्हादि शीतलम्।। अविदाहि बिसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम्। विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम्। कुमुदोत्पलपद्मानां कन्दा मारुतकोपनाः। कषायाः पित्तशमना विपाके मधुरा हिमाः।। विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तप्रसादनम्। पौष्करं स्वादु विष्टम्भि बल्यं कफकरं गुरु।।" (सु. सू. अ. ४६)। "उत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्" (च. सू. अ. २५)। चरके (सू. अ. ४) मूत्रविरजनीये गणे पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकशतपत्राख्याः षट्कमलभेदाः, तथा सुश्रुते[१] उत्पलादिगणे उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुबलयपुण्डरीकाख्याः षट् कमलभेदाः पठ्यन्ते।

सब प्रकार के कमल और कूंई के पुष्प रस में कषाय, मधुर और किञ्चित् तिक्त; शीतवीर्य, स्निग्ध, पिच्छिल, आल्हादकारक, मूत्रविरजनीय तथा रक्तपित्त, दाह, तृषा, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा का नाश करनेवाले हैं। बिस रक्त और पित्त को शान्त करनेवाला, विष्टम्भि, दुर्जर, रूक्ष, शीतवीर्य, अविदाहि और कफ तथा वायु को उत्पन्न करनेवाला है। कमल और कूंई के कन्द रस में मधुर और कषाय, विपाक में मधुर, शीतवीर्य, पित्त का शमन करनेवाले और वायु का प्रकोप करनेवाले हैं। कमलगट्टा रस में मधुर और किञ्चित् कषाय, विपाक में मधुर, शीतवीर्य, कुछ विष्टम्भि, बलकारक, गुरु, कफकारक और रक्तपित्त का शमन करनेवाला है। कमलकेशर ग्राही और रक्तपित्तप्रशमन है।

नव्यमत--कमल की पंखडियाँ शीतल, दाहशमन, हृदयबल्य, हृदयसंरक्षक,

---

[१] "उत्पलादिरयं दाहरक्तपित्तप्रसादनः। पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः''।। (सु. सू. अ. ३८)।

रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, मूत्रविरजनीय और ग्राही है। इनकी क्रिया साधारणतः डिजिटेलीस जैसी खुद हृदय और छोटी रक्तवाहिनियों पर होती है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है और हृदय की गति शान्त और कम होती है। इन में मूत्रजनन और ग्राही गुण अल्प है। कमलकेशर दाहप्रशमन और रक्तसंग्राहक है। कमलगट्टा पौष्टिक, स्नेहन, ग्राही और रक्तसंग्राहक है। कमलकन्द का चूर्ण पौष्टिक, स्नेहन, ग्राही और रक्तसंग्राहक है। उष्णदेश में होनेवाले कमल की अपेक्षया ईरान, कश्मीर आदि ठंढे प्रदेशों में होनेवाले कमल विशेष गुणदायक हैं। रक्तार्श, अत्यार्तव और दाह कम होने के लिये कमलकेशर मिश्री और मक्खन के साथ देते हैं। गर्भिणी को गर्भाशय से रक्तस्राव होता हो तो वह कमल के फांट से शीघ्र बंद होता है। रक्तार्श और रक्तप्रवाहिका में कमल के कन्द के चूर्ण की पेया देते हैं। फूलों के फांट से हृदय की धड़कन और नाड़ी की तीव्र गति कम होती है। यह जीर्ण हृद्रोग में उपयुक्त नहीं है। कमल का हृदयसंरक्षक धर्म ज्वरचिकित्सा में देखने में आता है। तीव्र संततज्वर में उष्णता से हृदयपेशी खराब और शिथिल होती है। ऐसे ज्वर में प्रारम्भ से ही कमल देते रहने से ये दोनों घातक क्रियाएँ नहीं होतीं। कमल देने से हृदय की धड़कन दूर होती है और हृदय अशक्त नहीं होता। कमल के फूल, चंदन, रक्तचंदन, खस, मुलेठी, नागरमोथा और मिश्री का मन्दाग्नि पर बनाया हुआ क्वाथ ज्वर में अति हितकारक है। इस क्वाथ से हृदय का संरक्षण होता है, पेशाब आता है, दाह कम होता है और दस्त पतले होते हों तो बन्द होते हैं। कमलगट्टे की पेया से वमन, हिचकी और प्रदर बन्द होता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--कँवल और नीलोफर दूसरे दर्जे में सर्द और तर हैं। दोनों पैत्तिक ज्वर, कामला और तृषा में लाभकारी हैं। यूनानी वैद्यक में इनका उपयोग अधिकतया अर्क और शर्बत के रूप में किया जाता है।

वक्तव्य--प्राचीन निघण्टुओं में कमल के भेद और उनके जो पर्याय दिये गये हैं उनमें इतनी खिचड़ी पकाई गई है कि उनका निर्णय करना कठिन है। कमल और कुमुद की सब जातियां गुण-कर्म में अधिकांश में समान हैं। अतः योगों में जहां उनका उल्लेख हो वहाँ जो जाति प्राप्त हो सके उनसे काम चल सकता है।

---

(२०) मखाना।

नाम-(सं.) मखान्न; (हिं.) मखाना; (गु.) मखाणा; (म.) मका-(खा)णे; (ले.) युरीएल् फेरोक्स (Euryale ferox)।

उत्पत्तिस्थान-मखाने बिहार के मिथिला प्रदेश में, विशेषतः दरभंगा में होते हैं।

वर्णन-मखाना भी कमल के समान जल में होता है। उसके पत्र, नाल आदिपर

काँटे होते हैं। फूल कूंई के फूल (नीलोफर) जैसे होते हैं। इसके बीजों को भूनकर बनाया हुआ लावा बाजार में मखाना के नाम से बिकता है।

गुण-कर्म–"मखान्नं पद्मबीजस्य गुणैस्तुल्यं विनिर्दिशेत्॥"

मखाना गुण में कमलगट्टे जैसे होता है।

यूनानीमत–मखाना गरम और स्निग्ध है। ताजे मखाने वल्य और वाजीकर हैं। भुने हुए मखाने ग्राही हैं। प्रसवान्त दौर्बल्य, शुक्रस्राव और वीर्याल्पता में मखाना का चूर्ण दूध में पकाकर खिलाते हैं।

मात्रा–आधा से एक तोला।

अहिफेनादि वर्ग ८.

N. O Papaveraceae (पॅपेवेरेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्ण एकान्तर, सादे और दन्तुर होते हैं; पुष्प पत्रकोणोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश के पत्र २–३ पूर्वपाति; पँखडियाँ ४ से ६ अथवा ८ से १२ दो चक्रों में लगती हैं; पुंकेशर पुष्कल और अनियत; स्त्रीकेशर १, फल लम्बगोल, बीज सूक्ष्म और अधिक होते हैं। इस वर्ग में प्रायः क्षुप होते हैं और उसमें से पीला या सफेद गाढ़ा क्षीर निकलता है।

---

(२१) अहिफेन (अफीम)

नाम–(सं.) अहिफेन; (हिं.) अफीम; (क.) आफीन; (बं.) आफिम; (मा.) अफीम, अमल; (म.) अफू; (गु.) अफीण; (अ.) अफयून; (ले.) पॅपेवर सोम्निफेरम् (Papaver somniferum); (अं.) ओपिअम (Opium)।

वर्णन–अफीम का ३–४ फुट ऊँचा क्षुप होता है। पौष या माघ मास में इसमें फूल लगते हैं। फूल खिलने के बाद एक मास में उसमें छोटे दाडिम जैसे फल लगते हैं। फल लगने पर किसान लोग सवेर में ही कच्चे फल में चाकू से सीधा चीरा लगाते हैं। उसमें से दूध जैसा निर्यास निकलता है। उसको अफीम कहते हैं। फल के छिलके को **पोस्त** और बीज को **पोस्तदाना** या **खशखाश** (खसखस) कहते हैं। लोग कच्चे फलों का साग बनाकर खाते हैं और बीजों का तैल निकालकर उसको भी खाने के काम में लेते हैं।

उपयुक्त अङ्ग–फलनिर्यास (अफीम), फलत्वचा (पोस्त) और बीज।

गुण-कर्म–**अहिफेनं रसे तिक्तं विपाके कटुकं विषम् । स्तम्भनं रूक्षमुष्णं च वेदनास्थापनं परम् ।। स्वेदनं स्वापजननं कफरोगविनाशनम् ।।**

अफीम रस में तिक्त, विपाक में कटु, सूक्ष्म, उष्णवीर्य, विष, स्तम्भन, वेदनास्थापन,स्वेदजनन,निद्रा लानेवाला और कफ के रोगों का नाश करने वाला है ।

नव्यमत–मुंह से लेकर गुदापर्यन्त महास्रोतस(पचननलिका)पर अफीम की प्रत्यक्ष क्रिया होती है । थूक और आमाशय का रस कम होता है, भूख कम होती है और मल गाढ़ा (शुष्क) होता है । नाड़ी की गति सुधरती है । मन को आनन्द और उत्साह मालूम होता है, विचारशक्ति और कामशक्ति बढ़ती है तथा मन शान्त होकर नींद आती है । ये सब क्रियाएँ अफीम थोड़ी मात्रा में देने पर देखने में आती हैं । बड़ी मात्रा में देने से अफीम की उत्तेजकता नष्ट होती है, पाचनशक्ति बिगड़ती है तथा स्पर्शज्ञान और सुख-दुःख समझने की शक्ति कम होती है । ये सब अफीम की क्रियाएँ मस्तिष्क पर प्रथम और मुख्यतया होती हैं और बाद में ज्ञानवाहिनियों पर होती है । अफीम से शरीर के सब रस कम होते हैं, मात्र पसीना, मूत्र और दूध कम नहीं होता । अफीम में उत्तेजक, आह्लादकारक, वाजीकर, शामक, स्वापजनन, पीड़ाशामक, शूलघ्न, मादक, कफघ्न, ग्राही, रक्तस्तम्भन, स्वेदजनन, विषमज्वर-प्रतिबन्धक, शोथघ्न, कासहर और संकोचविकासप्रतिबन्धक (आक्षेपहर) ये बहुमूल्य गुण हैं । अफीम थोड़ी-बहुत मात्रा में देने से ये गुण देखने में आते हैं । एक मात्रा में ऊपर लिखे सब गुण देखने में नहीं आते । **मात्रा**--धीरे--धीरे गुण की अपेक्षा हो तो पाव से आधी रत्ती गोली के रूप में देना चाहिये और त्वरित गुण की अपेक्षा हो तो १ रत्ती मात्रा में आसव या मद्य में मिलाकर देना चाहिए ।

शस्त्रक्रिया करने के बाद, चोट या मार लगने के बाद और शरीर जलने पर रोगी को अफीम देते हैं । इससे पीड़ा का ज्ञान नहीं होता, रोगी को निद्रा आ जाती है और मन का आघात कम होता है । अफीम उत्कृष्ट वेदनास्थापन है । इससे किसी भी प्रकार की वेदना शांत होती है । इसी लिये मूत्राश्मरी, पित्ताश्मरी, मार, मानसिक आघात, अंग जलना, अस्थिभंग, पेट का दर्द, अर्बुद (केन्सर आदि), आमाशय का क्षत, तीव्र सन्धिवात आदि में पूर्ण मात्रा में और वारंवार अफीम देते हैं । पीड़ा से निद्राभंग होती हो तो अफीम के समान दूसरा औषध नहीं है । अफीम का लेप शोथघ्न और पीड़ाशामक है । इसलिये सन्धिशोथ, कमर का दर्द, फुफ्फुसावरणशोथ, नेत्राभिष्यन्द आदि वेदनाधिक शोथों में अफीम का अकेले या उचित द्रव्यों के साथ मिलाकर लेप किया जाता है । अफीम फुफ्फुसान्तर्गत श्वासनलिकाओं के संकोच-विकास को कम करता है । इसलिये सूखी खांसी और दमे में अफीम से लाभ होता है । कफवाली खांसी में भी अफीम से लाभ होता है । परन्तु श्वासोच्छ्वास ठीक चलता हो, त्वचा मृदु हो और कफ एकदम ढीला पड़ गया हो तब ही अफीम सूक्ष्म

प्रमाण में कपूर, नौसादर, अर्कमूलत्वचा, लोबान, लोबान के फूल, जंगली प्याज जैसे उत्तेजक, श्लेष्मनिःसारक औषधों के साथ मिलाकर देना चाहिये। आमाशय या आँतों में क्षत होकर रक्तस्राव होता हो तब अफीम देते हैं। अफीम से आमाशय और आंतों की चलन (गति) कम होती है और रक्तस्राव बन्द होता है। क्षयरोग में रात्रि में बहुत पसीना आता है वह अफीम से कम होता है। मधुमेह में अफीम देने से शर्करा का प्रमाण कम होता है (औषधिसंग्रह से सारांश रूप में उद्धृत)।

अतिसार में मल पक्व लक्षणवाला होनेपर भी ग्रहणी की दुर्बलता के कारण दस्त बन्द होते हों तब अफीमयुक्त योग देने चाहिये।

मात्रा--पाव से एक रत्ती तक।

शोधन--बाजार में जो अफीम मिलता है उसमें अन्य द्रव्य भी मिले हुए होते हैं। अतः अफोम को पानी में घोल,कपड़े से छानकर मंदाग्निपर गाढ़ा कर लेना चाहिये। इस प्रकार साफ किये हुए अफीम को अदरक के स्वरस की इक्कीस भावना देकर उसको खाने के काम में लेना चाहिये[1]।

यद्यपि अफीम में ऊपर लिखे हुए उत्कृष्ट गुण हैं तथापि अफीम लगातार कई दिन लेने से उसका व्यसन पड़ जाता है, जो छुड़ाना कठिन होता है। अतः अफीम से फायदा होते ही उसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये।

अफीम के विष लक्षण--अधिक मात्रा में अफीम खाने से शीघ्र ही उसकी मादक क्रिया देखने में आती है। थोड़ी देर बाद नींद आने लगती है और क्रमशः नींद गाढ़ी होती जाती है। रोगी अचेत होकर पड़ा रहता है। श्वास की गति मन्द होती हैं। श्वास के साथ गले में घरघराहट मालूम होती है। मुखमण्डल मलिन और भावरहित होता है। नेत्र लाल और मीचे हुए तथा कनीनिका संकुचित होती है। नाड़ी स्थूल, कोमल और मन्दगति होती है। उसके बाद अवसाद के लक्षण प्रकट होते हैं। नाड़ी क्रमशः क्षीण होती है। श्वास देरी से आता है। शरीर ठंढा और पसीने से तर होता है। कुछ समय यह हालत रहने के बाद रोगी की मृत्यु होती है। प्रायः ४ से ६ घंटे में अवसादावस्था और ६ से १२ घंटे के भीतर मृत्यु होती है।

अफीम के विष की चिकित्सा--प्रथम रोगी को रीठे का पानी अथवा सरसों या राई मिलाया हुआ गरम जल देकर जबतक सब अफीम बाहर न आ जाय तबतक वमन कराना चाहिये। स्टमक पम्प से वारंवार आमाशय को धोना चाहिये। रोगी को सोने नहीं देना चाहिये और वारंवार कॉफी का गरम क्वाथ पिलाना चाहिये। चन्द्रोदय, कस्तूरी, जुन्दबेदस्तर, हींग, जद्वार या जहरमोहरापिष्टी शहद में मिलाकर वारंवार चटाना चाहिये।

---

[1] अहिफेनं शृङ्गवेररसैर्भाव्यं त्रिसप्तधा। शुध्यत्युक्तेषु योगेषु योजयेत्तद्विधानतः॥ (योगरत्नाकर)।

अफीमप्रधान योग—अहिफेनासव (भै. र. अतिसाराधिकार), महावातराजरस[1] (सि. भै. मं. पू. ३२), दुग्धवटी (भै. र. शोथाधिकार) आदि ।

---

(२२) स्वर्णक्षीरी ।

नाम——(सं.) स्वर्णक्षीरी, काञ्चनक्षीरी; (क.) ददहत्तर, कंडीज; (हिं.) सत्यानाशी, भड़भांड; उजरकांटा; (बि.) कंटैया, घमोय (बं.) शियालकाँटा; (म.) कांटेधोत्रा; पिंवळा धोत्रा; (गु.) दारुडी; (सि.) खरकांडेरी; (का.) अरसिन उम्मत्त; (ता.) कुडियोट्टि; (मल.) पोन्नुम्मत्तम्; (ले.) आर्जिमोनस् मेक्सिकाना (Argemones mexicana) ।

वर्णन——सत्यानाशी का २ से ४ फुट ऊँचा क्षुप होता है । क्षुपपर तीक्ष्ण कांटे होते हैं । क्षुप के किसी भी अवयव को तोड़ने से सोने जैसा पीले रंग का क्षीर निकलता है । पुष्प पीले रंग के होते हैं । पुष्पबाह्यकोश के दल ३ और पँखडियां ६ होती हैं । बीज छोटे काले रंग के होते हैं ।

गुण-कर्म—"स्वर्णक्षीरी हिमा तिक्ता कृमिपित्तकफापहा । मूत्रकृच्छ्राश्मरीशोफदाहज्वरहरा परा ॥" (रा.नि.) "हैमह्वा रेचना तिक्ता भेदन्युत्क्लेशकारिणी । कृमिकण्डुविषानाहकफपित्तास्रकुष्टनुत् ॥ (भा. प्र.) । (चरके सू. अ. ४) भेदनीये, सुश्रुते (सू. अ. ३८), श्यामादिगणे, व्रणशोधने (चि. अ. ८), अधोभागहरे (सू. अ. ३९) च गणे स्वर्णक्षीरी पठ्यते ।

सत्यानाशी रस में तिक्त, शीतवीर्य, भेदन, रेचन, व्रणशोधन तथा कृमि, पित्त, कफ, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, शोथ, दाह, ज्वर, कुष्ठ, विष, रक्तबिकार और आनाह का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत——सत्यानाशी के बीजों का तैल मृदु रेचन है । एरंडतैल से यह अच्छा है । इसमें दुर्गन्ध या खराब स्वाद नहीं होता है । मात्रा छोटी है और इससे पेट में मरोड़ नहीं होता । ताजे तैल की क्रिया निश्चित होती है । बीज रेचन और वेदना स्थापन है । पंचाङ्ग का घन रेचन है । मूल कृमिघ्न और कुष्ठघ्न है । पीला दूध मूत्रजनन, कुष्ठघ्न, शोथहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण और विषमज्वर हर है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

[1] **महावातराजरस**-शुद्ध धतूरे के बीज, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद और लोहभस्म प्रत्येक २–२ तोला; अभ्रकभस्म, दालचीनी, लौंग, जावित्री, जायफल, छोटी इलायची, कपूर, काली मिर्च लौर मकरध्वज प्रत्येक १–१ तोला; शुद्ध अफीम १२ तोला; तीन दिन धतूरे की पत्ती के स्वरस में मर्दन कर के २–२ रत्ती की गोलियां बना ले । कटिशूल, पार्श्वशूल, बहुमूत्र, हैजा आदि में इसका प्रयोग करे ।

उपयुक्त अंग–मूल, बीज, वीज और तैल। मात्रा–मूल १० से ३० रत्ती; बीज ३ माशा; क्षीर ३–६ माशा; तैल ३ माशा।

वक्तव्य––सुश्रुत चि. अ. ८ में भगन्दरव्रणशोधन वर्ग में 'काञ्चनक्षीर्यौ' ऐसा द्विवचनान्त पाठ मिलता है। अर्थात् सुश्रुत दो प्रकार की स्वर्णक्षीरी मानते थे। इनमें से एक सत्यानाशी और दूसरी हिरवी है। हिरवी का वर्णन एरण्डादिवर्ग में किया जायगा।

पर्पटादि वर्ग ९.

N. O. Fumariaceae (फ्युमेरिएसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पुष्पबाह्यकोश के दल २; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४; उनमें से एक जोड़ी छोटी और एक बड़ी होती है; पुंकेशर ६ तीन तीन की एक एक जोड़ी में; स्त्रीकेशर एक। इस वर्ग में छोटे क्षुप होते हैं।

(२३) पर्पटी (शाहतरा)।

नाम––(सं.) पर्पट, वरतिक्त, रेणु, कवच; (प.) शाहतरा; (हिं.) पित्तपापडा; (फा.) शाहतरा; शाहतरज; (ले.) फ्युमेरिआ ओफिसिनेलिस् (Fumaria officinalis), फ्युमेरिआ पार्विफ्लोरा (Fumaria Parviflora)।

वर्णन–शाहतरा का क्षुप १/२ से १ फुट ऊँचा होता है। यह खड़ा या जमीन पर फैला हुआ होता है। पत्ते गाजर जैसे होते हैं। फूल सफेद या गुलाबी रंग के और सिरे पर जामुनी रंग के होते हैं। पुष्प और फल माघ-फाल्गुन में आते हैं।

गुण कर्म–चरके तृष्णानिग्रहणे वर्गे पर्पटः पठ्यते। "× × × पर्पटाः। तिक्ताः पित्तकफापहाः"(सु. सू. अ. ४६)। "× × × शाकं पार्पटकं च यत्। कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते।" (च.सू.अ. २७)। "पर्पटः शीतलस्तिक्त पित्तश्लेष्मज्वरापहः। रक्तदाहरुचिग्लानिमदभ्रमविनाशनः॥"(ध.नि.) "पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्। संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातले लघुः॥"(भा. प्र.)।

पित्तपापड़ा रस में तिक्त, विपाक में लघु, शीतवीर्य, ग्राही, तृषा कम करनेवाला, वातल तथा पित्त, कफ, ज्वर, रक्तविकार, भ्रम, अरुचि और दाह को दूर करने वाला है।

नव्य मत— शाहतरे में एक प्रकार का क्षार होता है । इस पर इसके गुण-धर्म अवलम्बित हैं। यह क्षार त्वचा, यकृत् तथा गुर्दे द्वारा बाहर निकलता है और निकलते समय इन अवयवों को उत्तेजित करता है। इसलिये शाहतरा स्वेदजनन, मूत्रजनन, स्रंसन और कटुपौष्टिक है । आँतों की शिथिलता से उत्पन्न कुपचन और त्वचा के रोगों में शाहतरा उपयोगी है। साधारण सर्दी-जुकाम में शाहतरा का क्वाथ देने से पसीना और पेशाब आता है, दस्त साफ होता है और शरीर का दर्द कम होता है। पित्तज्वर और यकृत् के रोगों में शाहतरा उत्तम औषध है। त्वचा के रोगों में शाहतरा देते हैं (डॉ. वा ग. देसाई)।

यूनानी मत-शाहतरा रस में तिक्त, समशीतोष्ण, दूसरे दर्जे में रूक्ष, रक्तशोधक, मूत्रल, आमाशय को शक्ति देनेवाला, दीपन, सारक और ज्वरघ्न है। शाहतरा उपदंश, खाज-फोड़े-फुंसी आदि रक्तबिकार, ज्वर आदि में क्वाथ या हिम के रूप में देते हैं ।

मात्रा-चूर्ण-५-७ माशे; क्वाथ ५ तोला ।

वक्तव्य-इस समय हिन्दुस्तान के भिन्न भिन्न प्रान्तों में 'पर्पट' शब्द से तीन द्रव्यों का व्यवहार होता है। १. ऊपर वर्णन किया हुआ शाहतरा । पंजाब, सिंध, राजपूताना, युक्त प्रान्त और बिहार के वैद्य प्रायः 'पर्पट' नाम से इसका व्यवहार करते हैं । २. मञ्जिष्ठादि (रुबिएसी-Rubiaceae) वर्ग का । इसको बंगाली में **क्षेत्रपर्पट**, मराठी में **परिपाठ**, गुजराती में **परपट** और लेटिन में Oldenlandia herbacea कहते हैं । इसका उपयोग विशेषतः बंगाल और महाराष्ट्र के वैद्य करते हैं । ३ अटरुषकादि (Acanthaceae-एकेन्थेसी) वर्ग का । इसको गुजरात में खडसलियो और लेटिन में Rungia repens कहते हैं । इसका प्रयोग प्रायः गुजरात के वैद्य करते हैं ।

राजिकादि वर्ग १०.

N. O. Cruciferae (क्रुसिफरी) ।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पत्र प्रायः मूलद्भूत और एकान्तर; पुष्पबाह्यकोश के दल ४; पँखडियाँ चार और उनकी रचना क्रॉस-जैसी; पुंकेशर ६; उनमें से चार लंबे और दो छोटे; फल दोनों पार्श्वों पर खुलता है ।

(२४) राजिका (राई)

नाम-(सं.) राजिका आसुरी, तीक्ष्णगन्धा; (क) आसुर; (पं.) ओहर; (हि., गु.); राई; (म.) **मोहरी**; (का.) **सासिवे**; (ता.) कडुघु;

(मल.) कडुघम; **(बं.)** राई सरिषा; **(सिंध.)** अहुरि; **(अ.)** खरदल; **(ले.)** ब्रासिका जन्सिआ (Brassica juncea)।

वर्णन—राई भारतवर्ष में सर्व प्रसिद्ध है।

उपयुक्त अंग—बीज और तैल।

गुण-कर्म—"आसुरी कटुतीक्ष्णोष्णा वातप्लीहार्तिशूलजित्। दाहपित्तप्रदा हन्ति कफगुल्मकृमिव्रणान्॥" (रा. नि.)। चरके शाकवर्गे (अ. २७ श्लो. १०१) आसुरी पठ्यते।

राई रस में कटु और तिक्त; तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, दाहकर, पित्तकर तथा वात, कफ, प्लीहा के रोग, शूल, गुल्म, कृमि और व्रण का नाश करनेवाली है।

नव्यमत-राई अल्प प्रमाण में दीपन-पाचन, उत्तेजक और स्वेदजनन है। बड़ी मात्रा में वामन है। राई से शीघ्र वमन होता है और वमन के बाद थकावट नहीं मालूम होती। राई के लेप से त्वचा लाल होती है, त्वचा और त्वचा के नीचे के रक्ताभिसरण को उत्तेजना मिलती है, पीछे उस स्थान में सुन्नता आती है। लेप अधिक समय रखने से वहाँ फोड़ा हो जाता है। फुप्फुस, यकृत्, श्वासनलिका, मस्तिष्क आदि के शोफ में राई के लेप से बड़ा लाभ होता है। ज्वर में मनोभ्रम कम करने के लिये सिर पर तथा हृदय की अशक्तता और शरीर के किसी भाग के ठंढी के दर्द में राई का लेप करते हैं **(डॉ. वा. ग. देसाई)।**

राई को ठंढे जल में महीन पीस, कपड़े पर लगाकर लेप करना चाहिये। जलन मालूम होने पर लेप उतार देना चाहिये। वमन कराने के लिये राई और थोड़ा सैंधव गरम जल में मिलाकर जबतक ठीक वमन न हो जाय तबतक थोड़ो थोड़ी देर बाद पिलाना चाहिये। राई का तैल वायु के दर्द में लगाया जाता है।

उपयुक्त अंग-- बीज और तैल।

यूनानी मत-रस—कटु और तिक्त; **वीर्य**—गरम और खुश्क। राई बाहर लगाने से शोथविलयन, लेखन और स्फोटजनन है। खिलाने से आमाशय को शक्ति देती है, दीपन-पाचन करती है और प्लीहा के शोथ को दूर करती है। अधिक प्रमाण में देने से वमन कराती है। **उपयोग**-राई को अनेक सर्द बीमारियों में जैसे-पक्षाघात, सन्धिवात, कमर का दर्द, फुप्फुसावरणशोथ, फुप्फुसशोथ, यकृच्छूल, आमाशयशूल, प्लीहा का दर्द आदि में पीड़ा को शान्त करने के लिये अकेले या अन्य उपयुक्त औषधों के साथ मिलाकर लगाते हैं। सर्दी से ऋतुस्राव बंद हुआ हो तो पीसी हुई राई गरम जल में मिलाकर उसमें स्त्री को कमरतक बठाते हैं। जीभ की सूजन और दाँतों के दर्द को दूर करने के लिये राई को गरम जल में मिलाकर कुल्ले कराते हैं।

(२५) सर्षप (सरसों)

नाम–सर्षप, सिद्धार्थ (गौरसर्षप) कटुस्नेह, भूतनाशन; (हिं.) सरसों; (क.) तिलगगुल; (पं.) सरेयां; (सिं.) सिर्यांचिटी; (म.) शिरसी (स.); (गु) सरसव; (बं) सरिषा; (मा.) सरसुं; (ले.) ब्रासिका नाइग्रा (Brassica Nigra)।

वर्णन—सरसों भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसका शाक बनाकर खाया जाता है। बीजों का तैल खाने और लगाने के काम में लिया जाता है। सरसों में कालाई लिये लाल और पीली दो जातियाँ होती हैं।

गुण-कर्म–"विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च। त्रिदोषं सार्षपं शाकं" (सु. सू. अ. ४६)। "कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं बहुपित्तलम्। कृमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु॥" (सु. सू. अ. ४५) "कटूष्णं सार्षपं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम्। कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम्" (च. सू. अ. २७)। "कटुतैलोपदेशं तु वक्ष्यामि प्लीहनाशनम्। नातः परतरं किञ्चिदौषधं प्लीहशान्तये॥" (काश्यपसंहिता पृ. १४६)। "सर्षपशाकं शाकानां (अहिततमम्)" (च. सू. अ. २५)।

सरसों का शाक विदाही, मल और मूत्र का कब्ज करनेवाला, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य और तीनों दोषों का प्रकोप करने वाला है। सरसों का तैल रस और विपाक में कटु, उष्णवीर्य, स्निग्ध, लघु, नेत्र को हानि करने वाला, रक्त और पित्त को दूषित करने वाला तथा कफ, वात, शुक्र, कण्डू, कुष्ठ, कृमि और कोठ का नाश करने वाला है। काश्यपसंहिता में सरसों के तैल को प्लोहवृद्धि को दूर करने के लिये उत्तम औषध बताया है।

कुष्ठ में बाह्यप्रयोग के लिये जहाँ तैल का विधान हो वहां 'तैल' शब्द से सरसों का तैल लिया जाता है। सर्षप के बीजों के गुण-धर्म राई के बीजों के समान है और राई के बीजों के समान ही उसका प्रयोग किया जाता है। सरसों के तैल में जरासा सैंधव मिलाकर दांतोंपर मलने से या उसका कुल्ला करने से दन्तपूय में लाभ होता है और दांत मजबूत होते हैं।

यूनानी मत सरसों तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। सरसों के बीज लगाने से लेखन और शोणितोत्क्लेशक हैं। उसका तैल (लगाने से) शरीर को शक्ति देनेवाला, गरमी और स्निग्धता पहुँचानेवाला तथा त्वचा के रोगों को दूर करनेवाला है। सन्धिवात, कमर का दर्द और अन्य पीड़ाओं को शान्त करने के लिये सरसों के तैल की मालिश करते हैं।

(२६) चन्द्रशूर ।

नाम–(सं.) चन्द्रशूर; (हिं.) चन्सुर, हालों, हालिम; (पं.) हालिया; (मा.) असालियो; (गु.) अशेळियो; (सिंध.) आहियों; (क.) तरिबुद; (म.) अहाळींव; (का.) अलवि; (अ.) हब्बुररसाद, बजरुलजिरजिर; (ले.) लेपिडिअम् सेटाइवस् (Lepidium sativum) ।

वर्णन–चन्द्रशूर के लाल रंग के बीज बाजार में मिलते हैं। इनको पानी में भिगोने से उसमें लुआब (पिच्छा) उत्पन्न होता है।

गुण-कर्म–"चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातश्लेष्मातिसारिणाम् । असृग्वातगदद्वेषि बलपुष्टिविवर्धनम् ।।" (भा. प्र.) । "दरकृष्णो वातशूलगुल्मघ्नः स्तन्यपुष्टिकृत् । बल्यो वाजीकरः पानाल्लेपाच्छोणितशूलनुत् ।।" (शो. नि.) ।

चन्द्रशूर बल्य, वाजीकर, पौष्टिक, स्तन्यवर्धक तथा हिक्का, वातविकार, वातशूल, वातगुल्म, कफ और अतिसार का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–चन्द्रशूर का फांट हिक्का में देते हैं। चंद्रशूर के बीजों की यवागू बनाकर प्रसूता स्त्रियों को देते हैं। चंद्रशूर के बीजों को दूध में पकाकर पीने से कमर का दर्द अच्छा होता है। कमर और सन्धिस्थान के दर्द में चंद्रशूर का लेप करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२७) मूलक (मूली) ।

नाम–(सं.) मूलक; (हिं.) मूली; (क.) मुझ; मुज्जी; (म.) मुळा; (गु.) मुळा; (बि.) मुरई; (सिंघ.) मूरी; (ले.) रॅफेनस् सेटाइवस् (Raphanus sativus) ।

वर्णन–मूली हिन्दुस्तान में सर्वत्र होती है। इसकी कोमल पत्ती, पुष्प, फली और कंद का शाक बनाकर खाते हैं। मूली के स्वरस और बीजों का औषधार्थ प्रयोग करते हैं।

गुण-कर्म–"कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी । सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका ।। महत्तद्गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत् । तदेव स्नेहसिद्धं तु पित्तनुत् कफवातजित् । त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु । विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात् । पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः । तेषां तु पुष्पं कफपित्तहन्तृ फलं निहन्यात् कफमारुतौ च ।" (सु. सू. अ. ४६) । "बालं दोषहरं, वृद्धं त्रिदोषं, मारुतापहम् । स्नेहसिद्धं, विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ।।" (च. सू. अ. २७) ।

कच्ची (कोमल) मूली रस में कटु और तिक्त, हृद्य, रोचन, दीपन, सर्वदोषहर, लघु और कण्ठ (स्वर) के लिये हितकर है । पकी मूली गुरु, विष्टम्भी और तीक्ष्ण है। पकी मूली बिना सिजाये खाने से तीनों दोषों को उत्पन्न करती है। पकी मूली स्नेह (तेल आदि) के साथ पकाकर खाने से तीनों दोनों को दूर करती है। सूखी मूली त्रिदोषहर, विषहर और लघु है। मूली को छोड़कर अन्य सूखे शाक विष्टम्भी और वातल होते हैं । मूली के पुष्प, पत्र और फल उत्तरोत्तर गुरु हैं। मूली के फूल कफ और पित्त का तथा फल (सेम) कफ और वायु का नाश करनेवाला है (सु.) । कोमल मूली त्रिदोषकर, वृद्ध (पकी) मूली त्रिदोषकर, स्नेह के साथ पकाई हुई मूली वातहर और सूखी मूली कफवातहर है (च.) ।

नव्यमत-मूली के बीज और कन्द में एक रंगरहित, जल से भारी और मूली के गन्धवाला तैल होता है । इस तैल में गन्धक पाया जाता है। मूली उष्णवीर्य है। ताजी पत्तियों का रस और बीज मूत्रजनन, अनुलोमन और अश्मरीघ्न है।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला, बीज ३ से ६ माशा । चिरकाल की कब्जियत मूली का शाक रोज खाने से दूर होती है। पत्तों का स्वरस पेट का दर्द, अफारा और अर्श में देते हैं। ३ माशा बीज का चूर्ण अनार्तव में देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत-मूली गरम और रूक्ष है । मूली पाचन, वातानुलोमन, मूत्रल और प्लीहशोथनाशन है। भोजन के बाद मूली खाने से अन्न का शीघ्र पाचन करती है और भूख लगाती है। मूली स्वयं देरी से पचती है। खाना हजम होने पर भी देर तक उसकी डकार आती है और उसमें मूली की गन्ध आती है। मूली के पंचांग का क्षार पाचन और मूत्रल है। मूली का केवल सिरके में बनाया हुआ अचार प्लीहा की वृद्धि को दूर करने के लिये खिलाते हैं। चतुर्गुण मूलकस्वरस में पकाया हुआ तैल कर्णशूल में कान में डालते हैं। मूली के स्वरस में लाल खांड मिलाकर कामला में देते हैं। मूली का स्वरस मूत्रल होने के कारण जलोदर में दिया जाता है। उपयुक्त औषधों के साथ मूली का स्वरस या क्षार अश्मरी में देते हैं। मूली के बीज लगाने से लेखन और खाने से बल्य, मूत्रजनन, आर्तवजनन और कोष्ठवातप्रशमन है। त्वचा के रोगों में इसका लेप करते हैं। मात्रा १ से ३ माशे तक।

---

(२८) खूबकलाँ-खाकशी ।

नाम-(क).) चरिलछज; (ले.) सिसिम्ब्रिअम् आइरिओ (Sisymbrium irio) ।

वर्णन-खुबकलाँके ललाई लिये हुए पीले रंग के लंबगोल बारीक दाने बाजार में मिलते हैं। खाकशी रबी की फसल में गेहूँ, मेथी आदि के साथ उत्पन्न होती है। बीजों का स्वाद तीक्ष्ण होता है। बीजों को पानी में भिगोने से लुआब उत्पन्न होता है।

उपयुक्त अंग—बीज। मात्रा ४ से ६ माशे तक।

गुण कर्म—स्निग्ध, उष्णवीर्य, ज्वरघ्न तथा श्लेष्मनिःसारक। खाकशी का पित्त और कफ के ज्वरों में प्रयोग करते हैं। शीतला (चेचक) और रोमान्तिका में इसका क्वाथ देते हैं या दाने पानी के साथ खिलाते हैं। इससे दाने शीघ्र बाहर आ जाते हैं। हैजे में प्यास और वमन कम करने के लिये अर्क गुलाब में पकाकर पिलाते हैं। खांसी में इसका अवलेह बनाकर चटाने से कफ सरलता से निकल जाता है। दूध के साथ पकाकर शरीर की पुष्टि के लिये देते हैं। आँख, स्तन, वृषण आदि की सूजन पर इसको जल में पीस कर लेप करते हैं।

यह उत्तम औषध है। हकीम लोग तथा पंजाब के वैद्य इसका पुष्कल उपयोग करते हैं। अन्य प्रान्तों के वैद्यों को भी इसका प्रयोग करना चाहिये।

---

(२९) तोदरी।

नाम—(ले.) लेपिडिअम् इबेरिस् (Lepidium iberis)।

वर्णन—तोदरी के बीज दवा के काम में आते हैं। तोदरी तीन प्रकार की होती है *(१)* लाल, (२) पीली और (३) सफेद। यह यूनानी औषध विक्रेताओं के यहां 'तोदरी' नाम से मिलती है। बीजों को पानी में भिगोने से लुआब उत्पन्न होता है। दरी में एक उड़नेवाला तैल और गन्धक होता है।

उत्पत्तिस्थान—ईरान और पंजाब।

गुण कर्म—तोदरी पौष्टिक, मूत्रजनन, श्लेष्मनिःसारक और शोणितोत्क्लेशक है। तोदरी का फांट श्वासनलिका के शोथ में कफ को निकालने और कम करने के लिये देते हैं। इससे मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। तोदरी के बीजों को दबाकर निकाला हुआ तेल सन्धिवात में मसलते हैं। इससे त्वचा जरा लाल होती है **(डॉ. वा. ग. देसाई)।**

यूनानी मत—तोदरी दूसरे दर्जे में गरम और पहले दर्जे में स्निग्ध है। तोदरी वृष्य, वीर्य को गाढ़ा करनेवाली, स्तन्यवर्धक, श्लेष्मनिस्सारक और पौष्टिक है। इसका लेप शोथहर है।

वरुणादि वर्ग ११.

N. O. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तपल; अधःस्थबीजकोश; पर्ण एकाकी किंवा संयुक्त; पर्णक्रम एकान्तर; पुष्पबाह्यकोश के दल ४; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४; स्त्रीकेशरनलिका बहुत छोटी।

(३०) वरुण ।

नाम--(सं) वरुण; (हिं.) वरुना; (पं.) बरना; (म.) हाडवर्णा, वायवर्णा, (गु.) वरणो, वायवरणो, कागडाकेरी; (ता.) मार्विलिंगम्; (मल.) नीर्वल्; (ले.) क्रेटिवा रिलिजिओझा (Crativa religiosa) ।

वर्णन--वरुना के २५ से ३० फुट ऊँचाई के वृक्ष होते हैं। पान बेल के जैसे त्रिदल लगते हैं। चैत्रमास में भूरी और जामुनी छाया लिये हुए सफेद फूल लगते हैं। आषाढ़-श्रावण में नींबू के आकार के फल लगते हैं। जो पकने पर लाल हो जाते हैं। छाल सफ़ेद रंग की होती है। पान मसलने से उसमें उग्र गन्ध आती है।

गुण-कर्म--"××x वरुण ××× प्रभृतीनि। उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च" ॥ (सु. सू. अ. ४६) । सुश्रुते (सु. अ. ३८) वरुणादिगणे, वाताश्मरीनाशने, कफाश्मरीनाशने च गणे (चि. अ. ७) वरुणः पठ्यते । "वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान् । निहन्ति गुल्मवातास्रक्रमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः ॥ कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः" (भा. प्र.) । "माक्षिकाढ्योऽसकृत् पीतः क्वाथो वरुणमूलजः । गण्डमालां निहन्त्याशु चिरकालानुबन्धिनीम् ॥" x×× मूलं वरुणकस्य च। जलेन क्वथितं पीतमपक्वं विद्रधिं जयेत् ॥" (च. द.) ।

बरुना रस में मधुर, तिक्त, कटु और कषाय; रूक्ष, लघु, उष्णवीर्य, वात-कफ-प्रशमन, पित्तकारक, भेदन, दीपन तथा मूत्रकृच्छ्र (वात कफजन्य), गुल्म, वातरक्त और कृमि का नाश करनेवाला है। बरुना की जड़ का क्वाथ शहद मिलाकर पीने से गण्डमाला और अपक्व विद्रधि का नाश करता है।

नव्यमत-बरुना की छाल में सेनेगा के अन्दर के सेपोनिन् (Saponin) जैसा सत्त्व पाया जाता है। छाल के टिंचर से तेल का अच्छा दुग्धीकरण (Emulsion) होता है। बरुना कटु, दीपन, उष्ण, कोष्ठवातप्रशमन, पित्तसारक, अनुलोमन, वातहर, मूत्रजनन और शोथघ्न है। ताजी पत्ती पीसकर त्वचा पर बाँधने से त्वचा लाल होती है और फोड़ा उठता है। यह क्रिया राई जैसी होती है। मूत्रेन्द्रिय के रोगों में जैसे-अश्मरी, शर्करा, बस्तिशूल और मूत्रकृच्छ्र में बरुना की छाल या मूल का उपयोग अच्छा होता है। इन रोगों में बरुना के साथ अपामार्ग, पुनर्नवा, जौखार और मुलेठी भी मिलाते हैं। गण्डमाला में छाल का क्वाथ शहद मिलाकर पिलाते हैं और छाल को पीसकर उसका लेप लगाते हैं। व्रणशोथ और विद्रधि में बरुना की छाल के साथ पुनर्नवा भी देते हैं। पेट के अफारे और कुपचन में बरुना की पत्तियों का फांट देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(३१) हुलहुल।

नाम——(सं.) अजगन्धा, उग्रगन्धा; (हिं.) हुलहुल, हुरहुर; (पं.) बुगरा; (म.) तिलवण; (गु.) तलवणी; (मा.) बगरो; (ता.) नायवेळं; (मल.) आर्यवाळू; कार्वेळ; (ते.) कुक्कवामिटम्, नेलवामिटम्; (का.) काडुसारिवे; (सिंध.) किनी बुटी; (ले.) श्वेतपुष्पा–जाइनेन्ड्रोप्सिस् पेन्टाफाइला (Gynandropsis Pentaphylla); पतिपुष्पा–क्लिओम विस्कोझा (Cleome Viscosa)।

वर्णन——हुलहुल दो प्रकार की होती है;——(१) सफेद फूलवाली और (२) पीले फूलवाली। हुलहुल का १–१॥ हाथ ऊँचा क्षुप वर्षा ऋतु में होता है। काण्ड और शाखा रोमश होते हैं। पान मसलनें से उनमें से उग्र गन्ध आती है। पीले फूलवाली में प्रायः नीचे पाँच दलवाले और ऊपर तीन दलवाले संयुक्त पर्ण आते हैं। सफेद फूलवाली में पांच दलवाले संयुक्त पर्ण लगते हैं।

गुण-कर्म–"अजगन्धा कटूष्णा स्याद्वातगुल्मोदरापहा। कर्णव्रणार्तिशूलघ्नी कृमिघ्नी च ज्वरापहा॥" (रा. नि.)।

हुलहुल रस में कटु, उष्णवीर्य तथा वात, गुल्म, उदर, कान का व्रण और पीड़ा, शूल, कृमि तथा ज्वर का नाश करनेवाली है।

नव्यमत——हुलहुल के वीज की क्रिया राई के समान होती है। हुलहुल खेदजनन, उत्तेजक, कोष्ठवातप्रशमन, दाहजनन, शोणितोत्क्लेशक, दीपन, पाचन और कृमिघ्न है। कर्णशूल और पूतिकर्ण में पत्रकल्क और स्वरस से पकाया हुआ तैल कान में डालते हैं। १॥–३ माशा हुलहुल के बीजों का चूर्ण खिलाने से गोल (गण्डूपद) कृमि निकलते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(३२) करीर।

नाम——(सं.) करील, मरुह; (हिं.) करील; (व्रज) टेंट, टेंटी; (पं.) करीं, फल–डेले; (गु.) केर, केरडां; (मा.) कैर झांसडी; (म.) नेबती; (सिंध.) किरिड; (कच्छ) डवरा; (का.) निर्प्पाड; (ले.) कॅपेरिस् एफिला (Capparis aphylla)।

वर्णन——करीर का कांटेदार गुल्म मारवाड़ आदि सूखे प्रदेशों में होता है। इसमें फाल्गुन–चैत्र में गुलावी रंग के छोटे फूल लगते हैं। चैत्र वैशाख में फल आते हैं। फल पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। फूल और कच्चे फलों का शाक और आचार करते हैं।

गुण-कर्म–"करीर-मधुशिग्रुकुसुमानि कटुविपाकानि, वातहराणि, सृष्टमूत्रपुरीषाणि च"। "करीर × × × फलानि च। स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि

च ॥" (सु. सू. अ. ४६)। "करीरः कटुकस्तिक्तो लघूष्णो भेदनो जयेत्। दुर्नामकफवातामगरशोफक्रिमिव्रणान् ॥" (कै. नि.)।

करीर रस में तिक्त और कटु, लघु, उष्णवीर्य, भेदन तथा अर्श, कफ, वात, आम, शोथ, कृमि और व्रण का नाश करनेवाला है। करीर के फल कटुविपाक, वातहर और मल-मूत्र को साफ लानेवाले हैं। करीर के फल मधुर (पक्वावस्था में), कटु और तिक्त (आमावस्था में) तथा कफ और वात का नाश करनेवाले हैं।

बनफ्शादि वर्ग १२.

N. O. Violaceae (वायोलेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर; पत्र ब्राह्मी जैसे; फूल रंगीन, सुगन्धि और अनियमित; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५ छोटे बड़े; नरकेशर ५।

---

(३३) बनफ्शाह।

नाम--(क.) गुन्नफचा, नूनपोश; (फा.) बनफ्शाह; (ले.) वायोला ओडोरेटा (Viola Odorata)।

उत्पत्तिस्थान—ईरान तथा कश्मीर आदि हिमालय के प्रदेश।

उपयुक्त अंग—फूल और पंचांग। **मात्रा** ५ से ७ माशा।

वर्णन—बनफ्शाह का पौधा ४-५ अंगुल ऊँचा होता है। पत्र गोल हृदयाकृति और रोमश; ब्राह्मी के पत्र जैसे दीखते हैं। फूल जामुनी रंग के होते हैं और उनमें सुगन्ध होती है। इसका पंचांग **बनफ्शाह** और फूल **गुल बनफ्शा** के नाम से बाजार में मिलते हैं।

यूनानी मत—बनफ्शा, शीत, स्निग्ध, पित्तशामक, अनुलोमन, रक्तप्रसादन, ज्वरहर, श्लेष्मनिस्सारक और तृषा को कम करनेवाला हैं। प्रतिश्याय, फुफ्फुसशोथ, खांसी, नेत्राभिष्यन्द तथा आमाशय और यकृत् के पैत्तिक शोथ में इसका हिम या फांट दिया जाता है। पैत्तिक शोथों और शिरोरोग में इसका लेप करते हैं। कब्ज को दूर करने के लिये इसके फूलों का गुलकन्द खिलाते हैं। बनफ्शा के फूलों का खमीरा (अवलेह) और शर्बत प्रतिश्याय और ज्वर में देते हैं। इसके ताजे फूलों के साथ तिल या मग्ज बादाम पीस और दबाकर तैल निकाला जाता है, जो मग्ज को तरावट पहुँचाने और नींद लाने के लिये सिर पर लगाया जाता है।

नव्यमत—–रासायनिक विश्लेषण–बनफ्शा के फूलों में रञ्जक द्रव्य, थोड़ा उड़नेवाला तैल, अम्ल द्रव्य और एक वामक द्रव्य पाया जाता है। इस वामक द्रव्य का गुण इपिकाकुआना के अंदर के वामक द्रव्य जैसा है। इस सत्त्व की दो–तीन ग्रेन की मात्रा से वमन होता है। गुलवनफ्शा शीतल, स्नेहन, कफघ्न और थोड़ासा स्रंसन है। मूल एक ड्राम की मात्रा में वामक और थोड़ा विरेचन है। पंचांग स्वेदजनन, श्लेष्मनिस्सारक, वामक और जरा विरेचन है। पित्त-प्रधानरोगों में वनफ्शा देते हैं। गरमी के दिनों में उष्णता की बाधा न हो इसलिये बनफ्शा का गुलकंद खाने का ईरान और अफगानिस्तान में बड़ा प्रचार है। अत्यार्तव, रक्तार्श आदि में रक्तस्राव बंद होने के लिये पंचांग का क्वाथ उत्तम द्राक्षासव के साथ मिलाकर देते हैं। केन्सर में बनफ्शाह खाने को देते हैं इससे और इसका लेप लगाते हैं। इससे कैन्सर में पीड़ा और स्राव कम होता है। केन्सर को धोने के लिये बनफ्शा और पतंग के क्वाथ का प्रयोग करते हैं। **मात्रा**—–पंचाङ्गचूर्ण ५–१० रत्ती स्वेदजनन और कफघ्न; १५–३० रत्ती रक्तस्राव बंद करने के लिये (डॉ वा. ग. देसाई)।

तुवरकादि वर्ग १३.

N. O. Bixineae (बिक्सिनी)

वर्गलक्षण—–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णक्रम एकान्तर, पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४ से ५; नरकेशर ५।

---

(३४) तुवरक।

नाम—(सं.) तुवरक, कटुकपित्थ; (म.) कडुकवीठ, कडुकवठी; (का.) गरुडफल; (ता.) मखत्तायि, निरडिमुट्टु; (ते.) अडविबादामु; (मल.) कोडि, मरवेट्टि, नरिवेट्टि; (ले.) हिड्नोकार्पस् वाइटिआना (Hydnocarpus wightiana)।

वर्णन–तुवरक के बड़े सुन्दर वृक्ष दक्षिण कोकण से मलबार तक के प्रदेश में जंगलो में होते हैं। पत्ते लंबे, सीताफल के पत्ते जैसे, मसृण और चमकदार, फूल सफेद गुच्छों में, फल कैथ जितने बड़े, फल में छोटी बादाम जैसे पुष्कल बीज होते हैं।

गुण-कर्म—–"पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम्। योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्॥ वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु। ×××। तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे। मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च॥ तिलवत् पीडयेद्द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत्!

तत्तैलं संहृतंभूयः पचेद्यावत्तोयसंक्षयात् ॥ अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् । स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान् ॥ चतुर्थभक्तान्तरितः [1]पिबेन्मात्रां यथाबलम् । तेनास्योर्ध्वमधश्चापि दोषा यान्त्यसकृत्ततः । अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत् ॥ पञ्चाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः । पक्षं परिहरेच्चापि मुद्गयूषौदनाशनः ॥ × × × । तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् । निहितं पूर्ववत् पक्षं पिबेन्मासमतन्द्रितः ॥ तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् । भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम् ॥ अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम् । शोधयन्ति नरं पीता मज्जानरतस्य मात्रया ॥ महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः । सान्तर्धूमस्ततस्य मज्जा तु दग्धः क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च । पैल्यं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान्नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन ॥"(सु. चि.अ.१४) ।

तुवरक के वृक्ष पश्चिम समुद्र के समीप की भूमि में होते हैं। वर्षाऋतु के आरम्भ में उनके खूब पके हुए फल ले, उनके अन्दर का मग्ज निकाल, उनको सुखा और चूर्ण करके कोल्हू में पीलकर तेल निकाले या उनको जल के साथ पकाकर ऊपर आया हुआ तैल ले ले। मग्ज को जल के साथ पकाकर के निकाले हुए तेल में जो पानी का अंश हो उसको गरम करके उड़ा दे। पीछे तेल को घडे में बंद करके १५ दिन कंडों के चूर्ण में रखे। बाद निकाल, कपड़े से छान कर शीशियों में भरकर रख छोडे इस प्रकार तैयार किये हुए तैल को तीन गुने खैर की लकडी के बुरादे के क्वाथ में पकाकर तैयार करे तो विशेषगुणकारक होता है। पहले रोगी को स्नेहन, स्वेदन और संशोधन कराके पीछे योग्य मात्रा में (१ तोला)तुवरक का तेल पिलावे। इससे वमन-विरेचन द्वारा दोषों का शोधन होगा। वमन-विरेचन होने के बाद रोगी को शाम को स्नेह और लवणरहित यवागू पिलावे। तैल का प्रयोग बंद करने के बाद १५ दिन तक रोगी को मूंग का यूष और भात खिलावे। इस तैल के प्रयोग से मधुमेह और खराब हुए कुष्ठ के रोगी अच्छे होते हैं। तुवरक के फल की मज्जा को अन्तर्धूम जला, उसमें तिल का तैल, सैंधव और सुरमा मिलाकर बनाए हुए अञ्जन से नेत्र के रोग अच्छे होते हैं।

नव्यमत—तुवरक तैल कृमिघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, कण्डूघ्न, वेदनास्थापन, त्वग्दोषहर और रक्तशोधन है। बड़ी मात्रा में देने से मितली आकर उलटी और जुलाब होते हैं। मात्रा ५ से १० बूंद; धीरे धीरे बढ़ाके ६० बूंद तक की मात्रा बढ़ानी चाहिये। यह तैल मक्खन, घी या मलाई में मिलाकर देना चाहिये। यह तैल महाकुष्ठ में खाने को देते हैं और शरीर पर लगाते हैं। क्षय के जन्तुओं से होनेवाले गण्डमाला, व्रण, नाडीव्रण, अस्थिव्रण आदि में यह तैल खाने को और लगाने को दिया जाता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

[1] 'प्रातः पाणितलं पिबेत्' इत्यष्टाङ्गहृदये पाठान्तरम्।

वक्तव्य--रोगी को केवल दूध और मीठे फलों के पथ्य पर रख कर इसका प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। महाकुष्ठ (Ieprosy)के लिये यह उत्तम औषध है। वैद्यों को इसका प्रयोग करना चाहिए।

(३५) चालमोगरा ।

नाम--(बं.) चालमुगरा; (ले.) गायनोकार्डिआ ओडोरेटा(Gynocardia Aodoreta)।

उत्पत्तिस्थान—चालमोगरा के वृक्ष सिक्किम, खासिया पर्वतमाला और पूर्वबंगाल में चितागांग (चटगांव) को ओर होते हैं।

उपयुक्त अंग—तैल। **मात्रा**—प्रारंभ में ५ से १० बूंद देकर धीरे धीरे ६० बूंद तक दूध की मलाई या गाय के घी में मिलाकर देना चाहिये।

गुण कर्म--चालमोगरा का तैल कृमिघ्न, वेदनास्थापन, त्वग्दोषहर, रक्तशोधन और व्रणरोपण है। चालमोगरा का तैल सब प्रकार के त्वचा के रोगों में और महाकुष्ठों में खाने को और लगाने को दिया जाता है। फिरंगोपदंश की द्वितीयावस्था में यह उपयोगी है। गण्डमाला, व्रण, नाड़ीव्रण और अस्थिव्रण में इस तैल को खिलाने और लगाने से अच्छा लाभ होता है। आमवात, गृध्रसी आदि वातरोगों में यह तैल खाया और लगाया जाता है(डॉ. वा. ग. देसाई)।

लोणिकादि वर्ग १४.

N. O. Portulacaceae (पोटर्चुलेसी)

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विमक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पत्र मांसल और अखण्ड; पुष्पवाह्यकोश के दल दो; पंखडियाँ ४-५; नरकेशर ४ या उससे अधिक; स्त्रीकेशर १।

(३६) लोणिका ।

लोणिका में दो जातियाँ होती हैं--बृहल्लोणिका,; (२) लघुलोणिका।

नाम--(सं) बृहल्लोणिका; (क) नूनर; (पं., हिं.) कुल्फा; (मा.) मंमोली; (बि.) नोना; (म.) मोठी घोल; (गु.) म्होटी लुणी; (फा.) खुर्फा; (ले.) पोटर्चुलेका ओलेरेसिआ (Portulaca oleracea)।

नाम--(सं.) लघुलोणिका; (पं.) लूणक; (हिं.) नोनिया, लोनिया; (बि.) नोनी; (म.) घोल; (गु.) लुणी; (का.) नुच्चुगोलि; (ता.) पच्चिरि; (ले.) पोट्युलेका क्वोड्रीफिडा (partulaca Quadrifiba)।

वर्णन-कुल्फे का क्षुप खड़ा या जमीन पर फैला हुआ होता है। वह ६ इंच से १-२ फुट तक लंबा होता है। रंग फीका हरा या ललाई लिये हुए हरा होता है। पत्र मोटे और सिरेपर चौड़े होते हैं। लोनिया जमीनपर फैला हुआ होता है। शाखायें सूत जैसे पतली होती हैं। वे जैसे जैसे बढ़ती जाती हैं वैसे वैसे संधिपर से जमीन में जड़ें डालती जाती हैं। रंग हरापन लिये हुए लाल होता है। दोनों की भाजी बनाकर खाते हैं।

गुण-कर्म-"x x x लोणिका x x x शाकं गुरु च रूक्षं च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति। मधुरं शीतवीर्यं च पुरीषस्य च भेदनम् ॥" (च. सू. अ. २७)। "लोणिका x x x प्रभृतयः। स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः। लवणानुरसा रूक्षाः सक्षारा वातलाः सराः ॥" (सु. सू अ. ४६)।

कुल्फा और नोनिया का शाक गुरु, रूक्ष, पेट में गड़बड़ाहट करके पाचन होनेवाला, शीतवीर्य, मधुर, लवणानुरस, सक्षार और मल को पतला करनेवाला है।

यूनानी मत-कुल्फा और लोनिया सर्द और तर है। कुल्फे का शाक पैत्तिक ज्वर, पेशाब की जलन, रक्तकास तथा यकृत, आमाशय और गर्भाशय की उष्णता में खिलाया जाता है। आग या गरम पानी से जले हुए अंग, गरम शोथ, गरम सिरदर्द और हाथ-पाँव की जलन पर इसका लेप करते हैं।

नव्यमत-लोणिका शीतल, ग्राही, शोथहर और रक्तशोधक है। कुल्फा और लोनिया की भाजी और बीज मूत्रपिंड (गुर्दा) और मूत्राशय के शोथ में देते हैं। इसके फाण्ट से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। इसका शाक अर्शवाले को देते हैं। दांत, कफ, पेशाब आदि के रक्तस्राव में लोणिका का स्वरस देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

झाबुकादि वर्ग १५.

N. O. Tamariscineae (टॅमेरिसिनी)

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णक्रम एकान्तर; पत्र अवृन्त, अखण्ड और छोटे (बारीक); पुष्प छोटे और नियमित; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४-५ या दशतक; पुंकेशर ५; स्त्रीकेशर १; गर्भाशय एककोशी; फल विदारी; बीज पुष्कल।

---

(३७) झाऊ।

नाम-(सं) झावुक; (हिं.) झाऊ, फरास; (बि.) झऊवा; (पं.) फरवां, ओकां; (सि.) लई; (मा.) लवो; (गु) प्रांस; (अ.) तुर्फाह; (फा.) गज़; (ले.) टॅमेरिक्स् आर्टिक्युलेटा (Tamarix articulata) (छोटी); टेमेरिक्स् गेलिका (Tamarix gallica) (बड़ी)।

वर्णन—झाऊ का वृक्ष नदी और समुद्र के किनारे पर रेतीली जमीन में होता है। वृक्ष देखने में सरो जैसा मालूम होता है। झाऊ की शाखाओं पर एक प्रकार की मक्खी बैठकर शाखा में डंक मारती हैं। तब उसमें से रस निकलकर उस मक्खी के चारों ओर जमकर गांठसा बन जाता है, उसको [१]मांई कहते हैं।

गुण-कर्म—मांई में बड़े प्रमाण में कषायाम्ल (टेनिक् एसिड्) होता है। मांई का उपयोग माजूफल के समान होता है। मांई ग्राही, स्तम्भन और शोणितास्थापन है।

मात्रा——१५ से ३० रत्ती।

यूनानी मत——झाऊ शीत और रूक्ष है। झाऊ ग्राही, शोथघ्न, रक्तस्तम्भन और रक्तशोधन है। झाऊ प्लीहा की वृद्धि और सख्ती को दूर करता है। प्लीहा की वृद्धि में झाऊ की पत्तियों का क्वाथ पिलाते हैं और झाऊ की लकड़ी के प्याले में १२ घंटा रखा हुआ जल पिलाते हैं। झाऊ की पत्तियों के क्वाथ से कुल्ला करने से मसूड़ों से खून तथा पीप आती हो तो वह बंद होती है और मसूड़े मजबूत होते हैं। पत्ती के क्वाथ से व्रण को धोने से व्रण का शोधन और रोपण होता है। पत्तियों की राख छिड़कने से चेचक (शीतला) के तथा अन्य व्रण शीघ्र सूख जाते हैं। झाऊ की पत्तियों की धुनी देने से व्रण सूख जाता है और अर्श के मसे सूखकर सुकड़ जाते हैं। ताजी पत्तियों का स्वरस और मांई का चूर्ण वाजीकर और शुक्रस्तम्भन है। पत्तियों के क्वाथ की उत्तरबस्ति (डूश)देने से श्वेतप्रदर में लाभ होता है। पत्तियों के क्वाथ में बैठाने से गुदभ्रंश अच्छा होता है।

नागकेशरादि वर्ग १६.

N. O. Guttiferae (गटिफरी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णक्रम अभिमुख; पत्र सादे, अखण्ड, चर्मसदृश, पुष्प नियमित, पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४ से १२, नरकेशर अनियत, फल मांसल।

इस वर्ग में बड़े वृक्ष होते हैं। पुष्प सुन्दर और सुगन्धित होते हैं। इन वृक्षों में से पीले रंग का राल जैसा निर्यास निकलता है।

(३८) नागकेशर।

नाम(सं.) नागकेशर, चाम्पेय, नागपुष्प; (हिं.) पीला नागकेशर; (म.) नागचांफा (वृक्ष), नागकेशर; (बं.) नागेश्वर; (गु.) पीळुं नागकेशर (ते.)

---

[१] मांई को गुजराती में 'पड़वास' कहते हैं।

नागचंपकम्, नागकेशरम्; (का) नागसंपिगे; (ले.) मेसुआ फेरिआ (Messua Ferrea)।

उत्पत्तिस्थान––कुमाऊं, नेपाल, दक्षिण कोंकण आदि में पीले नागकेशर के वृक्ष होते हैं। वृक्ष को नागचंपा भी कहते हैं।

वर्णन––नागकेशर का सुंदर वृक्ष होता है। इसके पुष्प में पाँच पँखडियाँ होती हैं। नरकेशर का पीले रंग का गुच्छा होता है। उसको नागकेशर कहते हैं। औषधार्थ इन केशरों का ही प्रयोग करना चाहिये। असली नागकेशर यही है।

गुण-कर्म–सुश्रुते एलादिगणे, अञ्जनादिगणे, प्रियङ्ग्वादिगणे च नागपुष्पं पठ्यते। "नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम्। ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम्॥ दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्पकफपित्तविषापहम्।" (भा. प्र.)। "नागकेशरमल्पोष्णं लघु तिक्तं कफापहम्। बस्तिवातामयघ्नं च कण्ठशीर्षरुजापहम्॥" (रा. नि.)। "× × × केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्। × × × अर्शांस्यपयान्ति रक्तानि।" (च. चि. अ. १४)।

नागकेशर रस में तिक्त और कषाय, लघु, रूक्ष, कुछ उष्णवीर्य, आमपाचन, तथा ज्वर, कण्डू, तृषा, स्वेदाधिक्य, वमन, मितली, दौर्गन्ध्य, कुष्ठ, विसर्प, बस्तिवात, विष, कंठ और सिर के रोग, कफ और पित्त का नाश करनेवाला है। नागकेशर को मक्खन और मिश्री के साथ मिलाकर सेवन करने से अर्श में रक्त आता हो तो वह बंद होता है।

रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तप्रदर, रक्तकास, रक्तपित्त आदि रोगों में नागकेशर उत्तम औषध है।

नव्यमत––नागकेशर शीतल, पीड़ाशामक, रक्तसंग्राहक और ग्राही है। गुदद्वार की जलन, रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श और हाथ पाँवकी जलन में नागकेशर उत्तम औषध है। पुष्कल कफयुक्त खांसी में यह दिया जाता है। नागचंपा के बीजों के तैल की संधिवात और शरीर के दर्द में मालिश की जाती है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग––पुष्पों के अंदर का पुंकेशर। मात्रा ४–८ रत्ती।

(३९) सुरपुन्नाग।

नाम––(सं.) सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका; (म.) सुरंगी (वृक्ष); लाल नागकेशर; (गु.) रातुं नागकेशर; (हिं.) लाल नागकेशर; (ले.) ओक्रोकार्पस् लोंगीफोलिअस् (Ochrocarpus longifolius)।

वर्णन–सुरपुन्नाग (सुरंगी) का वृक्ष दक्षिण कोंकण से मलबार तक समुद्रतट के

प्रदेश में होता है। वसंत ऋतु में इसमें सुंदर सुगन्धित पुष्प लगते हैं। इसकी अविकसित पुष्पकलिका बाजार में लाल नानकेशर के नाम से बिकती है।

गुण-कर्म--सुश्रुते एलादिगणे पुन्नागकेशरं पठ्यते। "पुन्नागः सुरपर्णिका, सुगन्धिपुष्पयुक्त दक्षिणापथे 'सुरपति' नाम्ना प्रतीता (डल्हण)।

इसके गुण-कर्म पीले नागकेशर जैसे ही हैं, परंतु उससे कम दर्जे के हैं।

---

(४०) पुन्नाग।

नाम--(सं.) पुन्नाग, तुङ्ग; (म.) उंडी, उंडल; (का.) होन्ने; (हि.) सुलतान चंपा; (ले.) केलोफिलम् इनोफिलम् (Calophyllum inophyllum)।

वर्णन--पुन्नाग का बड़ा सुंदर वृक्ष दक्षिण भारत में समुद्रतट के प्रदेश में और बंगाल में होता है। पत्र बड़ के पत्र जैसे, लंबगोल और नोकदार होते हैं। पुष्प सफेद रंग के और सुगन्धित होते हैं। इसके बीजों का तैल निकाला जाता है।

गुण-कर्म--"पुन्नागो मधुरः शीतः सुगन्धिः पित्तनाशकृत्" (रा. नि. करवीरादि वर्ग)।

पुन्नाग रस में मधुर, शीतवीर्य, सुगन्धित और पित्त का नाश करनेवाला है।

पुन्नाग के बीजों का तैल सुजाक में खिलाया जाता है। सन्धिवात में इसकी मालिश करते हैं।

---

(४१) वृक्षाम्ल।

नाम--(सं.) वृक्षाम्ल, रक्तपूरक; (म., हि., गु.) कोकम; (कों.) रतांबी; (मल.) पुनंपुळी; (ले.) गार्सिनिआ इन्डिका (Garcinia indica)।

वर्णन--कोकम का वृक्ष कोंकण और मलबार में होता है। फल लाल रंग के और मांसल होते हैं। बीज निकाले हुए फल को सुखाकर कोकम के नाम से बेचते हैं। बीजों से तेल निकलता है। वह मोम जैसा जम जाता है। उसको कोकम का घी या तेल कहते हैं।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) हृद्ये महाकषाये वृक्षाम्लं पठ्यते। "वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते।" (च. सू. अ. २७)। "वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम्। पक्वं तु गुरु संग्राहि मधुराम्लरसं तथा॥ अल्पोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं वातनाशनम्। तृष्णार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृद्रोगजन्तुजित्॥" (भा. प्र.)।

कोकम हृद्य, ग्राही, रूक्ष, उष्णवीर्य और वात तथा कफ का नाश करनेवाला है (च.)। कच्चा कोकम अम्ल, उष्णवीर्य, वातघ्न तथा कफ और पित्त को बढ़ानेवाला है। पका हुआ कोकम गुरु, ग्राहि, रस में कुछ मधुर और अम्ल, कुछ उष्णवीर्य, रोचन, रूक्ष, दीपन तथा वात, तृषा, ग्रहणी, अर्श, गुल्म, हृद्रोग, शूल और कृमि का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--बीज में १० प्रतिशत तैल होता है। ताजे फल हृद्य, रक्तपित्त-प्रशमन और ग्राही हैं। सुखाये हुए फल रोचक, दीदन-पाचन, ग्राही और रक्तपित्तप्रशमन हैं। तैल स्तम्भन और रक्तपित्तप्रशमन है। अतिसार, संग्रहणी और रक्तप्रवाहिका में कोकम का फांट देते हैं। ठंडी के दिनों में हाथ-पाँव के तलों में चमड़ी फटकर चीरे पड़ते हैं, उन पर कोकम का तैल लगाते हैं। पके हुए फलों का शर्बत बनाते हैं। उसको पैत्तिक रोगों में देते हैं।

वक्तव्य—पूर्व-उत्तर बंगाल और सिलहट में कोकम की जाति का एक वृक्ष होता है, उसको वहाँ थैकल (ले गार्सिनिया पेटन्क्युलेटा Garcinia pedunculata) कहते हैं। उसके गुण-कर्म भी कोकम के जैसे हैं। कोकम के अभाव में उसका प्रयोग कर सकते हैं। बंगाल के वैद्य अम्लवेतस के नाम से इसका व्यवहार करते हैं, परन्तु अम्लवेतस इससे भिन्न नींबू की जाति का फल है।

शालादि वर्ग १७.

N. O. Dipterocarpeae (डिप्टेरोकार्पी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णक्रम एकान्तर; पत्र सादे; पत्र पर समानान्तर स्पष्ट सिरायें होती हैं; पुष्प गुच्छों में पत्रकोण या शाखाग्र से निकलते हैं पुष्पबाह्यकोश के दल ५; स्थायी; पँखड़ियाँ ५। इस वर्ग में बड़े वृक्ष होते हैं। इन वृक्षों से राल और सारतैल निकलता है।

------

(४२) शाल

नाम-- (सं.) शा (सा) ल; (हिं.) साल, साखु, सखुआ; (ले.) शोरिआ रोबस्टा (Shorea robusta)।

वर्णन--शाल के वृक्ष हिमालय की तराई के कांगड़ा से आसाम तक के प्रदेश में होते हैं। इसके धड़ में छेद करने से एक प्रकार का निर्यास निकलकर जम जाता है, उसको राल कहते हैं।

राल के नाम--(सं.) शालनिर्यास सर्जरस, यक्षधूप; (हिं., म., गु.) राल; (बं.) धुना; (अ) किकहर।

गुण-कर्म–सुश्रुते–(सू. अ. ३८) 'शालसारादिगणे, तथा रोध्रादिगणे; चरके वेदनास्थापने गणे आसवयोनिसारवृक्षेषु (सू. अ. २५) तथा कषायस्कन्धे च शालः पठ्यते। "शालः कषायो ग्राह्यस्त्रग्दग्धरक्तकफजिद्धिमः। कर्णरोगहरो रूक्षो विषहा व्रणशोधनः ॥" (कै. नि.) 'रालः स्वादुः कषायश्च स्तम्भनो व्रणरोपणः। विपादीभूतहन्ता च भग्नसन्धानकृन्मतः ॥" (ध. नि.)।

साल रस में कषाय, शीतवीर्य, रूक्ष, ग्राही, व्रणशोधन तथा रक्तविकार, अग्निदाह, कर्णरोग, विष, कुष्ठ, प्रमेह और पाण्डुरोग का नाश करनेवाला तथा कफ और मेद को सुखानेवाला है। राल रस में मधुर और कषाय, स्तम्भन, व्रणरोपण, अस्थिभग्न का संधान करनेवाला तथा विपादिका (पांव के तलों का फटना) और भूत (जीवाणु ?) का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—राल उत्तम व्रणशोधन,व्रणरोपण,रक्तसंग्राहक और ग्राही है। राल का मलहम लगाने से फोड़े-फुन्सियों की पीड़ा शान्त होती है, वे फूट जाते हैं और व्रण जल्दी भर जाता है। यदि फोडे-फुंसी नये हों तो बैठ जाते हैं। राल का मलहम जहां लगाया जावे वहां रक्ताभिसरण बढ़ता है और वह स्थान कृमिहीन होता है। कुपचन, सुजाक, रक्तप्रवाहिका और रक्तार्श में राल देते हैं। इतर सुगन्धित द्रव्यों के साथ मिलाकर राल का धूप किया जाता है। यह धूप जन्तुघ्न है।

राल का मलहम—राल, मोम और तिल का तैल समभाग ले, आग पर पिघला, कपड़े से छानकर काचपात्र में भर ले (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत--राल दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। राल लेखन (शरीर को पतला करनेवाली) व्रणशोधन,व्रणरोपण,अञ्जन करने से दर्शनशक्ति को बढ़ानेवाली, मंजन से दांतों की पीड़ा को शांत करनेवाली, लेप करने से दद्रुघ्न तथा खांसी और दमें में लाभ करनेवाली है। राल का मलहम फोडे, पुराने जखम, नासूर और आग से जलने पर लगाने से लाभ करता है। राल का लेप खुजली और जखम के निशानों को मिटाता है।

(४३) सर्ज।

नाम--(सं.) सर्ज; (ते.) तेल्लादामरु, तेल्लगुग्गिलमु; (ता.) वेल्लै कुन्दिरिक्कम् वेल्लैक्कुंदुरक्कम्; (मल.) पइन, पयनि, (ले.) वॅटेरिआ इण्डिका (Vateria indica)।

वर्णन--इसका बड़ा सुन्दर वृक्ष दक्षिण हिन्दुस्तान में होता है। इसके धड़ से राल जैसा निर्यास निकलता है, उसको हिंदी में चंद्रस (चदरस), सफेद डामर,

---

१. "शालसारादिरित्येष गणः कुष्ठनिषूदनः। मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः ॥" (सु सू. अ. ३८)।

पंजाब में सुंदरस और यूनानी वैद्यक में संद्रस (सुंद्रस) कहते हैं। चन्द्रस वार्निश और मलहम बनाने के काम में आता है। चन्द्रस के टुकड़े देखने में कहरुवा जैसे मालूम होते हैं। इसके बीजों से तैल निकाला जाता है। जो कोकम के तेल जैसा जमा हुआ, पोला और सुगंधित होता है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) सर्जः पठ्यते। "सर्जः कषायो व्रणजित् कफस्वेदमलक्रिमीन्। ब्रध्नविद्रधिबाधिर्ययोनिकर्णगदाञ्जयेत् ॥" (भा. प्र.)।

सर्ज रस में कषाय तथा व्रण, स्वेदाधिक्य, कफ, ब्रध्न (बद), विद्रधि, बहरापन, योनिरोग और कान के रोगों का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--चन्द्रस के गुण यूरोपियन रेजिन के समान हैं। चन्द्रस व्रणशोधन और व्रणरोपण है। तैल वेदनास्थापन है। चंद्रस उत्तम व्रणरोपण होने से उसका मलहम सर्व प्रकार के व्रणों में उपयोगी है। तैल जीर्ण आमवात में गुणकारी है। तैल इतर द्रव्यों के मलहम बनाने में काम में आता है। कल्प-मलहम-चंद्रस ५ भाग, राल ५ भाग, मोम २ भाग, तिल का तेल ८ भाग। सबको एकत्र आग पर पिघला, कपड़े से छानकर मलहम बनावे (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--चन्द्रस दूसरे दर्जे में गरम और रूक्ष है। चंद्रस आमाशय और आंतों के कफ को छांटता है (लेखन), पेट के कीड़ों को मारता है। चन्द्रस का मंजन दांतों और मसूड़ों को शक्ति देता है तथा उनके रक्तस्राव को रोकता है। इसकी धुनी अर्श में लाभ पहुंचाती है और व्रण को सुखाती है। इसका अञ्जन नेत्र को शक्ति देता है। चन्द्रस मूत्र और आर्तव की प्रवृत्ति करानेवाला है। इसका तेल कान में डालने से कान की पीड़ा शान्त होती है। चन्द्रस के सेवन से शरीर की स्थूलता नष्ट होती है। यह पसीना आने को रोकता है। सर्ज के तेल में सफेदा (जस्ते का फूल) और चन्द्रस मिलाकर लगाने से सिर के गंज में लाभ होता है। गुण-कर्म में यह कहरुबा और राल के समान है। मात्रा १-३ माशे तक।

वक्तव्य--सुश्रुत के सालसारादिगण में साल, अजकर्ण और अश्वकर्ण ये तीन तथा चरक के कषायस्कन्ध में साल, सर्ज, अश्वकर्ण और अजकर्ण ये चार नाम मिलते हैं। सुश्रुत की टीका में डल्हणने 'अजकर्णः सर्जः सालभेद एव' यह व्याख्या दी है। परन्तु सुश्रुतने स्वयं आगे चि. अ. ९, श्लो. ११ में "निम्बः सर्जो वत्सकः साजकर्णः" सर्ज और अजकर्ण दो भिन्न लिखे हैं। इसलिये डल्हण के अजकर्ण को ही सर्ज लिखना ठीक नहीं है। साल, सर्ज, अजकर्ण और अश्वकर्ण ये चारों साल के भेद या तत्सदृश वृक्ष हों ऐसा प्रतीत होता है। निघण्टुकारों के दिये हुए पर्यायों में इतनी गड़बड़ है कि उनकी सहायता से इनका ठीक निर्णय करना कठिन है। राल के लिये

चरक और सुश्रुत में सर्जरस शब्द प्रयुक्त हुआ है। शालनिर्यास शब्द चरक-सुश्रुतमें देखने में नहीं आता। इस समय वैद्य लोग सर्जरस (राल) नामसे जिस द्रव्य का व्यवहार करते हैं वह साल का निर्यास है। इस समय यहाँ राल सिंगापुर से आती है। जंगलात (फारेस्ट) विभाग के नियन्त्रण के कारण यहाँ आजकल राल नहीं निकाली जाती। चंद्रस भी राल की ही एक उत्तम जाति है और उसके गुण-कर्म भी राल के समान ही हैं। उसका व्यवहार वैद्यों की अपेक्षया हकीम लोग अधिक करते हैं। संभव है कि प्राचीनों ने राल और चंद्रस दोनों को सर्जरस नाम दिया हो। यदि ऐसा हो तो शोरिआ रोबस्टा (Shorece robecsta) को शाल और वॅटेरिआ इन्डिका (Vateria indica) को सर्ज नाम देना ठीक होगा। संभव है कि प्राचीनों का अजकर्ण टर्मिनेलिआ टोमेन्टोझा (Terminalia tomentosa) और अश्वकर्ण गर्जन हो।

-----

(४४) गर्जन।

नाम--(हिं.) गर्जन; (ले.) डिप्टेरोकार्पस् अॅलेटस् (Dipterocarpus alatus)।

वर्णन--गर्जन के वृक्ष पूर्व बंगाल में चटगांव और ब्रह्मदेश में होते हैं। इसके धड़ से तेल निकलता है, उसको गर्जन का तेल कहते हैं।

गुण-कर्म-गर्जन के तेल की क्रिया कोपेबा जैसी होती है यह श्लेष्मल त्वचा के लिये विशेषतः मूत्रेन्द्रिय की श्लेष्मल त्वचा के लिये उत्तेजक है। इससे पेशाब बढ़ता है और मूत्रमें कोयप्रशमन धर्म उत्पन्न होता है। अतः मूत्र में जीवाणु जीते नहीं और नये उत्पन्न होते नहीं। गर्जन का तेल पुराने सुजाक (पूयमेह-गनोरिया) में दिया है मात्रा ½ से २ ड्राम (डॉ. वा. ग. देसाई)।

गर्जन का तैल, कबाबचीनी का तैल और चंदन का तेल समभाग मिलाकर ३० बिन्दु की मात्रा में चीनी में मिलाकार खिलाने से सुजाक में अच्छा लाभ होता है।

------

(४५) भीमसेनी कपूर।

नाम—(सं.) भीमसेनी कर्पूर; (बंबई) बरास कपूर; (ले.) ड्रायोबेलेनोप्स् अॅरोमेटिका (Dryobalanops aromatica); (इं.) सुमात्रा केम्फर (Sumatra camphor)।

वर्णन-भीमसेनी कपूर के बड़े वृक्ष सुमात्रा और बोर्निओ में होते हैं। वृक्षके धड़ में जहां पोल हो अथवा चीरे पड़े हों वहां भीमसेनी कपूर मिलता है। इस वृक्ष से एक प्रकार तैल का निकलता है, उसको कपूर तैल कहते हैं। भीमसेनी

कपूर पानी में डूब जाता है। भीमसेनी कपूर विना पकाये ही मिलता है, इसलिये इसको अपक्व कर्पूर[1] कहते हैं।

गुण-कर्म[1]--भीमसेनी कपूर के गुण-कर्म चीनी और जापानी कपूर के समान हैं। विशेष विवरण चीनी कपूर के प्रकरण में देखें।

कार्पासादि वर्ग १८.

N. O. Malvaceae (माल्वेशी)

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पान बहुधा नरम, रोमश, एकान्तर; फूल सुन्दर, नियमित और शाखाग्रोद्भूत; पुष्पबाह्यकोशके दल ५, नीचे के भाग में संयुक्त; कई एक में पुष्पच्छद होते हैं; पँखडियाँ ५; पुंकेशर पुष्कल, परन्तु नीचे के भागमें मिलाकर नलिकाकृति बने हुए; बीजकोश एककोशी। इस वर्ग के उद्भिज्ज प्रायः मजबूत रेशेदार होते हैं।

------

(४५) कार्पासी

नाम--(सं.) कार्पासी; तुण्डिकेरी; (हिं.) कपास; (म.) कापसी; (गु.) वोंण, वोण, कपास; (क.) कपस; (पं.) कपा, फुट्टी; (बं.) कापास; (ते.) बर्वरि, कार्फासमु; (ता.) रामुत्तिरदम्, कार्बशिम्, (मल.) परुत्ति; (का.) हत्ति; (ले.) गोसिपिअम् हर्बेसिअम (Cossypium herbaceum)।

रूई के नाम—(सं.) तूल, पिचु; (हिं) रूई; (म.) कापूस; (गु.) रू, कापुस; (फा.) पुंबह; (इं.) कोटन् (Cotton)।

बीज के नाम—(हिं.) बिनौला; (म.) सरकी; (गु.) कपासिया (मा) कांकडा।

वर्णन—कपास जगत्प्रसिद्ध क्षुप है। सारे भारतवर्ष में रूई के लिये कपास की खेती की जाती है। कपास स्वयंजात भी होता है। उसको भारद्वाजी[2] और अरण्यकार्पासी (जंगली कपास) कहते हैं। कपास का एक भेद, जिसको हिंदीमें नर्मा, गुजरातीमें हिरवनी, मराठी में देवकापसीण और संस्कृतमें उद्यानकर्पास[3] कहते हैं, बागों में लगाया जाता है। इसके पुष्प लाल रंग के होते हैं।

---

[1] "कर्पूरं द्विविधं प्राहुः पक्वापक्वप्रभेदतः। पक्वात् कर्पूरतः प्राहुरपक्वं गुणवत्तरम्॥" (भा. प्र.) [2] थेस्पेसिआ लेम्पस् (Thespasia lampas)। [3] गोसिपिअम् आर्बोरिअम् (Gossypium arboreum)।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) बृंहणीये महाकषाये भारद्वाजी तथा सुश्रुते (सू. अ. ३९) वातसंशमने वर्गे कार्पासी पठ्यते । "कार्पासी मधुरा शीता स्तन्या पित्तकफापहा । तृष्णादाहश्रमभ्रान्तिमूर्च्छाहृद् बलकारिणी ।। भारद्वाजी हिमा-रुच्या व्रणशस्त्रक्षतापहा ।" (रा. नि.)। कार्पासको लघुः कोष्णो मधुरो वातनाशनः तत्पलाशं समीरघ्न रक्तकृन्मूत्रवर्धनम् ।। तत् कर्णपिडकानादपूयास्रावविनाशनम् । तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्ध कफकरं गुरु ।।" (भा. प्र.)

कार्पासी मधुर, लघु, शीतवीर्य, बृंहणीय, बल्य, वातसंशमन, स्तन्यजनन तथा तृषा, दाह, श्रम. भ्रम और मूर्च्छा को दूर करनेवाली है। अरण्यकार्पासी शीतवीर्य, रुचिकर तथा व्रण और शस्त्रक्षत का नाश करनेवाली है । कपास के पत्ते वातनाशक, रक्त और मूत्र को बढ़ानेवाले तथा कान की आवाज, फुंसी और पीप को दूर करनेवाले हैं । बिनौले स्तन्यवर्धक,बाजीकर, स्निग्ध, गुरु और कफकर है ।

नव्यमत-बिनौले स्तन्यजनन, स्नेहन, मूत्रजनन, स्रंसन, श्लेष्मनिःसारक,बल्य और नाडीसंस्थान के लिये पौष्टिक हैं। रूई उपशोषण और रक्षण है। पुष्प उत्तेजक और सौमनस्यजनन हैं। कोमल पत्ती स्नेहन और मूत्रजनन है। मूल की छाल गर्भाशयोत्तेजक, आर्तवजनन और स्नेहन है । इससे गर्भाशय का अच्छा संकोचन होकर रक्तस्राव बंद होता है। मूल की छाल की क्रिया गर्भाशय पर अर्गट के समान होती है । कपास के मूल की छाल का क्वाथ प्रसव होने के बाद देते हैं । इससे गर्भाशय का अच्छी तरह संकोचन होता है, रक्तस्राव नहीं होता और गर्भाशय शिथिल रहने से होनेवाले ज्वर, शूल आदि उपद्रव नहीं होते । आंवल (अपरा) पड़ने के बाद तुर्त ही क्वाथ देना चाहिये। इसका पूरा असर होने में १ घंटा लगता है। एक घंटे में गर्भाशय गेंद के समान संकुचित न हो और नाडी तेज चलती हो तो दूसरीबार क्वाथ देना चाहिये । कपास के मूल की छाल बड़े प्रमाण में देने से गर्भपात होता है। पीडितार्तव और ठंडी से उत्पन्न अनार्तव में कपास के मूल की छाल के क्वाथ से लाभ होता है । प्रसूता स्त्री को बिनौले के मग्ज की पेया देते हैं। इससे दूध बढ़ता है। रूई जलाकर जखम (सद्योव्रण) में भरते हैं। इससे रक्तस्राव बंद होता है और जखम शीघ्र भर जाता है । कपास के फूलों का शर्बत उदासीनताप्रधान मानसिक रोगों में देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

रूई का उपयोग स्थानविशेष में सर्दी से बचाने, उष्णता पहुँचाने और व्रणसंरक्षणार्थ किया जाता है ।

---

(४६) जपा (गुड़हल) ।

नाम--(सं). जपा, ओड्रपुष्पा; (हिं.) गुडहर, गुड़हल अडहुल, जवा; (पं.) गुड़हल; (म.) जास्वद; (गु) जासुद; जासुद; (बं.) जवा; (ते.) वासनमु; (ता.) शतात्तुपू; (मल.) अयंवरुत्ति, शेपरुत्ति, (का.)

वासवाल; (ले.) हिबिस्कस् रोज़ासाइनेन्सिस् (Hibiscus rosa -sinensis) (इ.) शो-फ्लावर (Sho-flower) ।

वर्णन—जपा के वृक्ष बागों में लगाये जाते हैं। पान शहतूत के पान के जैसे होते हैं। फूल प्रायः लाल रंग के होते हैं। सफेद और पीले फूलवाली गुड़हल भी होती है।

उपयुक्त अंग--पुष्पकलिका और पुष्प । मात्रा ३ से माशे तक ।

गुण-कर्म--"जपा संग्राहिणी केश्या रक्तप्रदरनाशिनी।" "कृष्णगवीमूत्रयुतैः पिष्टैरालेपितैर्जपाकुसुमैः। शतमखलुप्तं नश्यति भवन्ति केशाश्च तत्र घनाः ॥" (रा. मा.) । 'कलिकाः क्षीरसंपिष्टा जपाविटपजाः पिबेत् ॥ दश द्वादश वा नारी प्रदरार्ता पयोऽशिनी ॥" (ग. नि) ।

गुड़हल ग्राही, केश के लिये हितकर और रक्तप्रदर का नाश करनेवाली है। गुड़हल के फूलों को काली गाय के मूत्र में पीसकर लगाने से सिर का गंज अच्छा होता है और बाल बढ़ते हैं। जपा के फूलों की १०-१२ कलियाँ दूध में पीसकर खाने तथा केवल दूध पीकर रहने से प्रदर अच्छा होता है।

नव्यमत—गुड़हल के फूल की कलिका रक्तसंग्राहक, वेदनास्थापन और मूत्रजनन है। प्रमेह और प्रदर में इसका प्रयोग करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत—गुड़हल समशीतोष्ण है। गुड़हल के फूल सौमनस्यजनन, हृदय और मस्तिष्क को बलप्रद, उन्मादहर, बाजीकर, रक्तशोधक तथा सुजाक (पूयमेह) का नाश करनेवाले हैं। गुड़हल के फूलों का शर्बत या गुलकंद बनाकर प्रयोग किया जाता है।

शर्बत गुड़हल—गुड़हल के एक सौ फूलों को काँच या चीनीमिट्टी के पात्र में रख, उसमें २० कागजी नीबू का रस डाल, पात्र को ढांक कर रातभर रहने दे। सवेरे में उनको हाथों से मसल, कपडे से छानकर उसमें १ सेर (८० तोला) मिश्री तथा गुले गावज़बान का अर्क, मीठे अनार का रस और संतरे का रस प्रत्येक २०-२० तोला मिलाकर मंदी आँच पर पकावे। जब शर्बत जैसी चाशनी हो जाय तब उसमें कस्तूरी २ रत्ती, अंबर ३ माशा, केशर १ माशा अर्क गुलाब में पीसकर मिला दें। मात्रा—२ तोला किसी योग्य अर्क में मिलाकर देवे। यह शर्बत दिल और दिमाग को शक्ति देता है, तथा उन्माद और पैत्तिक ज्वर को दूर करता है।

(४७) लताकस्तूरिका।

नाम--(सं.) लताकस्तूरिका, कटुक; (म.) कस्तूरभेंड; (ता) वेत्तिलैकस्तूरि; (बल.) काट्टुकस्तूरि, (का.) काडकस्तूरी; (फा.) मुश्कदाना; (ले.) हिबिस्कस् एबेल्मोस्कस् (Hibiscus abelmoschus) ।

वर्णन—लताकस्तूरी का क्षुप जंगली भिण्डी जैसा होता है। उसमें पीले रंग के पुष्प होते हैं। फल भिण्डी जैसे, ४ अंगुल लंबे होते हैं। फलों में वृक्काकृति काले रंग के बीज होते हैं। बीजों में कस्तूरी के समान सुगन्ध होती है। बीजों को मुश्कदाना कहते हैं।

गुण-कर्म——'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता। जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च ॥" (च. सू. अ. ५)। 'कटुकं लताकस्तूरी' इति चक्रः[१]। "लताकस्तूरिका तिक्ता स्वाद्वी वृष्या हिमा लघुः। चक्षुष्या दीपनी श्लेष्मतृष्णाबस्त्यास्यरोगनुत् ॥" (भा. प्र.)। × × × जातीकटुकटुकयोः फलम्। × × × तिक्तं कटु कफापहम्॥ लघु तृष्णाहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्॥ लताकस्तूरिका तद्वच्छीता बस्तिविशोधिनी।" (सु. सू. अ. ४६)।

लताकस्तूरी रस में तिक्त और मधुर, शीतवीर्य, लघु, नेत्र्य, दीपन, वाजीकर तथा कफ, तृषा, बस्ति के रोग और मुख के रोगों का नाश करनेवाली है। मुश्कदाने को मुंह में रखकर चबाने से मुंह स्वच्छ और सुगन्धित होता है तथा खानेपर रुचि उत्पन्न होती है।

---

(४८) शाल्मलि (ली)।

नाम——(सं.) शाल्मलि; (ली.) चिरजीवी, मोच, रक्तपुष्प, तूलफल; (हिं.) सेमल, सेमर, सेंमल; (बं.) शिमुल; (म.) सांवर; (गु.) शेमळो, सीमळो; (ते.) वूरुग; (ता.) शलवघ, शल्लवि; (मल.) इलवम, मुल्लिलवु; (ले.) बॉम्बेक्स् मॅलेबेरिकम् (Bombax malabaricum)।

वर्णन—सेमल के कांटेदार बड़े वृक्ष होते हैं। ठंडी के दिनों में जब पत्ते गिर जाते हैं तब वृक्ष लाल फूलों से भरा हुआ होता है। इसके फलों में पुष्कल मुलायम रूई और काले बीज होते हैं। छाल में कीड़ों के डंक से छिद्र होने पर निर्यास निकलता है, उसको **मोचरस** कहते हैं। मोचरस भंगुर, पोला और हलका होता है। पानी में डालने से फूलता है। स्वाद कषाय होता है। सेमल के १–१॥ वर्ष के छोटे वृक्ष के मूल निकालकर सुखा लेते हैं, उसको सेमल मूसली कहते हैं।

उपयुक्त अंग—मोचरस, फूल और मूल (सेमल मूसली)। **मात्रा**—मोचरस-१॥ से ३ माशा; सेमल मूसली ३–६ माशा।

गुण-कर्म——चरके सू. अ. ४ पुरीषविरजनीये महाकषाये शाल्मलिः; शोणितास्थापने, वेदनास्थापने गणे, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च मोचरसः।

---

[१] "कटुकाफलं लताकस्तूरिकेति पञ्जिकाकारौ; श्रीब्रह्मदेवस्तु लघुकक्कोल (छोटी कबावचीनी) माह, कक्कोलकं बृहत्कक्कोलं (बड़ी कबावचीनी)।" इति डल्हणः।

पठ्यते । सुश्रुते प्रियङ्ग्वादिगणे मोचरसः पठ्यते । “शाल्मली पिच्छिला वृष्या बल्या मधुरसा तथा । कषायस्तद्रसो ग्राही पुष्पं तद्वत्तथा फलम् ।” (ध. नि.) “शाल्मलिः पिच्छिलो वृष्यो बल्यो मधुरशीतलः । कषायश्च लघुः स्निग्धः शुक्रश्लेष्मविवर्धनः (रा. नि.) । शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी । श्लेष्मला पित्तवातास्रहारिणी रक्तपित्तजित् ।। मोचास्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायक. । प्रवाहिकातिसारामकफपित्तास्रदाहनुत् ।।” (भा. प्र.) ।

सेमल--रस में मधुर तथा कषाय, विपाक में मधुर, शीतवीर्य, लघु, स्निग्ध, पिच्छिल, पुरीषविरजनीय, वृष्य, बल्य, शुक्रवर्धक, कफवर्धक तथा पित्त, वात, रक्तविकार और रक्तपित्त का नाश करनेवाला है। सेमल के पुष्प और फल भी पूर्वोक्त गुणवाले हैं। मोचरस कषाय, शीतवीर्य, ग्राही, स्निग्ध, वृष्य, शोणितास्थापन, वेदनास्थापन तथा प्रवाहिका, अतिसार, आम, कफ, पित्त, रक्तस्राव और दाह का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--मोचरस जोरदार संग्राहक परन्तु स्नेहन है। सेमलमूसली संग्राहक, पौष्टिक और वयःस्थापन है। इसकी जननेन्द्रियपर थोड़ी उत्तेजक क्रिया होती हैं। कच्चे फल उत्तेजक, मूत्रजनन और कासहर हैं। इसकी मूत्रेन्द्रिय पर पाठा के समान शामक क्रिया होती है। मोचरस जीर्ण अतिसार, संग्राहणी, आँव और अत्यार्तव में उपयोगी है (डॉ वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत-सेमल मुसली उत्तम पौष्टिक और वाजीकर है। सेमल मुसली का चूर्ण १ तोला, सफेद चीनी १ तोला, दोनों को १२ तोला गरम जल में डालकर चम्मच से हिलाता रहे। जब लुआब निकल आवे तब उसको पी ले। खटाई से परहेज करे और ब्रह्मचर्य का पालन करे। चालीस दिन के प्रयोग से अच्छी बाजीकरण शक्ति आती है।

वक्तव्य--श्वेत पुष्पवाला सेमल भी होता है। लालफूलवाले सेमल की अपेक्षया इसमें बहुत कम काँटे होते हैं। उसको संस्कृत में कूटशाल्मली और लेटिन में एरिओडेन्ड्रेन एन्फ्रेक्टयुओज़म् (Eriodendron anfractuosum) कहते हैं। इसके गुण-कर्म भी रक्तशाल्मली के समान हैं।

* * *

(४९) गोरखइमली।

नाम-(सं)गोरक्षी, गोरक्षाचिञ्चा, पञ्चपर्णी, शीतफल[1], रावणाम्लिका- (हिं.) गोरखइमली; (म.) गोरखचिंच; (गु.) रुखड़ो गोरखआमली, चोर आमली, फल-सपुडो; (ते.) मरिमावु; (ता.) आनेष्पुलि, पष्परपुलि; (ले.) एडेन्सोनिआ डिजिटेटा (Adansonia digitata)।

---

[1] “शीतफलं ‘रावणाम्लका’ इति प्रसिद्धम् ।।” इति डल्हणः ।

वर्णन–गोरख इमली का शङ्क्वाकार(नीचे से चौड़ा और ऊपर संकरा होता हुआ) बड़ा वृक्ष होता है। इसका घड़ सब वृक्षों से चोड़ाई में मोटा होता है। इसमें लौकी के आकार के ॥- से १ फुट लम्बे, कठिन कवचवाले फल आते हैं। फल पर मखमल जैसे नरम रोयें होते हैं। फल के अन्दर का गर्भ खट्टा होता है।

गुण-कर्म–"गोरक्षी मधुराऽम्ला च शिशिरा दाहपित्तनुत् । विस्फोटवान्त्यतीसारविषमज्वर नाशिनी ॥" (रा. नि.) ।

गोरखइमली रस में मधुर और अम्ल, शीतवीर्य तथा दाह, पित्त, विस्फोटक, वमन, अतिसार और विषमज्वर का नाश करनेवाली है।

नव्यमत–गोरख इमली के फल का गर्भ स्नेहन,रोचन,हृद्य और शीतल है। पत्र स्नेहन और संग्राहक हैं। छाल स्नेहन, शीतल, दीपन और संग्राहक है। फल की त्वचा का चूर्ण १॥–३ माशा विषमज्वर में देते हैं। फल का गर्भ, चीनी और जल मिलाकर बनाया हुआ पानक ज्वर में उष्णता और तृषा कम करने के लिये देते हैं। वृक्ष को छाल का क्वाथ ज्वर में नाड़ी की गति कम होने के लिये देते हैं। ज्वर में अत्यन्त पसीना आता हो तो पत्तों का चूर्ण ५–१० रत्ती प्रमाण में देते हैं। छाल २ तोला, जल ४० तोला, पकाकर चतुर्थांश रखा हुआ क्वाथ ३ भाग करके ४-४ घंटे से देते हैं। इससे विषमज्वर में कुनैन की अपेक्षया अधिक लाभ होता है। फल का गर्भ ३–६ माशा प्रवाहिका का और अतिसार में छाछ के साथ देते हैं। **(डॉ .वा. ग. देसाई) ।**

------

(५०) खत्मी ।

नाम--(फ.) सजपोश; (फा.) खत्मी; (ले.) ॲल्थिआ ओफिसनेलिस् (Althoea officinalis) ।

खत्मी का क्षुप ईरान और कश्मीर में होता है। **उपयुक्त अंग**–मूल, फूल और फल। बाजार में फल तुख्म खत्मी, पुष्प गुल खेरु और मूल रेशा खत्मी के नाम से मिलते हैं।

यूनानी मत–खत्मी के बीज और पत्ते, शोथ, फोड़े और पीड़ायुक्त स्थानपर लगाने से दोष के फैलाव को रोकते हैं,शोथ का विलयन करते हैं और पीड़ा को शांत करते हैं। रेशाखत्मी का क्वाथ प्रतिश्याय और गरम खांसी में देते हैं। पेशाब की जलन, पेचिश (प्रवाहिका) अन्त्रशोथ और पित्तातिसार में रेखाखत्मी को जल में पका, उसका लुआब निकालकर पिलाते हैं। **मात्रा**–मूल ५–७ माशा।

नव्यमत विश्लेषण–सूखे मूल में २६ प्रतिशत लुआब, ५० प्रतिशत पिष्ट (स्टार्च) और थोडी शक्कर होती है। जलाने से ४। प्रतिशत राख मिलती है। इतर भाग की अपेक्षया मूल में लुआब अधिक होता है। **गुण**–शीतल, स्नेहन

कासहर और वेदनास्थापन। **उपयोग**--मूल का शर्बत खांसी और मूत्राशय तथा आंतों के अभिष्यन्द में देते हैं। प्रवाहिका में मूल के क्वाथ की बस्ति देते हैं। गले के दर्द में मूल के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। व्रणशोथ पर पत्तों का कल्क बांधते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

नाम—(सं.) बला, वाटचायनी, वाटचा, खरयष्टिका; (हिं.) बरियारा, खिरंटी, खरेंटी; (पं.) खरयटी; (जम्मू) धमनी; (बं.) बेडेला; (म.) चिकणा; (गु.) बल, बला, खरेटो; (ले.) सिडा कॉर्डिफोलिआ (Sida-cordifolia)।

वर्णन-बल का क्षुप १॥ से ३ फुट ऊँचा होता है। पर्ण एकान्तर,हृदयाकृति, १-२ इंच लंबे; पत्र के दोनों पृष्ठ मृदुरोमयुक्त; पुष्प पत्र कोणोद्भूत, पीले रंग के; पुष्पबाह्य और पुष्पाभ्यन्तर कोश के दल ५-५; फल मूंग जितने बड़े, फल में पाँच खाने होते हैं। बीज गहरे भूरे या काले रंग के होते हैं। बला के बीजों को बीजबंद (गु. बलदाणा) कहते हैं।

उपयुक्त अङ्ग—मूल, पत्र और बीज।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) बृंहणीये ('वाटचायनी' नाम्ना), प्रजास्थापने ('वाटचापुष्पी' नाम्ना), बल्ये, च महाकषाये तथा मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) बला पठ्यते। बला सांग्राहिक-बल्य-वातपित्तहराणां (श्रेष्ठा)" (च.सू अ. २५)। "बला × × × शाकं वातपित्तहरं स्मृतम्" (च. सू. अ. २७)। सुश्रुते (सू.अ. ३९) वातसंशमने वर्गे बला पठ्यते। "बला स्निग्धा हिमा स्वादुर्वृष्या बल्या त्रिदोषनुत्। रक्तपित्तं क्षयं हन्ति बलौजो वर्धयत्यपि॥" (ध. नि.)।

बला मधुर, स्निग्ध, शीतलवीर्य बृंहणीय, बल्य, प्रजास्थापन, ग्राही, वृष्य, ओज को बढ़ानेवाला तथा वात, पित्त, रक्तपित्त और क्षय का नाश करनेवाली है।

---

(५२) अतिबला।

नाम—(सं.) अतिबला; कङ्कतिका; (हिं.) कंघी, कंगही, ककही; (गु.) खपाट, डाबली, कांसकी; (बं.) पेटारि; (बि.) ककहिया; (म.) मुद्रां; (सिं.) पटतिर; (अ.) मश्तुल् गोल; (फा.) दरख्त शान; (ले.) एब्युटिलोन् इण्डिकम् (Abutilon indaecum)।

वर्णन-अतिबला के ४ से ८ फुट ऊंचे क्षुप होते हैं। पत्र सहतूत के जैसे आरेदार

और मृदुरोमश होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं। फल कंघी की तरह सीधी रेखावाले होते हैं बीज कालापन लिये भूरे रंग के होते हैं। अतिबला के बीजों को भी बीजबंद कहते हैं।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) बृंहणीये ('भद्रौदनी' नाम्ना), बल्ये च महाकषाये तथा मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) अतिबला पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) वातसंशमने (सू. अ. ३९) मधुरे च वर्गे (सू. अ. ४२) अतिबला पठ्यते।

गुण-कर्म–निघंटुओं में अतिबला के गुण बला के समान लिखे हैं।

नव्यमत—छाल मूत्रजनन; पत्र स्नेहन; बीज स्नेहन, बल्य और स्रंसन; मूल मूत्रजनन और कासहर। सुजाक, मूत्रकृच्छ्र, रक्तमूत्र और बस्तिशोथ में पत्र किंवा मूल का क्वाथ देते हैं। नपुंसकत्व में बीज देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(५३) नागबला।

नाम--(सं.)नागबला, विश्वदेवा, भूमिबला; (गु.) भोंयबल; (म.) भुईबळ, भुईचिकणा; (हिं.) फरीदबूटी; (ले.) सिडा ह्युमिलिस् (Sida humilis)।

वर्णन--नागबला, प्रसर याने जमीन पर फैलनेवाली वनस्पति है। इसकी उत्पत्ति होते ही भूमि पर सर्प की तरह टेढ़ो-मेढ़ो वेल चलती है, इसलिये इसको नागबला कहते हैं। नागबला की शाखायें दो तीन फुटतक जमीन पर फैलती है। पत्र कँगूरेदार, कंघी के समान और रोमश होते हैं। फूल पीले रंग के होते हैं। पुष्पबाह्यकोश के दल और पँखडियाँ ५-५ होती हैं।

गुण-कर्म--"रसोनयोगं विधिवत् क्षयार्थः क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम्"। (सु. उ. तं. अ. ४१)। "××× अबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्णपुराणपर्णान्यसंजातान्यपर्णानि तपसि तपस्ये वा मासे ××× नागबलामूलान्युद्धरेत्। तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्; जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालि-षष्टिकमश्नीयात्। संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति।" (च. चि. अ. १. पा. २)। "पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धितम्। पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक्॥ एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः" (च. चि. अ. ११)।

माघ या फाल्गुन मास में जब नागबला के पुराने पत्ते सब झड़ गये हों और नये पत्ते न आये हों उस समय में कच्चे और जीर्ण (अतिपक्व) भी नहीं ऐसे मूल निकाल,

उनको जल से धो, उनकी छाल अलग कर, छाया में सुखा, अच्छे पात्र में भरकर रख छोड़े । पीछे उनमें से आधे से एक तोला छाल ले, उनको दूध में महीन पीस और दूध में मिलाकर पीवे; अथवा चूर्ण बनाकर दूध के साथ पीवे, अथवा शहद और घी के साथ मिलाकर खावे । औषध पचने पर घी और दूध के साथ रक्तशाली या साठी चावल का भात खावे और रसायनप्रयोगोक्त विधि से रहे । इस प्रकार एक साल का प्रयोग करने से मनुष्य एक सौ वर्ष की आयुतक जरावस्थारहित होकर जीता है । राजयक्ष्मावाले रोगी को दूध के साथ नागबला का प्रयोग कराने से वह राजयक्ष्मा से मुक्त होता है । प्रति दिन आधे आधे तोले मात्रा बढ़ाकर चार तोले तक की मात्रा में नागबला का चूर्ण दूध के साथ खावे और केवल दूध के पथ्य पर रहे तो क्षतक्षीण रोगी रोगमुक्त होकर पुष्टि, आयु, बल और आरोग्य को प्राप्त होता है ।

वक्तव्य--'नाग इव वलते संचलति' इति नागबला (वबयोरैक्यात् नागबला), इस व्युत्पत्ति के अनुसार जमीन पर फैलनेवाली भूमिबला को नागबला मानना चाहिये यह जो आयुर्वेदाचार्य पं. भागीरथजी स्वामी ने निर्णय किया है वह ठीक मालूम होता[1] है । चरक–सुश्रुत में बला, अतिबला और नागबला ये तीन 'बला' शब्दवाले नाम मिलते हैं । चरक वि. अ. ८ में मधुरस्कन्ध में बलाभेदवाचक बला, अतिबला, सहदेवा, विश्वदेवा, शीतपाकी और ओदनपाकी ये सब नाम एक वर्ग में पाये जाते हैं[2] । सुश्रुत सू. अ. ४२ में मधुर वर्ग में बला, अतिबला तथा काकोल्यादि गणोक्त सहदेवा और विश्वदेवा ये बलाभेदवाचक शब्द पाये जाते हैं । महाबला शब्द चरक और सुश्रुत में देखने में नहीं आता है । पीछे के निघण्टुओं में और भावप्रकाश में महाबला नाम से बला का एक भेद लिखा है और उसका पर्याय सहदेवा लिखा है । संभव है कि महाबला चरक-सुश्रुतोक्त सहदेवा हो । महाबला के पर्यायों में मुद्रित पुस्तकों में कहीं कहीं सहदेवी छपा है.वह ठीक नहीं है । सहदेवी इससे भिन्न भृंगराजादि (कंपोझिटी Compositae) वर्ग की वनस्पति है । महाबला को गुजराती में खेतराऊ बल (क्षेत्रबला) कहते हैं, क्योंकि यह प्रायः खेतों के घेरे (सीमा) पर होती है । इसका लेटिन नाम सिडारोम्बिफोलिया (Sida rhombifolia) है । कई वैद्य 'नागबला' शब्द से गुलशकरी लेते हैं । गुलशकरी का लेटिन नाम सिडा स्पाईनोझा (Sida spinosa) है । इसमें कांटे होते हैं, इसलिये इसको कण्टकिनी बला नाम दे सकते हैं । गुजराती में इसको कांटाळो बल कहते हैं । बला, अतिबला और नागबला

---

[1] संदिग्धनिर्णय वनौषधशास्त्र पृ. ४७६-४८८ । [2] एकही वर्ग में ये सब नाम भिन्न भिन्न लिखने से यह मालूम होता है कि–चरक बला के बला, अतिबला, सहदेवा विश्वदेवा, शीतपाकी और ओदनपाकी ये छः भेद मानते थे ।

इन तीन नामों को छोड़कर सहदेवा, विश्वदेवा, भद्रौदनी, शीतपाकी और ओदनपाकी ये-संहिता ग्रन्थों में आये हुए शब्द बला के अमुक भेद के ही नाम हैं यह निश्चय करना कठिन है। क्योंकि-टीकाकारोंने इन शब्दों की भिन्न भिन्न स्थानपर भिन्न भिन्न व्याख्या की है और निघण्टुकारोंने भी इन शब्दों का निश्चित अर्थ में प्रयोग नहीं किया है। बला के भेदों के गुण-कर्म समान से हैं अतः एक के अभाव में दूसरे से काम चला सकते हैं। बला की सब जातियों से मजबूत रेशे निकलते हैं। अमरकोश में वला के बला और वाटयालक दो पर्याय लिखे हैं। इसकी व्युत्पत्ति बताते हुए टीकाकार क्षीरस्वामी लिखते हैं कि—'वलन्ते ('वल' संवरणे) अनया' इति वला (बवयोरैक्याद् बला); 'वटन्ति ('वट' वेष्टने) अनया' इति वाटचालकः; अर्थात् लोग इससे (इसके रेशों से) किसी भी वस्तु को बांधते हैं या वेष्ठन करते हैं इसलिये इसको बला और वाटचालक कहते हैं।

पिशाचकार्पासादि वर्ग १९.

N. O. Sterculiaceae (स्टर्क्युलिएसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर; पर्ण एकाकी या संयुक्त; बीजकोश ऊर्ध्वस्थ तथा संयुक्त, २ से ५ खानोंवाला; पुष्प प्रायः नियताकार; पुष्पबाह्यकोश के दल ५, न्यूनाधिक संयुक्त; पँखडियाँ ५; संयुक्त; पुंकेशर ५-२० तक; परागकोश दो थैली का; स्त्रीकेशर २-५; फल विदारी।

------

(४५) पिशाचकार्पास।

नाम—(सं.) पिशाचकार्पास; (बं.) ओलोटकंबल; (हि.) उलटकंबल; (ले.) अॅब्रोमा ऑगस्टा (Abroma Augusta)।

उत्पत्तिस्थान—बंगाल, आसाम और उत्तर भारत।

वर्णन--उलटकंबल के छोटे वृक्ष होते हैं। पत्ते चौड़े, किनारी खण्डित, पत्रपृष्ठ रोमश; फूल गहरे बेंगनी रंग के, नीचे की ओर झुके हुए; पँखडियाँ ५; फल पांच खानोंवाला; बीज मूली के बीज जैसे और काले रंग के होते हैं।

उपयुक्त अंग—मूल की छाल। मूल की छाल के छोटे टुकड़े बना, सुखा, शीशी में भर, अंदर हवा न जाने पावे इस प्रकार बंद करके रखना चाहिये।

मात्रा—मूल की छाल का चूर्ण १०-१५ रत्ती। ताजा मूल ४-८ माशा। मूल स्वरस ३ माशा।

गुण-कर्म—उलटकंबल गर्भाशयोत्तेजक, आर्तवजनन और गर्भाशयकी पीड़ा को शांत करनेवाला है, ऋतुस्राव अनियमित होता हो और आर्तव स्राव के समय पीड़ा

होती हो तब मासिक के ३ दिन पूर्व, स्राव के समय में तथा २ दिन पीछे इसका प्रयोग करना चाहिये । बंगाल के वैद्य इसका पुष्कल उपयोग करते हैं । अन्य प्रान्तों के वैद्यों को भी इसका प्रयोग करना चाहिये । यह हिंदुस्तान में सब जगह हो सकता है और अत्युपयोगी औषध है, अतः सब प्रान्त के वैद्यों को इसको अपने यहां लगाना चाहिये ।

(५५) मरोड़फली ।

नाम--(सं.) आवर्तफला, आवर्तनी; (हि.) मरोड़-र-फली; (गु.) मरडासिंग, मरडासिंगी; (म.) मुरुडशेंग; (ते.) आडशामंति; (ता.) वलम्बुरि; (मल.) ईश्वरमुरि; (का.) भूतकरुळु; (ले.) हेलिक्टेरस् आईसोरा (Helicteres isora) ।

वर्णन—मरोड़फली का २–४ फुट ऊंचा गुल्म होता है । इसमें लाल रंग के पुष्प लगते हैं । इसकी फली मुड़ी हुई आंटेदार १॥–२ इंच लंबी होती हैं ।

गुण-कर्म--आवर्तनी कषाया च शीतला ह्यतिसारहा । त्रिदोषोदरशूलघ्नी कृमिजालविनाशिनी ॥

मरोड़फली कषाय, शीतवीर्य तथा अतिसार, उदरशूल और कृमि का नाश करनेवाली है ।

अतिसार और प्रवाहिका (पेचिश) में मरोड़फली का चूर्ण १॥–३ मासे की मात्रा में देने से अच्छा लाभ होता है ।

नव्यमत—मरोड़फली के मूल की छाल का क्वाथ मधुमेह में देते हैं ।

परूषकादि वर्ग २०.

N. O. Tiliaceae (टिलिएसी) :

वर्गलक्षण--सपुष्प, द्विबीजपर्ण; विभक्तदल, बीजकोश उपरिस्थ, २–५ खानोंवाला, पत्र प्रायः सादे, एकान्तर और उपपत्रयुक्त; पुष्प नियमित; पुष्पबाह्यकोश के दल तथा पँखडियां ४ या ५, पुंकेशर पुष्कल और असंयुक्त, परागकोश दो थैलीवाला; फल विदारी या अष्ठिल ।

(५६) परूषक फालसा ।

नाम--(सं) परूषक; (हिं., म., गु.) फालसा; (बं.) फलूसा; (ते.) बल्लजान; (त.) पलिशम्; (का.) बुत्तिमुड्डिप्पे; (सि.) फांरवां; (फा.) फाल्स; (ले.) ग्रिविआ एशिआटिका (Grewia asitica) ।

वर्णन--फालसे के छोटे वृक्ष होते हैं। पत्ते गोल, पत्रधारा तीक्ष्ण दन्तुर; फल गोल, पकने पर बेंगनी रंग के और खटमीठे होते हैं।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) विरेचनोपगे, ज्वरहरे, श्रमहरे च महा कषाये, तथा आसवयोनिफलेषु; (सू.अ. २५) मधुरस्कन्धे च परूषकं पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) परूषकादिगणे परूषकं पठ्यते। "परूषकं × वातपित्ते च शस्यते" (च. सू. अ. २७) "अत्यम्लमीषन्मधुरं कषायानुरसं लघु। वातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम्॥ तदेव पक्वं मधुरं वातपित्तनिबर्हणम्।" (सु. सू. अ. ४६)। "× परूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम्।" (वा. सू. अ. ६)। परूषकं कषायाम्लं लघूष्णं ग्राहि पित्तलम्; रूक्षं मारुतजित् पक्वं स्वाद्वम्लं शुक्लं हिमम्॥ रोचनं मधुरं पाके हृद्यं विष्टम्भि बृंहणम्। हन्ति मारुतपित्तास्रदाहतृष्णाक्षतक्षयान्॥" (कै. नि.)।

कच्चा फालसा अम्ल, कुछ मधुर, लवणानुरस, लघु, वातघ्न, ग्राहि तथा पित्त-कफ-प्रकोपक है। पका हुआ फालसा रस और विपाक में मधुर, वात-पित्तहर, शीतवीर्य, वीर्यवर्धक, रोचन, हृद्य, विष्टम्भि, बृंहण, विरेचनोपग, ज्वरहर, श्रमहर तथा दाह तृषा और क्षतक्षय का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--फालसा पित्तघ्न और हृद्य है। हृद्रोग, पित्तप्रकोप और ज्वर में फालसे का शर्बत देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत--फालसा दूसरे दर्जे में शीत और पहले दर्जे में तर (स्निग्ध) है। फालसा हृदय, आमाशय और उष्ण यकृत् को बल देता है। यह पैत्तिक अतिसार, वमन, तृषा, हिक्का, ज्वर की उष्णता, पेशाब की जलन, शरीर का दाह और क्षय को दूर करता है। फालसे के वृक्ष की अन्तर्छाल ४-५ तोला जौकुट कर, रात को १० तोला जल में भिगो दे। सवेर में उसको हाथ से मसल, कपड़े से छान, उसमें १ तोला शहद मिलाकर पीने से मधुमेह में लाभ होता है।

(५७) धन्वन।

नाम--(सं.) धन्वन, धनुर्वृक्ष; (हिं.) धामन, धामिन; (गु.) धामण, धामण; (म.) धामण; (ले.) ग्रिविआ टिलिफोलिया (Grewia teliaefolia)।

वर्णन--वृक्ष २५-४० फुट ऊँचा; पत्र एकांतर, २-५ इंच लंबे और १॥ इंच चौडे तथा रोमश; पुष्प पीले रंग के; फल कृष्णवर्ण और मांसल; त्वचा अंदर से सफेद और बाहर फीकी हरी।

गुण-कर्म--चरके आसवयोनिफलेषु (सू. अ. २५), अम्लस्कन्धे (वि. अ. ८) च धन्वनं पठ्यते। सुश्रुते (चि. अ. ३८) पिच्छाबस्तौ धन्वनाङ्कुरप्रयोगो

दृश्यते । "सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ॥" (सु. सू. अ. ४६) । "××× धन्वनम् । मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम् ॥" (च. सू. अ. २७) । "धन्वन. स्वादुतुवरो रूक्ष: पित्तास्रजिल्लघुः । बृंहणो व्रणसन्धानरोपणो बलवर्धनः ॥ फलं तस्य हिमं स्वादु कषायं कफवातजित्" (कै. नि.) ॥

धामन मधुर, कषाय, रूक्ष, लघु, बृंहण, बल्यं, व्रणसन्धान, व्रणरोपण तथा पित्त और रक्तविकार को दूर करनेवाला है । धामन के फल मधुर, कुछ कषाय, शीतवीर्य और त्रिदोषहर हैं ।

नव्यमत—धामन स्नेहन और रक्तसांग्राहिक हैं । धामन की अन्तर्छाल का रस १ से २ तोला रक्तमिश्रित आँव में देते हैं । कवाँच की फली शरीर को लगी हो तो इसकी छाल शरीर पर मसलते हैं । इससे शीघ्र आराम होता है । इसकी लकडी का कोलसा अफीम के विष में वमन कराने को देते हैं । धामन की छाल को जल में भिगोकर मसलने से पिच्छिलरस (लुआब) प्राप्त होता है वह रक्तमिश्रित आँव की पेचिश में लाभकारी है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(५८) गाङ्गेरुकी ।

नाम--(सं). गाङ्गेरुकी (वृक्ष), गाङ्गेरुक (फल); (हि.) गंगेरन; (गु.) गंगेटी; (ल.) ग्रिविआ पोप्युलीफोलिआ (Grewia populifolia) ।

वर्णन—गंगेरन का ५-१० फुट ऊँचा छोटा वृक्ष होता है । पत्ते ।॥. से १॥ इंच लंबे; पुष्प श्वेतवर्ण, जरा सुगन्धित, ज्येष्ठ आषाढ़ में आते हैं । शीतकाल के आरम्भ में फल पक जाते हैं । पके फल कुछ कसैलापन लिये हुए खटमीठे होते हैं ।

चरक—सुश्रुतोक्त गाङ्गेरुकी (वृक्ष) और गाङ्गेरुक (फल) यही है । पीछे के निघण्टुकारोंने गाङ्गेरुकी और नागबला को एक लिख दिया है, वह ठीक नहीं है ।

गुण-कर्म—"गाङ्गेरुकं ×××× । मधुरं सकषायं[1] च शीतं पित्तकफापहम् ।" (च. सू. अ. २७) । "सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफ-वातजित् । तद्वद्गाङ्गेरुकं विद्यात्" (सू. अ. ४६) । "खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्कालं पूरितो व्रणः । गाङ्गेरुकीमूलरसैर्जायते गतवेदनः ॥ (शा. ध. म. खं. अ.) ।

गंगेरन का फल मधुर, कुछ कषाय, शीतवीर्य तथा पित्त और कफ का नाश करनेवाला है । तलवार आदि से जखम हुआ हो तो तत्काल उसमें गंगेरन के मूल का स्वरस भरकर बाँध दे तो जखम शीघ्र अच्छा होता है ।

---

[1] 'मधुराम्लकषायं' इति पाठश्चेत् साधुः ।

अतस्यादि वर्ग २१.

N. O. Linaceae (लिनेसी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर; पत्र एकाकी, छोटे और अखण्ड; पुष्प नियताकार, शाखाप्रोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५-५, परस्परआच्छादित; गर्भाशय ३-५ खानोवाला; प्रत्येक खाने में १ या २ बीज; परागवाहिनियां ३-५; फल विदारी या अष्ठिल; त्वक् रेशेदार ।

---

(५९) अतसी ।

नाम--(सं.) अतसी, क्षुमा; (हिं.) अलसी, तीसी; (बं.) मशिना; (म.) जवस; (गु.) अळसी; (क.) अलिश; (फा.) तुख्मे कत्तान; (ले.) लिनम् युसिटेटिसिमम् (Linum usitatissimum) ।

वर्णन--अलसी का २-४ फुट ऊंचा क्षुप होता है। उसमें आसमानी रंग के फूल आते हैं। बीजों से तेल निकाला जाता है। अलसी के क्षुप से मजबूत रेशे निकलते हैं। इन रेशों से बनाये हुए कपड़े को क्षौम कहते हैं।

गुण-कर्म--"उष्णाऽतसी स्वादुरसाऽतिलघ्वी पित्तोल्बणा स्यात् कटुका विपाके।" "वातघ्नं मधुरं तेषु क्षौमं तैलं बलापहम् । कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलम् ॥" (सु. सू. अ. ४६) । "आतस्यं मधुराम्लं तु विपाके कटुकं तथा । उष्णवीर्यं हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपणम् ॥" (च. सू. अ. २७) । "अतसी मधुरा तिक्ता स्निग्धा पाके कटुर्गुरुः । उष्णा दृक्शुक्रवातघ्नी कफपित्तविनाशिनी ॥" (भा. प्र.) ।

अलसी मधुर, तिक्त, कटुविपाक, उष्णवीर्य, स्निग्ध, वातनाशक, पित्तप्रकोपक तथा दृष्टि और वीर्य की हानिकर है। अलसी का तेल मधुर, अम्ल कटुविपाक, स्निग्ध, गुरु, उष्णवीर्य वातविकार में हितकर तथा पित्त और रक्त का प्रकोप करनेवाला है।

नव्यमत-अलसी के बीज स्नेहन, मार्दवकर, बल्य, वेदनास्थापन, मूत्रजनन और कासहर हैं। तेल विरेचन और व्रणरोपण है। अलसी गरम किये बिना ही निकाला हुआ तेल ४-८ माशे की मात्रा पिलाने से दस्त साफ होता है। मल की गांठें (सुद्दे) निकलती हैं। आंतों की कमजोरी से उत्पन्न कब्ज और अर्श में तेल लाभ करता है। अलसी का तेल और चूने के निथरे हुए जल (सुधामण्ड) को खूब मिलाने से दूध जैसा मिश्रण तैयार होता है, उसको आग से जले हुए भाग पर लगाते हैं। कूटी हुई अलसी को पानी के साथ हलवे जैसा पकाकर व्रणशोथपर उपनाह (पोल्टिस) बांधने से सूजन और पीड़ा कम होती है। प्रारम्भ में ही बांधने से सूजन बढ़ती नहीं और देरी से

बांधने से शोथ जल्द पककर फूट जाता है । अलसी का उपनाह सबसे उत्तम माना जाता है । अलसी का फाण्ट खांसी में देते हैं । इससे गले और श्वासनलियों के अंदर का कफ पककर शीघ्र निकलता है । अलसी के फांट से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है, परन्तु उसमें वेदनास्थापन गुण कम है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

गोक्षुरादि वर्ग २२.

N. O. Zygophyllaceae (झाईगोफिलेसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम अभिमुख; पर्ण संयुक्त और सपुंखपत्र; पुष्प उभयलिङ्ग; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तर कोश के दल ४ या ५, असंयुक्त और आच्छादित; पुंकेशर ८-१० या अधिक; गर्भाशय ४-५ विच्छेदवाला ।

---

(६०) गोक्षुर

नाम--(सं.) गोक्षुर, क्षुद्रगोक्षुर, श्वदंष्ट्रा, स्वादुकण्टक, त्रिकण्टक, षडङ्ग; (हिं.) गोखरू, छोटा गोखरू; (बं.) गोखरी; (म.) सराटे, फांटेगोखरू; (गु.) न्हाता गोखरु, बेठा गोखरु; (क.) निचिरकुन्ड; (पं.) भखड़ा; (फा.) खारखसक; (ले.) ट्रिब्युलस् टेरेस्ट्रिस (Tribulus terrestris) ।

वर्णन--छोटा गोखरू कंटकारी जेसा प्रसर (जमीन पर फैलनेवाला) है । यह जमीन पर ४-६ फुटतक फैलता है । पत्ते चने के पत्ते जैसे होते हैं । फूल पीले रंग के, पत्रकोण में फल लगते हैं । औषध में फल और मूल काम में आते हैं । प्राय: चूर्ण के लिये फल और क्वाथ के लिये मूल काम में लेते हैं ।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) कृमिघ्ने, अनुवासनोपगे, मूत्रविरेचनीये, शोथहरे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ, वीरतर्वादौ, लघुपञ्चमूले, कण्टकपञ्चमूले, वाताश्मरीभेदने (च. अ. ७) च गणे गोक्षुरक: पठ्यते । "गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां" (चि. सू. अ. २५) ।। "गोक्षुरो मूत्रकृच्छ्रघ्नो वृष्य: स्वादु: समीरजित् । शूलहृद्रोगशमनो बृंहणो मेहनाशन: ॥" (ध. नि.) । "गोक्षुर: शीतल: स्वादुर्बलकृद्बस्तिशोधन: । विपाके मधुरो वृष्य: पुष्टिदश्चाश्मरीहर: ।। प्रमेहश्वासकासार्श:कृच्छ्रहृद्रोगवातनुत् ।।" (भा. प्र.) ।।

गोखरू मधुर; मधुरविपाक, शीतवीर्य, मूत्रविरेचनीय; शोथहर, वाजीकर, बृंहण, बल्य तथा मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह, श्वास, कास, अर्श; हृद्रोग, शूल और वातरोगों का नाश करनेवाला है ।

नव्यमत-विश्लेषण–फल में १५ प्रतिशत क्षार, स्नेह और सुगन्धि राल पाई जाती है। गोखरू स्नेहन, वेदनास्थापन, मूत्रजनन, संग्राहक, बल्य, शीत, और मूत्रपिंड (गुर्दे) के लिये उत्तेजक है। बड़ी मात्रा में देने से दस्त साफ होता है। प्रमेह, सुजाक और बस्तिशोथ में गोखरू देते हैं। इसमें वेदनास्थापन गुण कम होने से इसके साथ खुरासानी अजवायन मिलाते हैं। मूत्र अत्यम्ल स्वभाव वाला हो तब गोखरू के क्वाथ में यवक्षार मिलाकर देते हैं। वृक्कशोथ में मूत्र क्षार-स्वभाव, दुर्गन्धयुक्त और गँदला हो तब क्वाथ में शिलाजीत मिलाकर देते हैं। समभाग गोखरू और तिल का चूर्ण शहद और बकरी के दूध के साथ हस्तमैथुनोद्भूत नपुंसकत्व में देते हैं। गर्भाशय शुद्ध होकर वन्ध्यत्व नष्ट होने के लिये गोखरू देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग – फल और मूल। मात्रा–३–६ माशा।

गोक्षुरप्रधान योग--गोक्षुरादिगुग्गुलु (सि. यो. सं. प्रमेहाधिकार)

---

(६१) धन्वयास ।

नाम--(सं.) धन्वयास, दुरालभा; (हिं.) धमासा; (पं.) धमांह, धम्या; (गु.) धमासो; (म.) धमासा; (कच्छ) ध्रामाऊ; (बं.) दुरालभा; (ते.) चित्तिगार; (क.) नेलइगल; (ले.) फेगोनिआ अरेबिका (Fagonia (arabica)।

वर्णन--धमासे का १–३ फुट ऊँचा छोटा क्षुप होता है। शाखा और पत्र फीके हरे रंग के होते हैं। पत्ते १–१॥ इंच लंबे सनाय की पत्ती जैसे होते हैं। प्रत्येक पत्र के पास दो तीक्ष्णाग्र कांटे होते हैं। आश्विन कार्तिक में गुलाबी रंग के पांच पँखड़ीवाले फूल लगते हैं। फल पांच पँखवाले और ऊपर तीक्ष्णाग्र लंबा कांटा होता है। जवासा (यास) भी धमासा जैसा दिखता है, परंतु उसमें फलियां (शिम्बी) लगती हैं और इसमें फल लगते हैं। यह फर्क ध्यान में रखने से दोनों में भ्रम नहीं होता। धमासे में दो पत्तियां, चार कांटे और एक फूल चक्राकार में होते हैं।

गुण–कर्म--चरके (सू. अ. ४) अर्शोघ्ने, तृष्णानिग्रहणे च महाकषाये धन्वयासः पठ्यते। 'दुरालभा स्वादुशीता तिक्ता दाहविनाशिनी। विषमज्वरतृड्छर्दिमेहभ्रमविनाशिनी ॥" (ध. नि.)।

धमासा मधुर, तिक्त, प्यास कम करनेवाला तथा अर्श, दाह, विषमज्वर, वमन, प्रमेह और भ्रम (चक्कर आना) का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—धमासा शीतल, ज्वरहर, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, मूत्रजनन; कोथप्रशमन और व्रणरोपण है। ॰।॰ से १ तोले चूर्ण का हिम बनाकर देना। धमासे का फांट ज्वर में पिलाते हैं और उस में कपड़ा भिगोकर उससे शरीर पोंछते

हैं। इससे प्यास, शरीर का दाह और कंडू कम होती है। सर्दी का ज्वर तथा गले और फुप्फुस की सूजन में धमासे का अच्छा उपयोग होता है। इससे गले का सूखना कम होता और कफ निकलने लगता है। धमासे के काढे से जखम को धोने से पीप नहीं पडती और जखम शीघ्र भर जाता है। मुँह में छाले पडे हों तो धमासे के क्वाथ से कुल्ले कराते हैं। धमासे को गन्ने के रस में पका, छानकर उसका अवलेह बनाते हैं। इस अवलेह को गले और फुप्फुस के रोगों में इतर औषधों के अनुपानरूप में देते हैं। धमासे का धूम्रपान कराने से दमा बैठता है (डॉ. बा.ग. देसाई)।

चाङ्गेर्यादि वर्ग २३.

N. O. Geraniaceae (जिरेनिएसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपत्र; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर अथवा अभिमुख; पत्र एकाकी अथवा संयुक्त; पुष्प उभयलिङ्ग पुष्पबाह्यकोश के दल तथा पँखाड़ियाँ ५-५; पुंकेशर ५-१०; गर्भाशय ५ खानोंवाला।

---

(६२) चाङ्गेरी

नाम--(सं.) चाङ्गेरी, अम्लपत्रिकाः; (हिं.) खट्टीतिपत्ती; (प.) खट्टी बूटी, खडकल; (क.) सिबर्गी., चोर्कचिन; (बं.) आमरुल; (म.) अंबुटी; (ते.) पुलिचित, पुल्लचेंचलि; (ता.) पुळियारै, अडाम्पनि; (मल.) पुळियारल्; (ले.) आग्झेलिस् कोर्निक्युलेटा (Oxalis corniculata)।

वर्णन--चाङ्गेरी जमीन पर फैलनेवाली बहुत छोटी लता है। इसके एक डंठल में दो दो मिले हुए, रोमश और हृदयाकृति तीन पत्र होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं। पंचांग का स्वाद खट्टा होता है।

गुण-कर्म--"दीपन चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते। प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गेरी ग्रहण्यर्शोहिता च सा॥" (च. सू. अ. २७)। "ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता। उष्णा किञ्चित्कषाया च चाङ्गेरी चाग्निदीपनी॥" (सु. सु. अ. ४६)।

चांगेरी रस में अम्ल, कुछ कषाय, उष्णवीर्य, अग्निदीपन, ग्राही, वात और कफ के लिये हितकर तथा ग्रहणी और अर्श का नाश करनेवाली है।

नव्यमत--चाङ्गेरी में यवक्षार मिश्रित चाङ्गेर्यम्ल (ऑग्झलिक् एसिड्) होता है। चाङ्गेरी शीतल, रोचक, दीपन, हृद्य, पित्तशामक, दाहप्रशमन, रक्तसंग्राहक, शोथघ्न और स्रंसन है। इसके स्वरस से सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का संकोच होकर रक्तस्राव बंद होता है। रक्तमिश्रित आंव और गुदभ्रंश में चांगेरी का अच्छा उपयोग होता है।

चांगेरी का कल्क व्रणशोथपर बांधने से पीड़ा और दाह कम होकर सूजन उतरती है। धतूरे के विष के निवारण के लिये चांगेरी का स्वरस देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(६३) कर्मरङ्ग (कमरख) ।

नाम--(सं.) कर्मरङ्ग, पतिफल; धाराफल; (हिं.) कमरख, कमरक; (बं) कांमरांगा (गु.) कमरख; (म.) कर्मर, करमळ; (ते.) करमणग; (मल.) चतुरपुळि; (का.) धारेहुळी; (ले.) एवेन्होआ कॅरेम्बोला (Averrhoa carambola) ।

वर्णन—कमरख के पत्र हरफारेवडी के पत्र जैसे होते हैं।फल ४-५ धारवाले; कच्चे होनेपर हरे और पकने पर पीले रंग के होते हैं। फल का स्वाद खट्टा होता है।

उपयुक्त अंग--पक्व फल। इसका साग, चटनी, अचार और शर्बत बनाया जाता है।

गुण-कर्म--"कर्मरङ्गं हिमं ग्राहि स्वाद्वम्लं कफवातहृत् ।" (भा. प्र.)। "पक्वं तु मधुराम्लं स्याद्बलपुष्टिरुचिप्रदम् ॥" (रा. नि.) ॥
पका हुआ कमरख मधुर, अम्ल, शीतवीर्य, बल्य, पुष्टिकारक, रोचक और कफ तथा वात को दूर करनेवाला है।

नव्यमत--कमरख में एसिड पोटॅशियम् ऑक्झेलेट् होता है। पक्व फल या उनका शर्बत शीतल, रोचक और रक्तशुद्धिकर है। ज्वर और रक्तपित्त में इनका प्रयोग करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।
कमरख स्कर्वी रोग में और रक्तार्श में लाभकर है।

हरमल आदिवर्ग २४.

N. O. Rutaceae रुटेसी ।

वर्गलक्षण---सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; उपरिस्थ बीजकोश; पर्ण एकान्तर; पुष्प नियमित, शाखाग्रोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४-५; पुंकेशर ८-१०, मूल में संयुक्त।

(६४) हरमल[1] ।

नाम--(फा.; अ., क.) इस्पंद; इस्बंद; (म.) हरमळ; (गु.) हरमल, हरमर; (ले.) पिगेनम् हरमल (Peganum harmala)।

---

[1] हरमल के लिये डॉ. वा. ग. देसाई ने संस्कृत 'कटभी' दिया है।

वर्णन--हरमल का ३ फुट ऊंचा क्षुप होता है । पत्र एकान्तर, किनार बारीक कटी हुई; पत्रकोण से १-१ सफेद रंग का फूल आता है । पंखडियाँ ४-५ पुंकेशर १२-१५; फल सुदाब के फल जैसे, तीन खानोंवाले; प्रत्येक खाने में १-१ त्रिकोण बीज होता है । बीज का स्वाद कडुआ होता है ।

उपयुक्त अंग--बीज । मात्रा-१-३ माशा ।

गुण-कर्म--हरमल संकोच-विकास-प्रतिबन्धक (आक्षेपहर), मादक, स्वापजनन, वेदनास्थापन, आर्तवजनन और स्तन्यजनन है । यह स्त्री और पुरुष के लिये थोड़ासा कामोत्तेजक है । हरमल वात और कफप्रधान रोगों में देते हैं । अनार्तव, कष्टार्तव और मूत्रावरोध में हरमल के क्वाथ में तिल का तैल और शहद मिलाकर देते हैं । इससे आर्तव और दूध बढ़ता है । आमवात में इससे सोडा सॅलिलिलस् की अपेक्षया शीघ्र वेदना कम होती है । ज्वर, गृध्रसी, अपतन्त्रक, अपस्मार और आक्षेपक में इसका पोटॅशिअम् ब्रोमाइड की अपेक्षया अच्छा उपयोग होता है । दमा, सूखी खाँसी, पित्ताश्मरी, मूत्राश्मरी उदरशूल और हिक्का में हरमल से लाभ होता है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानी मत--हरमल बाजीकर, कोष्ठवातप्रशमन, कृमिघ्न, मूत्रजनन, आर्तवजनन और क्षीरजनन है । हरमल दमे और खाँसी में कफ निकालने के लिये देते हैं । यह अर्दित, पक्षाघात अपस्मार, गृध्रसी आदि वातरोगों में लाभप्रद है । कान के दर्द को दूर करने के लिये हरमल के कल्क के साथ तिलतेल पकाकर उसकी बूंद कान में डालते हैं । दांतों की पीड़ा दूर करने के लिये तथा दुष्ट व्रण के शोधन के लिये हरमल की धूनी देते हैं । हरमल को सरसों के तेल में पीसकर बालों में लगाने से जूंएँ मर जाती हैं ।

---

(६५) सुद्दाब ।

नाम--(फा.अ.) सुदाब सुद्दाब; (हिं.) सिताब; (म.) सताप; (गु.) सताब; (ता.) अरुवंदाण्, (पा.) बुधोळिळ; (मल.) अरूदम, सोमरायम्; (का.) हावुनजु, नागबाळि; (पं.) सूदाब, तितली; (ले.) रूटा ग्रेविओलन्स् (Ruta graveolens) ।

गुण-कर्म--सुदाब दीपन, वायुनाशक, उत्तेजक, कृमिघ्न, आक्षेपहर, स्वेदजनन, नाड़ियों को उत्तेजक, मूत्रजनन और आर्तवजनन है । सुदाब की उत्तेजक क्रिया विशेषकर त्वचा, नाडीव्यूह (नर्वस् सिस्टम्) और गर्भाशयपर होती है । स्त्रियों और बालकों के रोगों में सुदाब का विशेष उपयोग करते हैं । ज्वर में देने से पेशाब और पसीना आता है तथा नाडी की गति कम होती है । बच्चों के आक्षेपक में गोरोचन के साथ सुदाब देते हैं । भ्रम और अपतन्त्रक में सुदाब का फांट देते हैं । अनार्तव और कष्टार्तव में फांट देते हैं । इससे ऋतु साफ होकर पीड़ा कम होती है ।

बच्चों की सर्दी,जुकाम और खांसी में इसका स्वरस देते हैं। कान के दर्द में इसका स्वरस कान में डालते हैं। उदरशूल; आध्मान और कुपचन में फाण्ट देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(६६) बीजपुर-मातुलुङ्ग।

नाम-(सं.) बीजपूर[1], मातुलुङ्ग; (हिं.) विजोरा; (बं.) छोलङ्गनेबु; टावा ने (ले)बु; (म.) महाळुंग; (गु.) वि (बी.) जोरु; (मा.) बीजोरो; (ता.) पेरिथिलमिच्चं मादळम् (सिंध) तुणिज; (अ.) उत्रुज; (फा.) तुरेज; (ले.) साइट्रस् मेडिका (Citrus medica)।

वर्णन--विजोरा भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके वृक्ष बागों में लगाये जाते हैं।

गुण-कर्म--चरके (सु. अ. ४)हृद्ये; छर्दिनिग्रहणे च महाकषाये मातुलुङ्ग पठ्यते। "शूलेऽरुचौ विबन्धे च मन्देऽग्नौ मद्यविप्लवे। हिक्काश्वासे च कासे च वम्यां वर्चोगदेषु च ॥ वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेवोपदिश्यते। केशरं मातुलुङ्गस्य लघु, शेषमतोऽन्यथा ॥" (च. सू. अ. २७)। 'लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम्। त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रिमिकफापहा ॥ स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांस मारुतपित्तजित्। मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥ दीपनं लघु संग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केशरम्। शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते ॥ अरुचौ च विशेषेणे रसस्तस्योपदिश्यते ॥" (सु. सू. अ.४६)।

बिजोरा अम्ल, लघु, दीपन, हृद्य और वमन को बंद करनेवाला है। शूल; अरुचि, विबन्ध, मंदाग्नि, मदात्यय, हिक्का, श्वास, खांसी, वमन, गुल्म, अर्श, तथा पुरीष (मल) वात और कफ के रोगों में बिजोरे का केशर दिया जाता है। बिजोरे का केशर मेध्य, दीपन,लघु और ग्राही है। बिजोरे की छाल तिक्त, दुर्जर तथा वात, कृमि और कफ का नाश करनेवाली है। बिजोरे का मांस मधुर, शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध तथा वात और पित्त का नाश करने वाला है। शूल, अजीर्ण, बिबन्ध, मंदाग्नि, अरुचि तथा कफ और वात के बिकारों में बिजोरे का रस दिया जाता है।

नव्यमत--बिजोरे का रस शोणितास्थापन और दापन-पाचन है। छाल सुगन्धि और कटुपौष्टिक है। पत्र स्वेदजनन और वेदनास्थापन हैं। फूल मृदु स्वप्नजनन (निद्राकारक) हैं। मूल ग्राही और थोड़ा वेदनास्थापन है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

[1] कई वैद्य बिजौरे को बीजपूरक और चकोतरे को मातुलुङ्ग मानते हैं।

(६७) जम्बीर ।

नाम—(सं.) जम्बीर; दन्तशठ; (हिं.) जंबीरी (जम्भीरी) नींबू; (पं.) जंबीरी, गलगल; (बं.) जामीरले (ने) बु; (म.) ईर्डलिबु; (गु.) गोबडिया लिंबु; बोंडिगा; (ले.) साइट्रस् लाइमोनन् (Citrus limonum) ।

वर्णन—जंबीरी नींबू की छाल मोटी होती है और फल लंबगोल तथा स्वाद में खट्टा होता है ।

गुण-कर्म—"तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम् । वातश्लेष्म-विबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तलम् ।" (सु. सू. अ. ४६) । "× × दन्तशठमम्लं × × । × × रक्तपित्तकरं × × ।।" (च. सू. अ. २७) ।

जम्भीरी नीबू अम्ल, गुरु पित्तकारक तथा तृष्णा, शूल, कफ, मितली, वमन, श्वास, वात, कफ और विबन्ध (कब्ज) को दूर करनेवाला है ।

---

(६८) निम्बूक ।

नाम—(सं.) निम्बूक; (हिं) कागजी नीबू, नींबू (पं) खट्टा; (सिंध) लिमो; (बं.) नेबु, कागजीने (ले.) बु; (म.) लिंबू; (गु.) लींबू, कागदी लींबु; (ते.) निम्म; (ता.) एलुमिच्चै; (मल) चेरु नारकम्, (फा.) लीमूं, लीमूने तुर्श (ले.) साइट्रस एसिडा (Citrus acida) ।

वर्णन—कागजी नीबू का फल जंबीरी नीबू के फल से छोटा और गोल होता है, इसकी छाल जंबीरी की अपेक्षया पतली होती है इसलिये इसको कागजी नींबू कहते हैं । चरक और सुश्रुत में निम्बूक शब्द देखने में नहीं आता । संभव है कि उस समय में यहां जंबीरी नीबू ही प्रचलित हो और पीछे से उसकी सुधारी हुई जात कागजी नीबू बना हो । या उन्होंने कागजी नींबु को ऐरावत नाम दिया हो । सुश्रुतने दोनों के गुण लिखे हैं "ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ।" (सू. अ. ४६) । निघण्टुओं में नारंगी (संत्रे) को ऐरावत बताया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि नारंगी के गुण चरक-सुश्रुत दोनों ने स्वतंत्र लिखे हैं ।

गुण-कर्म—निम्बूफलं प्रथितमम्लरसं कदुष्णं गुल्मामवातहरमग्निविवृद्धिकारि चक्षुष्यमेतदयकासकफार्तिकण्ठविच्छर्दिहारि परिपक्वमतीव रुच्यम् ।। (रा.नि.) ।

कागजी नीबू अम्ल, किंचित् उष्णवीर्य, अग्निदीपन, चक्षुष्य, रोचन तथा गुल्म, आमवात, खांसी, कफ कण्ठ की पीड़ा और वमन का नाश करने वाला है ।

नव्यमत—जंबीरी और कागजी दोनों नीबू में जम्बीराम्ल[1] (साइट्रिक् एसिड्)

---

[1] जम्बीराम्ल (निम्बूकाम्ल) बनाने की विधि रसतरङ्गिणी ६ तरङ्ग, ९०-९५ श्लोकों में लिखी है ।

होता है, परंतु कागजी नीबू में अधिक होता है। नीबू का रस दीपन, पाचन तृष्णानिग्रहण, रक्तपित्तप्रशमन, विषमज्वरघ्न, ज्वरहर और मूत्रजनन है। नीबू की छाल दीपन और कोष्ठवातप्रशमन है। नींबू के रस में जोखार मिलाकर देने से पसीना आता है, पेशाब की अम्लता कम होती है और उसका प्रमाण बढ़ता है। नवीन आमवात, रक्तपित्त, और वातरक्त में नीबू का रस उपयोगी है। पित्त से आँखें दुखने लगी हों, पित्त की अधिकता से वमन होता हो उसमें तथा अतिसार और आँव में नीबू को गरम कर, रस निकाल, उसमें सैंधव और शक्कर मिलाकर देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(६९) मिष्टनिम्बू।

नाम—(सं.) मिष्टनिम्बू, मधुजम्बीर; (हि.) शर्वती नींबू, मीठा नींबू; (पं) मीठा; (म.) साखरलिंबु; (गु.) मीठा लिंबु; (बं.) मिठा लेबू; (ले.) साइट्रस् लाइमेटा (Citrus Iimetta)।

वर्णन—मीठे नीबू के फल कागजी नीबू से बड़े, गोल, पतले छिलकेवाले और मीठे होते हैं।

गुण-कर्म—"मिष्टनिम्बूफलं स्वादु गुरु मारुतपित्तनुत्। गलरोगविषध्वंसि कफोत्क्लेशि च रक्तहृत्॥ शोषारुचितृषाच्छर्दिहरं बल्यं च बृंहणम्॥" (भा. प्र.) 'मधुरो मधुजम्बीरः शिशिरो वातपित्तजित्। शोषघ्नस्तर्पणो वृष्यः श्रमघ्नः पुष्टिकारकः॥ (ध. नि.)।

मीठा नींबू मधुर, गुरु, शीतवीर्य, बल्य, बृंहण, वृष्य, तर्पण, कफ को बढ़ानेवाला, रक्तशोधक तथा गले के रोग, विष, शोष, अरुचि, थकावट, वात और पित्त को दूर करनेवाला है।

(७०) अम्लवेतस।

नाम——(सं.) अम्लवेतस; (हिं.) अमलबेत; (ने.) चूकत्रो।

वर्णन-अम्लबेत नींबू की जाति का फल है। देखने में जँबीरी नींबू जैसा परंतु उससे बड़ा और अत्यन्त खट्टा होता है। इस समय बाजार में अमलबेत के नाम से जो चोटीसी गुंथी हुई वस्तु मिलती है वह रेवंदचीनी की सुखाई हुई शाखें हैं।

गुण-कर्म— "अम्लवेत्तसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम्" (च. सू. अ. २५)। चरके—(सू. अ. ४) दीपनीये, हृद्ये, श्वासहरे च महाकषाये अम्लवेतसः पठ्यते। "अम्लवेतसमत्यम्लं भेदनं लघु दीपनम्। हृद्रोगशूलगुल्मघ्नं पित्तलं लोमहर्षणम्॥ रूक्षं विण्मूत्रदोषघ्नं प्लीहोदावर्तनाशनम्। हिक्कानाहा-

रुचिश्वासकासाजीर्णवमिप्रणुत्॥ कफवातामयध्वंसी छागमांसद्रवत्वकृत्। चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लोहसूची द्रवत्वकृत्॥ (भा. प्र)।

अमलबेत अत्यन्त खट्टा, लघु, रूक्ष, भेदन, दीपन, अनुलोमन; बात-कफहर, पित्तवर्धक, लोमहर्षण तथा हृद्रोग, शूल, गुल्म, विण्मूत्रदोष, प्लीहा, उदावर्त; हिचकी, आनाह, अरुचि, श्वास, खाँसी और अजीर्ण का नाश करनेवाला है। अमलबेंत के फल मे सूई डालकर रख दे तो वह उसमें गल जाती है।

---

(७१) नारङ्ग (नागरङ्ग)।

नाम-(सं.)नारङ्ग, नागरङ्ग; (बं.) कमला नेबु, कमला; (हिं.,म.,गु.,) नारंगी, संत्रा, संतरा; (अ.) नारंज; (ले.) साइट्रस् ओरेन्शिअम् (Citrus aurantium)।

वर्णन-संतरे-नारंगी-के फल हिंदुस्तान में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

गुण-कर्म-"अम्लं सुमधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम्। वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु॥" (सु. सू. अ. ४६)। मधुरं किंचिदम्लं च हृद्यं भक्तप्ररोचनम्। दुर्जरं वातशमनं नागरङ्गफलं गुरु।।" (च.सू.अ. २७)।

नारंगी मधुर, अम्ल, हृद्य, विशद, गुरू, दुर्जर (देरहजम), अन्न पर रुचि उत्पन्न करनेवाली और वातघ्न है।

---

(७२) बिल्व।

नाम-(सं.) बिल्व, श्रीफल; मज्जा-बिल्वपेशिका; (हिं.) बेल, मज्जा-बेलगिरी; (पं.) बिल, मज्जा-बिलकत्त; (म.) बेल; (गु.) बीली; (ते.) बिल्वम्, मालूरमु; (ता.) अलुविधम्, कुविळम्; (मल.) कुवळम्; (सिंध) कठोरी; (अ.) सफरजले हिंदी; (लें) इगल् मार्मेलॉस् (Aegle marmelos)।

वर्णन-बेल का १५-२५ फुट ऊँचा वृक्ष होता है। शाखाओं पर काँटे होते हैं। पर्ण त्रिदल और एकान्तर होते हैं। पुष्प कुछ हरापन लिये श्वेत वर्ण के होते हैं। फल का कवच कठिन होता है। बेल के वृक्ष दो प्रकार के होते हैं-जंगली और लगाये हुए। जंगली में काँटे अधिक और फल छोटे होते हैं। लगाये हुए में काँटे कम और फल बड़े होते हैं।

उपयुक्त अंग-मूल, त्वचा पत्र और फल का गूदा। चूर्णादि के लिये कच्चे फल का, मुरब्बे के लिये अधपके फल का और पानक के लिये परिपक्व फल का गूदा लेना चाहिये। दशमूल आदि कषायों में मूल या वृक्ष की त्वचा ली जाती है।

गुण-कर्म--चरके (सू अ. ४) अर्शोघ्ने, आस्थापनोपगे, अनुवासनोपगे, शोथघ्ने च महाकषाये बिल्वः पठ्यते। "बिल्वं सांग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्" (च. सू. अ. २५) । "बिल्वं तु दुर्जरं पक्वं दोषलं पूतिमारुतम् । स्निग्धोष्णतीक्ष्णं तद्बालं दीपनं कफवातजित् ।।" "x x x बिल्वपत्रं तु वातनुत् ।" (च. सू. अ. २७) । सुश्रुते (सू. अ. ३८) वरुणादिगणे, अम्बष्ठादिगणे, महापञ्चमूले च गणे बिल्वः पठ्यते । "कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम् । कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ।। विद्यात्तदेव संपक्वं मधुरानुरसं गु । विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ।।" (सु. सू. अ. ४६) । "बिल्वस्तु मधुरो हृद्यः कषायः पित्तजिद्गुरुः । कफज्वरातिसारघ्नो रुचिकृद्दीपनः परः ।। बिल्वमूलं तु छर्दिघ्नं मधुरं लघु वातनुत् । फलं तु कोमलं स्निग्धं गुरु संग्राहि दीपनम् ।। तदेव पक्वं विज्ञेयं मधुरानुरसं गुरु ।" (रा. नि.) ।

बेल मधुर, कषाय, हृद्य, गुरु, रुचिकर, दीपन, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग तथा अर्श, शोथ, पित्त, कफ, ज्वर और अतिसार का नाश करनेवाला है। बेल का मूल मधुर, लघु, छर्दिघ्न और वातहर है। पत्र वातहर है। कच्चा (कोमल) फल, कटु, तिक्त, कषाय, स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, दीपन, ग्राही तथा कफ और वायु का नाश करनेवाला है। पका हुआ फल मधुर, गुरु, विदाहि, विष्टम्भि, दुर्जर, दोषकर और दुर्गन्धयुक्त अधोवायु उत्पन्न करनेवाला है।

नव्यमत -बेल का मूल ज्ञानतन्तुओं के लिये शामक है। यह वातरोगों में उपयोगी है। हृदय का अधिक स्पन्दन, उदासीनता, निद्रानाश और उन्माद में मूल दिया जाता है। इसके कैफ--नशा आता है। विषमज्वर में मूल की छाल का क्वाथ देते हैं। जिसमें कब्ज और पेट का अफारा हो ऐसे कुपचन में और जिनमें कभी जुलाब और कभी कब्ज हो ऐमे आँतों के रोग में पके हुए फल का शर्वत (पानक) सवेर में देने से बड़ा लाभ होता है। कच्चे फल को भून कर उसका गूदा रक्तमिश्रित आँव में और जीर्ण अतिसार में देते हैं। कच्चे बेलफल, सौंफ और बच का क्वाथ जीर्ण आँव में विशेष हितकारी है। कच्चे फल का गूदा और तवखीर (आरारूट) की पेया अतिसार में देते हैं। ताजे फल का गुदा और कबाबचीनी पीसकर दूध के साथ जुकाम में देते हैं। ताजे पत्तों का स्वरस ज्वर, अभिष्यन्द, शोथ और कफरोग में देते हैं। इससे दस्त साफ होकर ज्वर और अभिष्यन्द कम होता है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

बिल्वपत्र का स्वरस १--२ तोला मधुमेह में देते हैं।

(७३) कपित्थ ।

नाम--(सं.) कपित्थ, दधित्थ; (हिं.) कैथ; (बं.) कयेद्, कयेत्बेल; (म.) क (कं.) वठ; (गु.) कोठ; (ता.) कविळा; (मल.) बिळावु; (ले.) फ़ेरोनिया एलिफन्टम् (Feronia elephantum) ।

वर्णन—कैथ का बड़ा वृक्ष होता है। पर्णक्रम एकान्तर, पर्ण संयुक्त; पत्तों को मसलने से सौंफ जैसी सुगंध आती है। शाखाओं पर कांटे होते हैं। पुष्प फीके लाल रंग के ग्रीष्म ऋतु के आरंभ में लगते हैं। फल गोल। फल का कवच कठिन होता है। पके फल का गुदा खटमीठा होता है। वर्षा के अन्त में फल पक जाते हैं और चिरकाल तक वृक्ष पर रहते हैं।

गुण-कर्म - **कपित्थमामं कण्ठघ्नं विषघ्नं ग्राहि बातलम्। मधुराम्लकषायत्वात् सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्॥ परिपक्वं तु दोषघ्नं विषघ्नं ग्राही गुर्वपि।' (च. सू. अ २७)। "आ. कपित्थमकण्ठ्यानाम्" (च. सू. अ. २५)। "आमं कपित्थमस्वर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम्। कफानिलहरं पक्वं मधुराम्लरसं गुरु॥ श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम्।" (सु. सू. अ. ४६)। "कपित्थो मधुराम्लश्च कषायस्तिक्तशीतलः। वृष्यः पित्तानिलं हन्ति संग्राही व्रणनाशनः॥" (रा. नि.)।**

कपित्थ मधुर, अम्ल, कषाय, तिक्त, शीतवीर्य, वृष्य, ग्राही तथा पित्त, वात और व्रण का नाश करनेवाला है। कैथ का कच्चा फल कण्ठ (स्वर) के लिये अहितकर, ग्राही, कफ तथा विष का नाश करनेवाला और वायु करनेवाला है। परिपक्व कैथ मधुर-अम्ल-कषाय तथा सुगन्धि होने से रुचिकर, दोषघ्न, विषघ्न, ग्राही, गुरु, कण्ठ को साफ करनेवाला तथा कफ, वायु, श्वास, खांसी, अरुचि और तृषा को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—पत्ते में थोड़ासा स्थायी तैल है। फल के गूदे में जम्बीराम्ल (साइट्रिक् एसिड्) और पिच्छिल द्रव्य है। सुखाये हुए गूदे (कैथगिरी) में १५ प्रतिशत जम्बीराम्ल होता है। इसकी राख में जवखार, चूना और लोह के क्षार होते हैं। कैथ के गुण-कर्म बेलफल के समान हैं। परंतु रक्तपित्तप्रशमन धर्म बेल में विशेष है। पत्र वातनाशक है। इसके गोंद से आँतों की पेचिश कम होती है (डॉ. बा. ग. देसाई)।

---

(७४) तेजबल और तुम्बरु।

वृक्ष का नाम—(सं.) तेजस्विनी, तेजोवती; (हिं.) तेजबल; (ले.) झेन्थोक्सायलम् एलेटम (Xanthoxylum alatum)।

फल का नाम—(सं.) तुम्बरु; (हिं.) नेपाली धनिया, तुमरु, तोमर, (म) तिरफल, चिरफल; (अ.) फागिरा कबाबा खंदाँ; (फा.) कबाबा वहन कुशादा; (पं.) तिंबर।

वर्णन—तेजबल के वृक्ष हिमालय में २ से ५ हजार फुट की ऊँचाई पर होते हैं। इसपर दृढ़ स्थूल कांटे होते हैं। इसकी पतली कोमल शाखाओं की दातुन करते हैं। तेजबल वृक्ष के फल को तुम्बरु कहते हैं। फल बड़े धनिये बराबर, प्रायः

बीच से खुले (फटे) हुए और खाली होते हैं। कभी कभी इसमें काले रंग के चमकीले बीज होते हैं। औषध में बीजरहित फलों का उपयोग करना चाहिये। फल के ऊपर तैलयुक्त राल से भरी हुई सूक्ष्म ग्रन्थियाँ और अंदर कागज जैसा परदा होता है। दक्षिण भारत में तुम्बरु का एक भेद (झेन्थोक्सायलम् रेट्सा Z. Rhetsa) होता है। उसको मराठी में **तिरफल या चिरफल** कहते हैं। तिरफल के फल तुंबरु से बड़े होते हैं।

उपयुक्त अंग—फल, छाल और मूल। मात्रा फल ५–१० रती। त्वचा और मूल १–३ माशा।

गुण-कर्म—**तेजोवती कटुस्तिक्ता रुच्या दीपनपाचनी। उष्णा वातकफश्वासकासहिध्मास्यरोगनुत् ॥"** (कै. नि.)। **"तुम्बरुः कटुतीक्ष्णोष्णः कफमारुतशूलजित्। अपतंत्रोदराध्मानकृमिघ्नो वह्निदीपन. ॥"** (ध. नि.)। **चरके (सू. अ. २; वि. अ ८) शिरोविरेचन्द्रव्येषु तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ८) च तुम्बरुः पठ्यते।**

तेजबल कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, रुचिकारक तथा वात, कफ, श्वास, कास, हिक्का और मुख के रोगों का नाश करनेवाली है। तुम्बरु कटु, तिक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, शिरोविरेचन, कृमिघ्न, दीपन तथा कफ, वात, शूल, अपतंत्रक और पेट के अफारे का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–छाल में उड़नेवाला तैल, राल तथा दारुहारिद्रिक (बर्बेरीन) सत्त्व मिलता है। फलों में न उड़नेवाला सुगन्धि तैल होता है। इस तैल की ओर बिरोजे की घटना समान है। तैल में रंग नहीं होता, परन्तु मनोहर सुगन्ध होती है। तुबरु सुगन्धि, उष्ण, दीपन, पाचन, ग्राही, वातहर और उत्तेजक है। इसकी क्रिया युकेलिप्टस तैल और गन्धाबिरोजे के समान होती है। कुपचन और अतिसार में तुम्बरु देते हैं। ज्वर में मूल की छाल का फाण्ट देने से उत्तेजना आती है और ज्वर कम होता है। व्रणवाले को फलों का चूर्ण खाने को देते हैं और व्रणपर भुरकाते हैं। मूल के क्वाथ से दुष्ट व्रण को धोने से व्रण का शोधन होता है। तुम्बरु के अन्दर का उत्तेजक द्रव्य त्वचा के रास्ते से बाहर निकलता है, इसलिये श्लेष्मत्वचा (कला) तथा व्रण की शुद्धि होती है और ज्वर में पसीना आता है।

तिरफल के मूल की छाल सुगन्धि, मूत्रजनन और कटुपौष्टिक है। तिरफल के मूल की छाल आँतों के शैथिल्य से होनेवाले कुपचन में देते हैं। दाँतों की पीड़ा में और लकवे में जीभ का हलन-चलन ठीक न होता हो तब तिरफल की छाल चबाने को देते हैं। आमवात में तिरफल देते हैं। इससे शरीर का दर्द कम होता है। पेट का दर्द और अफ़ारा, अजीर्ण, कुपचन तथा अतिसार में तिरफल देते हैं। तिरफल और अजवायन के बाष्प के साथ निकाला हुआ तेल हैजे में देते हैं **(डॉ. वा. ग. देसाई)**।

तेजबल की छाल और तुम्बरु दाँतों के मंजनों में डालते हैं। चरकने अपतंत्र के लिये तुम्बर्वादि चूर्ण लिखा है। योग–तुम्बरु, हड़, हिंग, पुष्करमूल, सैंधव, कालानमक और सामुद्र लवण समभाग का चूर्ण करकें यवमंड के साथ हृद्ग्रह और अपतंत्रक में देना (च. सि. अ. ९)। तुंबरु और तिरफल के गुणकर्म समान हैं। जहां जो मिले उससे काम चला सकते हैं।

इङ्गुद्यादि वर्ग २५.

N. O. Simaroubaceae (सिमेरुबेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रमएकान्तर; पर्ण प्रायः संयुक्तदल, क्वचित् एकाकी, उपपत्ररहित; पत्तों में तैलग्रन्थियां नहीं होती; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ३–५; एक के ऊपर एक आये हुए; पुंकेशर ५ अथवा पँखडियों से दूने; फल माँसल और अविदारी। यह वर्ग उष्ण प्रदेश में होता है।

(७५) इङ्गुदी।

नाम–(सं.) इङ्गुदी, तापसद्रुम; (हिं.) हिंगोट; (म.) हिंगण; (गु.) इंगोरियो; (मा.) हिंगोरिया; (ता.) नञ्जुडन्, तोरुवट्ट; (मल.) नंजुडं; (का.) इंगळार, इंगळक्के; (ले.) बेलेनाइटिस् एजिप्टिका (Balanites Aegyptiaca)।

वर्णन-इङ्गुदी का काँटेदार वृक्ष जाङ्गल देश में होता है। ऊँचाई १०-२० फुट; छाल भूरे रंग की; पर्ण संयुक्त; पुष्पबाह्यकोश के दल तथा पँखडियाँ ५-५; पुंकेशर १०; फल अण्डाकार, २ इंच लंबा और १॥ इंच चौड़ा; फलत्वचा भंगुर; गूदा ललाई लिये हरा; बीज सख्त; फल की मज्जा का तैल निकालते हैं।

गुण-कर्म–सुश्रुते (अ. ३९) शिरोविरेचनद्रव्येषु इङ्गुदी पठ्यते–"इङ्गुदीमेषशृङ्ग्योस्त्वचः"।"कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु। कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम् ॥"(सु. सू. अ. ४५)। "ऐङ्गुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफवातजित्।" (च. सू. अ. २७)। "इङ्गुदी मदगन्धा स्यात् कटूष्णा फेनिला लघुः रसायनी हन्ति जन्तुवातामयकफव्रणान् ॥" (रा. नि.)। "इङ्गुदास्तिक्तकः सोष्णः कटुपाको नियच्छति। कृमिकुष्ठविषश्वित्रशूलभूतग्रहव्रणान्।" (कै. नि.)।

इङ्गुदी मद उत्पन्न करनेवाले गन्धवाली, रस में तिक्त और कटु, विपाक में कटु, उष्णवीर्य, लघु, फेन उत्पन्न करनेवाली, रसायन तथा कृमि, वातरोग, कफरोग, व्रण, कुष्ठ, विष, श्वित्र, शूल और भूतों (जीवाणुओं) का नाश करनेवाली है। इङ्गुदी की त्वचा शिरोविरेचन है। इङ्गुदी का फल तिक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य

तथा कफ और वायु का नाश करनेवाला है। इङ्गुदी का तैल कुछ तिक्त, लघु, कुष्ठ और कृमि को दूर करनेवाला तथा दृष्टि, शुक्र और बल को हानि करनेवाला है।

नव्यमत–"फल के गूदे में १$\frac{१}{३}$ प्रतिशत साबुन, १ प्रतिशत अम्ल द्रव्य, शक्कर और पुष्कल पिच्छिल द्रव्य होता है। छाल में साबुन जैसा (फेनिल) पदार्थ है। इसके फल के मद्यासव (टिंक्चर) से तैल का दुग्धीकरण (इमल्शन) होता है। इङ्गुदी की छाल और फलके गुदे कें गुण सेनेगा जैसे हैं। इनमें स्रंसन, कृमिघ्न, कफघ्न और कुष्ठघ्न गुण हैं। जीर्ण कफरोगों में फल के गूदे से अच्छा लाभ होता है। इसको बादाम के तैल और मिश्री के साथ घोटकर देना अच्छा है। इससे कफ पतला होकर शीघ्र गिरने लगता है और पेशाब तथा दस्त साफ होता है। बीजों का तैल जख्म और अग्निदग्धव्रणपर लगाते हैं" **(डॉ.वा.ग.देसाई)**।

गुग्गुल्वादि वर्ग २६.

N. O. Burseraceae (बर्सेरेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; उपरिस्थगर्भाशय; पर्णक्रम एकान्तर; पर्ण संयुक्त; पुष्पाभ्यन्तरकोश और पुष्पबाह्यकोश के दल ३–५, स्थायी; पुंकेशर पँखडियों के जितने या उससे द्विगुण; स्त्रीकेशर १; फल सख्त, विकासी या अविकासी। इस वर्ग के उद्भिज्जों से सुगन्धि निर्यास निकलता है, जो औषध और धूप के लिये काम में आता है।

(७६) गुग्गुलु।

नाम–(सं.) गुग्गुलु, कौशिक, पुर, पलङ्कष; (क.) काण्ठगण; (हिं.) गूगल; (गु.) गुगळ; (सिंध.) गुगरु; (अ.) मुक्लुल् यहूब; (फा.) बूए जहूदान; (ले.) बाल्सेमोडेंड्रोन मुकुल् अथवा कोमिफोरा मुकुल (Balsamodendron mukul or commiphora mukul)।

उत्पत्तिस्थान–सिंध, मारवाड़, कच्छ, काठियावाड़ आदि जगल प्रदेश।

वर्णन–गूगल का वृक्ष ४-१२ फुट ऊंचा होता है। पुष्प छोटे लाल रंग के होते हैं। फल मांसल, लंबगोल और लाल रंग के होते हैं। बाजार में गूगल की दो जातियां मिलती हैं (१) कणगूगल और (२) भैंसा (महिषाक्ष) गूगल। कणगूगल मारवाड़ में होता है और उसके ललाई लिये हुए पीले रंग के गोल दाने होते हैं। यह भैंसा गूगल से नरम होता है। भैंसा गूगल का रंग हरापन लिये पीला होता है। यह सिंध, कच्छ आदि में होता है।

गुण-कर्म–सुश्रुते (सू. अ. ३८) एलादिगणे गुग्गुलुः पठ्यते। "सुगन्धिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसे। कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः॥ स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वपकर्षणः। तैक्ष्ण्यौष्ण्यात् कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्तनुत्॥ सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः।" (सु.चि. अ. ५)। "गुग्गुलुः कटुतिक्तोष्णः कफमारुतकासजित्। कृमिवातोदरप्लीहशोथार्शोघ्नो रसायनः॥" (रा. नि.)। भग्नसन्धानकृन्मेहमेदः कुष्ठाममारुतान् विद्रधिं ग्रन्थिमपचीं गण्डमालां च नाशयेत्॥

गूगल रस और विपाक में कटु, उष्णवीर्य,सुगन्धि, लघु, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, स्निग्ध, पिच्छिल, रसायन, हृद्य, सर, त्रिदोषहर, भग्नसंधानकर, अग्निदीपन, व्रण्य तथा कफरोग, वातरोग, कास, कृमि, उदर, प्लीहा के रोग, शोथ, अर्श, प्रमेह, मेदोवृद्धि, कुष्ठ, आमवात, विद्रधि, ग्रन्थि, अपची और गण्डमाला का नाश करनेवाला है। नया गूगल बृंहण और वृष्य है तथा पुराना गूगल कर्षण (लेखन) है।

उपयुक्त अंग-निर्यास। **मात्रा**–२-१५ रत्ती।

नव्यमत–"गूगल रसायन, दीपन, स्नेहन, स्रंसन, वातहर, कफहर, कोष्ठवातप्रशमन, आर्तवजनन, रक्त के श्वेत कणों को बढानेवाला, रक्तवर्धक, श्लेष्मलत्वचा के लिए उत्तेजक, त्वग्दोषहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण और शोथघ्न है। गूगल उत्तेजक, रोगजन्तुघ्न, दुर्गन्धहर और कफघ्न है, इसलिये जब पुरानी खांसी में अतिशय गाढ़ा और दुर्गन्धयुक्त कफ पड़ता हो तब पीपल, वासा, शहद और घी के साथ मिलाकर देते हैं। गूगल अशक्त और फीके मध्यम अवस्था के मनुष्य को लोहभस्म के साथ देते हैं। गूगल दीपन और आनुलोमिक है, इसलिये कुपचन और मलावष्टम्भ में विशेष करके जब आमाशय और आंतों में शिथिलता हो तब सुगन्धि द्रव्य, इन्द्रजव, एलुवा और गुड़ के साथ मिलाकर देते हैं। गूगल रक्तशोधक है तथा उससे सर्व शरीर का उत्तेजन और बल मिलता है इसलिये उपदंश, सुजाक और जीर्ण आमवात में गूगल का उपयोग करते हैं। गण्डमाला में गूगल से बहुत लाभ होता है। इन रोगों में गुगल रक्त के श्वेतकणों को बढ़ाता है और श्वेतकण बढ़ने से लाभ होता है। गण्डमाला में पारा (रससिन्दूर), सोमल और बायबिडङ्ग के साथ गूगल देते हैं। उपदंश में सारिवा-(अनंतमूल) के साथ इसे देते हैं। जीर्ण आमवात में अथवा सुजाक से जो सन्धिशोथ होता है उसमें शिलाजीत के साथ गूगल खिलाते हैं और उसका लेप करते हैं। पुराने सुजाक और बस्तिशोथ में गिलोय के क्वाथ के साथ गूगल देते हैं। गुगल खाने को देने पर त्वचाद्वारा शरीर से बाहर निकलता है और बाहर निकलते समय त्वचा की विनिमयक्रिया सुधारता है, इसलिये सब प्रकार के जीर्ण त्वग्रोगों में गूगल देते हैं और उससे लाभ होता है। इससे त्वचा की कण्डू कम होती है। निरोग मनुष्य इसका सेवन करे तो त्वचा का रंग सुधरता है। गूगल

गर्भाशय के संकोचविकास को कम करता है। जवान स्त्रियों के अनार्तव में गूगल, एलुवा और कसीस की गोलियाँ बनाकर देते हैं। गर्भाशय से कभी कभी चिकने पदार्थ का स्राव होता है और इससे स्त्री को वन्ध्यत्व आता है। ऐसी स्थिति में गूगल रसोत के साथ मिलाकर देते हैं। रक्त में जैसे जैसे श्वेतकण बढते हैं वैसे वैसे रक्तकण भी सुधरते हैं। श्वेतकण बढ़ने से जैसे रोगोत्पादक जन्तुओं का नाश होता है वैसे ही रोगीकी तैल-घृत आदि स्निग्ध पदार्थ हजम करने की और उनको रक्त में शोषण करनेकी शक्ति भी बढ़ती है। इसलिये गूगल पाडुरोगमें लोह और सुगन्धि द्रव्योंके साथ देते हैं। गूगल को कूट ओर घी में मिलाकर बनाये हुए मलहम से व्रण का अच्छा शोधन और रोपण होता है। गूगल को गरम पानी में पीस कर दिन में २-४ बार लेप करने से क्षयरोग के जन्तुओं से होनेवाली ग्रन्थियां जिनको **गण्डमाला** (अपची) कहते है उनमें अच्छा लाभ होता है। दिल्लीसोर्स में गूगल, गन्धक, सुहागा और कत्थे का मलहम लगानेसे लाभ होता है(डॉ.वा. ग. देसाई)।

---

(७७) बोल।

नाम-(सं.) **बोल, गन्धरस, बर्बर; (हि.; पं.) बोल, मुरमकी; (बं.) गन्धबोल; (गु.) हिराबोल;** (मा.) **बीजाबोल;** (अ.) **मर्ह मकी;** (ले.) **बाल्सेमोड़ेन्ड्रोम् मर्ह** (Balsamodendron marrha)।

उत्पत्तिस्थान-एबिसिनिया और अरबस्तान।

वर्णन--बोल के ललाई लिये हुये पीले रंग के छोटे टुकड़े या गोल दाने बाजार में मिलते हैं। यह भंगुर, सुगन्धित और स्वाद में कडुआ होता है।

उपयुक्त अंग-निर्यास। **मात्रा**-५-१० रत्ती।

गुण-कर्म-"**बोलं तू कटु तिक्तोष्णं कषायं रक्तदोषनुत्। कफपित्तामयान् हन्ति प्रदरादिरुजापहम्॥" (रा. नि.)**।

बोल कटु, तिक्त, कषाय, उष्णवीर्य तथा रक्तदोष, कफरोग, वातरोग ओर स्त्रियों के प्रदरादि रोगों को दूर करनेवाला है।

नव्यमत-बोल में ६० प्रतिशत गोंद, २ प्रतिशत उड़नेवाला तैल, और ३५ प्रतिशत राल है। असली **बोल को** तेजाब लगाने **से जामुनी छाया** लिया हुआ किरमजी रंग उत्पन्न होता है। बोल वातहर, उत्तेजक, व्रणशोधन, व्रणरोपण, श्लेष्मल, त्वचा को उत्तेजक, संग्राहक, श्लेष्मानिःसारक, रक्त के श्वेत कणों को बढ़ानेवाला, दीपन, कोष्ठवातप्रशमन, स्वेदजनन, मूत्रजनन और आर्तवजनन है। बोल का लेप उत्तेजक और मृदुकोथप्रशमन है। इसलिये व्रण पर इसका लेप करते हैं। मुखपाक और मसूड़ों की सूजन में मुंह में धारण कराते हैं। दन्तमंजन में बोल डालते हैं। कण्ठरोहिणी (डिप्थीरिया) में इसके टिंचर को पानी में मिलाकर

कुल्ले, कराने से लाभ होता है। बोल दीपन, वातहर, उत्तेजक और कोथप्रशमन है, इसलिये कुपचन, मलावष्टम्भ और पाण्डुरोग में देते हैं। बोल रक्त में मिलने पर रक्तान्तर्गत श्वेतकण बढ़ते हैं, इसलिये स्त्रियों के पाण्डुरोग में देते हैं। यह त्वचा, मूत्रेन्द्रिय, जननेंद्रिय, श्वासमार्ग, फुफ्फुस और श्लेष्मल त्वचा द्वारा शरीर से बाहर निकलता है और निकलते समय उन उन अवयवों की विनिमयक्रिया सुधारता है तथा उनको उत्तेजित करता है; इससे श्लेष्मल त्वचा की अशक्ति कम होती है। त्वचा से बाहर निकलता है इसलिये स्वेदजनन; मूत्रपिण्डों (गुर्दों) से बाहर निकलता है, इसलिये मूत्रजनन; तथा फुफ्फुस और श्वासमार्ग से बाहर निकलते समय कफ की दुर्गन्ध नष्ट करके उसको पतला करता है इसलिये उत्तेजक श्लेष्मनिःसारक तथा रोगजन्तुघ्न है। इसलिये जीर्ण कास-श्वास में उसका उपयोग करते हैं। यह गर्भाशय का संकोचन करनेवाला, उत्तेजक और आर्तवजनन है। इसलिये एलुबा और लोह के साथ अनार्तव में इसका बहुत उपयोग करते हैं। गर्भाशय के शैथिल्य में यह विशेष उपयोगी है। इससे जीर्ण बस्तिशोथ और श्वेतप्रदर कम होता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(७८) शल्लकी और कुंदरु।

नाम–(सं.) श (स) ल्लकी, सुस्रवा, गजभक्ष्या; (हिं.) सालई; (म.) सालई. (गु.) शालेंडो, धूपड़ो; (ले.) बोस्वेलिआ सेरेटा (Boswellia serrata)।

वर्णन–सालई का बड़ा वृक्ष होता है। शाखायें नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं। पत्ते और फूल शाखा के अग्र पर लगते हैं। पत्ते नीम के जैसे होते हैं। पुष्प छोटे सफेद रंग के होते हैं। पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५-५; पुंकेशर ५ बडे और ५ छोटे। फल मांसल और तीन धारवाले होते हैं। छाल में चीरा लगाने से गोंद–निर्यास निकलता है उसको शल्लकीनिर्यास या कुंदुर कहते हैं। आजकल बाजार में जो कुंदुर मिलता है वह प्रायः अफ्रीका और अरबस्तान से आता है। दवा के लिये फीके पीले रंग का और गोल गोंद लेना चाहिये। इसको जल में घोटकर मिलाने से पानी दूध जैसा होता है। इसमें सुगन्ध और कडुआ स्वाद होता है।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) पुरीषविरजनीये महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) शल्लकी, शिरोविरेचनद्रव्येषु शल्लकीनिर्यासश्च पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) रोध्रादिगणे, कषायस्कन्धे (सु. अ. ४२) शल्लकी, एलादिगणे (सु. अ. ३८) कुन्दुरुकश्च पठ्यते। 'शल्लकी तिक्तमधुरा कषाया ग्राहिणी परा।

कुष्ठास्रकफवाताशोंव्रणदोषार्तिनाशिनी ॥" (रा. नि.) "तत्पुष्पं कफवातार्शःकुष्ठारोचकनाशनम्।" (कै. नि.)। "कुन्दुरुः कटुकस्तिक्तो वातश्लेष्मामयापहः। पान लेपे च शिशिरः प्रदरामयशान्तिकृत् ॥" (ध. नि.)। "कुन्दुरुर्मधुरस्तिक्तस्तीक्ष्णस्त्वच्यः कटुर्हरेत्। ज्वरस्वेदग्रहालक्ष्मीमुखरोगकफानिलान् ॥" (भा. प्र.)

शल्लकी कषाय तिक्त, मधुर, शीतवीर्य, पुरीषविरजनीय, ग्राही तथा कुष्ठ, रक्तविकार, कफ, वात, अर्श और व्रणदोष का नाश करनेवाली है। शल्लकी के पुष्प, कफ, वात, अर्श, कुष्ठ और अरुचि का नाश करते हैं। कुंदुर (शल्लकीनिर्यास) शिरोविरेचन, मधुर, कटु, तिक्त, तीक्ष्ण, शीतवीर्य, त्वचा को हितकर तथा वातरोग, कफरोग, प्रदर, ज्वर, स्वेद, ग्रह, मलिनता और मुखरोग का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--सलई का गोंद स्नेहन, स्रंसन और रक्तशोधक है। यह गुण में बहुत अंश में हिराबोल और गूगल के समान है अर्थात् उत्तेजक श्लेष्मनिःसारक, मूत्रजनन और आर्तवजनन है। यह सुगन्धित द्रव्यों के साथ गोली या चूर्ण के रूप में दिया जाता है। यह व्रणशोधन और व्रणरोपण है। सलाई का गोंद, गूगल, सुहागा, गन्धक और कत्था इनके मरहम की पट्टी पुराने खड्ढेवाले व्रणों पर लगाते हैं। गण्डमाला, ग्रन्थि और बद पर इसको गरम जल में पीसकर लगाते हैं। सन्धिवात और अस्थिशोथ में इसका लेप करते हैं और खाने को भी देते हैं।

कुन्दुर सुगन्धित और उत्तेजक है। इसकी यह क्रिया श्लेष्मल त्वचा पर, विशेषतः श्वासमार्ग की श्लेष्मल त्वचा पर होती है। श्वासनलिका का जीर्णशोथ, पुष्कल चिकना कफ गिरना और उसमें दुर्गन्ध आना, इसमें कुन्दुर खाने को देते और इसका धूम्रपान कराते हैं। कुन्दुर का मलहम ग्रन्थिशोथ को कम करता है और व्रणरोपण है। प्रमेहपिडका (कार्बंकल) के व्रण पर कुंदुर का मलहम उत्तम औषध है कुंदुर को कपड़े पर रख कर गरम पानी की बाफ पर सिजाने से चिकट गोंद जैसा होता है। उसमें अफीम धतूरा, खुरासानी अजवायन, बेलाडोना जैसे पीड़ाशामक द्रव्य मिला, उसकी मोटे कपडे पर पट्टी तैयार करके पार्श्वशूल आदि में पीड़ायुक्त भाग पर लगाने से रक्तवाहिनियों का आकर्षण हलन-चलन कम होकर पीड़ा शांत होती है।

मात्रा--१०-३० रत्ती। इसे जीर्ण कास और सुजाक में बादाम, शक्कर और पानी के साथ घोट कर पिलाते हैं।

मलहम--कुंदुर १ भाग, खशखश का तेल १ भाग और सफेद मोम १ भाग, सबको मंदाग्निपर गला, कपडे से छानकर काचपात्र में भर लेना (डॉ वा.ग. देसाई)।

वक्तव्य--इस समय बाजार में कुंदुरु मिलता है वह एबिसिनिया और अरबस्तान से आता है। इसके वृक्ष का डॉ. देसाई ने लेटिन नाम बोस्वेलिआ फ्लोरिबन्डा लिखा है। प्राचीनों ने शल्लकीनिर्यास को ही कुंदुरु माना है "कुन्दुरुकः शल्लकीचोपः" (डल्हण)।

निम्बादि वर्ग २७.

N. O. Meliaceae (मेलिएसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर; पर्ण संयुक्तदल, उपपत्ररहित; पर्णदल की धारा प्रायः दन्तुर; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ३ से ६; पुंकेशर प्रायः ८-१०; केशरसूत्र नीचे से जुड़कर नलिकाकार बने हुए; परागकोश दो खानेवाला, गर्भाशय ऊर्ध्वस्थ; फल प्रायः मांसल, १-५ खानेवाला; बीज फल के प्रमाण में बड़े होते हैं।

(७९) निम्ब ।

नाम--(सं.) निम्ब, पिचुमन्द, पिचुमर्द, प्रमद, पारिभद्र; (हिं.) नीम; (बं..) निम; (म.) कडूनिंब, बाळंतनिंब; (गु.) लींबडो, लीमडो; (ता.) वेंबु, वेंपु; (पं.) निंब; (मल.) वेप्पु आर्यवेप्पु; (सिं.) निमु; (अ.) आजाद-रखतुल हिंद; (ले.) एझाडिरेक्टा इन्डिका (Azadiractha Indica)।

वर्णन--नीम का वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। इसके काष्ठ को छोड़कर सब अंग ओषध के काम में आते हैं।

गुण-कर्म--चरके (सू.अ. ४) कण्डूघ्ने महाकषाये वमनद्रव्येषु (सू. अ. २), तिक्तस्कन्धे (वि.अ.८) च; तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) आरग्वधादौ, गुडूच्यादौ लाक्षादौ च गणे निम्बः पठ्यते। "××× निंबपर्पटाः। ××× तिक्ताः पित्तकफापहाः ॥" (सु सू.अ. ४६)। "×× नैम्बं शाकं ×××। कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ॥" (च. सू. अ. २७) "निम्बस्तिक्तरसः शीतो लघुः श्लेष्मास्रपित्तनुत्। कण्डूकुष्ठव्रणान् हन्ति लेपाहारादिशीलितः। अपक्वं पाचयेच्छोथं व्रणं पक्वं विशोधयेत् ॥" (ध. नि.)। "निम्ब ××× फलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सरण्यनिलकफक्रिमिकुष्ठाशिरोरोगापहराणि चेति (सु. सू. अ. ४५)।

नीम रस में तिक्त, विपाक में कटु, शीतवीर्य, लघु, वमनकारक तथा पित्त, कफ, कण्डू, कुष्ठ, रक्तविकार और व्रण का नाश करनेवाला है। नीम अपक्व व्रण का पाचन और पक्व (पक कर फूटे हुए) व्रण का शोधन करनेवाला है। नीम का तेल कटु, कटुविपाक, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, लघु, सारक तथा वात, पित्त, कफ, क्रमि, कुष्ठ और शिरोरोग का नाश करनेवाला हैं।

नव्यमत--नीम की छाल में उड़नेवाला तेल, तिक्त रालमय द्रव्य, गोंद, पिष्ट (स्टार्च), शर्करा, कषायद्रव्य (टेनिन्) और तिक्त रवादार द्रव्य, ये पदार्थ होते हैं। तिक्त रवादार द्रव्य से अन्तर्छाल भरी हुई होती है। बाहरी छाल में कषायद्रव्य अधिक होता है। केवल अन्तरछाल का क्वाथ करने से उसमें तिक्त

रालमय द्रव्य और तिक्त रवादार द्रव्य उतरते हैं। समग्र छाल का क्वाथ करने से ये तिक्त द्रव्य काढ़े में उतरते नहीं, केवल कषाय द्रव्य उतरते हैं। तिक्त द्रव्य मद्य में ६० प्रतिशत उतरता है। यह जल में अच्छी तरह घुलता नहीं, परन्तु क्षारस्वभावी द्रव्यों के साथ छाल को पकाने से उनके साथ मिलकर पानी में अच्छी तरह उतरता है। छाल के अंदर का तिक्त द्रव्य अम्लस्वभावी है। पत्तों में तिक्त द्रव्य थोड़ा है, परन्तु वह छाल की अंदर के तिक्त द्रव्य की अपेक्षया जल में शीघ्र और अधिक मिल जाता है। बीजों में ४० प्रतिशत तेल है। तेल में गंधक है। तेल क्षारस्वभावी द्रव्य से मिलता है। तेल का सावुन बनता है। **नीम की अन्तरछाल** शीत, विषमज्वरप्रतिषेधक, ग्राहीपौष्टिक, कटुपौष्टिक, त्वग्दोषहरा, शोथघ्न, कृमिघ्न और रसायन हैं। नीम की छाल का ज्वरप्रतिबन्धक गुण सिंकोना की छाल के समान है। इसके अंदर का तिक्त रवादार अम्लस्वभावी द्रव्य त्वचा के मार्ग से बाहर निकलता है। यह त्वचा के लिये उत्तेजक और दाहशामक है। समग्र त्वचा में ग्राहीपन अधिक है, इसलिये इसकी ग्राहीपौष्टिक क्रिया अधिक होती है। समग्र त्वचा में ज्वरप्रतिबन्धक गुण अल्प है। नीम की त्वचा पर सोमल जैसी क्रिया होती है।

पत्तियाँ--शोथघ्न, त्वचा के लिये उत्तेजक, त्वग्दोषहर, उत्तम व्रणशोधन, व्रणरोपण, कोथप्रशमन, कृमिघ्न, विषमज्वरप्रतिबन्धक, यकृत के लिए उत्तेजक और वड़ी मात्रा में वामक है। तैल वातहर, पूतिहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण, उत्तेजक, कोथप्रशमन, शोधन, उत्तम कुष्ठघ्न और रसायन है। तैल की क्रिया उसके अंदर के गन्धक से होती है। नीम के सब भागों की अपेक्षया तैल विशेष जोरदार कार्य करनेवाला है।

मात्रा--अन्तरछाल का चूर्ण ३० रत्ती के प्रमाण में दिन में चार वार देना चाहिये। इसके साथ सुगन्धि द्रव्य देने से इसकी क्रिया शीघ्र होती है। पत्तियों का स्वरस २ से ५ तोला; तेल ४-१० बूंद।

शीतज्वर में टिंचर किंवा क्वाथ की अपेक्षया अन्तरछाल का चूर्ण देना अच्छा है। जीर्ण विषमज्वर में तैल बहुत गुणकारी है। प्रसूता स्त्री को पहले दिन से ही पत्रस्वरस देने से गर्भाशय का संकोचन होता है, रक्तस्राव ठीक होता है, गर्भाशय और उसके समीप के स्थानों की सूजन उतर जाती है, भूख लगती है, दस्त साफ होता है, ज्वर आता नहीं और आया भी तो उसका जोर बढ़ता नहीं। नीम का थोड़ासा अंश बच्चे को मिलते रहने से उसकी प्रकृति ठीक रहती है। त्वग्रोगों में पत्तियों का रस पीने को देते हैं और उसका लेप कराते हैं। नवीन रोग की अपेक्षया जीर्णरोग में इससे विशेष लाभ होता है। फिरङ्गोपदंश और कुष्ठ में पत्तियों का स्वरस या तैल देते हैं। बद, ग्रन्थि, व्रणशोथ और व्रण कम करने के लिये पत्तियों का कल्क गरम कर के बांधते हैं। तैल उत्तम कृमिघ्न और पूतिहर है। इससे पेट के और बाहर के कृमि मर जाते हैं। गण्डमाला पक कर जो व्रण होता है

उस पर और नाड़ीव्रण पर तेल में बत्ती भिगोकर रखते हैं। जीर्णज्वर, जीर्ण विषमज्वर, त्वग्रोग, फिरङ्गोपदंश, कुष्ठ आदि में ५-१० बूंद तैल दिन में दो बार खाने को देते हैं। सुजाक में शिश्न सूजकर पेशाब बंद हो जाता है तब रोगी को पत्तों के क्वाथ में बैठाते हैं। इससे पेशाव छूटता है और सूजन कम होती है। अर्श की सूजन पर पत्र कल्क बाँधते हैं। संधिशोथ और आमवात में तेल की मालिश करते हैं,आमवात में तेल खाने को भी देते हैं। (डॉ.वा ग. देसाई)

---

(८०) महानिम्ब ।

नाम--(सं.)महानिम्ब, पर्वतनिम्ब, रम्यक, द्रेक (क्का);(क)द्रेक; (पं.) ध्रेख, धरेक, बकायन; (हिं.) बकायन, वकाइन; (म.) बकाणा निंब; (गु.) बकानलिंबडों; (सिंध.) बकाईण निमु; (ब.) घोढानिम; (ता.) चिघरिंनिबम्; (मल.) मलवेप्पु; (का.) हुच्चुबेवु, तुरुकबेवु; (अ.) हर्बीत, शज्रतुल हर्र; (फा.) आजादरखत; (ले.) मेलिया अॅझेडेरेक् (Melia azedarach)।

वर्णन- बकायन के वृक्ष प्रायः पहाडी स्थानों में होते हैं। वृक्ष देखने में नीम के जैसा होता है । फूल सफेद और सुगन्धित होते हैं।

उपयुक्त अंग--अन्तस्त्वचा, पत्र और फलमज्जा। **मात्रा**--छाल ३-६ माशा, फल की गिरी ४-८ रत्ती।

गुण-कर्म-सुश्रुते (अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे महानिम्बफलं तथा अधोभागहरे वर्गे (सू. ३९) '[1]रम्यक' नाम्ना महानिम्बः पठ्यते। "महानिम्बस्तु शिशिरः कषायः कटुतिक्तकः । अस्रदाहबलासघ्नो विषमज्वरनाशनः ॥" (रा.नि.)। "××× । कफपित्तभ्रमच्छर्दिकुष्ठहृल्लासरक्तजित् ।। प्रमेहश्वासगुल्मार्शोमूषिकाविषनाशनः ।" (भा. प्र.) ।

बकायन रस में कषाय-कटु और तिक्त, शीतवीर्य, रूक्ष तथा कफ, पित्त रक्तविकार, दाह, विषमज्वर, भ्रम, वमन, कुष्ठ, मितली, प्रमेह, श्वास, गुल्म, अर्श और चूहे के विष का नाश करनेवाला है।

यूनानीमत- वकायन दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, रक्तशोधक, पीड़ाशामक, व्रणशोधन, व्रणरोपण, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। अर्श में बकायन के फल की मज्जा का प्रयोग किया जाता है।

नव्यमत—बकायन के गुण साधारणतः नीम के समान हैं। यह कृमिघ्न त्वग्दोषहर गर्भाशयसंकोचक, वेदनास्थापन और शोधन है। इससे गोल कृमि मरते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

[1] "रम्यकोद्रेक्का, बकाइणि, इति लोके": डल्हण ।

वक्तव्य– कई आधुनिक लेखकों ने अरलु (ले. एइलेन्टस् एक्सेलसा) को महानिम्ब माना है। परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता। निघण्टुओं में महानिम्ब का पर्याय द्रेक (वका) लिखा है। बकायन को कश्मीर में द्रेंक और पंजाब में धरेक कहते हैं। जो द्रेक का अपभ्रंश है। वाग्भट ने अर्श में महानिम्ब का प्रयोग लिखा है। **"लवणोत्तमहिङ्गुकलिकङ्गयवांश्चिरबिल्वमहापिचुमन्दयुतान्। पिब सप्तदिनं मथितालुडितान् यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान्॥"** (चि. अ ८)। अर्श में बकायन के फलों का प्रयोग हकीम और वैद्य करते हैं अरलु का नहीं। इन दो प्रमाणों से प्राचीनों का महानिम्ब बकायन ही प्रतीत होता है।

---

(८१) रोहीतक।

नाम–(सं.) रोहीतक, प्लीहारि, दाडिमपुष्प; (पं.) रोहिड़ा, लहुड़ा; (हिं.) रोहेड़ा; (गु.) रोहि-ही-ड़ो; (ले.) एमूरा रोहीतका (Amoora Rohitaka)।

वर्णन--रोहीड़े के वृक्ष राजपूताना और पंजाब के राजपूताने से संलग्न भागों में अधिक होते हैं। फूल अनार के फूलों के समान लाल रंग के होते हैं।

उपयुक्त अंग—छाल। **मात्रा** १॥-३ माशा।

गुण-कर्म—**"रोहीतको यकृत्प्लीहगुल्मोदरहरः सरः॥"**

रोहेड़ा यकृत्, प्लीहा, गुल्म और उदररोग को दूर करनेवाला और सारक है।

रोहीतकप्रधान योग–रोहीतकलोह (सि. यो. सं. ज्वराधिकार) रोहीतकारिष्ट (भै. रं. प्लीहयकृदाधिकार)।

---

(८२) मांसरोहिणी।

नाम–(सं.) **मांसरोहिणी, रोहिणी**; (हिं.) **रोहण**; (गु.) **रोण, रोहणी**; (ता.) **शेम्मरम्**; **शूमि**; (ले.) **सॉयमीडा फेब्रिफ्युजा** (Soymida Febrifuga)।

वर्णन--रोहण के ऊँचे वृक्ष पर्वतों पर जंगलों में होते हैं। पर्ण संयुक्त; पुष्प हरापन लिये हुए श्वेत; फल मृदङ्गाकार, छोटे से सेव जितने बडे, भूरे लाल रंग के; छाल लाल रंग की और स्वाद में कड़वी होती हैं। छाल में क्षत करने से रक्त के जैसा लाल रंग का स्राव बहता है।

गुण-कर्म--**चरके (सू अ. ३४) बल्ये महाकषाये, सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादिगणे च रोहिणी पठ्यते। "मांसरोहा रसे पाके मधुरा तुवरा हिमा। भग्नसंधानकृत् प्रोक्ता तथैव व्रणरोपणी॥"**

रोहण रस और विपाक में मधुर, कषाय, शीतवीर्य, सन्धानीय और व्रणरोपण है।

नव्यमत—जीर्णज्वर में शरीर और आँतों में शिथिलता आती है तब रोहण की छाल का चूर्ण देते हैं। आँव और अतिसार में इससे अच्छा लाभ होता है। छाल के क्वाथ से व्रण धोते हैं, बस्ति देते हैं और कुल्ले कराते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

ज्योतिष्मत्यादि वर्ग २८.

N. O. Celastraceae (सिलेस्ट्रेसी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर, क्वचित् अभिमुख; पर्ण एकाकी; उपपत्र प्राय: होते नहीं और हों तो शीघ्र गिरनेवाले; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तर कोश के दल ४–५; पुंकेशर ३–५, दो थैलीवाला; फल अण्डाकार या गोलाई लिये हुए होते हैं।

---

(८३) ज्योतिष्मती।

नाम–(सं.) ज्योतिष्मती; (पं., हिं.) मालकँगनी; (म.) मालकांगोणी; (गु.) मालकांग (क)णी; (ता.) वालुलवैं; (मल.) पालुरु (ळ) वम; (अ.) तैलान, तैलाफयुन; (ले.) सिलेस्ट्रस् पॅनिक्युलेटा (Celastrus Paniculata)।

वर्णन—मालकँगनी की बड़ी वृक्षों पर चढ़ने वाली लता पहाड़ी प्रदेशों में होती है। पत्र अंडाकार नोकदार और पत्र की किनार आरे जैसी कटी हुई होती है। पुष्प पीले रंग के वैशाख ज्येष्ठ में लगते हैं। आषाढ़-श्रावण में फल पक जाते हैं। प्रत्येक फल में केशरी रंग के ३-३ बीज होते हैं।

उपयुक्त अंग–बीज और तैल। **मात्रा**-बीज ५-१५ रत्ती; तैल २-१० बिन्दु।

गुण कर्म—चरके (सू. अ. २) शिरोविरेचनद्रव्येषु, सुश्रुते (सू. अ. ३९) अधोभागहरे, शिरोविरेचने च वर्गे ज्योतिष्मती पठ्यते। "ज्योतिष्मती कटुस्तिक्ता सरा कफसमीरजित्। अत्युष्णा वामनी तीक्ष्णा वह्निबुद्धिस्मृतिप्रदा॥" (ध. नि)। "कटु ज्योतिष्मतीतैलं तिक्तोष्णं वातनाशनम्। पित्तसंतापनं मेधाप्रज्ञाबुद्धिविवर्धनम्॥ (रा. नि.)।

मालकँगनी कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, शिरोविरेचन, सारक, जठराग्निवृद्धि और स्मरणशक्ति को बढ़ानेवाली तथा कफ और वायु के रोगों का नाश करनेवाली है। मालकँगनी का तेल कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, बुद्धि और स्मरणशक्ति बढ़ानेवाला, पित्त का प्रकोप करनेवाला तथा वायु का नाश करनेवाला है।

नव्यमत---बीजों में ३० प्रतिशत गाढ़ा, रक्तवर्ण, कड़ुवा और गन्धयुक्त तैल तथा तिक्त राल होती है। बीजों को [1]जलाकर निकाले हुए तैल क्रियोसोट नामक अतिमहत्त्व का औषध होता है। मालकँगनी तिक्त, उष्ण, उत्तजक, स्वेदजनन, मूत्रजनन, वातहर और त्वग्दोषहर है। इसकी क्रिया मस्तिष्क और नाड़ियों पर होती है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--मालकँगनी दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, बुद्धि और स्मृति को बढ़ानेवाली, ठंडी से होनेवाले रोगों को दूर करनेवाली, पाचनशक्ति को बढ़ानेवाली, कोष्ठवातहर, वाजीकर, रक्तशोधक और कफ को निकालनेवाली है। सन्धिवात, पक्षाघात, गृध्रसी, कमर का दर्द आदि में इसके तेल की मालिश करते हैं। कफप्रधान कास श्वास में इसे खिलाते हैं। जिसकी स्मरणशक्ति कम हो उसको मालकँगनी का तैल गाय के घृत में मिलाकर खिलाते हैं।

बदरादि वर्ग २९.

N. O. Rhamnaceae (र्हेम्नेसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल पर्णक्रम एकान्तर अथवा अभिमुख; पर्ण सादे; उपपत्र बारीक, जल्द झड़नेवाले किंवा काँटों में रूपान्तरित; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४--५; स्त्रीकेशर १; गर्भाशय १--५ खानेवाला। फल मांसल और अविदारी।

------

(८४) बदर।

नाम--(सं.) [2]राजबदर, राजकोल, सौवीर; (क.) ब्रिय; (म.) उन्नाव, उनाब; (फा.) सेलान, जेलान; (पं., हि., गु., म.) उन्नाव; (ले.) झिझीफस् वल्गेरिअस (Zizyphus vulgaris), झिझीफस् सेटीवा (Zizyphus Sativa)।

---

[1] मालकँगनी के बीजों से दो प्रकार से तेल निकाला जाता है। (१) कोल्हू में दबाकर; इस प्रकार निकाला हुआ तैल ऊपर लिखे हुए लक्षणोंवाला होता है। (२) लोबान; लवंग, जायफल और जावित्री समभाग, मालकँगनी के बीज सबके समान; सबको एकत्र कूटकर पातालयंत्र से तैल निकालते हैं। यह तैल काले रंग का होता है। इसे बेरीबेरी में १०--१५ बूंद मात्रा में देने से अच्छा लाभ होता है। इस तैल के खाने से २--३ घंटे में जोर से पसीना आता है, परन्तु थकावट नहीं मालूम होती।

[2] "राजबदरो नृपेष्टो नृपबदरो राजवल्लभश्चैव। पृथुलफलस्तनुबीजो मधुरफलो राजकोलश्च ॥" (रा. नि. आ. व.)। "सौवीरं बदरं महत्" । (भा. प्र.)।

(सं.) कोल, बदर (मध्यम प्रमाण), हिं., पं., सिंध) बेर; (म., गु.) बोर; (ले.) झिझीफस् जुजुब (Ziziyphus jujuba)।

(सं.) कर्कन्धु, क्षुद्रबदर; (हिं.) झड़बेर; (पं.) कोकनबेर; (गु.) चणीआं बोर, चणी बोर; (ले.) झिझीफस् न्युमुलेरिआ (Zazyphus nummularia)।

वर्णन–बेर का काँटेदार वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। उन्नाब बेर की जातियों में सबसे उत्तम है। औषध में इसका ही प्रयोग करना चाहिये। उन्नाब हिन्दुस्तान में कश्मीर तथा उत्तर–पश्चिम सीमाप्रान्त में होते हैं। ईरान, अफगानिस्तान और चीन से भी आते हैं।

गुण--कर्म--चरके--(सू. अ. ४) हृद्ये महाकषाये कुवल-बदरे; हिक्कानिग्रहणे बदरबीजम्; उदर्दप्रशमने, श्रमहरे, स्वेदोपगे च बदरं; विरेचनोपगे कुवल बदर-कर्कन्धूनि पठ्यन्ते। सुश्रुते। (सू. ३८) आरग्वधादिगणे गोपघोण्टा (क्षुद्रबदरी), वातसंशमने वर्गे (सू. अ. ३९) बदर-कोले पठ्यते। "बदरं मधुरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित्। तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्ते न च विरुध्यते॥" अम्लं x x बदराणि x। पित्तश्लेष्मप्रकोपीणि कर्कन्धु x x (च. सू. अ. २७) "कर्कन्धु कोल-बदरमामं पित्तकफावहम् पक्वं पित्तानिलहरं स्निग्धं समधुरं सरम्॥ पुरातनं तृट्शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु।" (सु. सू. अ. ३९)। राजबदरः सुमधुरः शिशिरो दाहार्तिपित्तहरः। वृष्यश्च वीर्यवृद्धि कुरुते शोषश्रमं हरते॥"(रा. नि.) 'सौवीरं बदरं शीतं भेदनं गुरु शुक्रलम्। वृंहणं पित्तदाहास्रक्षयतृष्णानिवारणम्॥ कोलं तु बदरं साम्लं रुच्यमुष्णं च वातहृत्। कफपित्तकरं चापि गुरु सारकमीरितम्॥ अम्लं स्यात् क्षुद्रबदरं कषायं मधुरं मनाक्। स्निग्धं गुरु च तिक्तं च वातपित्तापहं स्मृतम्॥ शुष्कं भेद्यग्निकृत् सर्वं लघु तृष्णाक्लमास्रजित्।" (भा. प्र.) "तस्य मज्जा तु तुवरो मधुरो वीर्यवर्धनः। श्वासकासतृषादाहच्छर्दिमारुतपित्तजित्॥" (कै. नि.)। "बदरस्य पत्रलेपो ज्वरदाहविनाशनः। त्वचा विस्फोटशमनी, बीजं नेत्रामयापहम्॥" (रा. नि.)।

बड़े बेर (उन्नाब) मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध हृद्य, हिक्कानिग्रहण, श्रमप्रशमन, उदर्दप्रशमन, स्वेदोपग, विरेचनोपग, बाजीकर, वृंहण तथा दाह, पित्त, वात; रक्तविकार, शोष और तृषा को दूर करनेवाले हैं। कोल (मध्यम प्रमाण के बेर) कुछ अम्ल, रुचिकारक, वातहर, गुरु, सारक तथा कफ और पित्त को उत्पन्न करनेवाले हैं। छोटे बेर अम्ल, कषाय, कुछ मधुर, स्निग्ध, गुरु और वातपित्तहर है। सब प्रकार के सूखे बेर भेदन, दीपन, लघु तथा तृषा, थकावट और रक्तविकार को दूर करनेवाले हैं। बेर की मज्जा (मगज-मिगी) कषाय, मधुर, वीर्यवर्धक तथा श्वास, कास, तृषा, दाह, वमन, वात और पित्त का नाश करनेवाली है। बेर की ताजी पत्तियों का शरीर पर लेप करने से ज्वर का दाह कम होता है। बेर की छाल विस्फोट का शमन करती है।

नव्यमत–उन्नाव के फल में शक्कर और पिच्छिल द्रव्य होता है। छाल और पत्तियों में कषाय द्रव्य होता है। उन्नाब मधुर, स्नेहन और कफशामक है। छाल ग्राही व्रणशोधन और व्रणरोपण है। पत्ती चबाने से जीभ की स्वादग्रहण-शक्ति नष्ट होती है। कुनैन का स्वाद मालूम नहीं होता। छाल के क्वाथ से व्रण धोते हैं। उन्नाब, कतीरा, शक्कर और गुलाबपुष्प के घन की गोलियाँ मुंह में रखने से खाँसी कम होती है। खाँसी में उन्नाब का शर्बत देते हैं।

यूनानी मत–उन्नाव समशीतोष्ण, स्निग्ध, सारक, रक्तशोधक, कफनिस्सारक, कोष्ठ को नरम करनेवाला, तृषा तथा ज्वर की उष्णता को कम करनेवाला और शुष्ककास में लाभ करता है। उन्नाब का शर्वत के रूप में प्रयोग करते हैं।

उन्नाब की पत्तियों का चूर्ण ३-३ माशा दिन में दो बार जल के साथ देने से इक्षुमेह में लाभ होता है।

द्राक्षादि वर्ग ३०.

N. O. Vitaceae (विटेसी)।

वर्गलक्षण––इस वर्ग में प्रायः लतायें और क्वचित् क्षुप होते हैं। पर्णक्रम एकान्तर; शाखा और डंडियों में पानी जैसा रस होता है। पत्र एकाकी, कोनयुक्त और क्वचित् संयुक्त (सदल) होते हैं। पुष्प हरे रंग के, छोटे और झुमकों में लगते हैं। पुष्पबाह्यकोश के दल और पँखडियाँ ४–५; पुंकेशर ४–५ तथा फल मांसल होते हैं।

(८५) द्राक्षा।

नाम—(सं.) द्राक्षा, गोस्तनी, मृद्वीका, हारहूरा, कपिशा; (क.) दच्छ; (पं.) दाख, अंगूर; (हिं.) मुनक्का, अंगूर, दाख; (म.) द्राक्ष; (गु.) दराख, धराख; (सिंध.) ड्राख; (मा.) दाख, मिनक्का; (फा.) अंगूर (हरा), मवेज़ (सूखा), मवेज़मुनक्की (सूखा और बीज निकाला हुआ); (ले.) विटिस् विनिफेरा (Vitis vinifera)।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ ४) स्नेहोपगे, विरेचनोपगे, कासहरे, ज्वरहरे च गणे द्राक्षा पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) काकोल्यादिगणे, परूषकादिगणे, च द्राक्षा पठ्यते। "तृष्णादाहज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान्। वातपित्तमुदावर्तं स्वरभेदं मदात्ययम्॥ तिक्तास्यतामास्यशोषं कासं चाशु व्यपोहति। मृद्वीका बृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला॥" (च.सू अ. २७)। "तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला। रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा॥" (सु.सू.अ. ४६)।

"द्राक्षा तु मधुराऽम्ला च शीता पित्तार्तिदाहजित् । मूत्रदोषहरा रुच्या वृष्या संतर्पणी परा ।।" (रा. नि.) ।

द्राक्ष मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, बृंहण, वृष्य, सर, कण्ठ्य, स्नेहोपग, विरेचनोपग, रुचिकारक, संतर्पण तथा तृषा, दाह, ज्वर, श्वास; रक्तपित्त, उर:क्षत, क्षय, वात, पित्त, उदावर्त, स्वरभेद, मदात्यय, मुंह का कडुआपन, मुंह सूखना, खांसी और मूत्रदोष को दूर करनेवाली है। ये सब गुण पके हुए मीठे अंगूर के जानने चाहिये।

नव्यमत-द्राक्ष के रस से आसव, सिरका और मद्य बनाते हैं। द्राक्षा सड़ते समय यवक्षारमिश्रित चिञ्चाम्ल (एसिड् टार्टरेट्र ऑफ् पॉटॅश्) अलग होता है। उससे चिञ्चाम्ल (टार्टरिक् एसिड्) निकाला जा सकता है। द्राक्षा में द्राक्षाशर्करा (ग्रेप शुगर्), द्राक्षाक्षार, गोंद और सेवाम्ल (मॅलिक् एसिड्) होते हैं। बीजों में १६ प्रतिशत तैल होता है। कोमल शाखाओं और प्रतानों में टङ्कणाम्ल (बोरिक् एसिड्) होता है। आसवों में सुहागा या टङ्कणाम्ल डालने से आसव बिगड़ते नहीं। ताजी पकी हुई द्राक्ष पाचन, स्रंसन, बल्य, रक्तपित्तप्रशमन और रक्तशोधक है। सूखी हुई द्राक्ष शीतल, स्नेहन, कफशामक और स्रंसन है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(८६) अस्थिशृङ्खला।

नाम—(सं.) अस्थिशृङ्खला, वज्रवल्ली; (हिं.) हड़जोड़; (म.) कांडवले; (गु.) हाडसाँकल; (बं.) हाडजोडा, हाडभांगा; ; (ले.) विटिस् क्वॉड्रेन्ग्युलेरिस् (Vitis quadrangularis)।

वर्णन—हड़जोड़ की लंबी लता होती है। काण्ड हरे रंग का चतुष्कोण; काण्ड में बीच बीच में संधियाँ होती हैं। संधिस्थान पर काण्ड थोड़ा संकुचित होता है। पत्र एकान्तर; उपपत्रयुक्त, मोटे और धारदार किनारी वाले होते हैं। पुष्प छोटे, श्वेतवर्ण; फल गोल, रक्तवर्ण, रसाल और मटर इतने बड़े होते हैं।

गुण-कर्म—"वज्रवल्ली सरा रूक्षा कृमिदुर्नामनाशिनी। दीपन्युष्णा विपाकेऽम्ला स्वाद्वी वृष्या बलप्रदा।। अस्थिसन्धानजननी वातश्लेष्महरा लघुः ।।" (कै. नि.)।

हड़जोड़ रस में मधुर, विपाक में अम्ल, रूक्ष, लघु, उष्णवीर्य, सारक, दीपन वृष्य, बल्य, संधानीय तथा वात, कफ, कृमि और अर्श का नाश करनेवाली है।

नव्यमत—हड़जोड़ रक्तसंग्राहक और शोधन है। फिरंगोपदंश में हड़जोड़ के रस में वाकेरी का चूर्ण मिलाकर देते हैं। जिन स्त्रियों को महीने में दो बार मासिक आता हो और अधिक समय चलता हो उनको इसका स्वरस, गोपीचन्दन (या गेरू), घी और शहद मिलाकर देते हैं। नकसोर फूटने पर इसके रस का नस्य देते हैं। पूतिकर्ण में कान में रस डालते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

अरिष्टकादि वर्ग ३१.

N. O. Sapinadaceae (सॅपिन्डेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर, क्वचित् अभिमुख; पर्ण एकाकी अथवा संयुक्त, पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४-५; पुंकेशर ५-१०; फल मांसल।

---

(८७) अरिष्टक (रीठा)

नाम--(सं.) अरिष्टक, फेनिल; (हिं.) रीठा; (गु.) अरीठा; (क.) रॅट; (पं) रेठा; (म.) रिठा; (अ.) बुन्दुक हिंदि; (फा.) फुन्दुक फारसी; (ले.) सेपिन्डस् ट्राइफोलिएटा (Sapindus trifoliata)।

वर्णन--रीठे का बड़ा २०-३० फुट ऊँचा वृक्ष होता है। पर्ण संयुक्त और समदल होते हैं। पुष्प सफेद रंग के आश्विन-कार्तिक में आते हैं। पौष-माघ में फल पक जाते हैं। फल में तीन धार होती हैं।

गुण-कर्म-"रीठाकरञ्जस्तिक्तोष्णः कटुःस्निग्धश्च वातजित्। कफघ्नः कुष्ठकण्डूतिविषविस्फोटनाशनः॥" (रा. नि.) "अरिष्टः कटुकः पाके तीक्ष्णोष्णो लेखनोऽगुरुः। दोषत्रयहरो गर्भपातनो ग्रहशान्तिकृत्॥ तज्जलं वामकं पानान्नस्याच्छीर्षरुजापहम्। अर्धशीर्षव्यथां हन्ति वमनाद्विषनाशनः॥ (नि. सं.)॥

रीठा तिक्त, कटु, स्निग्ध, लघु, तीक्ष्ण, कटुविपाक, उष्णवीर्य, लेखन, गर्भपातकरनेवाला तथा वात, कफ, कुष्ठ, कण्डू, विष और विस्फोटक का नाश करनेवाला है। रीठे के पानी का नस्य देने से सिर का दर्द मिटता है। रीठे का जल पिलाने से वमन होता है और वमन के द्वारा विष निकल जाता है।

नव्यमत—रीठे के फल में ११॥ प्रतिशत साबुन, १० प्रतिशत शर्करा और लुआब जैसा कफघ्न, पदार्थ होता है। बीजों में ३० प्रतिशत तैल होता है। रीठे का गुदा उष्ण, तिक्त, स्निग्ध, कफघ्न, वामक और वातहर है। बड़ी मात्रा में रेचन और वामक है। इसकी क्रिया इपिकाक्युआना और सेनेगा जैसी होती है। इससे शीघ्र वमन होता है और त्रास नहीं होता। इसका लेप वेदनास्थापन और शोथघ्न है। दमे में कफ निकालने के लिये इसका वमन देते हैं। इससे कफ पतला होकर गिरता है और हृदय को शक्ति मिलती है। कफरोग में इसको अल्पमात्रा में ही देना चाहिये। दमे में और आधासीसी में इसके नस्य से बड़ा लाभ होता है। अफीम के विष में रीठे का पानी वमन कराने में लिये देते हैं। कुष्ठ, कण्डू संधिशोथ, विस्फोटक और गण्डमाला में तथा बीछू, कनखजूरा (गोंजर) और जहरीली मक्खी के दंश में रीठे का लेप किया जाता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–रीठा दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अर्दित (लकवा), अपस्मार, आधासीसी और शीतजन्य शिरोरोग में रीठे को पीसकर उसका नस्य देते हैं। रीठे को जल में पीस, कपड़े पर लगा और बत्ती बनाकर योनि में रखने से रज:स्राव रुका हो तो जारी होता है। रीठे के फल की मींगी वाजीकर है।

आम्रादि वर्ग ३२.

N. O. Anacardiaceae (ॲनेकार्डिएसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विमक्तदल; उपरिस्थ बीजकोश; पर्णक्रम एकान्तर या अभिमुख; पर्ण एकाकी या संयुक्त, उपपत्ररहित; पुष्पबाह्यकोश, पुष्पाभ्यन्तरकोश और पुंकेशर ४-५; फल अष्ठील और मांसल।

---

(८८) आम्र

नाम—(सं.) आम्र, सहकार, चूत, रसाल; (क.) अंब, अंभ; (पं.) अंब; (हिं, बं.) आम; (म.) आंबा; (गु.) आंबो; (सि.) अम्ब; (अ.) अंबज; (फा.) अंब; (ले.) मेन्गिफेरा इन्डिका (Mangifera indica)।

वर्णन—आम हिन्दुस्तान में सर्वत्र प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) हृद्ये, छर्दिनिग्रहणे (आम्रपल्लवं), पुरीषसंग्रहणीये, मूत्रसंग्रहणीये महाकषाये तथा कषायस्कन्धे अम्लस्कन्धे च आम्र: पठ्यते। ‘रक्तपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम्। पक्वमाम्रं जयेद्वायुं मांसशुक्रबलप्रदम् ॥’’ (च. सु. अ. २७)। ‘‘पित्तानिलकरं बालं, पित्तलं बद्धकेशरम्। हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम् ॥ कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु। पित्ताविरोधि संपक्वमाम्रं शुक्रविवर्धनम्।’’ (सु सू. अ. ४६)। ‘‘त्वङ्मूलपल्लवं ग्राहि कषायं कफपित्तजित्।’’ (ध. नि.)। ‘‘आम्रत्वचा कषाया च, मूलं सौगन्धि तादृशम्। रुच्यं संग्राहि शिशिरं, पुष्पं रोचन दीपनम् ॥ (रा. नि.)।

आम हृद्य, छर्दिनिग्रहण (कोमलपत्ती), पुरीषसंग्राहणीय और मूत्रसंग्रहणीय है। कच्चा–कोमल आम पित्त, वायु और रक्तपित्त करनेवाला है। जिसमें केशर (रसकोश) बने हों ऐसा आम पित्तको बढ़ानेवाला है। पका हुआ कषायानुरस, मधुर, हृद्य, शरीर के वर्ण को अच्छा करनेवाला, रुचिकर, बृंहण, गुरु, पित्त को अविरोधि, वातघ्न तथा रक्त-मांसल और वीर्य को बढ़ानेवाला है। आम के मूल, त्वचा और कोमल पत्ती कषाय, ग्राही और कफ तथा पित्त को दूर करनेवाले हैं। फूल रोचन और दीपन।

उपयुक्त अंग--त्वचा, फल, रज और पत्ते।

नव्यमत—त्वचा उत्तम रक्तसंग्राहक है । मज्जा कृमिघ्न और रक्तसंग्राहक है । इससे गोल कृमि मरते हैं । पके फल का रस पौष्टिक, स्रंसन और रक्तपित्तप्रशमन है । छाल का क्वाथ फुफ्फुस, आँतों और गर्भाशय से रक्तस्राव होता हो तो उसको बंद करने के लिये देते हैं । रक्तार्श और अत्यार्तव में मग्ज १०–१५ रत्ती प्रमाण में देते हैं । जूने सुजाक में जब पुष्कल पीप आती हो तब कोमल पत्तियों का स्वरस देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

कच्चे फल का पानक लू लगने पर पिलाते हैं । गुठली के भीतर का मग्ज अतिसार और पेचिस में देते हैं ।

(८९) भल्लातक ।

नाम—(सं.) भल्लातक, अरुष्कर; (हिं.) भिलावा; (क.) बिलावा; (पं.) भिलावा; (म.) बिब्वा; (गु., मा.) भिलामो; (बं.) भेला; (अ.) बलाज़ुर, हब्बुल् फल्ब; (फा.) बिलादुर; (ले.) सेमीकार्पस् ॲनेकार्डिअम (Semecarpus anacardium) ।

वर्णन—भिलावे का बड़ा वृक्ष होता है । पर्ण शाखाग्रोद्भूत लंबे, चौड़े, पत्राग्र गोल, पत्रपृष्ठ श्वेताभ; पुष्प पीताभ; फल हृदयाकृति, काले रंग के; कच्चे फलों में दूध जैसा श्वेतवर्ण का रस होता है जो पकने पर काला हो जाता है । फल के नीचे का वृन्त फूला हुआ, मांसल होता है, जो फलवत् खाया जाता है ।

वक्तव्य—प्राचीनों ने इसी फूले हुए वृन्त को फल (फलाभास फळ) माना है और सच्चे फल को अस्थि या बीज माना हैं । प्राचीन निघण्टुकारोंने भल्लातक का पर्याय पृथग्बीज दिया है ।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) दीपनीये, कुष्ठघ्ने, मूत्रसंग्रहणीये च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादौ, मुस्तादौ च गणे भल्लातकं पठ्यते । “भल्लातकास्थ्यग्निसमं तन्मांसं[1] स्वादु शीतलम् ।”(च. सू. अ. २७)। ‘भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च । भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥ कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन । यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम् ॥”(च. चि. अ. १ पा. ३) ॥ “आरुष्करं तौवरकं कषायं कटुकं रसे । उष्णं कृमिज्वरानाहमहोदावर्तनाशनम् ॥ कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं कटुपाकी तथैव च (सु. सू. अ. ४६) ॥ “भल्लातकः कषायोष्णः शुक्रलो मधुरो लघुः । वातश्लेष्मोदरानाहकुष्ठार्शोग्रहणीगदान् ॥ हन्ति गुल्मज्वरश्वित्रं वह्निमान्द्यकृमिव्रणान् । वृन्तमारुष्करं स्वादु पित्तघ्नं केश्यमग्निकृत् ॥ तन्मज्जा मधुरो वृष्यो बृंहणो वातपित्तहा।’

---

[1] ‘त्वङ्मांसं’ इति पाठान्तरम ।

(भा. प्र.)। भल्लावृन्तं मधुरं कषायं वातकोपनम्। विष्टम्भि दुर्जरं शीतं रक्तपित्तप्रदूषणम् ।। (राजवल्लभः) ।

भिलावे के फल (फलाभास वृन्ताग्र) का गूदा मधुर; कषाय, शीतल, विष्टम्भि, दुर्जर; वातकोपन और रक्तपित्तप्रकोपक है। भिलावा रस में मधुर-कषाय और कटु, लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, शुक्रल (वीर्यवर्धक), पाक करनेवाला (फोड़ा उत्पन्न करनेवाला) तथा कृमि, ज्वर, आनाह, प्रमेह, उदावर्त, कुष्ठ, अर्श, ग्रहणीरोग, गुल्म, श्वित्र, अग्निमान्द्य तथा वात और कफ के रोगों का नाश करनेवाला है। कोई भी ऐसा कफज रोग या विबन्ध (कब्ज और स्रोतों का अवरोध) नहीं है कि जिसको भिलावा दूर न करता हो। भिलावे का मगज वृष्य, बृंहण तथा वात और पित्त को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–भिलावे का रस (तैल) शरीर पर लगने पर त्वचा काली होकर जलन होने लगती है; फोड़ा उठता है और उसमें की लसीका जहाँ जहाँ लगती है वहाँ वहाँ भी फोड़े उठते हैं। पुष्कल लोगों को भिलावाँ लगता है याने पेशाब करने में त्रास होता है, ज्वर आता है और फोड़े फटकर व्रण होते हैं। भिलावे की यह क्रिया लक्ष्य में आनेपर मन में स्वाभाविक ख्याल आता है कि जैसे भिलावाँ बाहर लगानेसे त्रास होता है वसा ही किंबहुना उससे भी अधिक त्रास खाने को देनें पर होगा परंतु ऐसा कुछ होता नहीं। योग्य प्रमाण में और योग्य आहार-विहार के साथ भिलावाँ खिलाने से कुछ भी हानि नहीं होती। भिलावाँ तीक्ष्ण, उष्ण, लघुपाक, कटु, दीपन, पाचन, स्वेदजनन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, मूत्रजनन, कुष्ठघ्न, अर्शोघ्न, बाजीकर, नाड़ीसंस्थान के लिये उत्तेजक, रक्ताभिसरण के लिये उत्तेजक, कासहर, उत्तेजक, श्लेष्मनिःसारक, शोथघ्न, रसग्रन्थियों के लिये उत्तेजक, आमनाशन, रक्तान्तर्गत् श्वेतकणवर्धक और रसायन है। भिलावाँ रक्त में शीघ्र मिल जाता है परंतु धीरे धीरे शरीर से बाहर निकलता है। पचननलिका के आमाशय और उत्तरगुद इन भागों पर इसकी क्रिया विशेष होती है। यकृत् पर इसकी जोरदार उत्तेजक क्रिया होती है और इससे पित्तस्राव ठीक होता है। इससे यकृत् का रक्ताभिसरण और विनिमय-क्रिया ठीक और अच्छी तरह होती है। इसलिये उत्तरगुद पर रक्त का दबाव कम होता है। गुदा की फूली हुई सिरायें (अर्श) संकुचित होती हैं और गुदवली को शक्ति मिलने से मल संचय होने नहीं पाता। भिलावे से भूख खूब लगती है और दस्त पीले रंग का साफ होता है त्वचापर भिलावे की जोरदार क्रिया होती है और त्वचा के रास्ते से बाहर निकलता है इसलिये पसीना खूब आता है, त्वचा गरम मालूम होती है, खाज आती है और त्वचा लाल होती है। मूत्रपिण्ड (वृक्कों-गुर्दों) पर अति तीव्र और उत्तेजक क्रिया होती है। प्रारम्भ में मूत्र का प्रमाण बढ़ता है परंतु-तुर्त गुर्दे थक जानेसे मूत्र की उत्पत्ति कम हो जाती है। यह क्रिया इतनी तीव्र होती है

कि कभी कभी मूत्र रक्त से भरा हुआ होता है। गुदों के समान मूत्रनलिका के लिये भी भिलावां उत्तेजक है। इसलिये भिलावां खाने के बाद शिश्नेन्द्रिय में पीड़ा होती है और शिश्न को दबावे ऐसी इच्छा होती है। इसके सिवाय ज्ञानतन्तुओं के द्वारा भी भिलावां शिश्न और वृषण के लिये उत्तेजक है। इस प्रकार भिलावां प्रत्यक्ष और परोक्षरीत्या वाजीकर है। भिलावे से नाड़ी का प्रमाण बढ़ता है और हृदय का स्पन्दन स्पष्ट मालूम होता है। रक्तान्तर्गत श्वेतकण बढ़ते हैं और इससे शोथ कम होता है। श्वेतकण बढ़ने से और रसग्रन्थियों को उत्तेजन मिलने से ग्रन्थियों की वृद्धि कम होती है। सारांश भिलावां शरीर के सब अवयवों के लिये उत्तेजक है और थोड़ी मात्रा में लेते रहने से बिनिमयक्रिया सुधरती है; इसलिये भिलावां रसायन है।

कफज और वातज रोगों में भिलावे का प्रयोग किया जाता है। यह उष्णवीर्य है इसलिये शीतकाल में ही इसका प्रयोग करना चाहिये, गरमी के समय में इसका प्रयोग न करना चाहिये। छोटे बालक, सगर्भा स्त्री और वृद्धों (तथा पित्तप्रकृतिवालों) को भिलावा नहीं देना चाहिये। इसका प्रयोग चलता हो तब रोगी को दूध, घी, शक्कर और भात देना चाहिये; नमक (और उष्ण पदार्थ) नहीं देना चाहिये। भिलावे का प्रयोग चलता हो तब रोगी का पेशाब देखते रहना चाहिये। यदि पेशाब का प्रमाण घट जाय और पेशाब धूम्र (या रक्त) वर्ण का आने लगे तो प्रयोग बन्द करना चाहिये। भिलावे की मात्रा अधिक हो (या भिलावा सहन न हो) तो प्रथम शरीर पर खाज आने लगती है, खूब पसीना आता है, जलन होती है, तृषा अधिक लगती है और पीछे पेशाब लाल होता है। ऐसे लक्षण देखते ही तुर्त निवारण औषध देना चाहिये (डॉ. वा. ग. देसाई)।

भिलावे की हानिकर क्रिया सबसे पहले गुदा और शिश्नेन्द्रिय के मुख पर मालूम होती हैं। वहां खाज आने लगे या जलन मालूम होने लगे तो तुर्त प्रयोग बंद कर के नारियल का तैल, घी या राल का मलहम[1] लगाना चाहिये। तिल और नारियल खाने को देना चाहिये।

भल्लातकप्रधान योग—अमृतभल्लातक (भै. र. वातरोगाधिकार)। चरक चि. अ. १, पाद २ में भिलावें के १० योग तथा सु. चि. अ. ६ में भिलावें के योग लिखे हैं।

------

(९०) कर्कटश्शृङ्गी।

नाम--शृङ्गी, कर्कटश्रृङ्गी; (हिं.) काकड़ासींगी; (फ) काकड़ासिंगी; (पं.) ककड़सिंगी; काकड़ासिंगी; (म.) काकडसिंगी; (गु.) काकडासिंगी; (ब.) काँकडाशृङ्गी; (ले.) हस् सुक्सिडेनिआ (Rhus Succedanea)।

---

[1] राल के मलहम का योग सिद्धयोगसंग्रह के व्रणाधिकार में देखें।

वर्णन—हिमालय की नीचे की पहाड़ियों में काकड़ासिंगी के वृक्ष होते हैं। वृक्ष को पंजाबी में ककर कहते हैं। इस वृक्ष पर पत्रवृन्त या पत्र पर कीटविशेष-द्वारा बनाये हुए शृङ्गाकार कोश को 'काकड़ासिंगी' कहते हैं। काकड़ासिंगी १-३ इंच लंबी, .।।.–१ इंच चोड़ी रक्ताभ भूरे रंग की, भीतर से पोली और भंगुर होती है। तोड़ने से भीतर से सफेद जाले जैसा पदार्थ निकलता है जो इसके बनानेवाले कीट का अवशेष होता है। काकड़ासिंगी स्वाद में कषाय और कुछ कड़वी होती है। बंबई बाजार में एक प्रकार की नकली काकड़ासिंगी बिकती है। यह हरीतकी के वृक्ष पर कीटद्वारा बना हुआ एक प्रकार का कोश है।

गुण-कर्म-चरके—(सू अ. ४) हिक्कानिग्रहणे, कासहरे च महाकषाये तथा सुश्रुते काकोल्यादिगणे कर्कटशृङ्गी पठ्यते। "शृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफवातक्षयज्वरान्। श्वासोर्ध्ववाततृट्कासहिक्कारुचिवमीन् हरेत्"।।(भा.प्र.)।

काकड़ासिंगी कषाय, तिक्त, उष्णवीर्य तथा वात, कफ, क्षय, ज्वर, श्वास, ऊर्ध्ववात, तृषा, खांसी, हिक्का, अरुचि और वमन का नाश करनेवाली है।

नव्यमत—काकड़ासिंगी कषाय, तिक्त, उष्ण, कफघ्न और संग्राहक है। कफ रोगों में काकड़ासिंगी विशेष उपयोगी है। नये और पुराने श्वासनलिका-शोथ में इससे जमा हुआ कफ गिरता है और नया कफ उत्पन्न नहीं होता। श्वासनलिकाओं की श्लेष्मल त्वचा को इससे शक्ति मिलती है। श्वासनलिकाशोथ में गले में शिथिलता उत्पन्न होती है और कागलिया (कौआ) बढ़ता है, जिससे बिनाकारण (बिना कफ के) ज्यादा खांसी आती है, वह इससे बंद होती है। बड़े मनुष्यों की अपेक्षया यह बच्चों को विशेष अनुकूल पड़ती है। काकड़ासिंगी, अतिविषा, बच और नागरमोथा का चूर्ण बच्चों को देते हैं। कफरोगों में कभी कभी उलटी और जुलाब होते हैं, तब काकड़ासिंगी से विशेष लाभ होता है। आमाशय के प्रदाह से उत्पन्न वमन, हिक्का, जीर्ण अतिसार और जीर्ण आंव में काकड़ासिंगी देते हैं (डॉ. वा ग. देसाई)।

---

(९१) तिन्तिडीक।

नाम--(सं.) तिन्तिडीक; (क.)चोक्कमुसुर; (हिं.)समाकदाना; (पं.) खट्टे मसर; (मा.) डांसरिया; (अ.) सुमाक; (ले.) हस् पार्विफ्लोरा (Rhus parviflora)।

वर्णन--मसूर के जैसे लाल रंग के दाने (फल) समाकदाने के नाम से बाजार में मिलते हैं। इसके छिलकों को यूनानी वैद्य गिर्द सुमाक या पोस्त सुमाक कहते हैं। फल के छिलके दवा के काम में लिये जाते हैं। इनका स्वाद खट्टा होता है। यूनानी हकीम इनका विशेष प्रयोग करते हैं।

गुण-कर्म—"वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत्।" (सु. सू. अ. ४६) ।

पक्के सुमाकदाने वातहर और कच्चे पित्त तथा कफ करनेवाले हैं ।

यूनानीमत--सुमाकदाने शित, रूक्ष, ग्राही, आमाशय को शक्तिप्रद (दीपन), पित्तशामक और रक्तस्राव तथा मूत्राधिक्य को रोकनेवाले हैं । पोस्तसुमाक को पैत्तिक अतिसार, हृल्लास (मितली),वमन और तृषा को रोकने के लिये देते हैं ।

नव्यमत--सुमाक हृद्य, दीपन, ग्राही,रक्तपित्तप्रशमन और रक्तसंग्राहक है। इसको गर्भिणी स्त्रियों के जुलाब में,अशक्त मनुष्यों के रक्तयुक्त आंव में,पित्तप्रकोप से उत्पन्न वमन में तथा ज्वर में शरीर का दाह और तृषा कम होने के लिये देते हैं ।

(९२) मुकूलक (पिस्ता) ।

नाम—(सं.) मुकूलक; (पं., हिं., गु.) पिस्ता; (म.) पिस्ते; (अ.) फुस्तुक, बस्तज; (फा.) पिस्ता; (ले.) पिस्टेसिआ वेरा (Pistacia vera)।

उत्पत्तिस्थान—सिरिया, ईरान और अफगानिस्तान ।

वर्णन—पिस्ता भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । पिस्ते का मग्ज सूखे मेवे के तौर पर खाया जाता है । पिस्ते के वृक्षों के पत्तों पर एक प्रकार का कीड़ों का घर (कीटकोश)बनता है,उसको हिंदी में पिस्तके फूल और फारसी में गुलपिस्ता, बुजगुज और बुजगुंद कहते हैं । पिस्ते के बाहर के छिलके को यूनानी वैद्यक में पोस्त बेरून पिस्ता कहते हैं और हकीम लोग इसका दवाओं में प्रयोग करते हैं। पिस्ते के फूल एक बाजू गुलाबी और दूसरी बाजू कुछ पीले रंग के होते हैं। इसका स्वाद कुछ अम्लता लिये हुए कषाय होता है ।

गुण-कर्म—"× × × मुकूल × । गुरूष्णस्निग्धमधुराः× बलप्रदाः । वातघ्ना बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः ॥" (च. सू. अ. २७) । × × × मुकूल × प्रभृतीनि । पित्तश्लेष्मकराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च ॥ बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च ॥ (सु. सू. अ. ४६) ।

पिस्ते मधुर, गुरु, स्निग्ध, उष्णवीर्य, बल्य, बृंहण, वृष्य वातहर और कफ तथा पित्त को बढ़ाने वाले हैं ।

नव्यमत—पिस्ते के फूल का चूर्ण पानी में ६५ प्रतिशत और मद्य में ७५ प्रतिशत विलीन होता है। इसमें ४५ प्रतिशत कषाय द्रव्य होता है और ७ प्रतिशत सुगन्धित तैलयुक्त राल होती है । धर्म-संग्राहक । गले की शिथिलता में और कौआ बढ़ने पर इसकी गोलियां बनाकर मुंह में रखते हैं । पुराने अतिसार में इसका चूर्ण खाने को देते हैं (डॉ॰ वा.ग. देसाई) ।

यूनानी मत—पिस्ते का मग्ज गरम, तर, हृदय और मस्तिष्क को बल देनेवाला, पौष्टिक तथा वाजीकर है । पिस्ते के फूल खाँसी में लाभ पहुँचाते हैं ।

---

(९३) प्रियाल (चिरौंजी) ।

नाम—(सं) प्रियाल, चार; (हिं.) पियाल, पियार (वृक्ष); चिरौंजी (फलमज्जा); (पं.) चिरोंजी; (म., गु.) चारोळी; (ले.) बुकनेनिआ लेटिफोलिआ (Buchanania latifolia) ।

वर्णन—प्रियाल का वृक्ष पर्वतों के नीचे के भागों में होता है । पत्र ८–१० इंच लंबे, ५–६ इंच चौड़े; पत्र नोकदार, पत्र की किनारी अखंड; पुष्प शाखाग्र पर छोटे श्वेत-पीताभ; फल पकने पर श्यामवर्ण, मांसल, खटमीठा; फल और फल की गिरी खाई जाती है ।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) श्रमहरे, उदर्दप्रशमने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादिगणे प्रियालः पठ्यते । "गुरूष्णस्निग्धमधुरा × बलप्रदाः । वातघ्ना बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः ।। प्रियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः । प्रियालतैल मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम् । हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात् संयोगे कफपित्तयोः ।।" (च. सू. अ. २७) । वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम् । प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ।। (सु. सू. अ. ४६)। "प्रियालः कफपित्तघ्नः कषायोऽस्य फलं गुरु । स्वाद्वम्लं मधुरं पाके सुस्निग्धं शीतलं सरम् ।। विष्टम्भि बृंहणं वृष्यं बल्यं श्लेष्माभिवर्धनम् । जयेन्मारुतपित्तास्रतृष्णादाहक्षतक्षयान् ।" (कै. नि.) ।

चिरौंजी का फल मधुर, अम्ल, कषाय, मधुरविपाक, गुरु, स्निग्ध, शीतवीर्य, श्रमहर, उदर्दप्रशमन, सारक, विष्टम्भि, बलकारक, बृंहण, वृष्य, कफ और पित्त को बढ़ानेवाला तथा वात, रक्तविकार, तृषा, दाह, क्षत, और क्षय का नाश करनेवाला है । चिरोंजी का मग्ज मधुर, वृष्य तथा पित्त और वायु का नाश करनेवाला है । चिरौंजी के मग्ज का तैल मधुर, गुरु और कफ को बढ़ानेवाला है ।

नव्यमत—चिरौंजी में मांसवर्धक द्रव्य ३०, स्टार्च २।। तथा तैल ५८ प्रतिशत होता है । चिरौंजी उत्तम पौष्टिक द्रव्य है । इसको बादाम के स्थान में काम में ले सकते हैं । खांसी में चिरोंजी की पेया देते हैं । बाल काला करने के लिये चिरोंजी का तैल सिर में लगाते हैं । त्वग्रोग में चिरोंजी पीसकर उबटन (उद्वर्तन) करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(९४) रूमी मस्तगी

नाम--(हिं.) मस्तगी, रूमी मस्तगी; (म.) रुमा मस्तकी; (अ.) मस्तकी, अलकरूमी; (फा.) कुंदर रूमी; (मा.) रूमी मस्तंगी; (ले.) पिस्टेसिआ लेन्टिस्कस् (Pistacia lentiscus)।

वर्णन—यह एक प्रकार का गोंद है जो तुर्कस्थान में पिस्ते की जाति के वृक्ष से निकलता है। इसके उत्तम कुंदरु जैसे पीलाई लिय हुए सफेद रंग के, सुगन्धि गोल टुकड़े बाजार में मिलते हैं। स्वाद कुछ मीठा होता है। रूमी मस्तगी को खरल में दस्ते से कूटने से चिपक जाती है। इसलिये पहले इसकी कपड़े में पोटली बांध, पानी में डुबा, पानी से बाहर निकाल, कोरे कपडे से पोंछकर तुर्त पीसते हैं तो इसका चूर्ण आसानी से हो जाता है। मस्तगी का हकीम लोग विशेष व्यवहार करते हैं।

गुण-कर्म--यूनानीमत-— मस्तगी दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क; आमाशय और यकृत् को बलप्रद, कोष्ठवातहर, शोथहर, ग्राही, लेखन, रक्तस्तम्भक और दोषप्रशमन है।

मात्रा--१०—२० रत्ती।

नव्यमत--रूमी मस्तगी सुगन्धि, उत्तेजक, कफघ्न, मूत्रजनन और ग्राही हैं। फुफ्फुस के रोगों में कफ अधिक गिरता हो तब रूमी मस्तगी देते हैं। इससे श्वासमार्ग की श्लेष्मलत्वचा को शक्ति मिलती है। मुख की दुर्गंध दूर करने; दांतों को मजबूत बनाने और आमाशयरस बढ़ाने के लिये इसे मुंह में रखकर चबाते हैं।

शोभाञ्जनादि वर्ग ३३

N. O. Moringaceae (मोरिंगेसी)।

वर्गलक्षण---सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्ण एकान्तर और सदल (संयुक्तदल); पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५; पुंकेशर अनियत; स्त्री केशर १; फल लंबी सेम; सेम तीन स्थान से खुलती है। बीजों से पुष्कल तैल निकलता है।

---

(९५) शोभाञ्जन।

नाम--(सं.) शोभाञ्जन, शिग्रु अक्षीव, कृष्णगन्धा; (हिं.) सहिजना; (बं) शजिना; (पं.) सु. (सो.) हांजना; (म.) शेवगा शेगटा; (गु.) सरगवो, सेकटो; (सिं.) सुहांजिड़ो; (मा.) सहजणो; (ले.) (Moringa pterygosperma) मोरिंगा टेरिगोस्पर्मा (मधुशिग्रु); मोरिंगा कोन्केनेन्सिसे (Moringa concanensis) (कटुशिग्रु)।

वर्णन—सहिजने के वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इसकी कच्ची सेमों का अचार और साग बनाते हैं।

उपयुक्त अंग—वृक्ष तथा मूल की छाल, बीज और तैल।

गुण–कर्म—चरके (सू. अ. ४) कृमिघ्ने, स्वेदोपगे, शिरोविरेचनोपगे च महाकषाये, हरितकवर्गे (सू. अ. गे. २७), कटुकस्कन्धे (शिग्रुक–मधुशिग्रुकौ वि. अ. ८) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) वरुणादिगणे शिग्रु-मधुशिग्रुकौ, शिरोविरेचनवर्गे च शिग्रुः पठ्यते। "कटुः सक्षारमधुरः शिग्रुस्तिक्तोऽथ पिच्छिलः। मधुशिग्रुः सरस्तिक्तः शोथघ्नो दीपनः कटुः॥" (सु. सू. अ. ४६)। "शिग्रुः सरः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः। दीपनो रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत्॥ संग्राह्यशुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः। चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुकृमीन्। मेदोपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान् हरेत्। शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्तिहृत्। चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्। अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्तिहृत्॥" (भा. प्र.)। "× × × शिग्रु × × × तैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि चेति।" (सु. सू. अ. ४५)।

सहिजना मधुर, कटु, तिक्त, किञ्चित् क्षारयुक्त, कटुविपाक, उष्णवीर्य, पिच्छिल, सारक, दीपन, तीक्ष्ण, लघु, कृमिघ्न, स्वेदोपग, शिरोविरेचन, रोचन, विदाही, हृद्य, चक्षुष्य, वीर्य को हानिकारक तथा कफ, वात, विद्रधि, शोथ, मेद, अपची, विष, प्लीहा के रोग, गुल्म, गण्ड और व्रण का नाश करनेवाला है। सहिजने की छाल और पत्ती का स्वरस पीड़ाशामक है। सहिजने के बीज तीक्ष्ण, उष्णवीर्य तथा विष, शुक्र, कफ और वात का नाश करनेवाले हैं। सहिजने के बीज के चूर्ण का नस्य सिर के दर्द को मिटाता है। सहिजने के बीजों का तैल तीक्ष्ण, लघु, उष्णवीर्य, कटु, कटुविपाक, सारक तथा वायु, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—सहिजने के मूल की ताजी छाल कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, रुचिकर, दीपन, पाचन, उत्तेजक, कोष्ठवातप्रशमन, वातहर, स्वेदजनन, मूत्रजनन, कफहर, शोथहर और व्रणदोषनाशक है। इससे आमाशय का रक्ताभिसरण बढ़ता है, इसलिये अधिक पाचनरस उत्पन्न होते हैं और अन्न पचता है। अन्न पचकर उसका आँतों को उत्तेजक ऐसा मल बनता है और खुद आँतों को भी उत्तेजन मिलता है इसलिये दस्त साफ होता है। इसकी स्वेदजननक्रिया नाड़ियों द्वारा, रक्तवाहियों द्वारा और स्वेदग्रन्थियों पर होती है और इससे शरीर का दाह होता है। अडूसे से जैसा प्रत्यक्ष कफ छुटता है ऐसा इससे छुटता नहीं परंतु नाड़ियों और हृदय को उत्तेजन मिलने से रोगी की खाँसने की शक्ति बढ़कर कफ छुटता है। सहिजना हृदय और नाड़ियों के लिये उत्तेजक है। इसकी वृक्कों पर प्रत्यक्ष क्रिया होती है इसलिये मूत्र का प्रमाण बढ़ता है और मूत्र के

अंदर के क्षार भी बढ़ते हैं। इसकी छाल का कल्क त्वचा पर बांधने से त्वचा लाल होती है। बांधे हुए भाग की रक्तवाहिनियां विकसित होती हैं और वहां रक्तान्तर्गत श्वेतकण जमा होते हैं। इसलिये व्रणशोथ उतरता है। सिवाय इसके पसीना आकर और मूत्र बढ़कर व्रणकारक दोष निकल जाते हैं। अग्निमान्द्य कुपचन, आध्मान, आनाह और पेट के दर्द में छाल का कल्क देते हैं। हृदयोदर, यकृद्दाल्युदर और प्लीहोदर में इतर मूत्रजनन और विरेचन द्रव्यों के साथ छाल का फांट देते हैं। × × ×। सहिजना वृक्कशोथ होकर जो उदर होता है उसमें नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे वृक्क का शोथ बढ़ता है। व्रणशोथ पर त्वचा के कल्क का लेप करते हैं और उसका फांट पीने को देते हैं। विद्रधि में इसके फांट में हींग और सैंधव मिलाकर देते हैं। बीजों के तैल की सन्धिवात और आमवात में मालिश करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत–सहिजना गरम, खुश्क, दीपन और कोष्ठवातप्रशमन है। सहिजने के फूल, पत्तियां, फली और गोंद का शीत-कफज रोगों में उपयोग किया जाता है। पेट के कृमि और दर्द, खांसी, दमा, प्लीहा का शोथ, संधिवात, कमर का दर्द तथा कफ और वातज रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। शोथ को बैठाने और उसकी पीड़ा कम करने के लिये पत्तियों का लेप करते हैं। इसके बीज कामोत्तेजक हैं।

शिम्बी वर्ग ३४.

N. O. Leguminoseae (लेग्युमिनोसी)।

इस वर्ग के फल शिम्बी (सेम) के आकार में होते हैं इसलिये इसको शिम्बीवर्ग कहते हैं। पुष्प की रचनाविशेष से इस वर्ग के तीन उपवर्ग किये गये हैं-(१) अपराजितादि उपवर्ग, (२) पूतिकरञ्जादि उपवर्ग तथा (३) बब्बूलादि उपवर्ग।

अपराजितादि उपवर्ग Papilionaceae (पोपोलिओनेसी)।

वर्गलक्षण—पर्णक्रम एकान्तर; पर्ण करतलाकार या पक्षाकार, एकाकी या संयुक्त; पुष्प अनियमित, बहुधा उभयलिङ्ग; पुष्पबाह्यकोश के दल ५, थोड़े-बहुत नीचे से जुड़े हुए; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५, छोटे-बड़े, एक के ऊपर एक आए हुए; मुख्य दल सबसे ऊपर, सबसे बड़ा और बाहर आया हुआ तथा दूसरे चार दल सामने-सामने दो जोडों में होते हैं; पांच दलों में से ऊपर के बडे दल को पताका (Standard), अंदर के दोनों बाजुओं के दलों को पंख (Wings) और सबसे भीतर के नीचे के दो दलों को जो जुड़कर किस्ती जैसे बने हुए होते हैं उनको किस्ती (Reel) कहते हैं। पुंकेशर प्रायः १० और स्त्रीकेशर १ होता है। फल सेम। सेम आगे और पीछे की दोनों सेवनियों पर से फटकर खुलती है।

(९६) गिरिकर्णिका ।

नाम—(सं.) गिरिकर्णिका, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता; (हिं.) कोयल; (म.) गोकर्णी; (गु.) गरणी; (ले.) क्लिटोरिया टर्नेटिआ (Clitoria ternatea) ।

वर्णन--कोयल की आरोहिणी लता होती है। पर्ण संयुक्त और विषमभग्न होते हैं। सेम १-२ इंच लंबी और चपटी होती है। बीज काले रंग के चपटे और चिकने होते हैं। इसकी श्वेतपुष्पा (सफेद फूलवाली) और नीलपुष्पा (आसमानी फूलवाली) ये दो जातियां होती हैं।

उपयुक्त अंग--मूल और बीज। **मात्रा**—बीजचूर्ण १०-२० रत्ती। मूलचूर्ण १॥-३ माशा।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. २; वि. अ. ८) श्वेतानाम्ना सुश्रुते (सू. अ. ३९) गिरिकर्णीनाम्ना शिरोविरेचनद्रव्येषु अपराजिता पठ्यते। **"अपराजिते कटू मेध्ये शीते कण्ठ्ये सुदृष्टिदे। कुष्ठमूत्रत्रिदोषामशोथव्रणविषापहे। कषाये कटुके पाके तिक्ते च स्मृतिबुद्धिदे।" (भा. प्र.)**।

कोयल रस कषाय और तिक्त, कटुविपाक, शीतवीर्य, शिरोविरेचन, कण्ठ्य, चक्षुष्य, स्मृति और बुद्धि बढ़ानेवाली तथा कुष्ठ, मूत्ररोग, त्रिदोष, आम शोथ, व्रण और विष का नाश करनेवाली है।

नव्यमत-बीजों में फीके कडुए रस की, लोबानी रंग की और अम्लस्वभावी राल होती है। उसमें जालप जैसी गंध आती है। बीज मृदु भेदन हैं। बीज बड़ी मात्रा में देने से पेट में मरोड़ा आकर पतले दस्त होते हैं। बीजों की क्रिया जालप जैसी होती है। जालप के केवल भेदन है परंतु कोयल के बीजों में थोड़ा मूत्रजनन धर्म भी है। पेट में मरोड़ा न हो इसलिये इसमें सोंठ जैसे सुगन्धि द्रव्य मिलाने चाहिये। मूल भेदन, वेदनास्थापन और मूत्रजनन हैं। मूल से वमन भी होता है। परन्तु वामकगण में इसकी गणना नहीं कर सकते। क्योंकि इससे उलटी के साथ पेट में दर्द होकर जुलाब होते हैं और कभी उलटी भी नहीं होती। कोयल के बीज और मूल उदर, कफविकार और आमवात में देते हैं। त्वग्रोग में पत्तियों का फांट देते हैं। कर्णशोथ में पत्तियां सैन्धव के साथ पीसकर उसका कान के चारों ओर लेप करते हैं। अधकपारी में मूल के स्वरस का नस्य देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

बालकों के कास-श्वास में कोयल के बीजों को थोड़ा सेंक, पीस, उसमें थोड़ा गुड़ और सैंधव मिलाकर पिलाने से दस्त के साथ कफ निकलकर आराम होता है।

नाम--(सं.; पलाश, किंशुक, ब्रह्मवृक्ष; (हिं) ढाक, टेसू; (म.) पळस; (गु.) खाखरो (वृक्ष), केसुडा (पुष्प), पलाशपापडा (बीज); (बं.) पलाश; (तें.) मोदुग; (ता.) मुरुक्कु; (मल.) मुरुक्कप्पूयम्; (ले.) ब्युटिआ फ्रोन्डोसा (Butea frondosa), ब्युटिआ मोनोस्पर्मा (Butea monosperma)।

वर्णन--पलाश भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके १५-२५ फुट ऊंचे वृक्ष होते हैं। शीतकाल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं। फाल्गुन में नई पत्तियां आती हैं। वसंत में नारंगी रंग के पुष्प आते हैं। इसकी त्वचा से रक्तवर्ण का गोंद निकलता है, जो सूखने पर कालाई लिये हुए लाल रंग का, भंगुर और चमकदार होता है।

गुण--कर्म-सुश्रुते—(सू. अ. ३८) रोध्रादौ, मुष्ककादौ, अम्बष्ठादौ, न्यग्रोधादौ च गणे पलाशः पठ्यते। "किंशुकं कफपित्तघ्नं" (सु. सू. अ. ४६)। "× × पलाशतैलानि कफपित्तप्रशमनानि" (सु. सू अ ४५)। "क्षारश्रेष्ठः कृमिघ्नश्च संग्राही दीपनः परः। प्लीहगुल्मग्रहण्यर्शोवातश्लेष्मविनाशनः॥ किंशुकस्यापि कुसुमं सुगन्धि मधुरं च तत् बीजं तु कटुकं स्निग्धमुष्णं कृमिबलाशजित्॥" (ध. नि.) "पलाशो दीपनो वृष्यः सरोष्णो व्रणगुल्मजित। भग्नसन्धानकृच्छोयग्रहण्यर्श कृमीन हरेत्॥ कषायः कटुकस्तिक्तः स्निग्धो गुदजरोगजित्। तत्पुष्पं स्वादु पाके तु कटु तिक्तं कषायकम्॥ वातलं कफपित्तास्रकृच्छ्रजिद्ग्राहि शीतलम्। तृड्दाहशमनं वातरक्तकुष्ठ हरं परम्॥ फलं लघूष्णं मेहार्शकृमिवातकफापहम्। विपाके कटुकं रूक्षं कुष्ठगुल्मोदरप्रणुत्॥" (भा. प्र.)।

पलाश कषाय, कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, क्षारद्रव्यों में श्रेष्ठ, कृमिघ्न, संग्राही, दीपन, वृष्य तथा प्लीहा की वृद्धि, गुल्म, ग्रहणीरोग, अर्श, व्रण, और शोष (राजयक्ष्मा) का नाश करनेवाला है। पलाश का पुष्प मधुर, कटु, तिक्त, कषाय, मधुरविपाक, शीतवीर्य, ग्राही, भग्नसंधानकर, वातल तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र, तृषा, दाह, वातरक्त और कुष्ठ का नाश करनेवाला है। पलाश के फल (बीज) लघु, उष्णवीर्य, कटुविपाक, रूक्ष तथा प्रमेह, कृमि, वात कफ, कुष्ठ, गुल्म और उदररोग को दूर करनेवाले हैं। पलाश के बीजों का तैल कफपित्तप्रशमन है।

नव्यमत—पलाश के बीज कृमिघ्न, भेदन और कुष्ठघ्न है। पुष्प वेदनास्थापन और मूत्रजनन है। गोंद ग्राही है। पलाश के गोंद की क्रिया विशेष करके आमाशय पर होती है। खाने के बाद गले में खट्टा पानी आता हो उस पर पलाश का गोंद उत्तम औषध है। जीर्ण अतिसार और आँव में गोंद देते हैं। मूत्रावरोध में फूलों के फांट में सोरा मिलाकर देते हैं और फूलों को पानी के साथ गरम करके पेडू और कमर पर बाँधते हैं। पलाश के बीज कृमि पर उत्तम औषध है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(९८) मधुक-यष्टीमधुक ।

नाम—(सं.) मधुक,यष्टीमधुक, मधुयष्टी, कृतिक; (क.) शङ्कर; (हिं.) मुलेठी, मुलहटी; (बं.) यष्टिमधु; (म.) जेष्टीमध; (गु.) जेठीमध; (सिं.) मिठी काठी; (ते.) यष्टीमधुकमु; (ता.) अतिमतुरम्; (मल) इरट्टिमधुरम्; (अ.) अस्लूल्सूस; (फा.) बेखमहक; (ले.) गिलसीहाइझा ग्लाब्रा (Glycyrrhizra glabra)।

उत्पत्तिस्थान——ईरान, अफगानिस्तान, गिलगित आदि ।

गुण-कर्म——चरके(सू. अ. ४)जीवनीये, सन्धानीये वर्ण्ये, कण्ठचे,कण्डूघ्ने, स्नेहोपगे, वमनोपगे, आस्थापनोपगे, छर्दिनिग्रहणे, मूत्रविरजनीये,शोणितास्थापने, च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) काकोल्यादौ, सारिवादौ, अञ्जनादौ च गणे मधुकं पठ्यते । "यष्टी हिमा गुरुःस्वाद्वी चक्षुष्या बलवर्णकृत् । सुस्निग्धा शुक्रला केश्या स्वर्या पित्तानिलास्रजित्।। व्रणशोथविषच्छर्दितृष्णाग्लानिक्षयापहा।" (भा प्र.)। रसायनार्थं "क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्" (च. चि. अ. १)। वाजीकरणार्थं "कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् । पयोऽनुपानं लिह्यान्नित्य-वेगः स ना भवेत् ।।" (च. चि अ. २) ।

मुलेठी मधुर, गुरु,स्निग्ध,शीतवीर्य,जीवनीय,सन्धानीय, वर्ण्य,कण्ठच,कण्डूघ्न, स्नेहोपग, वमनोपग, आस्थापनोपग, छर्दिनिग्रहण, मूत्रविरजनीय, शोणितास्थापन रसायन, वाजीकरण, चक्षुष्य, बलकारक, केश्य तथा पित्त, वात, रक्तविकार, व्रणशोथ, विष, तृषा, ग्लानि और क्षय को दूर करनेवाली है ।

नव्यमत—मुलेठी मधुर, शीतल, स्नेहन, कफशामक, मूत्रजनन और व्रण-रोपण है : स्वरभंग, खाँसी और पेशाब की जलन में मुलेठी देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत——मुलेठी दूसरे दर्जे में गरम और तर, गाढे दोषों को पकानेवाली, नाड़ियों को बल देनेवाली, कफ को विलीन कर के निकालनेवाली, मूत्र-जनन और आर्तवजनन है । श्वास, खाँसी आदि श्वासनलिका और फुफ्फुस के रोगों में तथा मूत्रकृच्छ्र और मूत्राशय के क्षत में इसका प्रयोग करते हैं ।

---

(९९) गुञ्जा ।

नाम–(सं.) गुञ्जा, रक्तिका, काकणन्तिका, काम्बोजी; (क.) रचफोल; (हिं) घुंघची; (म.) गुंज; (गु.) चणोठी; (मा.) चिरमी, चिर्मिठी; (बं.) कुंच; (सिं.) रत्युं; (पं.) रत्ती, लालडी; (ते.) गुरीगिज; (का) गुलगंजि;

(मल.) कुन्नि, कुन्जी; (फा.) सुर्ख, चश्मखरोस; (ले.) एब्रस् प्रिकेटोरिअस् (Abrus precatorious) ।

वर्णन–घुंघची की लता होती है। पत्र इमली के जैसे होते हैं। भाद्रपद-आश्विन में सफेद, गुलाबीछाया लिये हुए या जामुनी रंग के पुष्प आते हैं। शीतकाल में सेम पक जाती है। घुंघची लाल, श्वेत और काली तीन प्रकार की होती है।

उपयुक्त अंग–मूल, पत्र और बीज। मूल और पत्र तीनों प्रकार की घुंघची के और बीज श्वेत घुंघची के औषधार्थ लिये जाते हैं।

गुण-कर्म–सुश्रुते (क. अ. २) मूलविषेषु गुञ्जा पठ्यते। "गुञ्जा सोष्णा रसे तिक्ता कषाया कफपित्तहा। चक्षुष्या शुक्रला केश्या त्वच्या रुच्या बलप्रदा॥ इन्द्रलुप्तहरा तीव्रा सविषा मदमोहकृत्। हन्ति रक्षोग्रहविषं कण्डूकुष्ठव्रणक्रिमीन्॥" (कै. नि.)। "मूलं तु मधुरं तिक्तं मुखशोषहरं परम्। मुखपाकहरं पत्रं, सर्वं श्वेताभवं शुभम्॥ (नि. सं.)।

घुंघची रस में तिक्त और कषाय, उष्णवीर्य, चक्षुष्य, वाजीकर, केश्य, त्वच्य, रुचिकारक, बलप्रद, तीव्र, उपविष, मदकारक, मोहकारक तथा कफ, पित्त, इन्द्रलुप्त, कण्डू, कुष्ठ, व्रण और कृमि का नाश करनेवाली है। घुंघची के मूल मधुर, तिक्त तथा मुखशोषहर हैं। पत्र मुखपाक को दूर करनेवाले हैं। बीज, पत्र और मूल श्वेत गुञ्जा के प्रशस्त हैं।

नव्यमत—गुञ्जा के मूल की क्रिया मुलेठी जैसी होती है। पत्तियों का गुण-कर्म मूल के समान हैं। मूल और पत्र मधुर, स्नेहन, कफशामक, मूत्रजनन और व्रणरोपण हैं। खांसी और मूत्ररोगों में इतर सहकारी औषधों के साथ मूल देते हैं। पत्तियाँ पीसकर व्रणशोथ और व्रण पर बाँधते हैं। इससे ठंडापन आकर शोथ उतरता है और व्रण भर जाता है। स्वरभंग में पत्तियों की गोलियाँ बनाकर मुंह में रखते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

बीजशुद्धि–श्वेत गुञ्जा के बीजों को गाय के दूध में एक प्रहर पका, छिलके निकाल गरम जल से धोकर पीछे औषधार्थ प्रयोग करना चाहिये।

---

(१००) अगस्त्य।

नाम–(सं.) अगस्त्य, मुनिद्रुम, वक्रपुष्प; (हिं.) अगस्तिया अगथिया, हथिया; (म.) अगस्ता, हदगा; (गु.) अगथियो; (मा.) अगस्तियो; (ले.) सेस्बेनिआ ग्रान्डिफ्लोरा (Sesbania grandiflora)।

वर्णन–अगस्त्य का १०–२५ फुट ऊँचा वृक्ष होता है। पर्ण सदल शिरीष के

पर्ण जैसे; पुष्प प्राय: श्वेतवर्ण के, क्वचित् रक्तवर्ण के पलाशपुष्प जैसे, २-४ इंच लम्बे; सेम(फली) १२-१५ इंच लंबी, कोमल और चार धारवाली। अगस्त्य तारा के उदयकाल (प्राय: सितंबर) में पुष्प लगते हैं और पौष में फलियाँ पक जाती हैं। पुष्पों का शाक तथा कोमल फलियों का शाक और अचार बनाते हैं।

गुण-कर्म—"वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासहराणि।" "आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते।" (सु. सू. अ. ४६) "अगस्त्य: शीतलो रूक्षस्तिक्तो वातप्रकोपनः। कफपित्तप्रतिश्यायचातुर्थकविनाशनः।। अगस्त्यपत्रं कटुकं सतिक्तं गुरुक्रिमिघ्नं विशदं कफघ्नम्। कण्डूहरं शोणितपित्तहारि स्यात् सूक्ष्ममुष्णं मधुरं विषघ्नम्।। तत्पुष्पं नातिशीतोष्णं कटुपाकं सतिक्तकम्। कषायं वातलं पित्तकफनक्तान्ध्यनाशनम्।।" (कै. नि.)।

अगथिया तिक्त, रूक्ष, शीतवीर्य, वायु का प्रकोप करनेवाला तथा कफ, पित्त, प्रतिश्याय और चातुर्थक ज्वर को दूर करनेवाला है। अगथिया की पत्तियाँ कटु, तिक्त, मधुर, गुरु, विशद, सूक्ष्म, उष्णवीर्य तथा कफ, कण्डू, रक्तपित्त और विष का नाश करनेवाली हैं। अगथिये के पुष्प तिक्त, कषाय, कटुविपाक, नातिशीतोष्ण वातकर तथा क्षय, खाँसी, पित्त, कफ और रतौंधी का नाश करनेवाले हैं।

नव्यमत—फूल दीपन और आनुलोमिक; मूल उष्णवीर्य, वातहर, कासघ्न और शोथघ्न; त्वचा ग्राही तथा पत्र आनुलोमिक और शिरोविरेचन हैं। अनार्तव में फूलों का साग देते हैं। फुफ्फुस में शोथ होकर ज्वर, कफ और खाँसी ये लक्षण होते हैं तब छाल नागरपान के साथ अथवा उसका स्वरस १ तोला शहद के साथ देते

हैं तब छाल नागरपान के साथ अथवा उसका स्वरस १ तोला शहद के साथ देते

हैं। इससे पसीना आता है और कफ छूटने लगता है। पत्तियाँ पीसकर व्रण पर बाँधने से व्रण का शोधन और रोपण होता है। दृष्टिमान्द्य में फूलों का स्वरस आँखों में डालते हैं। सन्धिशोथ में मूल का लेप करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१०१) नीलिनी।

नाम— (सं.) नीलिनी, नीली; (हिं.) नील, लील; (बं.) नील; (म.) नीळ, गुळी; (गु.) गळी; (मा.) लील; (सिं.) नीर; (ते.) अबिरि; (ता.) अवुरि; (मल.) अमरि; (फा.) नीलज, हिना मज्नुन; (अ.) वस्मा; (ले.) इण्डिगोफेरा टिन्क्टोरिआ (Indigofera tinctoria)।

वर्णन—नीलिका २-६ फुट ऊँचा क्षुप होता है। काण्ड को चारों ओर पतली, लंबी, फैली हुई शाखायें निकलती हैं। कांड और शाखाएँ श्वेतरोमाकीर्ण; पत्र रेह या कालापन लिये हुए हरे रंग के, १-२ अंगुल लंबे शरपुंख के पत्र जैसे; पुष्प नील

गुलाबी रंग के; सेम २ अंगुल लंबी और अग्रभाग में जरा वक्र होती हैं। एक सेम में ८-१० बीज होते हैं।

गुण कर्म-चरके-(सू. अ. २) विरेचनद्रव्येषु तथा सुश्रुते(सू. अ. ३९) अधोभागहरद्रव्येषु नीलिनी पठचते।"नीलिनी रेचनी तिक्ता केश्या मोहभ्रमापहा। उष्णा हन्त्युदरप्लीहवातरक्तकफानिलान् ॥ आमवातमुदावर्तं मदं च विषमुद्धतम् ॥" (भा. प्र.)

नील तिक्त, उष्णवीर्य, रेचन, केश्य तथा मोह, भ्रम, उदर, प्लीहा की वृद्धि, वातरक्त,कफ वात, आमवात, उदावर्त, मद और विष का नाश करनेवाली है।

नव्यमत-नील का लेप दाहशामक, व्रणरोपण, त्वग्दोषहर, केशवर्धक और केशरञ्जन है। इससे प्रथम व्रण का संकोचन और पीछे उत्तेजन होता है। व्रण के ऊपर इसका संग्राहक धर्म उत्तम है। नील विषमज्वरप्रतिबन्धक, यकृदुत्तेक, नाड़ीसंस्थान के लिये शामक, भेदन, मूत्रजनन और कासहर है। जो गुण नील-(रंग) में है वे ही मूल में कम प्रमाण में और पत्तियों में उससे भी कम प्रमाण में हैं। यकृत् और प्लीहा की वृद्धि तथा जलोदर में मूल का घन देते हैं। इससे दस्त और पेशाब होकर उदर का जल कम होता है। जीर्ण मलावरोध में मूल का घन थोडी मात्रा में देते हैं। अर्श में मूल का घन खाने को देते हैं और नील जल में पीस· कर उसका अर्श पर लेप करते हैं। इससे मसे संकुचित होते हैं और पीड़ा शांत होती है। कुकूर खाँसी और फुफ्फुस के शोथ में मूल का घन देते हैं। शीतज्वर में नील काली मिर्च के साथ देते हैं। त्वचा के रोगों में नील देते हैं। अंग जलने पर नील पानी में पीसकर लेप करते हैं। इससे जलन और पीड़ा शांत होती है और जखम जल्द भर आता है। बीजों को मद्य में ७ दिन भिगो, कपड़े से छान कर वह मद्य जू मारने के लिये लगाते हैं। त्वग्रोग, अर्श और व्रण में पत्तियों का लेप करते हैं। पागल कुत्ता काटने पर पत्रस्वरस ५ तोला की मात्रा में नित्य सवेर में देते हैं और दंश स्थान पर पत्तियों का लेप करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

विसर्प का फैलाव रोकने के लिये चारों ओर नील का लेप करते हैं।

---

(१०२) शण।

नाम-(सं.) शण; (हि.) सन; (म.) ताग; (गु.) शण, सण; (बं.) शण; (ता.) च (श.) णल, कुत्तिरम्; (म.) चणा, वक्कु; (सिंध.) सिणी; (ले) क्रोटेलेरिया जन्सिआ (Crotalaria Juncea)।

वर्णन-सन बंगाल में अधिक उत्पन्न होता है। सन के रेशों से बोरी, कपड़ा रस्सी आदि बनाये जाते हैं।

गुण-कर्म–"शणस्त्वम्लः कषायश्च मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृद्वातकफनुत् ज्ञेयस्तीव्राङ्गमर्दनुत् ॥" (रा. नि.) ।

सन अम्ल, कषाय, मल-गर्भ और रक्त का पातन करनेवाला, वमनकारक तथा वात, कफ और तीव्र अंगमर्द को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत–सन की पत्ती शीतल, स्नेहन, त्वग्दोषहर और रक्तशोधक है । बीज पाचन, अनुलोमन और आर्तवजनन है । जब शरीर में गरमी बढ़कर त्वचा के रोग होते हैं तब रक्त ठंडा और शुद्ध होने के लिये पत्तियों का फांट पिलाते हैं और पत्तियाँ पीस कर उसका लेप करते हैं । मेदोवृद्धि और अनार्तव में बीजों का चूर्ण देते हैं । यह स्थूल स्त्रियों को विशेष अनुकूल आता है । **मात्रा**–बीजपूर्ण ।–॥ तोला (डॉ वा. ग. देसाई) ।

(१०३) शणपुष्पी ।

नाम–(सं.) शणपुष्पी, घण्टारवा; (हि.) झनझनिया, घुघरिया सन; (म) खुळखुळ, घागरी, (गु.) घुघरी; (ता.) वेल्लेधिफलुकिलुप्पै; (मल.) किलुलिलुप्पा; (ले.) क्रोटेलेरिया वेरुकोसा (Crotalaria verrucosa) ।

वर्णन–शणपुष्पी का क्षुप २–४ फुट ऊँचा होता है । कांड और शाखा धारदार; पत्र अण्डाकृति, एकान्तर; पुष्प पीलापन लिये हुए जामुनी रंग के; सेम ¾ से १¼ इंच लंबी, अविदारी; बीज १०–१५; सूखी सिम को हिलाने से घुघरे जैसी आवाज होती है ।

गुण कर्म–चरके (सू. अ. १) षोडशमूलिनीषु ("शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने" इति); वमनोपगे च महाकषाये तथा सुश्रुते ऊर्ध्वभागहरे गणे शणपुष्पीपठ्यते । "शणपुष्पी रसे तिक्ता वमनो कफपित्तजित् । कषाया कण्ठ-हृद्रोगमुखरोगविनाशिनी ॥" (ध. नि.) ।

शणपुष्पी तिक्त, कषाय वमन करानेवाली तथा कफ, पित्त, कण्ठ के रोग, हृद्रोग और मुखरोग का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत–शणपुष्पी तिक्त, पित्तघ्न, कफघ्न और स्नेहन है । पत्तों का लेप शीतल और त्वग्दोषहर है । त्वग्रोग में लेप करते हैं और खाने को देते हैं । पत्तियों के रस से मुंह से लार गिरती हो तो बंद होती है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(१०४) शालपर्णी ।

नाम–(सं.) शालपर्णी, स्थिरा, अतिगुहा, विदारिगन्धा, अंशुमती, त्रिपर्णी; (हिं.) सरिवन; (बं.) शालपानो; (म.) सालवण; रानभाल; (गु.)

सालवण, समेरवो, पांवडियो; (ले.) डेस्मोडिअम् गेन्जेटिकम् (Desmodium gangeticum) ।

वर्णन–शालपर्णी का २-५ फुट ऊँचा क्षुप होता है । पत्ते शाल के पत्र जैसे होते हैं इसलिये इसको शालपर्णी कहते हैं। पर्ण एकान्तर, ३–६ इंच लंबे, १॥–३ इंच चौड़े; पत्र का अपरपृष्ठ मसृण, हरे रंग का और अधरपृष्ठ फीके हरे रंग का और रोमश होता है । पुष्प जामुनी या गुलावी रंग के श्रावणमास में लगते हैं । भाद्रपद–आश्विन में पतली-चिपटी सेम लगती है ।

चरके—(सू. अ. ४) बल्ये ('स्थिरा' नाम्ना), स्नेहोपगे, श्वयथुहरे, अङ्गमर्दप्रशमने ('विदारीगन्धा'नाम्ना) च महाकषाये, मधुरस्कन्धे तथा सुश्रुते (सू अ. ३८) विदारिगन्धादौ, कनीयसि पञ्चमूले च शालपर्णी पठ्यते। "विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणाम्" (च. सू. अ. २५) । 'शालपर्णी रसे तिक्ता गुरूष्णा वातदोषजित् । विषमज्वरमेहार्शः शोथसंतापनाशनी ॥" (रा. नि.) । "शालपर्णी गुरुश्छर्दिज्वरश्वासातिसारजित् । शोथदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी ॥ तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासक्रिमिप्रणुत् ।" (भा प्र.)।

शालपर्णी मधुर, तिक्त, गुरु, उष्णवीर्य, बृंहण, बल्य, स्नेहोपग, अङ्गमर्दप्रशमन, वृष्य, सर्वदोषहर, रसायन तथा वातरोग, ज्वर, प्रमेह, अर्श, शोथ, संताप, वमन, अतिसार, राजयक्ष्मा, क्षतकास तथा कृमि नाश करनेवाला है ।

नव्यमत— शालपर्णी ज्वरघ्न, शोथघ्न और मूत्रजनन है । श्लेष्मल त्वचा का शोथ होकर जो ज्वर आता है उसमें इससे विशेष लाभ होता है । इससे पेशाब की जलन कम होती है ।

उपयुक्त अंग–पंचाँग। **मात्रा**–॥–१ तोला ।

---

(१०५) पृश्निपर्णी ।

नाम–(सं.) पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी धावनी, कलशी, गुहा, शृगालविन्ना, चित्रपर्णी, क्रोष्टुकपुच्छिका; (हिं.) पिठवन; (ब.) चाकुले; (म.) पिठवण; (गु.) पीठवण, पीळो समेरवो; (ले.) युरेरिआ पिक्टा (Uraria picta)

वर्णन—पिठवन के २–६ फुट ऊँचा क्षुप होता है । पर्ण संयुक्त । पत्तोंपर पीलापन लिये हुए भूरे या फीके सफेद रंग के पट्टे होते हैं। शाखाओं के अग्रभाग पर ॥–१॥ इंच लंबी शृगाल के पुच्छ जैसी पुष्पमञ्जरी आती है। पुष्प फीके या घेरे जामुनी रंग के होते हैं। सेम में ३–६ सन्धियाँ होती हैं।

गुण-कर्म–**चरके**--(सू. अ. ४) सन्धानीये, श्वयथुहरे, अङ्गमर्दप्रशमने महाकषाये, मधुरस्कन्धे च पृश्निपर्णी पठ्यते। सुश्रुते (सु. अ. ३८) विदारि

गन्धादौ ('पृथक्पर्णी' नाम्ना), हरिद्रादौ ('कलशी' नाम्ना) कनीयसी पञ्चमूले च पृश्निपर्णी पठ्यते। 'पृश्निपर्णी सांग्राहिक-वातहर-दीपनीय-वृष्याणाम्।" (च. सू. अ. २५) "पृश्निपर्णी रसे स्वादुर्लघूष्णाऽस्त्रत्रिदोषजित्। कासश्वासप्रशमनी ज्वरतृड्दाहनाशनी॥" (ध. नि.)। 'पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नो वृष्योष्णा मधुराऽसरा। हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमीः॥" (भा. प्र.)।

पृश्निपर्णी रस में मधुर, लघु, उष्णवीर्य, त्रिदोषहर, दीपन, वृष्य, सांग्राहिक, सन्धानीय, शोथहर, अङ्गमर्दप्रशमन तथा रक्तदोष, खाँसी, श्वास, ज्वर, तृषा, दाह और रक्तातिसार का नाश करनेवाली है।

उपयुक्त अंग–मूल और पंचांग। मात्रा-.॥.-१ तोला।

---

(१०६) यवासक।

नाम–(सं) यास, यवासक, (हिं., म.) जवासा; (गु.) जवासी; (ले.) अल्हागी केमेलोरम् (Alhagi camelorum)।

वर्णन–जवासा का १–३ फुट ऊँचा क्षुप होता है। क्षुप में पतली-लंबी बहुत शाखाएँ निकलती हैं। क्षुप पीलापन लिये हुए हरे रंग का होता है। पत्र छोटे, कांटों के मूल से १–१ निकलते हैं। पुष्प खुलते लाल रंग के माघ-फाल्गुन में आते हैं। ग्रीष्मऋतु में सेम पक जाती है। ग्रीष्म के प्रखर ताप में जब और वनस्पतियाँ सूख जाती हैं तब यह हरा रहता है।

गुण-कर्म–"यवासकः स्वादुतिक्तो ज्वरतृड्रक्तपित्तनुत्॥" (ध. नि.) "यासः स्वादुः सरस्तिक्तस्तुवरः शीतलो लघुः। कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तासृक्कुष्ठकासजित्॥ तृष्णाविसर्पवातास्रवमिज्वरहरः स्मृतः॥" (भा. प्र.)

जवासा मधुर, तिक्त, कषाय, लघु, शीतवीर्य, सारक तथा कफ, पित्त, रक्तदोष, मेद, मद, भ्रम, कुष्ठ, खाँसी, तृषा, विसर्प, वातरक्त, वमन, ज्वर और रक्तपित्त का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–जवासा कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन और आनुलोमिक है। इसमें आनुलोमिक और मूत्रजनन धर्म अल्प है, परन्तु कफघ्न धर्म उत्तम है। खाँसी की प्रथमावस्था में इससे गला और श्वासनलिका तर होकर खाँसने का त्रास कम होता है और कफ पड़ने लगता है। प्रतिश्याय और गले का शोथ, श्वासनलिका-शोथ आदि श्वासमार्ग के रोगों में जवासे का क्वाथ पीने से और उसका भाफ गले में लेने से अच्छा लाभ होता है। दमे में जवासे का धूम्रपान करने से लाभ होता है। अर्श को जवासे के क्वाथ से धोने से लाभ होता है (डॉ. बा. ग. देसाई)।

यासशर्करा--जवासे के क्षुप से एक प्रकार का द्रव रिसकर जम जाता है उसको आयुर्वेद में **यासशर्करा** और यूनानी वैद्यक में **तुरंजबीन** कहते हैं। यह देखने में कुछ ललाई और भूरापन लिये हुए सफेद रंग के छोटे छोटे दानों के रूप में होती है। यह ईरान और अरबस्तान से आती है। इसका स्वाद मीठा होता है। युनानी वैद्य इसका विशेष प्रयोग करते हैं।

गुण-कर्म—**कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा।** (च सू. अ. २७)। **‘‘यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरी सरा च।** (सु. सू. अ. ४५)। यासशर्करा मधुर, कषाय, तिक्तनुरस, कफहर और सारक है।

यूनानी मत--तुरंजबीन सारक, पित्तरेचक, कफशामक, वृष्य और बृंहण है। यह बच्चों और मृदु प्रकृतिवालों के लिये उत्तम सारक औषध है। यह पित्त को सरलता से निकालती है। इसे विरेचक औषधों की शक्ति बढ़ाने के लिये उनमें मिलाते हैं।

---

(१०७) मेथिका।

नाम--(सं.) मेथिका, (क.) मीय; (पं.) मेथरी, मेथरे; (हिं., म., बं., गु.) मेथी; (ते.) मेंति; (ता.) वेंदयम्; (मल.) उलुव, वेंदयम्; (अ.) हुलबा; (फा.) शम् लीज, शम् लीज; (ले.) ट्राइगोनेला फिनम् ग्रेइकम् (Trigonella foenum-graecum)।

वर्णन--मेथी भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और प्रसिद्ध है। इसकी कोमल पत्ती का साग बनाते हैं। बीजों को मसाले में डालते हैं और दवा के काम में लेते हैं।

गुण--कर्म—**“मेथिका कटुरुष्णा च रक्तपित्तप्रकोपनी। अरोचकहरा दीप्तिकरी वातप्रणाशिनी ॥”** (ध. न.) **“मेथिका वातशमनी श्लेष्मघ्नी ज्वरनाशिनी।”** (भा. प्र.)।

मेथी कडुई, उष्णवीर्य, अरुचिहर, दीपन, रक्तपित का प्रकोप करनेवाली तथा कफ, वात और ज्वर का नाश करने वाली है। (मेथी, बल्य स्निग्ध और वातनाशक है)।

नव्यमत—बीजों के किवच में कषायद्रव्य होता है। बीजों को जलाने से ७ प्रतिशत राख मिलती है। उसमें $\frac{१}{४}$ फोस्फोरिक एसिड होता है। बीजों में ६ प्रतिशत तैल होता है। मेथी की पत्ती शीतल, पित्तशामक, पाचन, आनुलोमिक और शोथघ्न है। बीज वातनाशक, वातहर, पोष्टिक, शोथघ्न, रक्तसंग्राहक और गर्भाशयसंकोचक हैं। पित्तप्रकृति के लोगों के कब्ज में मेथी का साग खिलाने से दस्त साफ होता है। व्रणशोथ में पत्ती के लेप से दाह और सूजन कम होती है। पित्तज्वर में पत्ती का रस देते हैं। रक्तमिश्रित आंव में मेथी के बीजों को सेंक,

कूटकर उसका फांट देते हैं। इससे मल की दुर्गन्ध और आँव कम होती है तथा मल का रंग पीला होता है। शरीर की पीड़ा में बीजों का चूर्ण ½ तोला की मात्रा में खाने से लाभ होता है। प्रसूता स्त्रियों को मेथी के बीज के साथ सुगन्धि द्रव्य मिला उसके लड्डू बनाकर खिलाते हैं। इससे भूख लगती है तथा दस्त और आर्तव साफ होता है। व्रणशोथ में बीजों का लेप करते हैं (डॉ वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत--मेथी शोथविलयन, शरीर और नाड़ियों को बलप्रद, वृष्य, दीपन, वातहर, कफनिस्सारक,आर्तवजनन और आर्तवशूल को दूर करनेवाली है। खाँसी, दमा और कष्टार्तव में इसके क्वाथ में शहद मिलाकर पिलाते हैं।

(१०८) रक्तचंदन।

नाम--(सं.) रक्तचन्दन, कुचन्दन; (क.) रक्तचन्दुन; (पं., हि.) लालचंदन; (गु.) रतांजळी, लालचंदन; (ते.) एर्र चंदनमु; (ता.) चेञ्ञ् चन्तनम् शेञ्ञ् शंदनम्; (अ.) संदल अहमर; (फा.) संदल सुर्ख; (ले.) टिरोकार्पस् सॅन्टेलिनस् (Pterocarpus Santalinus)।

वर्णन—रक्तचन्दन के वृक्ष मलबार में होते हैं। इसकी फीके लाल रंग की लकडी बाजार में मिलती है। लकड़ी में गन्ध नहीं होती। स्वाद कषाय और तिक्त होता है।

गुण-कर्म—"रक्तचन्दनमतीव शीतलं तिक्तमोक्षणनगदास्रदोषनुत्। भूतपित्तकफकाससज्वरभ्रान्तिजन्तुवमिजित्तृषापहम्।।" (रा. नि.)। "रक्तं शीतं गुरु स्वादु छर्दितृष्णास्रपित्तहृत्। तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम्॥" (भा. प्र.)। सुश्रुते (सू. अ. ३८) पटोलादौ, सारिवादौ, प्रियङ्ग्वादौ च गणे कुचन्दनं पठ्यते। "कुचन्दनं रक्तचन्दनम्" इति डल्हणः।

लालचन्दन तिक्त, मधुर, गुरु, शीतवीर्य वृष्य, चक्षुष्य तथा नेत्ररोग, रक्तविकार, पित्त, कफ, खाँसी, ज्वर, भ्रम, कृमि, वमन, तृषा, व्रण तथा विष का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--रक्तचन्दन का लेप शीतल, शोथघ्न और व्रणरोपण है। रक्तचन्दन का लेप फोड़े-फुंसी आदि त्वग्रोगों में विशेषतः रक्त की उष्णता से उत्पन्न रोगों में बहुत गुणकारक है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(१०९) बीजक।

नाम--(सं.) बीजक, असन; (हिं., पं.) वि (बि) जयसार; (म.) बिवळा; (गु.) वीयो; (मा.) बिजेसार.; (बी.) पियासाल; (ले.) टिरोकार्पस् मर्सुपिअम् (Pterocarpus marsupium।

वर्णन--विजयसार के बड़े वृक्ष जंगलों में होते हैं। पर्ण संयुक्तदल, पुष्प श्वेताभ पीले रंग के, शीतकाल के आरंभ में आते हैं; सेम पोष-माघ में पक जाती है। इसकी लकडी को पानी में डालने से पानी पहले पीला और पीछे काले रंग का हो जाता है।

गुण-कर्म-चरके--(सू. अ. ४) उदर्दप्रशमेन महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ४) सालसारादिगणे असनः पठ्यते। "बीजकः सकषायश्च कफ-पित्तास्रनाशनः।" (ध. नि.)। "बीजकः कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहव्रणक्रिमीन्। हन्ति श्लेष्मास्रपित्तं च त्वच्यः केश्यो रसायनः॥" (भा. प्र.)। "यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ॥" (सु. चि. अ. ६)।

विजयसार कषाय, तिक्त, त्वच्य, केश्य, रसायन तथा उदर्द, कुष्ठ, विसर्प, श्वित्र, प्रमेह, व्रण, कृमि, वातरोग, कफ, रक्तपित्त और रक्तविकार का नाश करनेवाला है।

उपयुक्त अंग--त्वचा, सार और गोंद। **मात्रा**--गोंद की-२-५ रत्ती।

नव्यमत--विजयसार का गोंद संग्राहक है। पुराने अतिसार और आंव में गोंद खाने को देते हैं। शोथ और त्वग्रोगों में पत्तों का लेप करते हैं। दांतों के दर्द में गोंद दांतों में रखकर चबाते हैं। विजयसार का गोंद लाल रंग का होता है। उसको मलबार कायनो (Malabar kino) कहते हैं। इसके गोंद के गुण-कर्म पलाश (ढाक) के गोंद जैसे हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

विजयसार के गोंद को खूनखराबा (दम्मुल्अखवेन) के प्रतिनिधिरूप में काम में ले सकते हैं। इसकी लकडी को पानी में घिसकर लेप करने से चोट की पीड़ा मिटती है। इसकी लकडी के चूर्ण (१ तोले) का क्वाथ समभाग दूध और थोडी चीनी मिलाकर पीने से आघातज पीड़ा मिटती है।

(११०) करञ्ज।

नाम--(सं.) करञ्ज, नक्तमाल; उदकीर्य; (हि., म.) करंज; (बं.) डहरकञ्ज; (गु.) करंज, कणझी; (ते.) कानगु; (ता. पुग्गुमू; (म.) पाञ्चम्; (का.) होंगे; (ले.) पोन्गेमिआ ग्लाब्रा (Pongamia glabra)।

वर्णन--करंज के २५-५० फुट ऊंचे वृक्ष होते हैं। पत्ते कोमल, चमकीले, गहरे हरे रंग के होते हैं। पुष्प जरा गुलाबी और आसमानी छाया लिये हुए श्वेत वर्ण के होते हैं। फल चिपटी सेम होती है।

उपयुक्त अंग--पत्र, त्वचा और तैल।

गुण-कर्म-चरके--विरेचनद्रव्येषु (सू. अ. २) कण्डूघ्ने महाकषाये (वि. अ. ४); कटुकस्कन्धे, तिक्तस्कन्धे च (वि. अ. ८), तथा सुश्रुते --

आरग्वधादिगणे, वरुणादिगणे, अर्कादिगणे, श्यामादिगणे, शिरोविरेचने तथा श्लेष्मसंशमने वर्गे (सू.अ. ३९) च करञ्जःपठ्यते । 'करञ्जश्चोष्णतिक्तः स्यात् कफपित्तास्रदोषजित् । व्रणप्लीहकृमीन् हन्ति भूतघ्नो योनिरोगहा ।।" (ध. नि.) । "करञ्ज. कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत । कुष्ठोदावर्तगुल्मार्शो व्रणक्रिमिकफापहः ।। तत्पत्रं कफवातार्शःकृमिशोफहरं परम् । भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ।। तत्फलं कफवातघ्न मेहार्शःकृमिकुष्ठनुत् ।।" (भा. प्र.) "× × x करञ्ज × × x तैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरागापहराणि च ।" (सु.सू. अ. ४५) । 'करञ्ज × × फल जन्तुप्रमेहजित् । रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापंहम् ।।" (सु. सू. अ. ४६) ।

करंज तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, जीवाणुनाशक, विरेचन, शिरोविरेचन तथा कफ, पित्त, रक्तबिकार, व्रण, प्लीहरोग, कृमि, योनिरोग, उदावर्त, गुल्म और अर्श का नाश करनेवाला है । करंज के पत्र कटुविपाक, उष्णवीर्य, लघु भेदन, वित्तकारक तथा कफ, वात, अर्श, कृमि और शोफ का नाश करनेवाले हैं । करंज का फल रूक्ष, उष्णवीर्य, कटुविपाक, लघु, तथा कफ, वात, प्रमेह, अर्श, कृमि और कुष्ठ का नाश करनेवाला हैं । करंज का तैल तीक्ष्ण, लघु, उष्णवीर्य, कटु, कटुविपाक, सारक तथा वात, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत--बीज में २७ प्रतिशत तैल होता है । छाल में कटुप्रधान सत्त्व (Alkaloid) और एक अम्लस्वभावी हरे उदी रंग की राल होती है । करंज कुष्ठघ्न, आमवातघ्न, कृमिघ्न, व्रणशोथहर, व्रणरोपण, कासहर और पाचन है । बीजतैल उत्तम-कृमिघ्न और व्रणरोपण है । यह दाद आदि सब प्रकार के त्वग्रोगों में अच्छा काम देता है । खाज के जन्तु इससे शीघ्र मरते हैं । वात, शरीर वा दर्द और सन्धिशोथ में सर्वत्र तेल की मालिश करते है और पत्तों को गरम कर के उससे सेंकते हैं । व्रण और नाड़ीव्रण में मूल का स्वरस लगाते हैं । कूकर खाँसी में बीज पानी में घिस कर देते हैं । व्रणशोथ में करंज और संभालू की पत्ती पीसकर बाँधते हैं इससे सूजन उतर जाती है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१११) कपिकच्छु ।

नाम--(सं.) कपिकच्छु, ऋषभी, शूकशिम्बी, ऋष्यप्रोक्ता, आत्मगुप्ता, मर्कटी, वानरी, कच्छुरा, कण्डूला; (हि.) कौंच, केवाँच; (बं.) आलकुशी; (मा.) किवांच; (म.) खाजकुहिली; (गु.) कौचा कवच; (ले.) मेक्युना प्रूरिएन्स् (Mucuna Pruriens) ।

वर्णन—केवाच की लता होती है। पुष्प जामुनी रंग के होते हैं। सेम २-३ इंच लंबी होती है। सेम पर रोम होते हैं। ये रोम कहीं शरीर पर लग जायें तो वहां बडी खाज और जलन होती है। पंजाब में सफेद रंग के कौंच के बीज पन्सारी वेचते हैं। ये चरक में लिखी हुई काकाण्डोला नाम की सेम की जाति के बीज हैं।

गुण-कर्म——चरके (सू. अ. ४) बल्ये ('ऋषीभी' नाम्ना), मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) 'ऋष्यप्रोक्ता' नाम्ना तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ गणे वातसंशमने (सू. अ. ३९) च वर्गे ('कच्छुरा' नाम्ना) कपिकच्छः पठ्यते। "कपिकच्छुर्भृशं वृष्या मधुरा बृंहणी गुरुः। तिक्ता वातहरी बल्या वातपित्तास्रनाशिनी।।" (भा. प्र.)।

केवाँच मधुर तिक्त, गुरु, वातशमन, बृंहण, वल्य, वाजीकर तथा वात, पित्त और रक्तविकार का नाश करनेवाला है।

नव्यमत - बीज पौष्टिक हैं। सेम के ऊपर के रोम उत्तम कृमिघ्न हैं। मूल नाड़ियों के लिये उत्तेजक और मूत्रजनन है। गोल कृमि मारने के लिये एक सेम के ऊपर के रोम गुड़ में गोली बनाकर खिलाते हैं। दूसरे दिन विरेचन देते हैं। मूल के क्वाथ से मूत्र का प्रमाण बहुत बढ़ता है, इसलिये वृक्क (गुर्दे) के रोगों में देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग——बीज और मूल। **मात्रा**——३-६ माशा।

---

(११२) पारिभद्र।

नाम——(सं.) पारिभद्र; (हिं.) फरहद; (बं.) पालते मादार; (म.) पांगारा, (गु.) पांडेरवो, पनरबो; (ले.) एरिथ्रिना इन्डिका (Erythrina indica)।

वर्णन—फरहद के १५-४० फुट ऊँचे वृक्ष होते हैं। पत्ते ढाक के जैसे ३ होते हैं। शीतकाल के अन्त में सब पत्ते झड़ जाते हैं। वसंत में रक्तवर्ण के शुकचञ्चु जैसे पुष्प आते हैं। सेम-।।-से १ फुट लंबी और उसमें ६-८ बीज होते हैं।

गुण-कर्म - 'पारिभद्रोऽनिलश्लेष्मशोथमेदःकृमिप्रणुत्। तत्पत्रं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम् ।।" (भा. प्र)। 'पारिभद्रः कटूष्णः स्यात् कफवातानिनिकृन्तनः। अरोचकहरः पथ्यो दीपनश्चापि कीर्तितः।।" (रा नि)।

पारिभद्र कटु, उष्णवीर्य, अरोचकहर, दीपन तथा कफ, वात, शोथ, मेद के रोग और कृमि का नाश करनेवाला है। पारिभद्र के पत्र पित्तरोग और कान के रोगों को दूर करनेवाले हैं।

नव्यमत—छाल में एक प्रकार का क्षारप्रधान वीर्य (Erytherine) मिलता है जो कुचले के वीर्य का अगद-निवारक माना गया है। छाल ज्वरहर शोथहर,

श्लेष्मनिस्सारक, कृमिघ्न और स्वप्नजनन है। मस्तिष्क और उसके नीचे के केन्द्र - स्थानों पर छाल की शामक क्रिया होती है अर्थात् उनकी क्रिया मंद होती या बंद पड़ती है। कुचले की क्रिया से इसकी बिरुद्ध क्रिया होती है। हृदय पर भी शामक क्रिया होती हैं। पत्ते शोथहर, व्रणशोधन, आनुलोमिक, मूत्रजनन, स्तन्यजनन और आर्तवजनन हैं। छाल रक्तमिश्रित आँव में देते हैं। नेत्राभिष्यंद में छाल का आँख की पलकों पर लेप करते हैं। ज्वर में और निद्रा लाने के लिये छाल देते हैं। शोथ, बंद, संधिशोथ और व्रण पर पत्तों का लेप करते हैं। फिरंगोपदंश में पत्रस्बरस देते हैं। नारियल के पानी के साथ पत्ते उबाल कर बनाया हुआ क्वाथ प्रसूता स्त्री को रक्त साफ गिरने और दूध बढ़ने के लिये देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)) ।

(११३) शरपुङ्खा ।

नाम--(सं.) शरपुङ्ख, प्लीहशत्रु; (हि). सरफोंका; (म.) उन्हाळी, (बं.) बननील; (पं.) सरपंख; (ते.) वेंपळि; (ता.) काट्टकोळुजि, कोळ्ळुक्काय्वेळ्ळै (मल.) कोळिञ्जल्; (मा.) बिसूनी, मासो, झोजरू, बांसा; (गु.) शरपंखो; (क.) सर्पनि (ख.); (ले.) टेफ्रोसिआ पर्पुरिआ (Tephrosia purpurea) ।

वर्णन--शरपुंखा का १॥-३ फुट ऊँचा क्षुप होता है। इसकी पत्ती को दोनों हाथों की अंगुलियों में पकड़कर तोड़ने से बीच में दोनों बाजू बाण के पुंख का आकार होकर टुटती है इसलिये इसको शरपुंख कहते हैं। इसके कांड का अच्छा दतवन बनता है। श्वेत और लाल फूल के भेद से इसके दो भेद हैं।

गुण-कर्म--"शरपुङ्खो यकृत्प्लीह-गुल्म-व्रण-विषापहः। तिक्तः कषायः कासस्त्रश्वासज्वरहरो लघुः ॥" (भा. प्र.) ।

सरफोंका तिक्त, कषाय; लघु तथा यकृत् के रोग, प्लीहा के रोग, गुल्म, व्रण, विष, खाँसी, रक्तविकार, श्वास और ज्वर को दूर करता है।

नव्यमत--शरपुंखा तिक्त, आनुलोमिक, पित्तसारक, मूत्रजनन, कफघ्न और विषहर है। यकृत और प्लीहा की वृद्धि में इससे अच्छा लाभ होता है। गंडमाला में मूल का लेप करते हैं। खाज में बीजों का लेप करते हैं किंवा बीजों का तैल लगाते हैं। अर्श में मूल का कल्क छाल के अनुपान से देते हैं (डॉ.वा.ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग--मूल अथवा पंचांग। **मात्रा**--३-६ माशा।

(११४) बाकुची।

नाम--(सं.) बाकुची, सोमराजो, अवल्गुजा; (हि.) बावची, बकुची; (पं., म., गु.) बावची (बं.) हाकुच; (ते.) भावजि; (मल.) कार्कोफिल्, (ले.) सोरिलिआ कोरिलीफोलिया (Psoralea corylifolia) ।

वर्णन–बावची के २–४ फुट ऊँचे क्षुप होते हैं। पुष्प फीके या जामुनी रंग के होते हैं। बाजार में काले रंग के सुगन्धित बीज मिलते हैं।

उपयुक्त अंग–बीज और तैल।

गुण-कर्म–"बाकुची कटुतिक्तोष्णा कृमिकुष्ठकफापहा। त्वग्दोषविषकण्डूश्वित्रप्रशमनी परा॥" (रा. नि.)।

बावची कटु, तिक्त, उष्णवीर्य तथा कृमि, कुष्ठ, कफ, त्वचा के रोग, विष, कण्डू और श्वित्र का नाश करनेवाली है।

नव्यमत–बीजों को जलाने से ७। प्रतिशत राख मिलती है। उसमें मॅंगेनीझ् (Manganese) होता है। बीजों में पुष्कल तैल होता है। बाकुची मृदु उत्तेजक, वातनाड़ियों को बलप्रद, कृमिजन्यत्वग्दोषहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण है। सफेद कोढ़ पर बीजों का लेप किया जाता है और तैल लगाते हैं। रोग नया हो तो इससे अच्छा लाभ होता है, परन्तु समय अधिक लगता है।

---

(११५) मुग्दपर्णी।

नाम–(सं.) मुग्दपर्णी, क्षुद्र सहा, शूर्पपर्णी; (हिं) मुगवन; (बं.) मूगानी; (म) रानमुग; (गु.) अडबाऊ मग, जंगली मग; (ले.) फेझिओलस् ट्राईलोबस् (Phaseolus trilobus)।

वर्णन–मुग्दपर्णी की मूंग जैसी स्वयंजात लता होती है। सेम मूंग की सेम से छोटी होती है।

गुण-कर्म–चरके––(सू. अ ४) जीवनीये, शुक्रजनने च महाकषाये, मधुरस्कन्धे, तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ, काकोल्यादौ च गणे मुग्दपर्णी पठ्यते। "मुग्दपर्णी हिमा स्वादुर्वातरक्तक्षयापहा। पित्तदाहज्वरान् हन्ति चक्षुष्या कफशुक्रला।" (रा. नि.)।

मुग्दपर्णी मधुर, शीतवीर्य, जीवनीय, शुक्रजनन, चक्षुष्य, कफकारक तथा वातरक्त, क्षय, पित्त, दाह और ज्वर का नाश करनेवाली है।

---

(११६) माषपर्णी।

नाम–(सं.) माषपर्णी, महासहा; (हिं.) मषवन, बन उड़द; (बं.) माषानी; (म.) रान उड़द; (गु.) जंगली अड़द; (ले.) टेरॅम्नस् लेबिएलिस (Teramnus labialis)।

वर्णन–माषपर्णी की जंगलों में उडद के जैसी लता होती है। सेम उड़द से छोटी होती है।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) जीवनीये, शुक्रजनने च महाकषाये, मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) तथा सुश्रुते--(सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ, काकोल्यादौ च गणे माषपर्णी पठ्यते। "माषपर्णी रसे तिक्ता वृष्या दाहज्वरापहा । शुक्रवृद्धिकरी बल्या शीतला पुष्टिवर्धिनी ।।" (रा. नि.) । "माषपर्णी हिमा तिक्ता स्निग्धा शुक्रबलासकृत् । मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरास्रजित् ।।" (भा. प्रा.) । सहाद्वयं × × × ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च बलप्रदा पित्त-निबर्हणाश्च ।।" (सु. सू. अ. ४६) ।

माषपर्णी तिक्त, मधुर, मधुरविपाक, स्निग्ध, शीतवीर्य, वृष्य, बल्य, पुष्टिकारक, कफ और वीर्य को बढ़ानेवाली तथा दाह, ज्वर शोथ, वात, पित्त और रक्तविकार का नाश करनेवाली है ।

---

(११७) शिंशपा ।

नाम–(सं.) शिंशपा, कृष्णसारा; (हिं.) शीशम; (पं.) शरई; (म.) शिसव; (गु.)सीसम; (ले.) डाल्बर्जिआ लेटिफोलिआ (Dalbergia latifolia) ।

वर्णन–शीशम का बड़ा वृक्ष होता है । लकड़ी श्यामवर्ण की और बड़ी मजबूत होती है । लकड़ी को कीड़े नहीं लगते इसलिये इससे कुर्सी-टेबल आदि फर्निचर बनाया जाता है ।

गुण-कर्म–चरके आसवयोनिसारवृक्षेष (सू. अ. २५) कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) तथा सुश्रुते (सु. अ. ३) सालसारादौ, मुष्ककादौ च गणे शिंशपा पठ्यते । "कटूष्णं कण्डूदोषघ्नं बस्तिरोगविनाशनम् । शिंशपायुगलं वर्ण्यं हिक्काशोथविसर्पजित् ।।" (ध. नि.) । "शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया दोषहारिणी । उष्णवीर्या हरेन्मेदःकुष्टश्वित्रवमिकृमीन् ।। बस्तिरुग्व्रणदाहास्रबलासान् गर्भपातिनो ।।" (भा. अ.) । × × × शिंशपा × सारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च ।।" (सु. सू. अ. ४५) ।

शीशम कषाय, कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, वर्ण्य, गर्भपात करनेवाली तथा कण्डू, मूत्राशय के रोग, हिक्का, शोथ, विसर्प, मेद के रोग, कुष्ठ श्वित्र, वमन, कृमि, दाह, रक्तविकार और कफ का नाश करनेवाली है । शीशम की लकड़ी का तैल तिक्त, कटु, कषाय, दुष्टव्रणशोधन तथा कृमि, कुष्ठ और वातविकार का नाश करनेवाला है ।

युनानी मत–शीशम पहले दर्जे में उष्ण, रूक्ष, रक्तशोधक और पेट के कीडों को मारनेवाला है । इसकी लकडी का बुरादा रक्त को शुद्ध करने के लिये फिरंगोपदंश, कुष्ठ, श्वित्र, खाज, फोड़े-फुंसी और दूसरे त्वचा के रोगों में क्वाथ या शर्बत बनाकर देते हैं । इसकी लकड़ी को एक बाजू जलाने से दूसरी बाजू पर जो स्नेह आता है उसको दाद पर लगाने से लाभ होता है ।

उपयुक्त क्षंग--सार लकड़ी। मात्रा ५-७ माशा।

शिम्बी वर्ग ३४.

N. O. Leguminosae

पूतिकरञ्जादि उपवर्ग २।

N. O. Caesalpiniaceae (सिसेल्पिनिएसी)।

उपवर्ग लक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; ऊर्ध्वस्थ गर्भाशय; पर्ण संयुक्तदल; पक्षाकार; पर्णक्रम एकान्तर; उपपत्र प्रायः होते नहीं; पुष्परचना कलगी या मंजरी जैसो; पुष्पबाह्यकोश के दल ५, बहुधा अलग अलग, एक-एक के ऊपर आये हुए; पुष्पाभ्यन्तर कोग के दल ५; पुंकेशर १० ; फल सेम।

---

(११८) पूतिकरञ्ज।

नाम--(सं.) पूतिकरञ्ज,प्रकीर्य, कण्टकीकरञ्ज, विटपकरंज, कुबेराक्ष; (हिं.) करंजुवा, कंजा, काँटाकरंज; (म.) सागरगोटा; (गु.) कांकच, कांचका; (बं) नाटाकरंज; (ले॰) सिसेल्पिनिआ क्रिस्टा (Caesalpinia crista)।

वर्णन--करंजुवा की कांटेदार लता या गुल्म होता है। पुष्प पीले रंग के होते हैं। फल (सेम) पर कांटे होते हैं। सेम में दो बीज होते हैं। बीज का कवच सख्त होता है। बीजों की वे फूलें इतना सेंक, फोड़कर अंदर का मग्ज निकालकर काम में लिया जाता है।

गुण कर्म--"स्रंसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम्। शोयघ्नमुष्णवीर्यं च पत्रं पूतिकरञ्जजम् ॥" (सु. सु. अ. ४६)। 'विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतीक." (च. सू. अ. १)। सुश्रुते (सू. अ. ३९) अधोभागहरद्रव्येषु पूतीकपत्रं पठ्यते। "कुबेराक्षं यकृत्प्लीहवातघ्नं व्रणरोपणम्।" (शो. नि)।

करंजुवा के पत्र विपाक में कटु, लघु, उष्णवीर्य, विरेचक तथा वात, कफ और शोथ का नाश करनेवाले हैं। करंजुवा की छाल रेचन है। करंजुवा का फल यकृत् और प्लीहा के रोग तथा वायु का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--बीजों में तैल २५, तिक्तद्रव्य २, क्षार ३$\frac{३}{४}$, मांसल द्रव्य (प्रोटीन) २० और पिष्ट (स्टार्च) ३५$\frac{१}{२}$ प्रतिशत है। तिक्तद्रव्य श्वेतवर्ण है। वह मद्य और तैल में घुल जाना (विलेय) हैं, जल में घुलता नहीं। करंजुवा उत्तम ज्वरघ्न है। शीतज्वर में पत्रस्वरस हींग के साथ या बीजों का चूर्ण काली मिर्च का

चूर्ण मिलाकर देते हैं। सूतिकाज्वर में करंजुवा अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाता है। इससे ज्वर कम होता है, गर्भाशय का संकोचन होता है, पेट की पीड़ा बंद होती है, रक्त अच्छी तरह गिरता है और जखम पड़ा हो तो वह शीघ्र भर आता है। सूतिकावस्था में ज्वर न हो तो भी करंजुवा देना अच्छा है। ज्वरांत दौर्बल्य को दूर करने के लिये देते हैं। यह उत्तम कटुपौष्टिक औषध है। इसमें का तिक्त द्रव्य कुनैन जैसा विषमज्वरप्रतिबन्धक है। बीजों को दबाकर निकाला हुआ तैल आमवात में लगाया जाता है। अंडशोथ में इसे खिलाते हैं और। इसका लेप करते हैं। पत्रस्वरस यकृत् के रोग, कुष्ठ और उपदंश को तृतीयावस्था में देते हैं। पेटके दर्द में बीज और लवंग का चूर्ण देते हैं। कुपचन में बीज और काली मिर्च का चूर्ण देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग--बीजों का मग्ज, पत्रस्वरस और मूल।

मात्रा--मग्ज १०-२० रत्ती मूलचूर्ण १०-१५ रत्ती, पत्रस्वरस १-२ तोला।

---

(११९) पतङ्ग।

नाम—(सं.) पतङ्ग; (हि., बं.) बकम; (गु., म.) पंतग; (ते.) बुक्कपुचेट्टु; (ता.) शप्पंगु; वरत्तंगि; (मल.) चप्पङडम्, पत्तङ्ङम्; (ले.) सिसेल्पिनिआ सापन् (Caesalpinia sappan)।

वर्णन—पतंग के बड़े वृक्ष मलबार की ओर होते हैं। लकड़ी लाल चंदन जैसी फीके लाल रंग की और निर्गन्ध होती है।

गुण-कर्म--"पतङ्गं मधुरं वर्ण्यं तिक्तं पित्तकफापहम्"। (ध. नि.)।

पतंग मधुर, तिक्त, वर्ण्य तथा पित्त और कफ का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—पतंग ग्राही, रक्तसंग्राहक, गर्भाशय का उत्तेजक और संकोचक, श्लेष्मघ्न और व्रणरोपण है। रक्तस्राव बंद करने के लिये पतंग का क्वाथ पिलाते हैं और क्वाथ में कपड़ा भिगोकर उसे व्रण पर बाँधते हैं। फुफ्फुस, आंत, गर्भाशय आदि के रक्तस्राव पर पतंग से अच्छा लाभ होता है। रक्त और श्वेत प्रदर में पतंग के क्वाथ की बस्ति देते हैं। अतिसार में पतंग उपयोगी है। पतंग और वनफ्शा के क्वाथ से मांसार्बुद (केन्सर) के व्रण को धोने से पीड़ा और दुर्गन्ध कम होती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१२०) अम्लिका।

नाम—(सं.) अम्लिका, चिञ्चा; (हि.) इमली (बं.) तेतुल; (क.) तम्बर; (म.) चिंच; (गु.) आंबली; (ते.) चिन्त; (ता.) आंबिळम्; शिञ्जम्, पुळि; (मल.) कोलपुळि; (फा.) तमरेहिंदी; (ले.) टॅमेरिन्डस् इन्डिका (Tamarindus indica)।

वर्णन—इमली भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म—"अम्लिकायाः फलं पक्वं तस्मादल्पान्तरं गुणैः" (च. सू. अ. २७)। "अम्लिकायाः फलं त्वाममत्यम्लं लघु पित्तकृत्। पक्वं तु मधुराम्लं स्याद्भेदि विष्टम्भवातजित्॥ चिञ्चापत्रं तु शोथघ्नं रक्तदोषव्यथापहम्। तस्य शुष्कत्वचाक्षारः शूलमन्दाग्निनाशनः॥" (भा. प्र.)। "पूर्वं तोये वासरं वासितानां चिञ्चास्थीनां दुग्धकल्कीकृतानाम्। पीत्वा कर्षं सुन्दरीपूरुषौ द्रागस्थिस्रावात् सोमगाच्च मुक्तौ॥" (वं. म.)।

इमली का फल कोमम के फल से कुछ न्यून गुणवाला है। इमली का कच्चा फल अत्यन्त खट्टा, लघु और पित्तकर है। पका हुआ फल मधुर, अम्ल, भेदन तथा विष्टम्भ और वायु को दूर करनेवाला है। इमली की पत्तियों का लेप शोथ, रक्तविकार और पीड़ा को शांत करनेवाला है। इमली के फल की शुष्क त्वचा का क्षार पेट के दर्द और मन्दाग्नि को दूर करनेवाला है। एक तोले इमली के बीजों को रातभर जल में भिगो, सवेर में छिलके निकाल, दूध में पीसकर दूध के अनुपान से खाने से अस्थिस्रावस और सोमरोग नष्ट होता है।

नव्यमत--इमली में चिञ्चाम्ल (टार्टरिक एसिड)९, जम्बीराम्ल(सायट्रिक एसिड)९ और यमक्षारमिश्रित चिञ्चाम्ल (पॉटेशियम् बाईटार्टरेट) ७ प्रतिशत होता है। इमली का गूदा पिपासाघ्न, रोचक, दाहशामक, आनुलोमिक और रक्तपित्तप्रशमन है। फलत्वचा की राख क्षारस्वभावी, मूत्रजनन और आनुलोमिक है। फूल शोथघ्न और रक्तसंग्राहक हैं। पित्तज्वर में कब्ज और दाह दूर करने के लिये इमली का पानक देते हैं। इसके साथ अमलतास का गूदा मिलाया जाय तो अच्छा है। बीज प्रमेहवालों को देते हैं। व्रणशोथ पर पत्रकल्क बांधते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पुष्पकल्क आंख पर बांधते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

------

(१२१) काञ्चनार-कोविदार।

नाम(सं.) काञ्चनार, कोविदार, उद्दाल, युग्मपत्र; (हिं.) कचनार; (पं.) कचनाल, कुलाड़; (म.) कोरळ, कांचन; (गु.) चंपाकाटी; (बं.) काञ्चन; (ते.) देवकाञ्चनमु; (ता.) मंदारै; (मल.) शु (चु) वन्नमन्दारम्; (ले) बोहिनिआ वेरिएगेटा (Bauhinia Variegata)।

वर्णन--कचनार भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। पुष्प के वर्णभेद से इसके रक्त (लाल फूलवाला) काञ्चनार और श्वेत (सफेद फूलवाला) काञ्चनार ये दो भेद हैं। पत्र का अग्रभाग मध्य में दबा हुआ (नताग्र) होता है, मानो दो पत्र जुड़े हुए हों ऐसा मालूम होता है, इसलिये इसको युग्मपत्र कहते हैं। कचनार की अविकसित पुष्पकलिका का शाक बनाया जाता है।

गुण—कर्म—चरके (सू. अ. ४) वमनोपगे महाकषाये तथा सुश्रुते-(सु.अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे गणे, कषायवर्गे च कोविदारः पठ्यते । "कोविदार × × पुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च ।" (सु.सू. अ.४६) "× कोविदारस्य ××× । पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः ।" (च. सू॰ अ. २७) । "काञ्चनारोहिमो ग्राही तुवरः श्लेष्मपित्तहृत् । कृमिकुष्ठगुदभ्रंशगण्डमालाव्रणापहः ।। कोविदारोऽपि तद्वत् स्यात्तयोः पुष्पं लघु स्मृतम् । रूक्षं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्षयकासनुत् ।।" (भा. प्र.) ।

कचनार कषाय, शीतवीर्य, ग्राही, ऊर्ध्वभागहर तथा कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रंश, गण्डमाला और व्रण का नाश करनेवाला है । कचनार के फूल मधुर, मधुरविपाक, रूक्ष, ग्राहि तथा रक्तपित्त, पित्त, रक्तविकार, प्रदर, क्षय और खाँसी का नाश करनेवाले हैं ।

नव्यमत—कचनार की क्रिया त्वचा और रसग्रन्थियों पर होती है । कचनार ग्राही, व्रणशोधन और व्रणरोपण है । बड़ी मात्रा में देने से वमन होता है । गण्डमाला और अपची में छाल का क्वाथ गूगल के साथ देते हैं । इससे व्रण धोते हैं । रोग नया हो तो इससे लाभ होता है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

उपयुक्त अंग—पुष्प और छाल । **मात्रा**— ६ माशा ।

काञ्चनारप्रधानयोग—काञ्चनारगुग्गुलु (शा. म. खं. अ. ७) ।

(१२२) अशोक ।

नाम—(सं.) अशोक; (हिं., म., गु.) अशोक; (ते.) अशोकमु, (ता.) अशोघम्; अचोकम्; (मल.) अशोकम्; (ले.) सराका इन्डिका (Saraca indica) ।

वर्णन—अशोक का आम के सदृश वृक्ष होता है । पत्ते आम के जैसे होते हैं । कोमल पत्ते अरुणवर्ण और मृदु, बड़े होने पर हरे रंग के हो जाते हैं । पुष्प गुच्छों में लगते हैं । पुष्प आरंभ में पीलापन लिये हुए लाल और पीछे गहरे लाल रंग के हो जाते हैं । सेम चिपटी और चौड़ी होती है । सेम में ८–१० बीज होते हैं ।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) वेदनास्थापने, महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते-(सू. अ. ३८) रोध्रादिगणे अशोकः पठ्यते । "अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः । शोषापचीतृषादाहकृमिशोथविषास्रजित् ।।" (भा. प्र.) । "अशोकस्य त्वचा रक्तप्रदरस्य विनाशिनी ।" (शोढलः) ।

अशोक कषाय, तिक्त, वेदनास्थापन, ग्राही, वर्ण्य तथा शोष, अपची, तृषा, दाह,

कृमि, शोथ, विष और रक्तविकार को दूर करनेवाला है। अशोक की छाल रक्तप्रदर का नाश करने वाली है।

नव्यमत—अशोक वेदनास्थापन, ग्राही और रक्तसंग्राहक है। गर्भाशय की शिथिलता से उत्पन्न अत्यार्तव में इसका अच्छा उपयोग होता है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

अशोक रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, आर्तवशूल आदि गर्भाशय के रोगों में उत्तम गुणकारी हैं।

उपयुक्त अंग—छाल। मात्रा–१-२ तोला। छाल का क्षीरपाक करके देना चाहिये।

अशोकप्रधानयोग--अशोकारिष्ट (सि. यो. सं. स्त्रीरोगाधिकार); अशोकघृत (भै. र. प्रदररोगाधिकार)।

(१२३) आरग्वध।

नाम(सं.) आरग्वध, राजवृक्ष, आरेवत, चतुरङ्गुल, कृतमाल, प्रग्रह; शम्पाक, कर्णिकार; (क.) फलूस; (हिं.) अमलतास; (पं.) गिर्दनली; (म.) बाहवा; (बं.) सोंदाल; (गु.) गरमालो; (मा.) गिरमालो, किरमाल; (सि.) छिम्रकणी; (ते.) आरग्वधमु, रेल, कोलफोन्ना; (ता.) कोंड्रै, इराघविरुट्टम्; (मल.) कणिकोन्ना; (अ.) खियारशंबर; (ले.) कॅसिआ फिस्चूला (Cassia fisula)।

वर्णन—अमलतास के बडे वृक्ष होते हैं। पर्ण संयुक्त १-३ लंबे। चैत्र–वैशाख में पीले रंग के सुंदर पुष्प लगते हैं। सेम गोल, १–१॥ फुट लंबी होती है। सेम के भीतर काले रंग का गूदा होता है।

उपयुक्त अंग--फलमज्जा, मूल और पत्र।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. २) विरेचनद्रव्येषु:(सू. ४) कुष्ठघ्ने ('आरग्वध'नाम्ना), कण्डूघ्ने ('कृतमाल'नाम्ना) महाकषाये, तिक्तस्कन्धे (वि.अ. ८) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) आरग्वधादौ, श्यामादौ च गणे, अधोभागहरद्रव्येषु (सू. अ. ३९) च आरग्वधः पठ्यते। "चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां" (च. सू. अ. २५)। 'ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु। राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः॥ बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे। योज्यो मृदुत्वादपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः॥ फलकाले फलं तस्य ग्राह्यं परिणतं च यत्। तेषां गुणवतां भारं सिकतासु निधापयेत्। सप्तरात्रात् समुद्धृत्य शोषयेदातपे भिषक्। ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत्॥ (च. क. अ. ८) 'आरग्वधा

गुरुः स्वादुः शीतलो मृदुरेचनः । तत्फलं स्रंसनं रुच्यं कुष्ठपित्तकफापहम् ॥ ज्वरे तु सततं पथ्यं कोष्ठशुद्धिकरं परम् ॥ (भा. प्र.) ।

अमलतास मधुर, तिक्त, मृदु, शीतवीर्य, गुरु, मृदुरेचन, रुचिकारक तथा कुष्ठ, कण्डू, ज्वर, हृद्रोग, उदावर्त तथा कफ का नाश करनेवाला और ज्वर में कोष्ठशुद्धि के लिये उत्तम है । यह मृदु और अनपायि (किसी प्रकार की हानि न करनेवाला) होने से बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण और सुकुमारों को विरेचन के लिये प्रशस्त है ।

नव्यमत—अमलतास आनुलोमिक, दाहशामक और वेदनास्थापन है । रक्त में उष्णता बढ़ी हो और शरीर में, मलसंचय होकर वातरक्त, आमवात आदि रोग हुए हों तब अमलतास विरेचन के लिये देते हैं । यह सौम्य होने से बालक, स्त्री आदि सुकुमार प्रकृतिवालों को भी दिया जाता है । पित्त की प्रधानता हो तो इसके साथ इमली देते हैं । शीत की प्रधानता हो तो इसके साथ निसोथ देते हैं । यकृत् की क्रिया ठीक न होती हो तब मकोय के साथ देते हैं । व्रणशोथ, वातरक्त और आमवात के शोथ में मग्ज (और पत्ती) का लेप करते हैं । गले की ग्रन्थि (टॉन्सिल) सूजकर पानी गले में न उतरता हो तब १ तोला छाल का क्वाथ कर के थोड़ा थोड़ा मुंह में डालते हैं । इससे ग्रन्थिशोथ उतरता है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत--अमलतास उष्ण, स्निग्ध, शोथघ्न और सारक है । अन्य योग्य औषधों के साथ मिलाकर प्रत्येक दोष के विरेचन के लिये दिया जाता है । हर एक उमर (अवस्था) में और गर्भिणी स्त्रियों को दे सकते हैं । खांसी, दमा और वक्षःस्थल की खुश्की को दूर करने के लिये इसका अवलेह बनाकर देते हैं । शोथों को विलीन करने के लिये इसका लेप करते हैं । यकृत् का सुद्दा (बिबन्ध), कामला, यकृत का शोथ और उष्णता से उत्पन्न ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं । गले की सूजन में मकोय के स्वरस या गाय के दूध में मिला और क्वाथ करके कुल्ले कराते हैं । अमलतास के फूलों का गुलकंद बनाकर खांसी में और दस्त की कब्जियत दूर करने के लिये देते हैं । अमलतास के मग्ज को पकाने से उसका प्रभाव न्यून होता है, अतः क्वाथ को आग पर से नीचे उतारकर पीछे उसमें अमलतास का गूदा मिलाते हैं । अमलतास का गूदा देरतक आंतों में चिपका रहता है, इसलिये इसको थोड़ा बादाम का तैल लगाकर उपयोग में लेना चाहिये ।

(१२४) चक्रमर्द

नाम–(सं.) चक्रमर्द, प्रपुन्नाड, एडगज; (हिं.) पवाँड, चकवड़; (बं.) चाकुंदा; (म.) टाकळा; (गु.) कुवाडियो; (ते.) तगिरिसे, तंट्टेमु; (ता.) तघ(क)रै; (मल.) पोन्नांतकरा, तघर; (ले.) कॅसिआ टोरा (Cassia tora) ।

वर्णन--चक्रमर्द का क्षुप २-५ फुट ऊँचा होता है · पर्ण संयुक्तदल । एक पर्ण में छः दल होते हैं । फूल पीले रंग के होते हैं । सेम लंबी और पतली होती हैं । एक सेम में २०-३० बीज होते हैं ।

गुण-कर्म–सुश्रुते-(सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरद्रव्येषु प्रपुन्नाडः पठ्यते । 'चक्रमर्दः कटूष्णः स्यान्मेदोवातकफापहः । दद्रूकण्डूहरः कान्तिसौकुमार्यकरो मतः ।।" (ध. नि.) । "चक्रमर्दो लघुः स्वादू रूक्षः पित्तानिलापहः । हृद्यो हिमः कफश्वासकुष्ठदद्रुकृमीन् हरेत् ।। हन्त्युष्णं तत्फलं कुष्ठकण्डूदद्रूविषानिलान् । गुल्मकासकृमिश्वासनाशनं कटुकं स्मृतम् ।।" (भा.प्र.) 'कफापहं शाकमुक्तं वरुणप्रपुनाडयोः । रूक्षं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ।।" (सु. सू. अ. ४६) ।

पवांड कटु, मधुर, उष्णवीर्य, रूक्ष, लघु तथा मेद, वात, कफ, दाद, खाज, श्वास, कुष्ठ, और कृमियों का नाश करनेवाला है । पवांड के बीज कटु, उष्णवीर्य तथा कुष्ठ कण्डू दाद, विष, वायु, गुल्म, खाँसी, कृमि और श्वास का नाश करनेवाले हैं । पवांड का शाक रूक्ष, लघु, शीतवीर्य, वातपित्तप्रकोपक तथा कफनाशक है ।

नव्यमत--पवांड की पत्तियों में सनाय जैसा विरेचन द्रव्य हैं । इसकी क्रिया त्वचा पर होती है । इसको सब प्रकार के त्वचा के रोगों में देते हैं । त्वचा मोटी हो गयी हो तो इससे विशेष लाभ होता है । त्वचा के रोगों में पत्तियों का साग खिलाते हैं और बीजों को नींबू के रस में पीसकर लगाते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(१२५) कासमर्द ।

नाम--(सं.) कासमर्द; (हि.) कसौंदी; (बं.) कासन्दा; (म.) कासविदा; (गु.) कासोदरो; (ते.) कासिन्द; (ता.) पेयाविरै; (मल.) पोन्नाविरम्; (फा.) दोडुतगचे; (ले) कॅसिआ ओक्सिडेन्टेलिस् (Cassia occidentalis) ।

वर्णन--कसौंदी के ३-६ फुट ऊंचे क्षुप वर्षाऋतु में होते हैं । देखने में ये चकवड़ जैसे होते हैं । पर्ण संयुक्तदल; पर्णक्रम एकांतर; पुष्प पीले रंग के; सेम चपटी, ४-५ इंच लंबी होती है । सेम में १०-३० बीज होते हैं ।

गुण--कर्म---सुश्रुते (सू. अ. ३८) सुरसादिगणे कासमर्दः पठ्यते । "कासमर्दः सतिक्तोष्णो मधुरः कफवातजित् । अजीर्णकासपित्तघ्नः पाचनः कण्ठशोधनः ।।" (रा. नि.) । "कासमर्दकपत्राणां यूषः × × । × × × हिक्काश्वासनिवारणः ।। (च. चि. अ. १७) ।

कसौंदी कुछतिक्त, मधुर, उष्णवीर्य, पाचन, कण्ठशोधन तथा काफ, वात, पित्त, अजीर्ण, खांसी, हिक्का और श्वाश का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत—कसौंदी की पत्तियों में सनाय जैसा विरेचन द्रव्य है। क्षुप के इतर भाग की अपेक्षया बीजों में विरेचन सत्त्व अधिक होता है। बीजों को सेंकने से उनके अंदर का विरेचन सत्त्व नष्ट होता है और उसमें कॉफी (कहवा) जैसा स्वाद उत्पन्न होता है। इनकी कॉफी तैयार कर के पीते हैं। कसौंदी कफघ्न, संकोचविकासप्रतिबन्धक (आक्षेपहर), स्रंसन और जरा मूत्रजनन है। बीज ज्वरहर, कुष्ठघ्न; मूल मूत्रजनन, कुष्ठघ्न, ज्वरहर और बल्य; तथा पंचांग रेचन है। कूकरखांसी में पत्र स्वरस में शहद मिलाकर देते हैं। कफज्वर में पत्रस्वरस देते हैं, इससे श्वासनलिकाओं के संकोचविकास से होनेवाला त्रास कम होता है। पंचांग के क्वाथ से पेट का वायु सरता है, मरोड़ कम होता है और दस्त साफ होता है। पत्तियों को पीसकर व्रणशोथ और विसर्प पर लेप करते हैं। मूल से पेशाब बढ़ता है, इसलिये उदर और जलशोथ में देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(१२६) आवर्तकी ।

नाम--(सं). आवर्तकी, चर्मरङ्गा, पीतपुष्पा; (म.) तरवड; (गु.) आवळ; (ते.) तंगेडु; (त.) आविरै; (मल.) आविरम्; (का.) आवरिके; (ले.) केसिआ ओरिक्यूलेटा (Cassia ouriculata)।

वर्णन--आवळ का ३–१० फुट ऊंचा बहुशाखायुक्त क्षुप होता है। पुष्प पीले रंग के होते हैं। सेम में १०–२० बीज होते हैं। छाल चमड़े रंगाने के काम में आती है। यह गुजरात, महाराष्ट्र और मारवाड़ में अधिक होता है।

गुण-कर्म--"आवर्तकी तिक्तशीता कषाया ग्राहिणी तथा। मुखरुक्कुष्ठकण्डूतिजन्तुशूलव्रणापहा॥ तत्पुष्पं मधुमेहघ्नं चक्षुष्यं तृड्विनाशनम्।

आवर्तकी तिक्त, कषाय, शीतवीर्य, ग्राही तथा मुखरोग, कुष्ठ, कण्डू, कृमि, शूल और व्रण को दूर करनेवाली है। पुष्प मधुमेह और तृषा का नाश करनेवाले हैं।

नव्यमत–आवर्तकी जोरदार ग्राही है। इससे सर्व शरीर को बल मिलता है। मधुमेह में फूल अथवा बीजों का चूर्ण ३० गुंजा की मात्रा में देते हैं। इससे तृषा और मूत्र का प्रमाण कम होता है। शुक्रस्राव में पुष्प देते हैं। अत्यार्तव और जीर्ण आंव में पंचांग का क्वाथ देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(१२७) मार्कण्डी ।

नाम—(सं.) मार्कण्डी; (हिं.) सनाय; (म.) सोनामुखी, (गु.) मींढी आवल, सोनामखी; (अ.) सनाय मक्की; (ले.) केसिआ एन्ग्युस्टिफोलिआ (Cassia angustifolia)।

वर्णन–सनाय मद्रास प्रांत के तिनेवेल्ली जिले से और अरबस्तान से आती है।

उपयुक्त अंग-पत्र और सेम । मात्रा–पत्ती १–३ माशा; सेम १०–२०। सेम को गरम जल में ६ घंटा भिगो, हाथ से मसल, कपड़े से छान कर देते हैं।

गुण–कर्म––"मार्कण्डिका कुष्ठहरी ऊर्ध्वाधःकायशोधनी । वातरुक्कृमिकासघ्नी गुल्मोदरविनाशिनी ।।" (नि. सं.)

सनाय विरेचक, वामक तथा वातरोग, कृमि, खांसी गुल्म और उदररोग को दूर करनेवाली है।

नव्यमत—सनाय रेचन है। थोड़े प्रमाण में देने से पचनक्रिया सुधरकर दस्त साफ होता है। बड़े प्रमाण में देने से पेट में मरोड़ा आकर जुलाब होते हैं। इसकी मुख्य क्रिया छोटी आंतों पर होती है । सनाय यकृत् के लिये भी थोड़ी उत्तेजक है। सनाय से पेट में ऐंठन न हो इसलिये उसके साथ सोंठ सौंफ जैसे सुगन्धि द्रव्य तथा सैंधव या मिश्री मिलाते हैं। सनाय दूध के द्वारा शरीर से बाहर आती है इसलिये मा को सनाय दी गई हो तो बच्चे को भी दस्त होते हैं। कुपचन और दस्त साफ न होने से शरीर में मलसंचय हुआ हो तब सनाय का जुलाब देते हैं। पित्तज्वर में सनाय-अमलतास आदि का जुलाब देना शास्त्रशुद्ध है। इससे दूषित पित्त और पित्त के साथ ज्वरकारक विष शरीर से बाहर निकल जाते हैं और नवीन शुद्ध पित्त उत्पन्न होता है तथा ज्वरघ्न औषध अपना कार्य अच्छे प्रकार से करते हैं ((डॉ. बा. ग. देसाई) ।

(१२८) चक्षुष्या ।

नाम–(सं.)चक्षुष्या, अरण्यकुलत्थिका; (क.) कीड, निन्द्रताछ; (हिं.) चाकसू; (म.) चिनोळ; (गु.) चिमेट, चमेड; (सिं.) चवर; (ले.) कॅसिआ; एब्सस् (Cassia absus)

वर्णन–चाकसू के काले रंग के चिकने बीज बाजार में मिलते हैं। बीज का कवच निकाल देने से भीतर फीके पीले रंग का मग्ज मिलता है। उसका स्वाद कड़ुआ होता है।

उपयुक्त अंग–फलमज्जा ।

गुण–कर्म–"आनाहमेदोगुदकीलहिक्काश्वासापहः शोणितपित्तकृच्च । कफस्य हन्ता पवनामयघ्नो विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ।" (सु. सू. अ. ४६) । "हिमा प्रोक्ता कषाया च विषं स्थावरजङ्गमम् । निहन्ति योजिता सम्यङ्नेत्रस्रावाननेकशः ।। सा च विस्फोटकण्ड्वर्तिव्रणदोषनिबर्हणी ।" (ध. नि.) ।

चाकसू कषाय, शीतवीर्य, रक्तपित्तकर तथा स्थावर और जंगम विष, नेत्रस्राव, विस्फोटक; कण्डू, व्रणदोष, आनाह, मेद, अर्श, हिक्का, श्वास, कफरोग और वात रोग का नाश करनेवाली है।

नव्यमत—बीजों को जलाने से २ १/४ प्रतिशत राख मिलती है। उसमें मेंगेनीझ का अंश होता है। गुण--संग्राहक और नेत्राभिष्यन्दप्रशमन । पूर्वयुक्त नेत्राभिष्यन्द में बीजों की मग्ज का चूर्ण आधी रत्ती पलक के भीतर डालते हैं. इससे अच्छा लाभ होता है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत —चाकसू दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, रक्तसंग्राहक, ग्राही लेखन, शोथविलयन, चक्षुष्य और नेत्ररोगों में हितकर है। चाकसू के बीज के इक्कीस दाने श्वेतचंदन ५ माशे के साथ रात को जल में भिगो, सवेरे में जल को कपड़े से छानकर पीने से पेशाब में रक्त आता हो तो बंद होता है। चाकसू लेखन और शोथविलयन होने से नेत्ररोगों में इसका प्रयोग करते हैं। बीजों को पानी में सने हुए गेहूँ के आटे में रख, भूमल में गरम कर, छिलका निकाल कर नेत्ररोगों में प्रयोग किया जाता है।

---

(१२९) शमी ।

नाम--(सं) शमी; (हिं.) छोंकर; छिकुर; (पं.) जड; (बं.) शाँई; (म.) शमी; (गु.) समडी, खीजडो; (मा.) खेजडो, जाट, जांटी (वृक्ष) सांगर (फली); (सिंध.) कंडी; (ते.) जम्मि; (ता.) परबै, वण्णि; (मल.) परंबु, वन्नि; (ले.) प्रोसोपिस् स्पिसिजेरा (Prosopis spicigera) ।

वर्णन—शमी के कांटेदार वृक्ष जांगल देश में अधिक होते हैं। पत्र खैर या बब्बूल के तुल्य, छोटे; पुष्प श्वेताभ पीत; कच्ची फलियों का साग बनाकर मारवाड़ और पंजाब में खाते हैं। हिंदूलोग दशहरा के दिन शमी के वृक्ष का पूजन करते हैं।

गुण कर्म--चरके (वि.अ. ८) कषायस्कन्धे शमी पठ्यते। "शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम्।" (सु. सू. अ. ४६)। "गुरूष्णं मधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम्।" (च. सू. अ. २७)। "शमी रूक्षा कषाया च रक्तपित्तातिसारजित्।" (रा. नि.)।

शमी कषाय, रूक्ष तथा रक्तपित्त और अतिसार को दूर करनेवाली है। शमी का फल मधुर, गुरु, रूक्ष, उष्णवीर्य तथा केश को हानि कारनेवाला है।

शिम्बी वर्ग ३४.

बब्बूलादि उपवर्ग ३.

N O. Mimosaceae(माईमोसेसी) ।

उपवर्ग लक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्ण-सदल, पक्षाकार; पुष्पविन्यास प्रायः कन्दुकाकार; पुष्प बहुत सूक्ष्म, पुष्पसमूह में समीप-समीप लगे हुए;

पंखडियाँ समान (छोटी-बड़ी नहीं), किनारी समीप-समीप आई हुई और तलभाग में जुड़ी हुई; सेम चपटी; सन्धिस्थान पर से फटनेवाली ।

---

(१३०) बब्बूल ।

नाम– (सं.) बब्बूल; (पं.) किक्कर; (हिं.) बबूल, बबूर, कीकर; (म.) बाभूल; (बं.) बाबला; (गु.) बावल; (मा.) बावलियो; (सिंध) बबुर; (ते.) नल्लतुम्म; (ता.) करुवेल्; (मल.) करुवेलम् (अ.) समग अरबी (गोंद); (ले.) अँकेसिआ अरेबिका (Acacia arabica) ।

वर्णन--बब्बूल का वृक्ष प्रसिद्ध है । इसकी कोमल शाखा का दतवन करते हैं । पुष्प पीले रंग के; फली चिपटी, ८-१२ बीजयुक्त; दो बीजों के बीच में फली दबी हुई होती है । छाल चमड़ा रंगाने के काम में आता है । इससे कुछ ललाई लिये हुए सफेद रंग का गोंद निकलता है ।

गुण-कर्म–"बब्बूलस्तुवरः शीतः कुष्ठकासामयापहः । आमरक्तातिसारघ्न पित्तार्शोदाहनाशनः ॥ बब्बूलस्य फलं रूक्षं विशदं स्तम्भनं गुरु । बब्बूलस्य तु निर्यासो ग्राही पित्तानिलापहः ॥ रक्तातिसारपित्तास्रमेहप्रदरनाशनः । भग्नसन्धानकः शीतः शोणितस्रुतिवारणः ॥"

बबूल कषाय, शीतवीर्य तथा कुष्ठ, खांसी, आंव, रक्तातिसार. अर्श और दाह का नाश करनेवाला है । बब्बूल की फली रूक्ष, विशद, स्तम्भन और गुरु है । गोंद ग्राही; शीतवीर्य, संधानीय तथा पित्त, वात, रक्तातिसार, प्रमेह; प्रदर और रक्तस्राव को दूर करनेवाला है । बब्बूल की छाल की रसक्रिया में शहद मिलाकर अंजन करने से नेत्रस्राव दूर होता है ।

नव्यमत—सेम में २२ प्रतिशत कषायद्रव्य है । छाल अच्छी संग्राहक तथा गोंद स्नेहन, ग्राही और पौष्टिक है । छाल के क्वाथ से मुखरोग, दांतों के हिलने और गले की शिथिलता में कुल्ले करते हैं । गुदभ्रंश में बाहर आये हुए छाल के क्वाथ में कपड़ा भिगोकर रखते हैं । गोंद मुंह में रखने से गले के सूखेपन और सूखी खांसी में लाभ होता है । मूत्रकृच्छ्र में गोंद पानी में मिलाकर देते हैं । अतिसार में कोमलपत्तियाँ (कल्क के रूप में) देते हैं (डॉ॰ वा. ग. देसाई) ।

---

(१३१) खदिर ।

नाम--(सं.) खदिर, गायत्री; (हिं. म.) खैर; (पं.,गु.) खेर (बं.) खये (ए.) र; (ते.) पोडलमानु; (ता.) काचुकट्टि, करंगालि; (मल.) कदरम्, करिङ्ङालि; (ले.) अँकेसिआ कॅटेच्यु (Acacia catechu) ।

खदिरसारनाम–(हिं.) खैरसार, कत्था; (म.) कात; (गु.) काथो; (मल.) कात्तु; (इं) कॅटेचु (Catechu)।

वर्णन–खैर का काँटेदार; खुरदरी छालवाला मध्यम प्रमाण का वृक्ष होता हैं। पुष्प फीके पीले रंग के होते हैं। सेम २–४ इंच लंबी, पतली, चपटी, भूरे रंग को होती है। सेम में ८–१० बीज होते हैं। खैर की लकड़ी से कत्था बनाया जाता है। खैर की एक जाति श्वेत सार (लकड़ी) वाली होती है; उसको संस्कृत में सोमबल्क (सफेद छालवाला) कहते हैं। इसकी एक जाति दुर्गन्धयुक्त होती है, उसको संस्कृत में अरिमेद और विट्खदिर कहते हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) कुष्ठघ्ने महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च खदिरः पठ्यते। "खदिरः कुष्ठघ्नानां" (च. सू. अ. २५)। सुश्रुते (सू. अ. ३८) सालसारादिगणे खदिरः पठ्यते। "शनैर्मेहिनं खदिरकषायम्।" (सु. चि. अ. ११)। "दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः। सर्वथैव प्रयुञ्जीत स्नानपानाशनादिषु॥" (सु. चि. अ. ९)। "खदिरः कृमिकुष्ठघ्नः कफरेतोविशोषणः।" (ध. नि.)। "खदिरस्तु रसे तिक्तः शीतपित्तकफापहः। पाचनः कुष्ठकासास्रशोथकण्डूव्रणापहः॥" (रा. नि.)। "खदिरः शीतलो दन्त्यः कण्डूकासारुचिप्रणुत्। तिक्तः कषायो मेदोघ्नः कृमिमेहज्वरव्रणान्॥श्वित्रशोथामपित्तास्रपाण्डुकुष्ठकफान् हरेत्।" (भा. प्र.)।

खैर तिक्त, कषाय, शीतवीर्य, पाचन, कफ और शुक्र को सुखानेवाला तथा पित्त, कफ, कुष्ठ, खाँसी, शोथ, कण्डू, व्रण, अरुचि, मेद, प्रमेह, ज्वर, श्वित्र, आम, रक्तविकार और पांडुरोग का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--छाल में ५७ प्रतिशत कषाय द्रव्य और ३५ प्रतिशत कत्था है। छाल का क्वाथ ठंढा होने पर पात्र के तलभाग में कत्था बैठता है। खैरसार-यह भी एक प्रकार का कत्था है जो वृक्ष की जीवित दशा में वृक्ष के मध्यभाग में अपने आप बनता है। रंग फीका कत्थे जैसा होता है। स्वाद मधुर और कषाय होता है। सूक्ष्मदर्शक काँच के नीचे रखने से बारीक सूई जैसे टुकड़े उसमें दीखते हैं। ठंडे पानी में वैसा ही पड़ा रहता है। पानी में उबालने से घुल जाता है, परंतु ठंडा होने पर सूई सरीखे टुकड़ों का स्तर नीचे बैठता है। यह मद्य में ९० प्रतिशत घुलता है। यह गले की शिथिलता में उत्तम औषध है। इसको कफरोगों में देते हैं। इससे नया कफ उत्पन्न होना बंद होता है। मात्रा—२–५ रत्ती। गुण-कर्म-कत्था अच्छा संग्राहक है। इसकी क्रिया श्लेष्मल त्वचा और रक्तवाहिनियों पर होती है। इससे कफ कम होता है और छोटी छोटी रक्तवाहिनियों का संकोच होता है। कत्थे से आमाशय का पाचक रस कम होता है और आँतों का मल गाढ़ा होता (बंधता) है। इससे सर्व शरीर की शिथिलता कम होती है। खैर की छाल में कत्थे के सब गुण वर्तमान

हैं। खैर संग्राहक, श्लेष्मघ्न, रक्तसंग्राहक, रक्तपित्तप्रशमन, विषमज्वरप्रतिबन्धक और कुष्ठघ्न है। जीर्णज्वर में खैर की छाल और चिरायते का क्वाथ देने से प्लीहा की वृद्धि कम होती है और शरीर को बल प्राप्त होता है। छाल का क्वाथ पीने और कुल्ला करने से मसूढ़ों में खून आना बंद होता है। त्वग्रोगों में व्रण होकर पीप और रक्त आता हो तो छाल का क्वाथ पिलाते हैं और उससे व्रण को धोते हैं। संग्रहणी, अतिसार और खट्टे डकार में कत्था गुणकारी है। गर्भाशय की शिथिलता से उत्पन्न प्रदर, रक्तस्राव और योनिशैथिल्य में समभाग कत्था और बोल की गोलियाँ गुणकारक हैं। तरुणों के कफ विकार में जब कफ बहुत पड़ता हो, कफ पतला हो, शरीर फीका पड़ गया हो और हलका ज्वर रहता हो तब इन गोलियों से लाभ होता है। अकेला कत्था मुंह में रखने से गले को शिथिलता से उत्पन्न सूखी खाँसी में लाभ होता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१३२) शिरीष।

नाम–(सं.) शिरीष; (हिं.) सिरस; (म.) शिरस; (गु.) काळीयो सरस, सरसडो; (पं.) सरींह, शरीं; (सिंध) सिरिंह; (बं.) शिरीष; (ते.) दिरीसनमु, गिरीशमु; (ता.) वाघै, चि (शि) रीदम्; (मल.) वाक; (ले.) आल्बिझिआ लेबेक् (Albizzia lebbeck)।

वर्णन—शिरीष का बड़ा वृक्ष होता है। पत्ते इमली जैसे। शीतकाल में पत्ते झड़ जाते हैं। पुष्प पीताभ श्वेत सुगन्धि, चँवर जैसा और सुकुमार; सेम लंबी, पतली, चपटी; बीज ६–१०।

उपयुक्त अंग—त्वचा और बीज।

गुण-कर्म–चरके–(सू. अ. ४) विषघ्ने, वेदनास्थापने च महाकषाये, शिरोविरेचनद्रव्येषु। शिरीषबीजं (सू. अ. २), कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) सालसारादिगणे शिरीषः पठ्यते। "शिरीषो विषघ्नानां" (अग्र्यः; च. सू. अ. २५)। "तिक्तोष्णा विषहा वर्ण्यस्निग्ध-दोषशमनो लघुः। शिरीष : कुष्ठकण्डूघ्नस्त्वग्दोषश्वासकासहा॥" (ध. नि.)।

शिरीष कषाय, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु, त्रिदोषहर, वर्ण्य, वेदनास्थापन, शिरोविरेचन, विषहर तथा वात, पित्त, कफ, कुष्ठ, कण्डू, श्वास और खांसी को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–छाल में कषाय द्रव्य ७ और राल १४ प्रतिशत है। शिरीष पौष्टिक, वाजीकर, ग्राही और विषघ्न है। फूल शुक्रस्तम्भन के लिये देते हैं। बीज दूध के साथ वीर्य गाढ़ा होने के लिये देते हैं। छाल का चूर्ण घी के साथ बृंहण के लिये देते हैं। छाल के क्वाथ के कुल्ले करने से दांत मजबूत होते हैं। बीजों का गंडमाला में लेप

कराते हैं और खाने को भी देते हैं। रसौंधी में क्वाथ पिलाते हैं और आंखों में स्वरस की बूंद गेरते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१३३) सातला।

नाम—(सं.) सातला, सप्तला, चर्मकशा, फेनिला; (हिं.) चिकाकाई; (म.) शिकेकाई; (गु.) चिकाखाई; (बा.) छिकाकाई; सिकाकाई; (ते.) शीकाय; (ता.) शी (ची) यक्काय; (मल.) चीक्कक्वायि, चीनिक्काय्; (ले.) अँकेसिआ रुगटा (Acacia rugata)।

वर्णन—सातला का काँटेदार गुल्म होता है। पत्ते खट्टे और रोचक होते हैं। बाजार में सेम मिलती हैं। सेम को पानी में भिगोकर मसलने से रीठे के जैसे फेन (झाग) होते हैं। सिर के बाल और रेशमी कपड़ा धोने के लिये इसका उपयोग करते हैं।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. २) विरेचनद्रव्येषु सुश्रुते (सू. अ. ३८) श्यामादिगणे च सप्तला पठ्यते। "सातला शोधनी तिक्ता कफपित्तास्रदोषनुत् शोथोदरानाहहरा किञ्चिन्मारुतकृद्भवेत्।" (ध. नि.)। "सातला कटुका पाके वातला शीतला लघुः। तिक्ता शोफकफानाहपित्तोदावर्तरोगनुत॥ (भा. प्र.)।

सातला तिक्त, कटुविपाक, लघु, शीतवीर्य, शोधन, वातल तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, शोथ, उदर, आनाह और उदावर्त को दूर करनेवाली है।

नव्यमत—सातला की सेम में साबुन (सेपोनीन्) ११, सेवाम्ल (मेलिक् एसिड्) १२, राल १, शर्करा (ग्लुकोझ्)। १३½ और गोंद २१ प्रतिशत होता है। सातला की सेम उत्तेजक कफघ्न, वामक और आनुलोमिक है। सेम की क्रिया रीठा किंवा सेनेगा जैसी होती है। इससे नाडी का स्पन्दन कम होता है और मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। पत्र खट्टे, रोचक, यकृदुत्तेजक और विरेचन हैं। पुराने कफरोगों में कफ पतला होने और श्वासावरोध कम होने के लिये सेम का फांट देते हैं। इस फांट से दस्त भी साफ होता है। सेम के क्वाथ से सिर धोने से जूएँ मरती हैं। सेम के क्वाथ में कपडे की बत्ती भिगो कर बच्चों की गुदा में चढ़ाने से दस्त साफ होता हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१३४) लज्जालु।

नाम—(सं.) लज्जालु, समङ्गा, अञ्जलिकारिका; (हिं.) छुईमुई, लजालु, लाजलजी, लजनी; (म.) लाजाळू, लाजरी; (गु.) रीसामणी (ता.) तोट्टच्चुरंगी; (मल.) तोट्टाल्वाडी; (ले.) माईमोसा प्युडिका (Mimosa pudica)।

वर्णन—लज्जालु का क्षुद्र क्षुप होता है। पत्ती को छूने से पत्तियाँ संकुचित हो जाती है। शाखाओं में बारीक काँटे होते हैं।

गुण--कर्म—चरके (सू. अ. ४) संधानीये, पुरीषसंग्रहणीये च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) प्रियङ्ग्वादिगणे, अम्बष्ठादिगणे च ('समङ्गा'-नाम्ना) लज्जालुः पठ्यते। "लज्जालुः शीतला तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। रक्तपित्तमतीसारं योनिरोगान् विनाशयेत्॥" (भा. प्र)।

लज्जालु तिक्त, कषाय, शीतवीर्य, संधानीय, पुरीषसंग्रहणीय तथा कफ, पित्त, रक्तपित्त; अतिसार, और योनिरोगों का नाश करनेवाली है।

नव्यमत--मूल में कषाय द्रव्य है। लज्जालु रक्तसंग्राहक और छोटी रक्तवाहिनियों का संकोच करनेवाली है। रक्त और पित्तप्रधान रोगों में लज्जालु देते हैं। रक्तमिश्रित आंव में तथा सिकता में हम मूल का क्वाथ देते हैं। अर्श में पत्तियों का चूर्ण दूध के साथ देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

तरुण्यादि वर्ग ३५.

N. O. Rosaceae (रोझेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; त्रिभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर; पर्ण सदल, पक्षाकार; पुष्प शाखाग्रोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश के दल ५; पंखडियाँ प्रायः ५; पुंकेशर अनियत।

------

(१३५) तरुणी।

नाम—(सं.) तरुणी, शतपत्री; (बं.) गोलाप ((हिं.; म., गु.) गुलाब; (ते.) गुलाबि; (ता.) इराशा; (मल.) पन्नीरपु; (फा.) गुलसुर्ख; (ले.) रोझा सेन्टिफोलिआ (Rosa centifolia)।

वर्णन--हिमालय के कश्मीर, गढ़वाल आदि प्रदेश में जंगली (स्वयंजात) गुलाब होता है। उसमें ५ पंखडियाँ गुलाबी रंग की होती हैं। जंगली गुलाब की एक जाति में पीताभ श्वेत रंग के फूल होते हैं, उसको (हिं.) सेवती; (क.) काशुर गुलाब; (ले.) रोझा आल्बा (Rosa alba) कहते हैं। बागों में जो गुलाब लगाया जाता है उसमें अधिक पंखडियाँ होती हैं। औषध के लिये वसंतऋतु में उत्पन्न (मौसिमी) पुष्पों की छाया में सुखाई हुई अविकसित कलिकाएँ ली जाती हैं।

गुण-कर्म—"शतपत्री हिमा हृद्या रस च शुक्रला लघुः। दोषत्रयास्रजिद्वर्ण्या तिक्ता कट्वी च पाचनी॥" (भा. प्र.)।

गुलाब के पुष्प तिक्त, कटु, शीतवीर्य; हृद्य, सारक, शुक्रल, लघु, वर्ण्य, पाचन तथा तीनों दोष और रक्त के विकारों को दूर करनेवाले हैं।

नव्यमत—गुलाब शीतस्वभावी आनुलोमिक है। इससे दस्त साफ होता है, भूख लगती है, अन्न पचता है और शरीर पुष्ट होता है। बच्चों और गर्भिणी स्त्रियों को गरमी के दिनों में गुलकंद खाने को देते हैं। गुलकंद और अर्कगुलाब का अनुपान के रूप में प्रयोग किया जाता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत—गुलाब के फूल सौमनस्यजनन, हृदय-मस्तिष्क-यकृत्-आमाशय और आँतों को बलप्रद, अधिक प्रमाण में देने से रेचक और थोडे प्रमाण में देने से संग्राहक, पित्तशामक तथा स्वेद को सुगन्धित करनेवाले और अधिक स्वेद को रोकनेवाले हैं। लेप करने से गरम शोथ को विलीन करनेवाले और पित्तशामक हैं। सूक्ष्म चूर्ण करके छिड़कने से व्रण को सुखाते हैं।

---

(१३६) वाताम।

नाम—(सं.) वाताम; (हिं.) बादाम; (म.,गु.) बदाम; (क) बादम; (ले.) प्रुनस् ॲमिग्डेलस् (Prunus amygdalus)।

उत्पत्तिस्थान—कश्मीर, अफगानिस्तान, ईरान और यूरोप।

वर्णन—कश्मीर में बादाम के कच्चे फलों का साग बनाकर खाते हैं। कच्चे फल खट्टे और पके हुए फल खटमिठे होते हैं। बादाम दो जात का होता है—(१) मीठा और (२) कड़वा। मीठे बादाम का मग्ज खाया जाता है। कड़ुए बादाम का मग्ज जहरीला है।

गुण-कर्म—"वाताम × × × × × × ×। गुरूष्णास्निग्धमधुराः × बलप्रदाः॥" (च. सू. अ. २७)। "वाताम × × × × × प्रभृतीनि। पित्तश्लेष्मकराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च। बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च॥" (सु. सू. अ. ४६)।

बादाम मधुर गुरु, स्निग्ध, उष्णवीर्य, बृंहण, बल्य, पित्तश्लेष्मकर तथा वातहर है।

नव्यमत—बादाम में पिष्टमय सत्त्व (स्टार्च) नहीं होता, इसलिये बादाम की पेया बनाकर मधुमेह में देते हैं। बादाम की पेया बनाने के पहले बादाम को रातभर गरम पानी में डालकर भिगोना चाहिये। ऐसा करने से उसमें एक नवीन प्रकार का सत्त्व उत्पन्न होता है जो पचनक्रिया का उत्तेजक और सहायकारी है। बादाम की पेया को अधिक पकाने से यह सत्त्व नष्ट होता है। अतः पेया में १–२ उफान आते ही उसको आग पर से उतार लेना चाहिये। श्वासोच्छ्वासेन्द्रिय के तथा मूत्र और जननेन्द्रिय के रोगों में बादाम की पेया देते हैं। भिगोई हुई बादाम, असगंध, पीपर, घी, दूध और शक्कर इनकी पेया रसायन है। स्त्रियों में इस पेया से कमर का

दर्द तथा श्वेतप्रदर दूर होता है और दूध बढ़ता है। कड़ुई बादाम को जल में पोसकर कण्डू पर विशेषतः स्त्रियों के जननेन्द्रिय की कण्डू पर लगाते हैं। कड़ुई बादाम में एक प्रकार का जहरीला सत्त्व (हाइड्रोसायेनिक् अॅसिड) होता है, इसलिये उसको खाने के काम में नहीं लेना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१३७) पद्मक।

नाम–(सं.) पद्मक; (हिं., पं.) पद्माख, पद्माक; (म., गु.) पद्मकाष्ठ; (ले.) प्रुनुस् केरेसोइडस् (Prunus cerasoides)।

वर्णन–पद्मकाष्ठ के वृक्ष हिमालय के शिमला, गढ़वाल आदि प्रदेशों में होते हैं। इसमें ललाई लिये हुए पीले रंग के फल आते हैं। फल खाये जाते हैं। बाजार में पद्मकाष्ठ के कांड के टुकड़े मिलते हैं। त्वचा कृष्णरक्त और भीतर की लकड़ी रक्तपीताभ श्वेत वर्ण की होती है, उसमें अच्छी सुगंध होती है। पद्माक की नई लकड़ी काम में लेनी चाहिये।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) वर्ण्ये; वेदनास्थापने च महाकषाये तथा कषायस्कन्धे; सुश्रुते (सू अ. ३८) सारिवादौ, चन्दनादौ च गणे पद्मकः पठ्यते। "पद्मकं शीतलं स्निग्धं कषायं रक्तपित्तनुत्। गर्भस्थैर्यकरं प्रोक्तं ज्वरच्छर्दिविषापहम्॥ मोहदाहज्वरभ्रान्तिकुष्ठविस्फोटशान्तिकृत्।" (ध. नि.)। "पद्मकं तुवरं तिक्तं शीतलं वातलं लघु। विसर्पदाहविस्फोटकुष्ठश्लेष्मास्रपित्तनुत्॥ गर्भसंस्थापनं वृष्यं वमिव्रणतृषाप्रणुत्।" (भा. प्र.)।

पद्मक कषाय, तिक्त, स्निग्ध, लघु, शीतवीर्य, वातल, वर्ण्य, वेदनास्थापन, गर्भस्थैर्यंकर, वृष्य तथा रक्तपित्त, ज्वर, वमन, विष मूर्च्छा, दाह, भ्रम, कुष्ठ, विस्फोटक, विसर्प, व्रण, कफ और तृषा का नाश करनेवाला है।

नव्यमत-पद्माख की छाल में एक विशेष प्रकार का सत्त्व (हायड्रोसायेनिक् ॲसिड्) पाया जाता है। यह तीव्र विष है। पद्माख कटुपौष्टिक, स्तम्भन, छर्दिनिग्रहण और वेदनास्थापन है। इससे आमाशय की श्लेष्मल त्वचा की क्रिया बढ़कर आमाशयरस तैयार होता है और आमाशय की शक्ति बढ़ती है। साथ में स्तम्भन और वेदनास्थापन गुण भी देखने में आता है। इन तीनों गुणों का उपयोग अपचन होकर किंवा कुपचन रोग में आमाशय की श्लेष्मल त्वचा में सूजन आती है और वमन तथा विरेचन होते हैं किंवा आमाशय में क्षत पड़ते हैं तब किया जाता है। स्तंभन और कटुपौष्टिक गुण इसकी लकड़ी में है। परंतु वेदनास्थापन गुण छाल में स्थित जहरीले सत्त्व में है। इससे वमन और मिचली बंद होती है। इस जहरीले सत्त्व की शरीर के सब अवयवों पर विशेषतः जीवनीय केन्द्रस्थान पर शामक क्रिया होती है। श्वासोच्छ्वास के केन्द्रस्थान पर शामक क्रिया होने से सूखी

खाँसी और क्षय में अतिस्वेद आना कम होता है। हृदय के केन्द्रस्थान पर शामक क्रिया होने से हृदय की धड़कन, हृदय के वामपटलरोग से रक्त का पीछे बहना और हृदय पर मेद बढ़कर एक प्रकार की खाँसी होती है उसमें पद्माख गुणकारक है। पद्माख का क्वाथ करने से इसका सत्त्व उड़ जाता है, इसलिये इसका गुनगुने जल में फांट बनाकर देना चाहिये। पद्माख को जल में घिसकर लेप करने से सूखी खाज कम होती है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१३८) आरुक।

नाम– (सं.) आरुक; (क.) चुनुन; (पं., हिं.) आड़ू; (गु.) पीच; (फा.) शफ्तालू; (लै.) प्रुनस् पर्सिका (Prunus persica)।

उत्पत्तिस्थान-- अफगानिस्तान, वायव्य सीमाप्रांत, कश्मीर।

वर्णन- आड़ू का मध्यमप्रमाण वृक्ष होता है। पुष्प गुलाबी रंग के, फल लोमश और अष्ठील। फल खटमिठ्ठे होते हैं और खाये जाते हैं। मग्ज से तैल निकालते हैं।

गुण-कर्म–"नात्युष्णं गुरु संपक्वं स्वादुप्रायं मुखप्रियम्। बृंहणं जीर्यति क्षिप्रं नातिदोषलमारुकम्॥" (च. सू. अ. २७)। "आरुकाणि च हृद्यानि मेहार्शोनाशनानि च।" (ध. नि.)। "अर्शःप्रमेहगुल्मास्रदोषविध्वंसनानि च।" (रा. नि.)।

पका हुआ आड़ू प्रायः मधुर, स्वादिष्ट, गुरु, किंचित् उष्णवीर्य, बृंहण, हृद्य, शीघ्र हजम होनेवाला और किंचित् दोषकर तथा प्रमेह, अर्श, गुल्म और रक्तविकार का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–आड़ू दीपन, स्नेहन और रक्तपित्तप्रशमन है। पुष्प भेदन हैं। तैल बालों को लगाया जाता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वक्तव्य–धन्वन्तरिनिघण्टुकार ने आरुक की चार जातियाँ मानी हैं "विद्याज्जातिविशेषेण तच्चतुर्विधमारुकम्।" संभव है कि उनकी मानी हुई चार जातियों में आडु (Prunus persica) आलुबुखारा (Prunus communis), आलुवालुगिलास (Prunus cerasus), और आलुचा (Prunus Aloocha) इन चार का समावेश होता हो।

---

(१३९) आलुबुखारा।

नाम–(क.) अअर; (मा.) आलुबुखारो; (पं., हिं., म., गु.) आलुबुखारा; (फा.) आलुबोखारा; (अ.) इज्जोस; (लै.) प्रुनस् कोम्युनिस (Prunus communis)।

वर्णन--इसकी मूल जन्मभूमि बुखारा समरकंद है। परंतु अभी हिमालय के कश्मीर से गढ़वालतक के प्रदेशों में होता है। फल गोल; रंग श्वेत-पीला-लाल; स्वाद खटमिठ्ठा। फल में बादाम के जैसा मग्ज होता है। सूखे फल बाजार में सर्वत्र मिलते हैं।

गुण-कर्म--आलुबुखारा शीतल, पिपासाघ्न और मृदु रेचक है। पित्तज्वर में इसका अच्छा उपयोग होता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--आलुबुखारा शीतल, स्निग्ध, मृदु रेचक, दाहप्रशमन, पित्तरेचक और पित्तप्रशमन है। आलुबुखारा पैत्तिक शिरःशूल, पित्तज्वर, वमन, तृषा, कामला, दाह, हृल्लास और पित्तप्रधान रक्तविकार में दिया जाता है। तृषा तथा हृल्लास में फल मुंह में रख कर चुसाते हैं और इसका शर्बत बना कर पिलाते हैं।

---

(१४०) उरुमाण।

नाम--(सं.) उरुमाण; (क.) चेर; (पं., हिं.) जर्दालु, खुरमानी, खुर्बानी, खुबानी; (फा.) जर्दआलू; (अ.) मिशमिश; (ले.) प्रुनस् आर्मेनीका (Prunus armeniaca)।

वर्णन--फल आड़ू जैसे परंतु उससे छोटे; रंग-जर्दालु का पीला और खुबानी का फीका लाल; स्वाद पके फल का मीठा। मग्ज बादाम जैसा। मग्ज मीठा और कड़ुआ दो प्रकार का होता है। सूखे फल बाजार में सर्वत्र मिलते हैं।

गुण-कर्म--"××× उरुमाणप्रभृतीनि। पित्तश्लेष्महराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च। बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च॥" (सु. सू. अ. ४६) "गुरूष्णस्निग्धमधुराः सोरुमाणा बलप्रदाः।" (च. सू. अ. २७)।

जर्दालू और खुबानी मधुर, गुरु, स्निग्ध, उष्णवीर्य, बृंहण, बल्य तथा पित्त-कफ-वातहर हैं।

---

(१४१) सिम्बितिका।

नाम--(सं.) सिम्बि (ञ्चि) तिका, सेव; (क.) चूंठ; (पं., हिं.) सेब, (गु., म.) सफरचंद; (सिंध) सूफ; (अ.) तुफ्फाह। (ले.) पाइरस् मॅलस (Pyrus malus)।

उत्पत्तिस्थान--सेब भारतवर्ष में काश्मीर से लेकर कुल्लूनक के हिमालय के प्रदेश में तथा नीलगिरी में होते हैं।

वर्णन--सेब का फल प्रसिद्ध है। स्वाद खटमिठ्ठा या मीठा। इसका पका हुआ फल खाया जाता है और उसका मुरब्बा भी बनाते हैं।

गुण-कर्म--"कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बितिकाफलम् ।" (च. सू. अ. २७) । "कषायं स्वादु संग्राहि शीतं शिञ्चितिकाफलम् ।" (सु. सू. अ. ४६). "सेवं समीरपित्तघ्नं बृंहणं कफकृद्गुरु । रसे पाके च मधुरं शिशिरं रुचिशुक्रकृत् ।।" (भा. प्र.) ।

सेब कषाय, मधुर, मधुरविपाक, शीतवीर्य, ग्राही, गुरु, बृंहण, कफकर, रुचिकर, शुक्रल और वातपित्तहर है ।

यूनानीमत--सेब दो प्रकार का होता है--(१) मीठा और (२) खट्टा । मीठा सेब गरम और तर है तथा खट्टा सर्द और खुश्क (रूक्ष) । सेब हृदय दिमाग (मस्तिष्क)-यकृत् और आमाशय को शक्ति देनेवाला, बढी हुई उष्णता को कम करनेवाला, मनःप्रसादकर, दीपन, रक्तवर्धक कुछ ग्राही,तृषा को कम करनेवाला और चेहरे के रंग को साफ करनेवाला है । रक्तातिसार और आमातिसार में सेब का मुरबा खाने को देते हैं ।

(१४२) टङ्क

नाम-(सं.) टङ्कः; (क.) टंग; (हि.) नाशपाती; (पं) नाक; (मा.) बनास्पति; (फा.) अमरूद; (अ.) कुम्मसरा; (ले.) पाइरस कोम्युनिस् (Pyrus communis) ।

वर्णन—नाशपाती कश्मीर, वायव्य सरहद प्रांत और पंजाब में होती है पका हुआ फल मधुर और चबाने में कुछ कड़ा होता है । इसकी कलम कर के सुधारी हुई जाति को **नाक** कहते हैं । यह नाशपाती से नरम और अधिक मीठा होता है ।

गुण-कर्म—"कषायं मधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् ।" (च. सू अ. २७) । "शीतं कषायं मधुरं टङ्क मारुतकृद्गुरु ।" (सु. सू. अ. ४६) ।

नाशपाती कषाय, मधुर, गुरु, शीतवीर्य और वातकर है ।

(१४३) बिही ।

नाम—(क) बंमचूंठ; (हि.) बिही; (अ.) सफरजल; (फा.) बिह; (ले.) साइडोनिआ वल्गेरिस् (Cydonia vulgaris) ।

बीज—(फा.) बिहीदाना; (म.) मोंगली बेदाणा । (गु.) मुगलाई बेदाणा ।

वर्णन—भारतवर्ष में बिही के फल कश्मीर में होते हैं । फल सेव जैसे होते हैं । हकीम लोग इसका मुरब्बा और शर्बत बनाते हैं। इसके बीज **बिहीदाना** के नाम से बाजार में मिलते हैं । बीजों को पानी में भिगोने से लुआब (पिच्छा) निकलता है ।

गुण-कर्म—

यूनानीमत—मीठा बिही गरमी और सरदी में सम तथा पहले दर्जे में तर है। खट्टा बिही सर्द और रूक्ष है। बिही मनःप्रसादकर, हृदय-मस्तिष्क-आमाशय और यकृत् को बल देनेवाला, ग्राही और मूत्रल है। बिही का शर्बत, फाणित और मुरब्बा बनाया जाता है, जो हृदय की दुर्बलता, मूर्च्छा और पैत्तिक अतिसार में तथा आमाशय और यकृत की उष्णता, तृषा तथा वमन में दिया जाता है।

नव्यमत--बीजों (बिहीदानों) में १५ प्रतिशत तैल होता है। बीजों को जलाने से ३$\frac{१}{२}$ प्रतिशत राख मिलती है। उसमें जवखार २७, सज्जीखार ३, मेग्नोशिआ १३, चूना ७$\frac{१}{३}$, फोस्फोरिक एसिड ४२, सल्फ्यूरिक एसिड २$\frac{३}{४}$, लोह १ और लवण २$\frac{१}{२}$ प्रतिशत होता है। बिहीदानों को पानी में भिगोने से लुआब बनता है। यह लुआब शीतवीर्य, स्नेहन, ग्राही, मूत्रजनन, कफघ्न और पौष्टिक है। राख बल्य है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१४४) गन्धप्रियङ्गु।

नाम--(सं.) गन्धप्रियङ्गु, प्रियङ्गु; (म.) गहुला; (गु.) घऊला; (अ.) महलिब; (ले.) प्रुनस् महलिब् (Prunus mahaleb)।

उत्पत्तिस्थान- यह भारतवर्ष में बलोचिस्तान में होता है।

उपयुक्त अंग--फलमज्जा। मात्रा-२-५ रत्ती।

वर्णन--प्रियंगु का मग्ज बंबई के बाजार में 'घऊंला' नाम से मिलता है। मग्ज छोटी चिरौंजी जैसा, गोधूमवर्ण और सुगंधित होता है। श्वेतचंदन, कपूरकाचरी और इसका मग्ज जल में पीसकर सुगंधि लेप के लिये इसका बंबई प्रान्त में प्रयोग करते हैं। असली प्रियङ्गु यही है। चरकने रक्तपित्त में दाहशांति के लिये चन्दन और प्रियंगु का लेप की हुई स्त्रियों के स्पर्श का विधान किया है। धन्वन्तरिनिघंटु और भावप्रकाश में सुगन्धि वर्ग में इसका पाठ मिलता है। प्रियङ्गु 'कंगनी' धान्य का भी नाम है। इसकी व्यावृत्ति के लिये चरकने अग्र्यप्रकरण (सू. २५) में इसको गन्ध शब्द लगाकर गन्धप्रियङ्गु नाम दिया है! प्रियङ्गु का रस तिक्त लिखा है जो घऊंला में है। गोंदनी आदि को प्रियंगु मानना ठीक नहीं है।

गुण-कर्म-चरके (सु. अ. ४) पुरीषसंग्रहणीये, मूत्रविरजनीये च गणे तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) अञ्जनादिगणे, प्रियङ्ग्वादिगणे च प्रियङ्गुः पठ्यते "गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानाम्" (च. सू. अ. २५)। "प्रियङ्गुका-चन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्" (चि. चि. अ. ४ रक्तपित्तचिकित्सित)। "प्रियङ्गुः शीतला तिक्ता मोहदाहविनाशिनी। ज्वर-

वान्तिहरा रक्तमुद्रिक्तं च प्रशान्तयेत्॥" (ध. नि.)। "प्रियङ्गुः शीतला तिक्ता दाहपित्तास्रदोषजित्। वान्तिभ्रान्तिज्वरहरा वक्त्रजाड्यविनाशिनी॥" (रा. नि.)।

प्रियंगु तिक्त, शीतवीर्य, पुरीषसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय तथा मूर्च्छा, दाह, ज्वर, वमन, भ्रम, पित्तविकार, रक्तविकार, रक्तप्रकोप, रक्तपित्त और मुख की जड़ता का नाश करनेवाली है।

नव्यमत--प्रियङ्गु में हायड्रोसायेनिक् एसिड् है। प्रियंङ्गु कटुपौष्टिक और वेदनास्थापन है। इसलिये वेदनायुक्त कुपचन तथा आमाशय के क्षत और अर्बुद में इसका प्रयोग करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

पाषाणभेदादिवर्ग ३६.

N. O. Saxifrageceae (सेक्सिफ्रेगेसि)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णविन्यास एकान्तर; पर्ण सादे; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४; नरकेशर ८।

(१४५) पाषाणभेद।

नाम--(सं.) पाषाणभेद; (क.) पहांड; (हिं.) पखानभेद; (म, गु.) पाषाणभेद; (ले.) बर्जेनिआ लिग्युलेटा (Bergenia ligulata)।

उत्पत्तिस्थान--७०००-१०००० फुट की ऊंचाई पर हिमालय के कश्मीर आदि प्रदेशों में होता है।

वर्णन—बहुवर्षायु क्षुप, कांड छोटा और मांसल; पत्र लट्वाकार या गोल, चमकीले, पहले हरे और पीछे लाल रंग के; पुष्प श्वेत, गुलाबी या जामुनी रंग के।

उपयुक्त अंग--मूल। मात्रा-१-३ माशा।

गुण-कर्म–सुश्रुते (सू. ३८) वीरतर्वादिगणे तथा चरके (सू. अ. ४) मूत्रविरेचनीये महाकषाये पाषाणभेदः पठ्यते। "पाषाणभेदकः शूलकृच्छ्रमेहत्रिदोषजित्। हृद्रोगप्लीहगुल्मार्शोबस्तिरोगहरः परः॥" (ध. नि.)। "अश्मभेदो हिमस्तिक्तः कषायो बस्तिशोधनः। भेदनो हन्ति दोषार्शोगुल्मकृच्छ्राश्महृद्रुजः॥ योनिरोगान् प्रमेहांश्च प्लीहशूलव्रणानि च।" (भा. प्र.)।

पाषाणभेद--तिक्त, कषाय, शीतवीर्य, मूत्रविरेचनीय, बस्तिशुद्धिकर, भेदन तथा वातादि तीनों दोष, शूल, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग, प्लीहा के रोग, गुल्म, अर्श; योनिरोग, प्रमेह और व्रण का नाश करनेवाला है।

नव्यमत-मूल को जलाने से १३ प्रतिशत राख मिलती है। उसमें चूने का भाग अधिक होता है। पाषाणभेद के विश्लेषण से ये वस्तुएँ प्राप्त होती हैं-चूना ११½, कषायाम्ल (टॅनिक् और गॅलिक् एसिड्) १५½, शर्करा (ग्लुकोज़) ५½, लुआब (म्यूसिलेज) २¼, मांसलद्रव्य (अॅल्ब्युमिन्) ७¾, पिष्ट (स्टार्च्) १९, क्षार (नरल् सॉल्ट्स्) २¾, (केल्सिअम् ऑक्झोलेट्) ११¾, प्रतिशत होता है। पाषाणभेद स्नेहन, श्लेष्मघ्न, स्तम्भन और मूत्रजनन है। अश्मरी में पाषाणभेद देने से पेशाब का प्रमाण बढ़कर उसका, गाढ़ापन (आविलता) कम होता है। दूध में घिसकर देने से बच्चों को मूत्र में क्षार जाना बंद होता है। आंव और अतिसार में पाषाणभेद देते हैं। इससे आँतों को शक्ति मिलती है। दांत निकलते समय बच्चों के मुंह से लार गिरती है और मुंह में व्रण होते हैं तब पाषाणभेद शहद में घिसकर लगाते हैं। व्रणशोथ और नेत्राभिष्यंद में इसका लेप करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

पर्णबीजादि वर्ग ३७.

N. O. Crassulaceae (क्रॅस्युलेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थबीजकोश; पर्णक्रम एकान्तर या अभिमुख, पुष्पबाह्यकोश के दल ४-८; पँखडियां ४-८, पुंकेशर ८-१६ होते हैं।

(१४६) पर्णबीज।

नाम-(सं.) पर्णबीजः; (हिं.) पथरचट, पथरचूर, जख्मेहयात; (म.) घायमारी; (बं.) पाथरकुचा, हिमसागर; (गु.) खाटखटुंबो; (ले.) कॅलिञ्चो पिनेटा (Kalanchoe Pinnata)।

वर्णन-बहुवर्षायु मांसल क्षुप; कांड सीधा, मोटा, पोला, रक्तवर्ण; पत्र दांतेवाले, अभिमुख; फूल बड़े और नीचे झुके हुए होते हैं। इसको पत्तों को जमीन में दबा देने से नया क्षुप उग निकलता है, इसलिये इसको **पर्णबीज** कहते हैं। कई लोग इसको पाषाणभेद मानते हैं, यह ठीक नहीं है।

उपयुक्त अंग-पत्र और पत्रस्वरस।

नव्यमत-विश्लेषण-पत्तों को पीसकर छानने से उसमें गंधसारिक सुधा (सल्फेट ऑव केल्सियम), चिञ्चाम्लक्षार (एसिड् टार्टरेट ऑव पोटशियम) होता है और छुंछ में में चांगेर्यम्लीयसुधा (केल्सियम् आग्झलेट्) होता है। **गुणकर्म**-पर्णबीज व्रणशोधन, व्रणरोपण, रक्तसंग्राहक और रक्तस्कंदन है। इसके रस की क्रिया सूक्ष्म धमनियों पर होकर उनका संकोचन होता है और उससे रक्त का स्राव भीतर से होता हो या त्वचा से होता हो तो बंद होता है। रक्तमिश्रित आंव में पत्रस्वरस

.।.-॥. तोला देते हैं । मार और व्रण पर पत्र का कल्क जरा गरम करके बांधने से सूजन, लाली और वेदना शांत होकर जख्म शीघ्र अच्छा होता है। नवीन ज़ख्म के लिये इसके तुल्य दूसरी कोई औषध नहीं है (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

सिल्हकादि वर्ग ३८.

N. O. Hamamelidaceae (हेमेमेलिडेसी)

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णक्रम एकान्तर; पत्र सादे; पुष्प पत्रकोण से निकलते हैं ।

(१४७) सिल्हक ।

नाम--(सं.) सिल्हक, तुरुष्क; (हिं., म.) शिलारस; (गु.) शेलारस, शिलारस; (अ.) मीआ साइला; अस्ल लबनी; (ले.) ॲल्टिञ्जिआ एस्केल्सा (Altingia esccelsa) ।

वर्णन–शिलारस वृक्ष का निर्यास है। इसके वृक्ष एशियामाइनोर में होते हैं। यह अरबस्तान से यहाँ आता है। शिलारस मधु से गाढ़ा, पानी से भारी, धूम्रवर्ण, नरम और चिकना होता है। नवीन शिलारस की गंध मिट्टी के तैल जैसी होती है, परंतु कुछ पुराना होने पर उसमें अच्छी गंध आती है। शिलारस भारतवर्ष में आसाम और भूतान में होता है।

गुण-कर्म--सुश्रुते (सू. अ. ३८) एलादिगणे तुरुष्कः पठ्यते। "तुरुष्क सुरभिस्तिक्तः कटुः स्निग्धश्च कुष्ठजित् । कफवाताश्मरीमूत्राघातश्वासज्वरार्तिजित् ॥" (रा. नि.) । "सिल्हकः कटुकः स्वादुः स्निग्धोष्णः शुक्रकान्तिकृत् । वृष्यः कण्ठ्यः स्वेदकुष्ठज्वरदाहग्रहापहः ॥" (भा. प्र.)।

शिलारस तिक्त, कटु, मधुर, उष्णवीर्य, स्निग्ध, सुगन्धि, वृष्य, कण्ठ्य, कान्तिकर तथा कफ, वात, अश्मरी, मूत्राघात, श्वास, ज्वर, स्वेदाधिक्य और दाह का नाश करने वाला है।

नव्यमत—शुद्ध शिलारस का रंग पीलाई लिये सफेद होता है। स्वाद और गंध अच्छा होता हैं। यह ९० प्रतिशत मद्य में विलीन होता है। शिलारस में एक उड़नेवाला तैल, थोड़ा लोबान का फूल (बेन्झोइक् एसिड्) और त्वगम्ल (सिनॅमिक् एसिड्) होता है। शिलारस कफघ्न, मूत्रजनन, उत्तेजक, शोथघ्न, पूतिहर, कृमिघ्न, कण्डूघ्न, व्रणशोथघ्न और व्रणरोपण है। यह उत्तेजक और पूतिहर कफघ्न है, परन्तु मृदुस्वभावी हैं। यह मूत्रपिण्ड (गुर्दों) के लिये उत्तेजक है, परन्तु कभी कभी इससे मूत्रपिंड का दाह (शोथ) उत्पन्न होता है। यह फुपफुस और मूत्रपिंड के मार्ग से शरीर से बाहर निकलता

है। मात्रा--५-१० गुंजा, मुलेठी के चूर्ण के साथ लेह बनाकर दें। जीर्ण कफरोग में और क्षय में शिलारस शहद में मिलाकर देते हैं। इससे फुप्फुस को शक्ति मिलती है। जीर्ण पूयमेह (सुजाक) में मुलेठी के साथ शिलारस देते हैं। कण्डू, पामा आदि त्वग्रोगों में एक भाग शिलारस और चार भाग तिलतैल मिलाकर लगाते हैं। क्षयजन्तुजन्य व्रणपर शिलारस अकेला लगाते हैं। इससे बहाँ रक्ताभिसरण बढ़ता है और क्षय के जन्तु मरते हैं। अंडवृद्धिपर शिलारस लगाकर ऊपर तमाखू या धत्तूरे के पत्ते बांधते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

हरीतक्यादि वर्ग ३९.

N. O. Combretaceae (कोम्ब्रेटेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विवीजपर्ण; विभक्तदल; अध:स्थवीजकोश; पर्णक्रम एकान्तर किंवा अभिमुख; पर्ण सादे और अखंड; फूल छोटे; पुष्पबाह्यकोश के दल ४–५ नीचे जुड़े हुए; पँखड़ियाँ ४–५, या सर्वथा नहीं होतीं; पुंकेशर ४–५ या ८–१०; गर्भाशय अध:स्थ और एक खंडवाला; फल अविदारी और एकवीज होते हैं।

---

(१४८) हरीतकी।

नाम–(सं.) हरीतकी, अभया, पथ्या, शिवा, अव्यथा; (क.) हलेला; (हिं.) हड़, हर्र, हर्रे; (म.) हरीतकी; (गु.) हरडे; (ते.) करक्काय; (ता.) कडुक्काय्; (म.) कडू (टु) क्का; (फा.) हलेला; (ले.) टर्मिनेलिया चेब्युला (Tarminalia chebula)।

हरीतकी में साधारणतः तीन जातियाँ होती हैं (१) बड़ी हड़, (पीली हड़ और (३) जवाहरड। उनके नाम क्रमशः ये हैं—

नाम बड़ी हड़ का–(हिं.) बड़ी हड़, हर्रे; (म.) सुरवारी हरडे; (गु.) हरडे, म्होंठी; (फा.) हलेले काबली।

नाम पीली हड का–(हिं.) पीली हड; (म.) हरडा; (गु.) हरडा; (फा.) हलेले जर्द; (अ.) हलेलह अस्फर।

नाम छोटी हड का–(हिं.) जोहड़, छोटी हड; (म.) बाळहरडे; (गु.) हीमज; (सिं.) इंजणी; (म.) जवहरड़ो, जांगी हरड; (फा.) हलेलेश्याह; (अ.) हलेलह अस्वब।

हड़ के वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होते हैं। पंजाब के कांगड़ा जिले में सबसे अच्छी हर्रें होती है। होशियारपुर और अमृतसर इसकी बड़ी मंडियाँ हैं। हड के कच्चे फल जो स्वयं गिर जाते हैं या जिनको कच्ची हालत में तोड़कर सुखा

लेते हैं उनको जोहड़, जवाहड या जंगीहड कहते हैं । इसका रंग काला होता है । जो अधपके फल सुखा लेते हैं उनको पीली हड या हरड़ा कहते हैं । इनको विशेषतः रंग बनाने के काम में लिया जाता है । औषध के लिये प्रायः इनका व्यवहार नहीं किया जाता । इसके परिपक्व फल की बड़ी हर्रे या अमृतसरी हड़ कहते हैं ।

डेढ़ तोले से ऊपर के वजन की, भरी हुई, छिद्ररहित, जिसका वक्कल–दल बड़ा हो और गुठली छोटी हो उस हड को खाने के काम में लेना चाहिये । हड की कोमल पत्तियों में एक प्रकार कीड़ा लगकर कीटगृह बनता है । वंबई प्रान्त में इसका 'काकडासिंगी' के नास से व्यवहार करते हैं, परंतु यह असली काकडासिंगी नहीं है । काकड़ासिंगी का वर्णन इसी खंड में पृ. १५३–१५४ पर देखें ।

गुण-कर्म—"हरीतकी पथ्यानां" (च. सू. अ. २२) । "हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम् । दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम् ।। आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम् । सर्वदोषप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ।। कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम् । अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ।। हृद्रोगं सशिरोरोगमतिसारमरोचकम् । कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् । कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन् । श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमङ्गावसादनम् ।। स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेप हृदयोरसोः । स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी । अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्षिताः । सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये ।।" (च. चि. अ. १ पा. १) । सुश्रुते (सू. अ. ३८) परूषकादौ, त्रिफलायां, आमलक्यादौ, त्रिवृतादौ च गणे (सू. अ. ३९) हरीतकी पठ्यते । "व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोथकुष्ठनुत् । कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम् ।।" (सु. सू. अ. ४६) ।

हरीतकी पथ्य (नित्यसेवनयोग्य), लवण को छोड़कर अन्य पाँचों रसयुक्त, शिव (आरोग्यकर), दोषों का अनुलोमन (अधोमार्ग से निर्हरण) करनेवाली, लघु, दीपन, पाचन, आयुष्य को बढ़ानेवाला, वयः स्थापन, सर्वदोषप्रशमन, बुद्धिवर्धक, इन्द्रियों को बल देनेवाली तथा कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष, पण्डुरोग, मद, अर्श ग्रहणीरोग, पुराना विषमज्वर, हृद्रोग, शिरोरोग, अतिसार, अरुचि, खाँसी, प्रमेह, आनाह, प्लीहरोग, नया उदररोग, कफप्रसेक, स्वरभंग, वैवर्ण्य, कामला, कृमि, श्वयथु, तमकश्वास, वमन, नपुंसकता, अंगावसाद नाना प्रकार के स्रोतों का अवरोध, हृदय और वक्षःस्थल का प्रलेप (कफलिप्तत्व) तथा स्मृति और बुद्धि के प्रमोह को शीघ्र दूर करनेवाली है ।

नव्यमत-हरीतकी में २५ प्रतिशत कषायाम्ल (टॅनिक् एसिड),एक तिक्तद्रव्य और राल (रॉझन्) है । बड़ी हर्रे मृदुविरेचन, अर्शोघ्न, श्लेष्मघ्न, शोथघ्न, रक्तसांग्राहिक,बल्य,पथ्य,गुल्महर, व्रणरोपण और वयःस्थापन है । इससे भूख लगती है, अन्न पचता है और दस्त साफ होता है । विरेचन के लिये देने पर प्रारम्भ में जुलाब

होकर अपने आप बंद हो जाते हैं, पेट में मरोड़ आता नहीं और मितली होती नहीं। इसके नित्य सेवन से हृदय और रक्तवाहिनियों की शिथिलता दूर होती है, रक्ताभिसरण सुधरने से मस्तिष्क को अधिक रक्त मिलता है और मन में उत्साह मालूम होता है, निद्रा अच्छी आती है, वीर्य गाढ़ा होता है, शरीर का वर्ण सुधरता है और वजन बढ़ता है। छोटी हड मृदुविरेचन, वातनाशक और बल्य है। यह बड़ी हड जैसी रसायन नहीं है। इसकी क्रिया केवल पचननलिका पर होती है। कुपचन, अतिसार, आंव और आंतों की शिथिलता में हर्रे देते हैं। अर्श में सैंधव के साथ देते हैं और रक्तार्श में क्वाथ करके देते हैं। जीर्णज्वर में प्लीहा मोटी और कठिन हुई हो तो हर्रे नौसादर के साथ देते हैं। रक्तपित्त तथा रक्तकास में और कई एक को रक्तस्राव होने की आदत होती है उनके लिये हर्रे गुणकारी है। कई लोगों को अधिक स्वेद आने की, नाक बहने की, सर्दी-जुखाम होने पर बहुत दिनोंतक कफ पड़ने की आदत होती है उनको हर्रे से अच्छा लाभ होता है। मुखव्रण और गले की सूजन में हर्रे पानी में घिसकर मुंह में लगाते हैं। छोटी हड अजीर्ण से होनेवाले, जुलाब, पेचिश, जीर्ण अतिसार, जीर्ण आंव, गुल्म, प्लीहवृद्धि और हमेशा के कब्ज में गुणकारी है।

(डॉ. वा. ग. देसाई)।

मात्रा—जौहड घी या एरंड तैल लगाकर सेंकी हुई १॥–३ माशा; बड़ी हड का चूर्ण ३–६ माशा विरेचन के लिये, १॥–३ माशा रसायन के लिये। बडी हड की गुठली निकालकर उसका चूर्ण करना चाहिये।

---

(१४९) बिभीतक

नाम––(सं.) बिभीतक, अक्ष; (हिं., म., गु.) बहेडा; (क.) वलेल, (बं.) बयड़ा; (ते.) ताडि; (ता.) अक्कम् अक्कदम्; (म.) ताम्रि; (फा.) बलेला, बलेलज; (ले.) टर्मिनेलिआ बेलेरिका (Terminalia belerica)।

वर्णन--बहेडे का वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। बहेडे के अच्छे पके हुए फल गुठली निकालकर काम में लेना चाहिये।

मात्रा––१॥-३ माशा।

गुण-कर्म––चरके (सू. अ. ४) विरेचनोपगे, ज्वरहरे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) मुस्तादिगणे, त्रिफलायां च बिभीतकं पठ्यते। "रसासृङ्मांसमेदोजात् दोषान् हन्ति बिभीतकम्। स्वरभेदकफोत्क्लेदपित्तरोगविनाशनम् ॥" (च. सू. अ. २७)। "भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यक्रिमिनाशनम्। चक्षुष्यं स्वादुपाक्याक्षं कषायं कफपित्तजित् ॥" "बैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः।" (सु. सू. अ. ४६)। "बिभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत्।

उष्णवीर्यं हिमस्पर्शं भेदनं कासनाशनम् ।। रूक्षं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम् । बिभीतमज्जा तृड्छर्दिकफवातहरो लघुः । कषायो मदकृच्चाथ" (भा. प्र.) ।

बहेड़ा कषाय, मधुरविपाक, उष्णवीर्य, रूक्ष, लघु, भेदन, चक्षुष्य, केश्य (बालों के लिये हितकर-वालों को काला करने वाला) तथा रस-रक्त-माँस और मेद के रोग, स्वरभेद, कफ, उत्क्लेश, पित्त के रोग, कृमि और खाँसी का नाश करने वाला है। बहेड़े का मग्ज कषाय, लघु, मादक तथा कफ, वायु, तृषा और वमन को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–बहेडे की छाल संग्राहक और श्लेष्मघ्न है। इसकी क्रिया मुख्यत: गले और श्वासनलिका पर होती है। फल का मग्ज साधारण मादक, वेदनास्थापन और शोथघ्न है। बहेड़े के फल की छाल प्रतिश्याय, कास, श्वास और स्वरभंग में मुंह में रखते हैं। सूजन पर मग्ज का लेप दाह कम होने के लिये लगाते हैं। तैल लगाने से खाज कम होती है (डॉ. बा. ग. देसाई)।

(१५०) अर्जुन।

नाम-(सं.) अर्जुन, पार्थ, ककुभ; (हिं.) अर्जुन, कोह कौह; (पं.) जुमरा; (म.) अर्जुनसादडा; (ते.) तेल्लमद्दि; (ता.) मरुतं; (म.) नीर्मरुतु; (ले.) टर्मिनेलिआ अर्जुन (Terminalia arjuna)।

वर्णन--अर्जुन का वृक्ष होता है। बाह्यत्वक् श्वेत और श्लक्ष्ण; अन्तस्त्वक् मोटी, नरम और रक्ताभ; पत्र-संयुक्तदल, एक पर्ण में १०–१५ जोडे और एक सिरे पर; फल कमरख जैसा ५-७ धारवाला।

गुण–कर्म-चरके--(सू. अ. ४) "उदर्दप्रशमने महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) सालसारादिगणे, न्यग्रोधादिगणे ('ककुभ' नाम्ना) च अर्जुनः पठ्यते। ककुभः शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। मेदोमेहव्रणान् हन्ति तुवरः कफपित्तहृत् ॥" (भा. प्र.)। "अर्जुनस्य त्वचा सिद्धं क्षीरं योज्यं हृदामये।" (च. द. चि.)।

अर्जुन कषाय, शीतवीर्य, उदर्दप्रशमन, हृद्य तथा कफ, पित्त, क्षतक्षय, विष, रक्तविकार, मेदोवृद्धि, प्रमेह और व्रण को दूर करनेवाला है। अर्जुन की छाल का क्षीरपाक कर के देने से हृद्रोग में लाभ होता है।

नव्यमत—अर्जुन की छाल में ४३ प्रतिशत चूने के क्षार, उनमें ३४ प्रतिशत शुद्ध चूना (केलिसअम् कार्बोनेट) और १६ प्रतिशत कषाय द्रव्य (टेनोन्) है। अर्जुन की क्रिया चूने और कषायाम्ल जैसी होती है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोचन होता

है। बारीक रक्तवाहिनियों का संकोचन होने से रक्ताभिसरण का दबाव बढ़ता है, हृदय की पोषण क्रिया अच्छी होती है, हृदय का आरामकाल दीर्घ होता है, इससे हृदय को बल मिलता है। हृदय का स्पन्दन ठीक और जोरदार होता है तथा उनकी संख्या कम होती है। रक्तवाहिनियों से रक्त का जलभाग शरीर में रसता है वह इससे कम होता है और हृदय को उत्तेजन मिलता है। रुधिराभिसरण के चक्र में जितना हृदय का महत्त्व है उतना ही रक्तवाहिनियों का भी है। रक्तवाहिनियों का ठीक संकोचन न हो या उनमें शिथिलता आई हो तो हृदय अपना काम ठीक नहीं कर सकता। अर्जुन से रक्त भी शुद्ध होता है। रक्तपित्त और जीर्णज्वर में रक्त दूषित होता है तब अर्जुन देते हैं। इससे रक्तस्राव बंद होता है। इसमें पुष्कल चूना होने से इससे भग्न अस्थि का शीघ्र संधान होता है। अर्जुन हृदयोत्तेजक, हृदयबल्य, रक्तसांग्राहिक, शोणितास्थापन, शोथघ्न, संधान और व्रणरोपण है। मात्रा-छाल का चूर्ण ॥-१ तोला दूध के साथ क्षीरपाकविधि से पकाकर दें (डॉ. वा. ग. देसाई)।

लवङ्गादि वर्ग ४०.

N. O. Myrtaceae (मिर्टेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण सादे, अखंड, तैलग्रन्थियुक्त और सुगन्धि; पुष्पपत्रकोणोद्भूत या शाखाग्रोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४-५; फल शुष्क या मांसल।

---

(१५१) लवंग।

नाम-(सं.) लवङ्ग, देवकुसुम; (हिं.) लवंग, लौंग; (म.,गु.) लवंग; (मा.) लौंग, लूंग; (क.) रुंग; (ते.) लवंगमु; (ता.) किरांबु; (मल.) करयांपूवु; (फा.) मेखक; (अ.) करन्फुल; (ले.) केरियोफाइलस् एरोमेटिकस् (Caryophyllus aromaticus)।

वर्णन -बाजार में जो लवंग मिलते हैं वे वृन्तसहित पुष्प की अविकसित कलियाँ हैं। औषध के लिये जिसमें से तैल न निकाल लिया हो ऐसे लवंग काम में लेने चाहिये। इस देश में लवंग जंगवार (जञ्जीबार-अफ्रीका) से आते हैं।

गुण-कर्म--"धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता। × × × लवङ्गस्य फलानि च॥" (च. सू. अ. ५)। "× × × लवङ्गं च तिक्तं कटु कफापहम्। लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्।" (सु. सू. अ. ४६)। "लवङ्गं कटुकं तिक्तं लघु नेत्रहितं हिमम्। दीपनं पाचनं रुच्यं कफपित्तास्रनाशनम्॥ तृष्णां छर्दि तथाऽऽध्मानं शूलमाशु विनाशयेत्। कासं श्वासं च हिक्कां च क्षयं

क्षपयति ध्रुवम् ॥" (भा. प्र.) । "आध्मानानाहशूलघ्नं लवङ्गं पाचनं लघु ॥" (रा. नि.) ।

लवंग कटु, तिक्त, लघु, शीतवीर्य, दीपन, पाचन, मुंह को साफ करनेवाला, रुचिकर, सुगन्धि तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, तृषा, वमन, अफारा, शूल, खाँसी, श्वास और क्षय को करने वाला है ।

(१५२) जम्बू ।

नाम–(सं.) जम्बू; (पं.) जामलु; (हिं.) जामुन; (म.) जांभूळ; (गु.) जांबू; (बं.) जाम; (मा.) जांबोली, जामन; (ते.) नेरेडु; (ता.) शंबु, नावल्; (मल.) ञावल्; (सिंध.) जंमू; (ले.) युजेनिआ जॅबोलेना (Eugenia jambolana) ।

वर्णन–जामुन के वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होते हैं और प्रसिद्ध हैं। पक्के हुए ताजे फल खाये जाते हैं ।

उपयुक्त अंग—फल, मग्ज, छाल और पत्र ।

गुण-कर्म–**चरके (सू. अ. ४) छर्दिनिग्रहणे (जम्बूपल्लवं), पुरीषविरजनीये, मूत्रसंग्रहणीये च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादिगणे जम्बूः पठ्यते। "जाम्बवं वातजननानां" (अग्र्यं; च. सू. अ. २५) "जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम् ॥" (च. सू. अ. २७) "अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।" (सु. सू. अ. ४६) ।**

जामुन पुरीषविरजनीय, मूत्रसंग्रहणीय, ग्राहि, वातकर तथा कफ-पित्तहर है, जामुन की कोमल पत्ती वमन को बंद करने वाली है ।

नव्यमत-फल और मग्ज पाचन और साधारण स्तंभन है । मधुमेह में यकृत् की क्रिया बिगड़ती है, वह इसके मग्ज से फिर सुधरती है । इसका विशेष उपयोग शर्करा के पाचन में होता है । फलों का उत्तम आसव बनता है । वह मधुमेह, अतिसार, संग्रहणी और आँव में दिया जाता है । पत्तों का रस अच्छा स्तम्भन है । इसलिये रक्तमिश्रित आँव, अत्यार्तव आदि रक्तस्राव-युक्त रोगों में देते हैं **(डॉ. वा. ग. देसाई)** ।

यूनानीमत-जामुन दूसरे दर्जे में शीत और रूक्ष, आमाशय और उष्ण यकृत को बलप्रद, ग्राही और गरमी को शांत करनेवाला है । जामुन का फल और सिरका गरम, आमाशय और यकृत को शक्ति देने, भूख लगाने, दाह शांत करने और पैत्तिक दस्तों को दूर करने के लिये देते हैं । जामुन का मग्ज ग्राही होने से अतिसार और बहुमूत्र में देते हैं । जामुन का मग्ज, आम की गुठली का मग्ज और घी में सेंकी हुई जौहड़ का चूर्ण पुराने अतिसार के लिये उत्तम है ।

(१५३) युकेलिप्टस्।

नाम--(सं.) तैलपत्र, रक्तनिर्यास, सुगन्धपत्र, हरितवर्ण; **(ले.) युकेलिप्टस् रोस्टिएटा** (Eucalyptus rosteata)।

वर्णन--यूकेलिप्टस के वृक्ष बागों में लगाये जाते हैं और जंगलों में भी होते हैं। इसके पत्तों से सुगन्धि तैल निकालते हैं। वृक्ष की छाल में सीधे चीरे पड़कर उसमें से रक्तवर्ण का गोंद बाहर आता है।

उपयुक्त अंग--पत्र और निर्यास। **मात्रा--**गोंद २-५ रत्ती। पत्रचूर्ण ॥-१ तोला २० गुने गरम जल में फांट बनाकर दें। **फांट की मात्रा-**२॥-५ तोला। गोंद सुकुमार-प्रकृति लोगों को संग्रहणी, अतिसार और आँव में देते हैं। पत्रफांट, कफघ्न, कफदुर्गन्धिनाशक, मूत्रजनन और पूतिहर है। इसलिये फुफ्फुस के पुराने रोग,बस्तिशोथ और पुराने पूयमेह(सुजाक)में देते हैं। ज्वर में फांट देने से पसीना आता है, सिर और शरीर की पीड़ा कम होती है तथा सब शरीर में उत्तेजना (स्फूर्ति) मालूम होती है। छायाशुष्क १-१ पत्र का चूर्ण दिन में दो बार देने से शीतज्वर में लाभ होता है सब वैद्यों को इस का वृक्ष अपने यहाँ लगाना चाहिये। **(डॉ. वा. ग. देसाई)**।

युकेलिप्टस का तैल जन्तुघ्न, दुर्गन्धहर, पूतिहर, मूत्रल, स्वेदल, कफघ्न, ज्वरघ्न, दीपन-पाचन, वातहर और हृदयोत्तेजक है।

---

(१५४) हिज्जल।

नाम-(सं.) हिज्जल, विदुल, निचुल; **(हिं., गु.)** समुद्रफल; **(बं.)** हिजल; **(म.)** सत्फल, समुद्रफल; **(मा.)** समंदरफल; **(ते.)** कण (न) पु, कणिगि; **(मल.)** समुद्रप्पळम्; **(ले.) बेरिन्गटोनिआ एक्युटेन्ग्युला** (Barringtonia acutangula)।

वर्णन--समुद्रफल का मध्यमाकृति वृक्ष बंगाल और दक्षिण भारत में होता है। पत्र लंबगोल, अंडाकृति, किनार कुछ दंतुर; पर्णवृंत छोटा; पुष्प रक्तवर्ण; पंखडियां ४; फल बादाम जैसा, चौकोन; फल का स्वाद आरंभ में मीठा, पीछे कड़ुआ और मितली लानेवाला होता है।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. २) विरेचनद्रव्येषु 'निचुल' नाम्ना, वमनोपगे महाकषाये (सू. म. ४) 'विदुल' नाम्ना तथा सुश्रुते (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे गणे हिज्जलः पठ्यते। हिज्जलः कफवातघ्नो रेचनो वामकस्तथा।

समुद्रफल वमन और विरेचन करानेवाला तथा कफ और वात को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—समुद्रफल में साबुन जैसा पदार्थ होता है। फल के चूर्ण को पानी में डालकर खूब हिलाने से झाग आते हैं जो देरतक रहते हैं। झाग का स्वाद आरंभ में

मधुर और पीछे तिक्त और कटु मालुम होता है। समुद्रफल कफघ्न, वामक, आनुलोमिक और वेदनास्थापन है। बच्चों को कफरोग। (कास-श्वास) में समुद्रफल देते हैं। इससे वमन न हो तो गरम जल में थोड़ा सैंधव गेरकर देने से वमन हो जाता है और दस्त भी साफ हो जाता है। दमे में समुद्रफल ६ माशे और सफेद कोयल के मूल ६ माशे दूध में पीसकर देने से वमन और विरेचन होकर श्वास का कष्ट दूर होता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

दाडिमादि वर्ग ४१.

N. O. Punicaceae (प्युनिसेसी)।

(१५५) दाडिम।

नाम--(सं.) दाडिम; (क.) दआन; (हिं.) दाड़िम, अनार; (म.) डाळिंब; (गु.) दाड़म; (भा.) दांडू दाड़म; (सिं.) डाणहूं; (ते) दाडिमम्, करकम्; (ता.) मादळै, मादळम्; (मल.) मातळम्; (फा.) अनार; (अ.) रुम्मान; (ले.) प्युनिका ग्रेनेटम् (Punica granatum)।

वर्णन--दाड़िम भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। दाड़िम का फल मीठा, खटमिट्ठा और खट्टा तीन प्रकार का होता है। दाड़िम के सुखाये हुए बीजों को अनारदाना या दाड़िमसार कहते हैं।

गुण-कर्म-चरके–(सू. अ. ४) हृद्ये, छर्दिनिग्रहणे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) परूषकादिगणे दाडिमं पठ्यते। "अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम्। स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफ पित्ताविरोधि च॥ रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत् पित्तानिलकोपनम्। मधुरं पित्तनुत्तेषां तद्धि दाडिममुत्तमम्॥" (च. सू. अ. २७)। "कषायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम्। दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम्॥ द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च। त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम्॥" (सु. सू. अ. ४६)। "तत्तु स्वादु त्रिदोषघ्नं तृड्दाहज्वरनाशनम्। हृत्कण्ठमुखरोगघ्नं तर्पणं शुक्रलं लघु। कषायानुरसं ग्राहि स्निग्धं मेधाबलावहम्। स्वाद्वम्लं दीपनं रुच्यं किञ्चित् पित्तकरं लघु॥ अम्लं तु पित्तजनकमाम-वात कफापहम्॥"

दाड़िम सामान्यतः अम्ल-कषाय और मधुर रसवाला, स्निग्ध, उष्णवीर्य छर्दिनिग्रहण, हृद्य, वातघ्न, ग्राहि, दीपन तथा कफ और पित्त को न बढ़ानेवाला हैं। कषाय और अम्ल रसवाला दाड़िम पित्त और वायु का प्रकोप करनेवाला है। मधुर दाड़िम पित्त को दूर करनेवाला और दाडिमों में उत्तम है (च.)। दाड़िमकषायानुरस, किंचित् पित्तकर, दीपन, रुचिकर, हृद्य और मल को बांधनेवाला है। दाड़िम मीठा और

खट्टा दो प्रकार का होता है। मीठा दाड़िम त्रिदोषनाशक और खट्टा वात और पित्त का नाश करनेवाला है(सु.) । मीठा दाड़िम त्रिदोषहर, कषायानुरस, ग्राहि, स्निग्ध, लघु, शुक्रल, मेधा और बल देनेवाला तथा तृष्णा, दाह, ज्वर और हृदय-कंठ तथा मुख के रोगों का नाश करनेवाला है। खटमिठ्ठा दाड़िम दीपन, रुचिकर, लघु और कुछ पित्त करने वाला है। खट्टा दाड़िम पित्तकर तथा आम, वात और कफ का नाश करने वाला है (भा. प्र.) ।

नव्यमत—इस वृक्ष का छिलकासमेत फल और मूल की छाल औषध के लिये उपयुक्त होते हैं। फल का रस रोचक, रक्तशुद्धि करनेवाला और मृदु स्तम्भन है। दाड़िम का फल अतिसार, संग्रहणी, आँव, आँतों की शिथिलता और आँतों से जल मिश्रित रक्त आना—इनमें छाल सहित फल का पुटपाकविधि से रस निकालकर दिया जाता है। मूल की छाल तीव्र कृमिघ्न है। १-२ तोले छाल का क्वाथ खाली पेट दें। उस दिन खाना न खिलाएँ। अगले दिन सबेरे विरेचन दें। इससे चपटे कृमि (Tope-worm) मरकर निकल जाते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

मदयन्त्यादि वर्ग ४२.

N. O. Lythraceae (लायथ्रेसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यंतरकोश के दल ३-६; फल विदारि ।

------

(१५६) मदयन्तिका ।

नाम—(सं.) मदयन्तिका; (क.) माञ्ज, मोंज; (हिं.) मेंहदी, मेहंदी; (म., गु.) मेंदी; (मा.) मेंहदी; (तै.) कोम्मि, फुंरुदकंमु; (ता.) ऐवणं, मरुदोंड़ि; (मल.) मैलाञ्चि; (फा.) हिना; (अ.) हिन्ना; (ले.) लॉसोनिआ इनर्मिस् (Lawsonia inermis) ।

वर्णन—मेंहदी का क्षुप बागों में लगाया जाता है। पत्तियाँ पीसकर हाथ-पांव में लाल रंग लाने के लिये लगाई जाती हैं। फूल सुगन्धित होते हैं। फूलों से इत्र बनाया जाता है।

गुण-कर्म—सुश्रुते-महानीलघृते (चि. अ. ९), राजयोग्येऽङ्गरागयोगे च मदयन्तिका पठ्यते—"हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम् । पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः ॥" (सु. चि. अ. २५) । "मदयन्तिका मेंहदी" इति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं स्त्रिय उत्पादयन्ति ।" (डल्हण) । अष्टाङ्गहृदये (चि. अ. २.) रक्तपित्तचिकित्सिते

सुश्रुत में कुष्ठचिकित्सा के महानीलघृत में तथा राजरोग अङ्गराग के योग में और वाग्भट में रक्तपित्तचिकित्सा में मेंहदी का उल्लेख मिलता है ।

नव्यमत--पत्तियों में लाल रंग होता है । पत्र शीतल और कुष्ठघ्न हैं । फूल उत्तेजक तथा हृदय और मस्तिष्क को बल देनेवाले हैं । ज्वर में फूलों का फांट दाह और सिर की पीड़ा कम करने तथा हृदयसंरक्षण और निद्रा लाने के लिये देते हैं । सन्धिशोथ में पत्तियों का लेप करते हैं । त्वग्रोग में मेंहदी का प्रचुर प्रयोग किया जाता है । मुखव्रण और गले की सूजन में पत्तियों के क्वाथ के कुल्ले कराते हैं । सुजाक में उष्णता कम करने के लिये पत्रस्वरस में मिश्री मिलाकर देते हैं । रक्तमिश्रित आंव में मेहदी के बीजों का कल्क देते हैं(डॉ. वा ग. देसाई)।

मेंहदीप्रधान योग-मदयंत्यादि चूर्ण-(सि. यो. सं. कुष्ठाधिकार) ।

यूनानीमत-मेंहदी शीत, रूक्ष, दाहशामक, शोथविलयन, मूत्रल और रक्त शोधक है । सिर के दर्द और हाथ-पांव की जलन में मेंहदी की पत्तियों का लेप करते हैं । सफेद बालों को काला करने के लिये मेंहदी और नील की पत्ती (वस्मा) पानी में पीसकर लगाते हैं । कामला में मेंहदी की पत्ती का स्वरस देते हैं ।

(१५७) धातकी ।

नाम-(सं) धातकी; (क.) गुलिदावा; (पं.) धावी; (हिं.) धाय; (म.) धावल, धायटी; (गु.) धावणी, धावडी; (बा.) धाबड़ी; (सि.) फूलधावो; (ते) सिरींजी; (मल.) तादिरे, तातिरि; (ले.) वुड्फोर्डिआ फ्रुटिकोसा (Woodfordia fruticosa) ।

वर्णन- धातकी का क्षुप पहाड़ी जमीन में सर्वत्र होता है । पत्र दाड़िम जैसे; पुष्प रक्तवर्ण होते हैं । आसवों में खमीर उठाने और रंग लाने के लिये फूलों का उपयोग किया जाता है ।

उपयुक्त अंग--पुष्प । **मात्रा**-पुष्पचूर्ण १॥– ३ माशा ।

गुण--कर्म-चरके (सू. अ. ४) संधानीये, पुरीषसंग्रहणीये मूत्रविरजनीये च महाकषाये-तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) प्रियङ्ग्वादौ, अम्बष्ठादौ च गणे धातकी पठ्यते । "धातकी कटुका शीता मदकृत्तुवरा लघुः ।" (भा. प्र.) । "प्रवाहिकातिसारघ्नी विसर्पव्रणनाशिनी ।" (रा. नि.) ।

धाय के फूल कटु, कषाय,लघु,शीतवीर्य संधानीय पुरीषसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय तथा प्रवाहिका अतिसार, विसर्प और व्रण का नाश करनेवाले है ।

नव्यमत--धाय के फूल में २० प्रतिशत कषायाम्ल (टेनिक एसिड) होता है । आसवों में फूल डालने से रंग अच्छा आता है । फूल संग्राहक हैं । अत्यार्तव, अतिसार और पुरानी आंव में फूल देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

शृङ्गाटकादि वर्ग ४३.

N. O. Onagraceae (ओनेग्रेसी)

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख या एकान्तर; पर्ण सादे; पुष्प पत्रकोण या शाखाग्र से निकलते हैं। पुष्पबाह्यकोश रंगीन, नलिकाकृति।

---

(१५८) शृङ्गाटक।

नाम–(सं.) शृङ्गाटक; (क.) गोभर, गाअरि; (पं.) गाडियां; (हिं.) सिंघाड़ा; (बं.) शिङ्गाडा, पानिफल; (म.) शेंगाडा; (गु.) शींघोडां; (मा) सिंगोडा; सीङ्घारा; (ते) परिकेगड्डु; (म.) चिरवप्पणु; (ले.) ट्रेपा बाईस्पाइनोझा (Trapa bispinosa)।

वर्णन–सिंघाड़े की लता तलावों में होती है। इसके पत्र पानी पर तैरते नजर आते हैं। फल त्रिकोणाकृति, फल की त्वचा हरी होती है, परंतु फल को पानी में उबालने पर वह काली हो जाती है। फल के ऊपर दो कांटे होते हैं। फल जल में उबालकर, अग्नि में भूनकर या कच्चा ही त्वचा निकालकर खाया जाता है

गुण-कर्म–"शृङ्गाटकाङ्कलोड्यं च गुरुः विष्टम्भि शीतलम्।" (च सू. अ. २७)। "गुरुविष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ।" (सु. सू. अ. ४६)। "शृङ्गाटकः शोणितपित्तहारी गुरुः सरो वृष्यतमो विशेषात्। त्रिदोषतापश्रमदोषहारी रुचिप्रदो मेहनदार्ढ्यहेतुः॥" (रा. नि.)। "शृङ्गाटकं हिमं स्वादु गुरु वृष्यं प्रदीपनम्। ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मप्रदं पित्तास्रदाहनुत्॥" (भा. प्र.)।

सिंघाड़ा मधुर, गुरु, शीतवीर्य, विष्टम्भि, वाजीकर, रुचिकर, ग्राही, दीपन, वातकफकर तथा रक्तपित्त, दाह और श्रम को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–सिंघाड़े की लता में मेंगेनीझ प्रचुर होता है। फल में शीघ्र पचने वाला पिष्ट(स्टार्च) होता है। सिंघाड़ा शीतल, पौष्टिक और शोणितास्थापन है। मात्रा–॥–१ तोला। सिंघाड़े की पेया अतिसार, आंव और प्रदर में देते हैं। इसके कफ और रक्त का गिरना बंद होता है तथा रोगी का फीकापन नष्ट होता है। पित्तप्रकृतिवालों को इसकी पेया बहुत अनुकूल होती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

सप्तचक्रादि वर्ग ४४.

N. O. Samydaceae (सेमिडेसी)

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; पर्णविन्यास एकान्तर, पत्र सादे, जामुन के पत्र जैसे परंतु उससे बड़े; पत्र में पारदर्शक गोल अथवा रेखाकृति ग्रन्थियां होती हैं।

---

(१५९) सप्तचक्रा ।

नाम–(सं.) सप्तचक्रा स्वर्णमूला, (म.) सप्तरंगी, सप्तफपी; (मल.) एकनायक; मलाऽपावट्टा, पंन्निमुदंगा, वेल्लकुन्तन; (ते.) कोड्डुजुंगुरु; (ले.) केसिएरिआ एस्क्युलेन्टा (Casearia esculenta) ।

वर्णन--इसके क्षुप दक्षिण भारत के पहाड़ी प्रदेशों (कोंकण और मलबार) में होते हैं। पुष्प हरापन लिये हुए; फल नारंगी रंग के, खाने योग्य, १॥ इंच लंबे, अंडाकृति; मूल की बाह्यत्वचा सुनहरी रंग की; मूल को काटने पर उसमें सात चक्र दीखते हैं, मूल ताजे हों तो उनमें इन्द्रधनुष जैसे विभिन्न रंग दीखते हैं। मूल का स्वाद तिक्त और कषाय होता है।

उपयुक्त अंग—मूल और पत्र । **मात्रा**--१॥-३ माशा ।

गुण-कर्म--सप्तरंगी तिक्त, कषाय, मृदु विरेचन, वातनाशक, स्वेदापनयन और यकृदुत्तेजक है। इससे बिना कष्ट पीले रंग के एक दो दस्त होते हैं। इससे यकृत् की शर्कराविनिमयक्रिया सुधरती है, भूख लगती है और पेट में वायु नहीं होती हैं। रोज लेने से शक्ति बढ़ती है। यकृदुद्भूत मधुमेह में इससे मूत्र का प्रमाण और शर्करा कम होती है, पित्तयुक्त पतले दस्त होते हैं, पेट का अफारा नष्ट होता है, पसीना आना बंद होता है, प्रमेहपिडका उत्पन्न होना बंद होता है, पांव पर सूजन आई हो तो उतरती है, रोगी का रंग सुधरता है और उसको 'मैं अच्छा हूं' ऐसा मालूम होने लगता है। इससे अर्श में भी लाभ होता है। (डॉ. बा. ग. देसाई) ।

एरण्डकर्कटी वर्ग ४५.

N. O. Passifloraceae (पेसिफ्लोरेसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; इस वर्ग के वृक्षों में नरफूल और मादाफूल भिन्न-भिन्न वृक्षों पर आते हैं।

---

(१६०) एरण्डकर्कटी ।

नाम-(सं.) एरण्डकर्कटी, मधुकर्कटी, गोपालकर्कटी, (हिं.) एरंडककड़ी, एरंडखर्बूजा, पपीता; (बं.) पेंपे; (म.) पपाया; (गु.) झाडचीभडुं, पोपैयुं; (सिंध.) काठगिदरी; (ते.) बोप्पयी; (ता.) पचळै, पप्पळि; (मल.) कप्पळम, कप्पेक्का, गप्पायम्; (फा.) दरख्तखुरपज़ा; (अ.) शज्रतुंबगतीख; (ले.) केकारि पपया (Carica Papaya) ।

वर्णन--एरंडखर्बूजे का वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। पका हुआ फल खाया जाता है। वृक्ष पर परिपूर्ण हुए कच्चे फल में सीधे चीरे लगाने से दूध जैसा निर्यास निकलता है। इसको इकठ्ठा कर, धूप में सुखा, शीशी में भर, अच्छी डाट लगाकर रख लेना चाहिये।

गुण-कर्म फल के दूध-क्षीर-में एक पाचक सत्व होता है, यह एक भाग २४० गुने मांस को गलाकर नरम कर देता है। यह दूध में मिलाने से उसको गाढ़ा करता है। इसकी क्रिया आमाशय और आंतों दोनों में बराबर होती है। एरंडखर्बूज का क्षीर उत्तम पाचक, कृमिघ्न, वेदनास्थापन, स्तन्यजनन, कुष्ठघ्न और उदररोगहर है। इसकी क्रिया पेप्पीन से उच्च दर्जे की है। इसके पत्तों की क्रिया हृदय पर डिजिटॅलिस के समान होती है। इससे नाड़ी की गति कम होती है, हृदय का स्पन्दन ठीक होता है, हृदय का आरामकाल बढ़ता है, पसीना आता है और मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। पत्ते हृदयबल्य और ज्वरघ्न हैं। इसमें थोड़ा पाचक गुण भी है। पचननलिका के रोगों में इसके दूध का बड़ा अच्छा उपयोग होता है। जिनको मांस और शिम्बीधान्य हजम न होते हों तो उनको इससे विशेष लाभ होता है। आमाशय का जीर्ण शोथ-व्रण और अर्बुद, अम्लपित्त तथा कुपचन रोग में क्षीर देते हैं। इससे आमाशय का गाढ़ा कफ द्रवीभूत होता है और अन्न अच्छा हजम होकर शीघ्र रक्त में परिणत होता है। पेट के गोल कृमि मारने के लिये इसका क्षार १ तोला, शहद १ तोला और गरम जल २ तोला मिला, ठंडा होने पर देते हैं और दो घंटे के बाद एरंडतैल देते हैं। इससे कभी पेट में मरोड़ आवे तो नींबु के रस में मिश्री मिलाकर देना चाहिये। यकृत् और प्लीहा बढ़कर कठिन हुए हों तो १ तोला ताजे क्षीर में ३ मासा चीनी मिलाकर देते हैं। हृद्रोग में पत्तियों का फांट बनाकर देते हैं। ज्वर में हृदय अशक्त होकर नाड़ी की गति त्वरित हो तो इस फांट से नाड़ी शांत होती है, ज्वर का वेग कम होता है और पेशाब छुटती है। इस रोग में पत्तियों के साथ मूत्रजनन, स्वेदजनन और सारक औषध देते हैं। (डॉ. बा. ग. देसाई)।

कोशातक्यादि वर्ग ४६.

N. O. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास एकांतर; पर्णतल बहुधा खर; पर्ण हृदयाकृति, किनार दन्तुर; नर और मादा फूल एक ही पौधे पर स्वतन्त्र; फूल का रंग पीला या श्वेत; पुष्प पत्रकोणोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यंतरकोश के दल ५, प्रायः एक-दूसरे से जुड़े हुए; पुंकेशर ३; परस्पर जुड़े हुए फल मांसल; कांड गोल किंवा कोनयुक्त।

(१६१) कोशातकी ।

नाम–((सं.) कोशातकी, कृतवेधन, मृदङ्गफल, क्ष्वेड, जालिनी; (क.) तुरेल; (पं.) तोरी; (हिं.) तुरई, तोरई; (म.) दोडके; (गु.) तुरया, तुरीआं, गीसोडां, घीसोडां, पाडाबल; (बं.) घोषा; (मा.) तोरु, तूरी; (ता.) पेप्पीर्कम्; (मल.) काट्टपीच्चिच; (ले.) लफा अमारा (Luffa amara) ।

वर्णन—तोरई की दो जातियाँ होती हैं-कड़वी और मीठी । कड़ुई जंगलों में स्वयंजात होती है और मीठी लगाई जाती है । लता–पुष्प–फल आदि दोनों के प्राय: समान होते हैं । कड़ुई की अपेक्षया मीठी के फल बड़े होते हैं । औषध के लिये कड़ुई तोरई का ही उपयोग होता है । कड़ुई और मीठी का भेद बताने के लिये तिक्तकोशातकी के लिये जंगली या कड़ुई के वाचक और मिष्टकोशातकी के लिये मधुरवाचक शब्द विशेषण रूप में लगाये जाते हैं ।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. १) एकोनविंशतिफलिनीषु, वमनद्रव्येषु (सू. अ. २) च कृतवेधनं पठ्यते । "अत्यर्थकटु तीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च । कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोथगुल्मगरादिषु ।।" (च. क. अ. ६) । सुश्रुते ऊर्ध्व–भागहरे, उभयतोभागहरे च गणे कोशातकी पठ्यते । "× × × कोशातकी × × × प्रभृतीनि । रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च । कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ।।" (सु. सू. अ. ४६) " × × × कृतवेधन × × × तैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि च ।" (सु. सू. अ. ४५) ।

कड़ुई तोरई वमन और बिरेचन करानेवाली, अत्यन्त तिक्त, तीक्ष्ण; उष्णवीर्य तथा प्रबल कुष्ठ, पाण्डुरोग, प्लीहा, शोथ, गुल्म और गर (विष) आदि में प्रशस्त है (उनका नाश करनेवाली है) । मीठी तुरई का शाक अति लघु, हृद्य तथा रक्तपित्त; कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, श्वास, खाँसी और अरुचि को दूर करनेवाला है । तुरई के बीजों का तैल कटु, कटुविपाक, तीक्ष्ण, लघु, उष्णवीर्य, सारक तथा वायु, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत–जंगली तोरई तिक्त, दीपन, मूत्रजनन, विरेचन, वामक, उदरहर, शिरोविरेचन, व्रणशोधन, व्रणरोपण और विषघ्न है । अल्प प्रमाण में देने से भूख लगती है, दस्त साफ होता है और पेट के अवयवों की क्रिया सुधरती है । मध्यम मात्रा से विरेचन होता है और मूत्र का प्रमाण बढ़ता है । बड़ी मात्रा में देने से पानी जैसे दस्त होते हैं । बीज के मग्ज की क्रिया इपिकाकुआना जैसी होती है । सड़ने लगे व्रणों को धोने के लिए इसका शीतकषाय बहुत लाभदायक है । इससे व्रण की शुद्धि होकर व्रण शीघ्र भर जाता है । अधकपाली (कफज) सिर का दर्द और कामला में फल के

शीतकषाय का नस्य देने से शिरोविरेचन होकर लाभ होता है। यकृद्दाल्युदर, प्लीहोदर और यकृत की विकृति से उत्पन्न जलोदर में इसका मद्यासव (टिंक्चर) हितकारक है। आरंभ में बड़ी मात्रा देकर पीछे दस्त और पेशाब का प्रमाण देखकर मात्रा घटानी-बढ़ानी चाहिये (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१६२) धामार्गव।

नाम--(सं.) धामार्गव, कोठफला, महाजालिनी, राजकोशातकी; (पं.) घियातोरी; (हिं.) घियातुरई, नेनुवा; (मा.) गिलकी, घीयातूरी; (म.) घोसाळें; (गु.) गलकां; (ले.) लफा एजिप्टिएका (Luffa aegyptiaca)।

वर्णन—धामार्गव (नेनुआ) तोरई के जैसा होता है। तोरई के फल पर धारदार रेखायें होती हैं, परंतु नेनुआ पर धारदार रेखायें नहीं होतीं। इसमें भी मीठा और कडुआ दो जातियाँ होती हैं। कडुए का औषध के लिये व्यवहार होता है, मीठे का साग बनाकर खाते हैं।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. १) एकोनविंशतिफलिनीषु वमनद्रव्येषु (सू. अ. २) च धामार्गवः पठ्यते। "गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते। कफं च कण्ठवक्त्रस्थे कफसंचयजेषु च।। रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये।" (च. क. अ. ४७)। सुश्रुते (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे गणे धामार्गवः पठ्यते। "अन्या स्वादुस्त्रिदोषघ्नी ज्वरस्यान्ते हिता स्मृता।' (ध. नि)।

जंगली (कड़वी) घियातोरई वमन करानेवाली है। कफ के संचय से होनेवाले गुरु और स्थिर विकारों में, जब वायु कफ के आशयों में संचित हुआ हो तथा कफ कंठ और मुंह में स्थित हो तब तथा गर, गुल्म और खाँसी में इसका प्रयोग करना चाहिये। मीठी घिया तोरई त्रिदोषहर तथा ज्वर के अंत में हितकर हैं।

कड़वी घियातोरई के गुणकर्म कड़वी तुरई के समान हैं।

---

(१६३) जीमूतक।

नाम—(सं.) जीमूतक, देवदाली, गरागरी, देवताडक; (पं.) घगडवेल; (हिं.) बंदाल, घघरबेल, घुसरा (ला) इन; (मा.) बंदालडोडा; (बं.) देवताड; (म.) देवडांगरी; (गु.) कुकडवेला; (सिं.) नेधेजा डेलू; (ले.) लफा एकिनेटा (Luffa echinata)।

वर्णन—बंदाल के ककोडे जैसे कांटेदार फल होते हैं।

उपयुक्त अंग—फल। पंचांग भी काम में लिया जाता है।

गुण-कर्म—चरके-(सू. अ. १) एकोनविंशतिफलिनीषु, वमनद्रव्येषु (सू. अ. २) च जीमूतं पठ्यते। "जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम्। प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काद्येष्वामयेषु च ॥" (च. क. अ. २) सुश्रुते (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे, उभयतोभागहरे च गणे जीमूतकं पठ्यते। "देवदाली तु तिक्तोष्णा कटुः पाण्डुकफापहा। दुर्नामश्वासकासघ्नी कामलाशोथनाशिनी ॥" (रा. नि.)। "देवदाली रसे पाके तिक्ता तीक्ष्णा विषापहा। वामनी हन्ति गुवजकफशोफाम-कामलाः ॥ ज्वरकासारुचिश्वासहिध्मापाण्डुक्षयकृमीन्। (कै. नि.)।

बंदाल, कटु, कटुविपाक, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, वामक, शिरोविरेचन, रेचन तथा ज्वर, श्वास, हिक्का, पाण्डुरोग, अर्श, कास, कामला, विष, शोथ, आमविकार, अरुचि, क्षय और कृमि का नाश करनेवाली है।

नव्यमत—बीजों में तैल होता है, उसमें कड़ुआपन नहीं होता। बंदाल तिक्त, दीपन, मूत्रजनन, विरेचन; शिरोविरेचन, व्रणशोधन और व्रणरोपण है। बड़ी मात्रा में देने पर वमन और विरेचन होता है तथा रोगी की हालत हैजे के समान दीखती है, स्त्री गर्भवती हो तो गर्भ गिर जाता है। बंदाल और कड़वीतोरई की क्रिया समान होती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

बंदाल के एक फल को अधकुटा कर के रात को थोडे जल में भिगो, सबेर में हाथ से मसल, कपडे से छानकर नाक में ५-१० बूंद डालने से दिनभर नाक से पानी टपकता रहता है। कामला और कफज शिरोरोग में इस नस्य का उपयोग करते हैं।

---

(१६४) इन्द्रवारुणी।

नाम—(सं.) इन्द्रवारुणी, गवाक्षी, गुडुम्बा, विशाला; (क.) हूनिहेम्व, जहरबागुन; (पं.) कौड़तुंबा, कोड़तुम्मा; (हि.) इन्द्रायन; (मा.) तूसण बेल, तूस, तूसतूंबा; गडतूंबा; (म.) इन्द्रावण; (गु.) इन्द्रावणा, इन्दरवारणा; (बं.) राखालशशा; (सिंध) ब्रूह; (ते.) पापरबुडम्; (ता.) पेतिकारि; (मल.) पेक्कुम्मट्टि; (फा.) खरबुज ए तल्ख; (अ.) हंजल; (ले.) सिट्रयुलस् कोलोसेन्थिस् (Citrullus colocynthis)।

वर्णन-इन्द्रायन की लता होती हैं। इन्द्रायन के फल प्रारंभ में हरे और पकने पर पीले रंग के होते हैं। इसकी कई जातियाँ हैं। एक जाति के फल पर छोटे काँटे होते हैं; दूसरी के फल पकने पर लाल रंग के होते हैं।

उपयुक्त अंग—फल और मूल।

गुण-कर्म-चरके-(सू. अ. १) षोडशमूलिनीषु ('गवाक्षी' नाम्ना), विरेचनद्रव्येषु (सू. अ. २) च. इन्द्रवारुणी पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८)

श्यामादिगणे; अधोभागहरद्रव्येषु (सू. अ. ३९) च गवाक्षी पठ्यते। "इन्द्रवारुणिकाऽत्युष्णा रेचनी कटुका तथा। कृमिश्लेष्मव्रणान् हन्ति सर्वोदराण्यपि ॥" (ध. नि.)। "गवादनीद्वयं तिक्तं पाके कटु सरं लघु। वीर्योष्णं कामलापित्तकफप्लीहोदरापहम् ॥ श्वासकासापहं कुष्ठगुल्मग्रन्थिव्रणप्रणुत्। प्रमेहमूढगर्भाम गण्डामयविषापहम् ॥" (भा प्र.)।

इंद्रायन तिक्त, कटुविपाक, लघु, उष्णवीर्य, रेचन तथा कृमि, कफ, व्रण, उदररोग, कामला, पित्त, प्लीहोदर, श्वास, कास, कुष्ठ, गुल्म, ग्रन्थि, प्रमेह, मूढगर्भ, आमविकार और विष का नाश करनेवाली है।

नव्यमत—इंद्रायन भेदन है। इससे पेट में मरोड़ आकर पतले दस्त होते है। मात्रा अधिक दी जाय तो आँतों में शोथ होता है। बड़ी आँतों और यकृत् पर इसकी क्रिया एलुए के समान होती है। मूल रेचन और श्वयथुहर हैं। बीजों में रेचक गुण नहीं होता। कफप्रधान रोगों में इंद्रायन देते हैं। इससे स्रोतों का अवरोध दूर होता है। आमवात, संधिशोथ, जलोदर, यकृद्दाल्युदर; प्लीहोदर और मलावरोध में मूल का चूर्ण सोंठ और गुड़ के साथ मिलाकर देते हैं। मूल पानी में घिसकर व्रणशोथपर लगाते हैं; प्रारंभ में ही लेप किया जावे तो इससे लाभ होता हैं, परंतु पकने लगने पर कोई लाभ नहीं होता। बीजों का तैल लगाते रहने से बाल सफेद नहीं होते।((डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१६५) कटुतुम्बी।

नाम-(सं.) इक्ष्वाकु, कटुकालाबू, तिक्तालाबू, पिण्डफला; (हिं.) कटु तुंबी, कड़वी लौकी; (बं.) तितलाउ ; (म.) कडुभोपला; (गु.) कड़वी तुंबडी; (मा.) कडवी तुमडी, कडवी तूंबी; (ले.) लॅगेनेरिआ वल्गॅरिस् (Lagenaria vulgaris)।

वर्णन-कटुतुंबी की लता और फल लौकी के समान होते हैं।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. १) एकोनविंशतिफलिनीषु वमनद्रव्येषु च (सू. अ. २) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे गणे इक्ष्वाकुः पठ्यते। 'कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्षिते। प्रताम्यति नरे चैव वमनार्थं तदिष्यते ॥ (च. क अ. ३)। "तिक्तालाबुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित्।" (सु. सू. अ. ४६) 'कटुतुम्बी कटुस्तीक्ष्णा वान्तिकृच्छ्वासवातजित्। कासघ्नी शोधनी शोफव्रणशूलविषापहा ॥" (रा. नि.)। "कटुतुम्बी हिमाऽहृद्या पित्तकासविषापहा। तिक्ता कटुर्विपाके च वातपित्तज्वरान्तकृत् ॥" (भा. प्र.)। 'तुम्बी x x x स्नेहास्तिक्तकषाया अधोभागदोषहराःकृमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च।" (सु. सू. अ. ४५)।

कटुतुंबी तिक्त, कटुविपाक, शीतवीर्य, अहृद्य, वमन करानेवाली, शोधन तथा कास, विष; वमन, पित्तज्वर, शोथ, व्रण, शूल, वात और कफ को दूर करनेवाली है। कटुतुंबी का तैल तिक्त, कषाय, अधोभागदोषहर, दुष्टव्रणशोधन तथा कृमि, कुष्ठ, कफ और वायु का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—कटुतुंबी के गुण-कर्म इंद्रायन के समान हैं। इसका गर्भ-मांस बहुत कडुआ, तीव्र वामक और भेदन है। पत्ते और प्रतान वामक और थोड़ी मात्रा में श्लेष्मनिःसारक हैं। इससे एकदम उलटी और जुलाब होते हैं, यहांतक कि रोगी की अवस्था हैजे होने के जैसी हो जाती है। अल्प मात्रा में देने से कफ छुटता है और दस्त साफ होता है। पत्तियों के कल्क में पकाया हुआ तैल गण्डमाला, बद आदि ग्रन्थिरोगों पर मलते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१६६) पटोल।

नाम–(सं.) पटोल, कुलकः; (हिं.) कडवा परवल; (बं.) तित् पटोल तितपल्ता; (म,) कडुपरवल; (गु.) कडवां परवल, पटोल, कडवी पाडर; (ते.) अडविपोट्ळ; (ता) काट्टुपुट्टोल्; (मल.) काट्टुपटोलम्; (ले.) ट्राइकोसेन्थस डायोइका (Trichosanthe dioica)।

वर्णन–पटोल में स्वयंजात (जंगली-कड़वा) और लगाया हुआ (मीठा); दो जातियाँ होती हैं। औषध के लिये कड़वा परवल लेते हैं। इसका कांड और पत्र खर, पुष्प श्वेत, फल पहले हरा और पकने पर लाल हो जाता है।

उपयुक्त अंग–पञ्चाङ्ग।

गुण कर्म--चरके (सू. अ. ४) तृप्तिघ्ने, तृष्णानिग्रहणे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सु. अ. ३८) आरग्वधादौ पटोलादौ च गणे पटोलः पठ्यते। "प्रायः सर्वं तिक्तं वातलमवृष्यं च अन्यत्र वेत्राग्रपटोलात्।" (च. सू. अ. २७) "x x x पटोलं x x x। कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते।" (च.सू. अ. २७)"। कफपित्तहरं व्रण्यमुष्णं तिक्तमवातलम्। पटोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम्।" (सु. सू. अ. ४६) "पटोलं कटुकं तिक्तमुष्णं पित्ताविरोधि च। कफासृक्कण्डुकुष्ठानि ज्वरदाहौ च नाशयेत्।" (ध. नि.)।

कडु परवल कटु, तिक्त, कटुविपाक, उष्णवीर्य, पित्त को न बढ़ानेवाला, व्रण के लिये हितकर, वृष्य, रुचिकर, दीपन, तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण तथा कफ, रक्तविकार, कंडू, कुष्ठ, ज्वर और दाह का नाश करनेवाला है:

नव्यमत-मूल तीव्र रेचन, फल गर्भभेदन, प्रतान और वृंत कटुपौष्टिक-ज्वरहर और आनुलोमिक, पत्ते कटुपौष्टिक-दीपन, पाचन और बल्य हैं। अधिक मात्रा में देने से

वमन और विरेचन होता है। बीज कृमिघ्न हैं। पित्तप्रधान रोगों में पटोल विरेचन के लिये देते हैं। पित्तज्वर, जीर्णज्वर, कामला, शोथ और उदर रोगों में इससे विरेचन होकर पचन क्रिया सुधरती है। पित्तज्वर में पटोलपत्र और धनिये का क्वाथ (या हिम) देते हैं। त्वग्रोगों में पटोल और गिलोय का क्वाथ देते हैं। इंद्रप्लुत में पत्तियों का स्वरस लगाने से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१६७) बिम्बी ।

नाम–(सं.) **बिम्बी, तुण्डी, तुण्डिकेरी; (हि.) कुंदरु; (बं.) तेलाकुचा, (म.) तोंडलें; (गु.) टिंडोरां, घोलां घोली; (पं.) कंदुरी; (ले.) कोकिनिआ इन्डिका** (Coccinia indica)।

वर्णन–बिंबी जंगली (कड़बी) और लगाई हुई (मीठी) दो जाति की होती है। कड़वी औषध के लिये और मीठी साग के लिये प्रयुक्त होती है। फल कच्चे हरे रंग के और पकने पर रक्तवर्ण होते हैं।

उपयुक्त अंग–पञ्चाङ्ग। बंगीय वैद्य इसकी लता के स्वरस का मधुमेह में वसंतकुसुमाकर रसयोगों के अनुपानार्थ प्रयोग करते हैं।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ) षोडशमूलिनीषु तथा सुश्रुते (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरद्रव्येषु बिम्बी पठ्यते । "तुण्डिका कफपित्तासृक्शोथपाण्डुज्वरापहा । श्वासकासापहं स्तन्यं फलं वातकफापहम् । (ध. नि.) ।

कड़वी कुंदरु की लता वमन करानेवाली तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, शोथ, पाण्डुरोग और ज्वर को दूर करनेवाली है। उसके फल श्वास, खांसी, वात और कफ को दूर करनेवाले तथा स्तन्य हैं।

नव्यमत–कुंदरू की क्रिया मूत्रेन्द्रिय पर होती है। कुंदरू स्नेहन, मूत्रसंग्रहण, व्रणरोपण और रक्तसंग्राहक है। मूल का स्वरस १ तोला, या मूल चूर्ण ।-॥ तोला मधुमेह में वंगेश्वर या सोमनाथ रस के साथ देने से बहुत लाभ होता है। मधुमेह में इसका साग हितकर है। पेशाब में सफेद स्निग्ध पदार्थ जाता हो तब मूल का क्वाथ देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(१६८) कारवेल्लक ।

नाम–(सं.) **कारवेल्लक; (क.) करेल; (हिं.) करेला; (म.) कारलें; (गु.) कारेलो; (बं.) उच्छे; (ते.) काकर; (ता.) पाके, पाकल्; (मल.) पेरुंपावल्; (ले.) मोमोर्डिका चेरन्टिआ** (Momordica charantia) ।

वर्णन--करेला प्रसिद्ध शाक है। भारतवर्ष में सर्वत्र होता है।

उपयुक्त अंग--लता या फल का स्वरस। मात्रा-१-३ तोला।

गुण-कर्म--चरके (वि अ. ८) तिक्तस्कन्धे तथा सुश्रुते (सू. अ. ४६) शाकवर्गे कारवेल्लिका (कारवेल्लक:) पठ्यते। "कारवेल्लं सकटुकं कटुपाकम-वातलम्। दीपनं भेदनं तिक्तमवृष्यमहिमं लघु॥ हन्त्यरोचकपित्तास्रकफपाण्डु-व्रणकृमीन्। श्वासकासप्रमेहाश्मकाठेकुष्ठज्वरानपि। कारवेल्लीफलं वन्यं ज्वरार्शः-कृमिनाशनम्। कासघ्नं दीपनं हृद्यं सतिक्तं कफ-वातजित्॥" (कै. नि.)।

करेला तिक्त, कुछ कटु, कटुविपाक, लघु, उष्णवीर्य, दीपन, भेदन, अवृष्य तथा अरुचि, पित्त, रक्तविकार, कफ, पाण्डुरोग, व्रण, कृमि, श्वास, खाँसी, प्रमेह, अश्मरी, कुष्ठ और ज्वर का नाश करनेवाला है। जंगली करेला तिक्त, दीपन, हृद्य तथा ज्वर, अर्श, कृमि, कास, कफ और वायु का नाश करनेवाला है।

---

(१६९) कर्कोटक।

नाम-(सं.) कर्कोटक; (पं.) ककोड़ा; (हिं.) खेखसा, ककोड़ा; (म.) करटोले; (गु) कंटोला, कंकोडां; (मा.) कांटोला; (ले.) मोमोर्डिका डायोइका (Momordica dioica)।

वर्णन-खेखसा प्रसिद्ध शाक है जो वर्षाऋतु के प्रारंभ में होता है। पुष्प पीले रंग के संध्या को खिलते हैं। इसकी लता के नीचे कंद होता है। इसकी एक जाति में फल नहीं लगते, उसको वन्ध्याकर्कोटकी (बांझ खेखसा) कहते हैं।

गुण-कर्म-चरके (सू. २७) तथा सुश्रुते (सू. अ. ४७) तिक्तवर्गे, शाकवर्गे च कर्कोटकः पठ्यते। "कर्कोटक × × × कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते।" (च. सू. अ. २७)। "कार्कोटकी कटूष्णा च तिक्ता विषविनाशिनी। वातघ्नी पित्तहृच्चैव दीपनी रुचिकारिणी॥ वन्ध्याकर्कोटकी तिक्ता कटूष्णा च कफापहा। स्थावरादिविषघ्नी च शस्यते सा रसायने॥" (रा. नि.)।

खेखसा तिक्त, कटु, कटुविपाक, उष्णवीर्य, दीपन, रुचिकर तथा कफ, वात और विष को दूर करनेवाला है। बांझ खेखसा तिक्त, कटु, उष्णवीर्य, रसायन तथा कफ और विष का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--इसकी राख में मेंगेनीझ होता है। इसका कंद रेचक नहीं है; मात्रा बड़ी हो तो उलटी होती है। इसमें थोड़ा रक्तसांग्राहिक गुण है। रक्तार्श में कंद का चूर्ण देते हैं। मधुमेह में कंद का चूर्ण वंगभस्म के साथ देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(१७०) कूष्माण्ड ।

नाम–(सं.) कूष्माण्ड, वल्लीफल; (क.) अल; (पं.) पेठा; (हिं.) कुम्हड़ा, पेठा; (बं) कुमड़ा; (म.) कोहळा; (मा.) कोहला, कोला, पेठा; (गु.) भूरुं कोहळुं; (ते.) गुम्मड़; (मल.) कुप्पळम्; (सिंध) पेठो साओ; (फा.) व (प) दुबः ; (अ.) महबबः ; (ले.) बेनिन्केसा हिस्पिडा (Benincasa hispida)।

वर्णन–पेठा भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

उपयुक्त अंग–फल, फलस्वरस और बीजमज्जा (गिरी)।

गुण–कर्म–"सक्षारं पक्वकूष्माण्डं मधुराम्लं तथा लघु। सृष्टमूत्रपुरीषं च सर्वदोषनिबर्हणम्।" (च. सू. अ. २७)। 'पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं, मध्यं कफावहम्। शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम्॥ सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम्॥" (सु. सू. अ. ४६)। "मूत्राघातहरं प्रमेहशमनं कृच्छ्राश्मरीच्छेदनं विण्मूत्रग्लपनं तृषार्तिशमनं जीर्णाङ्गपुष्टिप्रदम्। वृष्यं स्वादुतरं स्वरोचकहरं बल्यं च पित्तापहं कूष्माण्डं प्रवरं वदन्ति भिषजो वल्लीफलानां पुनः॥" (रा. नि.)। "x x x कूष्माण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याभिष्यन्दीनि सृष्टमूत्राण्यग्निसादनानि च।" (सु. सू. अ. ४५)।

कच्चा कूष्माण्ड, पित्तघ्न; अधपका कफकर; पका हुआ मधुर, अम्ल, क्षारयुक्त, लघु, उष्णवीर्य, दीपन, बस्तिशोधन, मूत्रल, हृद्य, मल-मूत्र को साफ लानेवाला, बल्य, वृष्य, बृंहण तथा उन्माद आदि मन के विकार, मूत्राघात, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, तृषा, अरुचि और पित्त को दूर करनेवाला है। पेठे के बीजों का तैल मधुर, मधुरविपाक, शीतवीर्य, अभिष्यन्दि, मूत्रल, अग्निमान्द्यकर तथा वात और पित्त का प्रशमन करनेवाला है।

नव्यमत––पेठा बल्य, पौष्टिक, शीतल, मूत्रजनन, रक्तसंग्राहक, शमन और रक्तपित्तप्रशमन है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है। बड़ी मात्रा में देने से दस्त साफ होता है और निद्रा आती है। बीज कृमिघ्न हैं। चपटे कृमि मारने के लिये २–४ तोला बीज का कल्क देते हैं और ऊपर से विरेचन देते हैं। उन्माद में जब रोगी की आँखें लाल हो, नाड़ी की गति तीव्र हो और रोगी उत्तेजित हो तब पेठे का रस देने से दस्त साफ होता है और निद्रा आती है। राजयक्ष्मा में कभी-कभी फुफ्फुस से रक्त आता है तब और किसी भी अंदर के अवयव से रक्त आता हो तब पेठे का रस देते हैं। क्षय की प्रथमावस्था में मुक्तापिष्टि के साथ पेठे का ताजा रस देने से बड़ा लाभ होता है। मधुमेह में पेठे का रस देते हैं। अर्श में कूष्माण्ड पाक देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

मण्डूकपर्ण्यादि वर्ग ४७.

N. O. Umbelliferae (अम्बेलिफेरी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पुष्पविन्यास छत्राकार; पुष्प श्वेत किंवा पीत; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तर कोश के दल ५; फल नीरस ।

---

(१७१) मण्डूकपर्णी ।

नाम– (सं.) मण्डूकपर्णी; (बं.) थुलकुडी; थानकुनी (म.) कारिंवणा; (गु.) खडब्राह्मी; (ले.) हाइड्रोकोटिल् एशिआटिका (Hydrocotyle asiatica) ।

वर्णन—यह जमीन पर फैलनेवाली लता है। वर्षा ऋतु में सर्वत्र होती है। पानीवाली जमीन में सर्वदा रहती है । कांड की प्रत्येक संधि पर से मूल, पर्ण, पुष्प और फल आते हैं । प्रत्येक संधि पर से एक ही पत्ती निकलती है । पत्र वृक्काकृति, १-१॥ इंच बड़ा, पत्र पर ७ सिरायें होती है। ताजी मंडूकपर्णी मसलने से सुगंध आती है । स्वाद कटु और तिक्त होता है । पत्ती सूखने पर स्वाद और गंध चली जाती है । मंडूकपर्णी की लता ब्राह्मी जैसी दिखती है परंतु दोनों सर्वथा भिन्न हैं। दोनों का स्वरूप, प्राकृतिक वर्ग और गुण-कर्म भिन्न हैं; अतः एक के प्रतिनिधिरूप में दूसरे का व्यवहार नहीं करना चाहिये, ब्राह्मी की पत्ती चिकनी होती है और संधि पर से एक से अधिक ५–७ पत्तियां तक निकलती हैं । ब्राह्मी की क्रिया नाड़ी व्यूह पर और मंडूकपर्णी की क्रिया त्वचा पर होती है ।

गुण-कर्म—चरके (सु. अ. ४) वयःस्थापने महाकषाये, तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ८) च मण्डूकपर्णी पठ्यते । सुश्रुते (सू. अ. ४२) तिक्तवर्गे मण्डूकपर्णी पठ्यते । मण्डूकपर्णी x x x शाकं x x x कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ।" (च. सू. अ. २७) "मण्डूकपर्णी x × x प्रभृतीनि । रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च । कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ।। कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा । लघ्वी मण्डूकपर्णी तु × x x।" (सु. सू. अ. ४६) "मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः x x x आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि ।। मेध्यानि चैतानि रसायनानि x x x ।" (च. चि. अ. १, पा. ३)।

मण्डूकपर्णी तिक्त, कषाय, कटुविपाक, लघु, शीतवीर्य, वयःस्थापन, कफपित्तहर हृद्य तथा रक्तपित्त कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, श्वास, खांसी और अरुचि का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत--ताजी पत्तियों में ७८ प्रतिशत जल होता है। सूखी पत्तियों को जलाने से १२ प्रतिशत राख मिलती है। ताजी पत्तियों में उड़नेवाला तैल होता है, जो उष्णता से उड़ जाता है। मण्डूकपर्णी कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, मूत्रजनन, स्तन्यशोधन, संग्राहक, बल्य और रसायन है। बड़ी मात्रा में मादक (नशा लानेवाली) है। इससे सिर दुखता है, चक्कर आते हैं और नशा चढ़ता है। इसकी त्वचा पर खास क्रिया होती है। इसका तैल त्वचा के मार्ग से निकलता है, त्वचा गरम मालूम होती है और त्वचा में चुभने सा मालूम होता है। प्रथम हाथ-पाँव में चुभन मालूम होती है और पीछे सारे शरीर में दाह मालूम होती है, यहांतक कि कभी-कभी वह असह्य हो जाती है। त्वचा की रक्तवाहिनियों का विकास होता है और उसमें रक्तसंचार शीघ्रता से होने लगता है। त्वचा लाल होती है और उसमें खाज आने लगती है। सप्ताह पीछे भूख बढ़ती है। इसका तैल वृक्क के द्वारा निस्सारित होता है, इसलिये मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। त्वचा के रोगों में यह गुणकारक है। उपदंश की द्वितीयावस्था में जब रोग का जोर त्वचा और त्वचा के नीचे की कला में होता है तब इससे विशेष लाभ होता है। सर्व प्रकार के जीर्णव्रण, गण्डमाला, क्षयज व्रण और श्लीपद में यह उत्तम औषध है। व्रण पर इसका चूर्ण छिड़कने से व्रण जल्द भर आता है। त्वग्रोगों में इसे खाने को देते हैं और इसका लेप करते हैं इसके कुछ दिन सेवन से त्वचा लाल होती और खाज आने लगती है। ऐसा होने पर मात्रा घटानी चाहिये या औषध देना बंद कर के विरेचन देना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)

उपयुक्त अंग--ताजे पंचांग का स्वरस या छायाशुष्क पंचांग का चूर्ण। इसका क्वाथ या फांट नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि गरम करने से इसका तैल उड़ जाता है।

---

(१७२) हिङ्गु।

नाम--(सं.) हिङ्गु, रामठ, बाह्लीक, (क.) यंग; (हिं.) हिंग; (बं.) हिङ्; (म.) हिंग; (गु.) हींग वघारणी; (फा.) अंगजद, अंगोज; (ले.) फेरुला नॅर्थेक्स (Ferula narthex)।

वर्णन—हींग के क्षुप ईरान और अफगानिस्तान में होते हैं। हींग एक प्रकार का निर्यास है। शुद्ध हींग को दियासलाई से जलाने से वह संपूर्ण जल जाती है। औषधार्थ यह परीक्षा कर के हींग लेनी चाहिये।

मंडी--क्वेटा, डेरा ईस्माइलखां, मुलतान और पेशावर।

गुण-कर्म-चरके—(सू. अ. ४) दीपनीये, संज्ञास्थापने च महाकषाये तथा कटुस्कन्धे हिङ्गु पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादौ, ऊषकादौ च गणे हिङ्गु पठ्यते। "हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्।"

(च. सू. २५)। "वातश्लेष्मविबन्धघ्नं कटूष्णं दीपनं लघु। हिङ्गु शूलप्रशमनं विद्यात् पाचनरोचनम्। (च. सू. अ. २७)। "लघूष्णं पाचनं हिङ्गु दीपनं कफवातजित्। कटु स्निग्धं सरं तीक्ष्णं शूलाजीर्णविवन्धनुत्॥" (सू. सू. ४६) "हृद्यं हिङ्गु कटूष्णं च कृमिवातकफापहम्। विबन्धाध्मानशूलघ्नं गुल्मोदरविनाशनम्॥" (रा. नि)।

हींग कटु, उष्णवीर्य, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर, लघु, दीपन, पाचन, रोचन, हृद्य, संज्ञास्थापन, छेदन तथा वात, कफ, विवन्ध, शूल, आध्मान, अजीर्ण, कृमि, गुल्म और उदररोग का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—विश्लेषण से हींग में तैलयुक्त राल, उड़नेवाला तैल और गन्धक मिलता है। हींग दीपन, पाचन, आमाशय,–आंतों और गर्भाशय को उत्तेजित करनेवाला, वायुनाशक, आनुलोमिक, कृमिघ्न छेदनीय, कफहर, कफदुर्गन्धिहर नाड़ीव्यूह के लिये जोरदार, उत्तेजक, संकोचविकासप्रतिबंधक और विषमज्वरहर है। हींग में स्थित उड़नेवाला तैल श्वासनलिका, त्वचा और वृक्क के द्वारा शरीर से निःसारित होता है। इसके कफ पतला होता है, कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है और कफस्थित रोगजन्तु नष्ट होते हैं। फुफ्फुस के रोगों में हींग बहुत गुणकारक है। प्रौढ़ मनुष्य के जीर्णश्वासनलिका शोथ, दमा और बडी खांसी (hooping cough) में और बालकों के फुफ्फुसशोफ, श्वासनलिकशोथ या बच्चों को फुफ्फुस की रोग अच्छा होने के बाद जो सूखी खांसी आती है उसमें हींग देते हैं। फुफ्फुस के रोग में हींग पानी में मिलाकर देते हैं। इससे कफ पतला होता है और पुष्कल उत्पन्न होता हो तो कम होता है। पेट का अफारा और दर्द, कब्ज, आमाशय और आंतों की शिथिलता, कुपचन और कृमिरोग में हींग गुणकारी है। गृध्रसी, अर्दित, मन्यास्तम्भ, पक्षाघात, आक्षेपक और अपतन्त्रक में हींग देते हैं। शीतज्वर में हींग अच्छा उपयोगी है। ज्वर में सन्निपात के लक्षण दीखते ही हिङ्गुकर्पूरवटिका देना चाहिये। इससे नाडी की गति सुधरती है और हाथ-पांव का कंप, कपड़े फेंकना, उठाना–भागना, प्रलाप आदि सान्निपातिक के लक्षण कम होते हैं। हृद्रोग में हींग का अच्छा उपयोग होता है। हृदय की धडकन, हृदय में एकदम पीड़ा होना, जी घबराना–इनमें हिङ्गुकर्पूरवटिका देते हैं। हींग से गर्भाशय का संकोच होकर ऋतु साफ होता है और पेट का दर्द कम होता है। प्रसूता स्त्री को हींग देना अच्छा है। हींग खिलाने से नारू मरते हैं। पेट के रोगों में हींग घी में सेंक कर और फुफ्फुस के रोग में कच्चा हींग देना चाहिये।

हिङ्गुकर्पूरवटिका—हींग १ भाग, कपूर १ भाग, मिलाकर दो रत्ती की गोली बनावे। इसमें $\frac{१}{८}$ भाग कस्तूरी मिलाने से विशेष लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(१७३) उ (ष) शक ।

नाम–(फा.) उशः (षः) ; (अ.) उश (ष) क; (अफ.) कंदल; (ले.) डोरेमा ॲमोनायकम् (Dorema ammoniacum) ।

उत्पत्तिस्थान–ईरान और अफगानिस्तान ।

वर्णन––यह वृक्ष का गोंद है । इसके चने से लेकर छोटे बेर तक बड़े पिलाई लिये हुए सफेद रंग के दाने होते हैं । ठंडी में यह कठिन रहता है और तोड़ने से टूट जाता है; परंतु गरमी में नरम हो जाता है और दाने एक दूसरे से चिपक जाते हैं । स्वाद तिक्त और कटु; इसको गुनगुने पानी में घोटने से दूध जैसा मिश्रण बनता है । इसमें उड़नेवाला तैल ४, राल ७२ और गोंद २० प्रतिशत होता है । गंधक नहीं होता । सुश्रुतने उषकादिगण में लिखा हुआ ऊषक क्षारविशेष है ।

नव्यमत–उशक श्वासनलिका, त्वचा और वृक्कद्वारा शरीर से बाहर आता है और निकलते समय उन अवयवों को उत्तेजित करता है । उशक छेदन, श्लेष्मनिस्सारक, स्वेदजनन, मूत्रजनन और शोथविलयन है । इससे कफ का चिकनापन कम होता है, बिना कष्ट के कफ जल्दी गिरता है, कफ की उत्पत्ति कम होती है, कफगत रोगजन्तु का नाश होता है और कफ की दुर्गन्ध कम होती है । बड़ी मात्रा में देने से दस्त साफ होता है । उशक का लेप श्वयथुविलयन है । जीर्ण सन्धिशोथ, संधि में जल होना, गंडमाला और बद पर इसके लेप से लाभ होता है । **मात्रा**–३–७ रत्ती गोली के रूप में या पानी में मिलाकर देना चाहिये ।

कल्प-मिश्रण––उशक ३ भाग, चीनी का शर्बत ६ भाग, गरम जल १०० भाग । थोड़ा थोड़ा जल मिला, घोटकर मिला दें । मात्रा ½ से १ औंस ।

मलहम-उशक १२ औंस, पारा ३ औंस, गंधक ८ ग्रेन, नीमोली का तैल २ ड्राम । प्रथम एक पात्र में गंधक और तैल गरम कर के मिलावें, पीछे पारा और गरम किया हुआ उशक मिलावें, पारे के कण न दिखें वहाँ तक मर्दन कर के मलहम तैयार करें । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(१७४) मिश्रेया ।

नाम–(सं.) मिश्रेया, मिशी (शि.), शालेय, मधुरिका; (क)बादयान; (पं.) सौफ; हिं.) सौंफ; (बं.) मौरी; (म.) बडीशेप; (गु.) वरियाळी वलियारी; (सिं.) वडफ; (मा.) सूंफ, विरियाली; (फा.) राजियान, बादियान; (अ.) राजियानज; (ले.) फिनिक्युलम् केपिलेक्युअम् (Foeniculum capillaecum) ।

वर्णन-सौंफ भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और सुप्रसिद्ध है। वैद्य विशेषतः इसके बीजों का प्रयोग करते हैं। हकीम इसके बीज, मूल और बीजों के अर्क का प्रयोग करते हैं। इसको एक जाति के बीज ईरान से आते हैं। उनको (फा.) बादियान रूमी, (अ.) अनीसून; (अ.) एनिस कहते हैं। इनका तैल विलायती दवा बेचनेवालों के यहाँ 'ऑइल एनेसी' के नाम से मिलता है। अनीसून के गुण-कर्म सौंफ के समान हैं।

उपयुक्त अंग—बीज, बीजतैल और मूल।

गुण-कर्म--सुश्रुते (चि. अ. ३८) आस्थापनयोगेषु मिशिः पठ्यते। "××× शालेय ×××। हृद्यान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च।" (च. सू. अ. २७)। "तिक्ता स्वादुर्हिमा वृष्या दुर्नामक्षयजिन्मिशी। क्षतक्षीणहिता बल्या वातपित्तास्रदोषजित् ॥" (ध. नि.)। "मिश्रेया मधुरा स्निग्धा कटुः कफहरा परा। वातपित्तोत्थदोषघ्नी प्लीहजन्तुविनाशिनी ॥ (रा. नि.)। 'मिश्रेया तद्गुणा प्रोक्ता विशेषाद्योनिशूलनुत्। अग्निमान्द्यहरी हृद्या बद्धविट् कृमिगुल्महृत् ॥ रूक्षोष्णा पाचनी कासवमिश्लेष्मानिलान् हरेत् ॥" (भा. प्र)।

सौंफ मधुर, तिक्त, कटु, स्निग्ध, शीतवीर्य, पाचन, मल को बांधनेवाली, हृद्य, वृष्य, बल्य तथा कफ, वात, प्लीहा के रोग, क्रिमि, अग्निमान्द्य, खाँसी, योनिशूल, अर्श, क्षय, रक्तविकार, खाँसी और वमन को दूर करनेवाली है।

नव्यमत--सौंफ में ३ प्रतिशत उड़नेवाला तैल है। सौंफ सुगन्धि, दीपन, वातहर तथा मूत्रविरजनीय है। मूत्र का दाह कम होने के लिये सौंफ देते हैं। इससे मूत्र पुष्कल आकर मूत्र का रंग स्वच्छ होता है। आँव, उलटी और अजीर्ण के जुलाब में सौंफ का उपयोग करते हैं। सूखी खाँसी और मुखरोग में सौंफ मुंह में रखकर चबाते हैं। सौंफ को रेचक औषध के साथ मिलाने से उसका पेट मे मरोड़ करने का दोष नष्ट होता है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत—सौंफ कफपाचक, कोष्ठवातहर, दीपन, मूत्रल, आर्तव को साफ लानेवाली और चक्षुष्य है। यकृत, प्लीहा और गुर्दों के अवरोध को दूर करने के लिये सौंफ देते हैं। दूध बढ़ाने के लिए इसका चूर्ण दूध के साथ देते हैं। सौंफ की जड़ कफपाचक, मूत्रजनन और आर्तवजनन है।

---

(१७५) शतपुष्पा।

नाम। (सं.) शतपुष्पा; (हि.) सोया; (बं.) शुल्फा; (म.) शेपु; (गु.) सुवा; (भा.) सोवा, सिंधी सोवा; (सि.) सूआ; (अ.) शिबित्त; (ले.) प्युसिडेनम् ग्रॅविओलेन्स (Peucedanum graveolens)।

वर्णन—सोया भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

उपयुक्त अंग-बीज और तैल। सोया का अर्क निकालकर उसका भी प्रयोग करते हैं।

गुण-कर्म—"शताह्वा कटुका तिक्ता स्निग्धोष्णा श्लेष्मवातजित् । ज्वरनेत्रगदान् हन्ति बस्तिकर्मणि शस्यते ।।" (ध. नि)। "शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः । उष्णा ज्वरानिलश्लेष्मव्रणशूलाक्षिरोगनुत् ।।" (भा. प्र.)।

सोया कटु, तिक्त, स्निग्ध, लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, दीपन पित्तकर, बस्तिकर्मोपयोगी तथा कफ, वायु, ज्वर, नेत्ररोग, शूल और व्रण को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—सोया के बीजों में ३ प्रतिशत तैल होता है। सोया दीपन, वातहर और गर्भाशयोत्तेजक है। प्रसूता स्त्री को सोया देते हैं। बच्चों के पेट के दर्द और अफारे में सोया का अर्क (Dill-water) सुधामण्ड (Lime water) के साथ देते हैं। ताजी पत्ती पीसकर व्रणशोथ पकाने के लिए लेप करते हैं। (डॉ वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत-सोया के बीज गरम और खुश्क हैं। ये पीड़ाशामक, कोष्ठवातहर, शोथपाचन, शोथविलयन, मूत्रजनन, आर्तवजनन और वामक हैं। पेट का दर्द और अफारा, पक्षाघात, अर्दित तथा संधिशूल में सोया के तैल की मालिश करते हैं और कर्णशूल में कान में डालते हैं। पीड़ायुक्त अवयव पर इसके क्वाथ का बफारा देते हैं या इसके गरम क्वाथ में कपड़ा भिगोकर उससे सेंकते हैं।

---

(१७६) श्वेतजीरक।

नाम-(सं.) जीरक, अजाजी, जरण; (क.) जुर; (पं.) जीरा सुफेद, चिट्टा जीरा; (हिं.) जीरा, सफेदजीरा; (सिंध.) जीरो अच्छो; (बं.) जीरे; (म.) जिरें; (गु.) जीरुं; (मा.) जीरो; (क.) जीरिगे; (ते.) जीलकरी; (ता.) चीरकम्; (मल.) जीरकम्; (फा.) जीरा; (अ.) कमून; (ले.) क्युमिनम् साइमिनम् (Cuminum cyminum)।

वर्णन-सफेद जीरा सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। इसको दाल-साग के मसाले में डालते हैं।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. २) शिरोविरेचनद्रव्येषु, शूलप्रशमने च महाकषाये (सू अ. ४) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे जीरकं पठ्यते। "× × अजाजी × ×। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम् ।।" (च. सू. अ. २७)। "तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम् । कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ।।" (सु. सू. अ. ४६)। "जीरकं कटुकं रूक्षं वातहृद्दीपनं परम् । गुल्माध्मानातिसारघ्नं ग्रहणीकृमिहृद्वत् परम् ।।" (ध. नि.)।

सफेद जीरा कटु, कटुविपाक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रुचिकर, दीपन, पित्त और अग्नि को बढ़ानेवाला, शिरोविरेचन, शूलप्रशमन, सुगन्धि तथा कफ, वायु, दुर्गन्ध, गुल्म, अतिसार, ग्रहणी और कृमिविकार को दूर करनेवाला है।

नव्यमत-जीरे में ४ प्रतिशत सुगन्धि तैल होता है। जीरा दीपनपाचन, कोष्ठवातप्रशमन, शीतल, मूत्रविरजनीय, वेदनास्थापन और दाहप्रशमन है। जीर्णज्वर में जीरा देने से भूख और शक्ति बढ़ती है। नवीन ज्वर में देने से शरीर और पेशाब की जलन कम होती है। जीरे के क्वाथ से शरीर धोने से कंडू कम होती है। आध्मान, उलटी, जुलाब, संग्रहणी और कुपचन में जीरा हितकर है। अर्श सूजकर पीड़ा होती हो तो जीरा और मिश्री का चूर्ण खाने को देते हैं और जीरा ठंडे जल में पीसकर उसका लेप करते हैं। सुजाक, अश्मरी और मूत्रावरोध में जीरा बड़ी मात्रा में शक्कर के साथ देते हैं। त्वग्रागों में कंडू और पीड़ा कम करने के लिये जीरे का लेप करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग—बीज। **मात्रा**--३–६ माशा।

---

(१७७) कृष्णजीरक।

नाम-(सं.) कृष्णजीरक, जरणा, कारवी, काश्मीरजीरक; (क.) कुहनज्यु (जु) र; (हिं.) स्याहजीरा; (बं.) शाजीरा; (म.) शहाजिरें; (गु) शाहजीरूं; (फा.) स्याह जीरा, जीरे किरमानी; (अ.) कमूनकिरमानी; (ले.) केरम् कार्वी (Carum carvi)।

उत्पत्तिस्थान-कश्मीर, वायव्य सीमाप्रांत, अफगानिस्तान और ईरान।
उपयुक्त अंग—बीज। **मात्रा**—१-३ माशा।

गुण-कर्म--"कारवी × × ×। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम्।" (च. सू. अ. २७)। 'कारवी कृष्णजीरकम्' इति चक्रः। "जरणा कटूष्णा च कफशोफनिकृन्तनी। रुच्या जीर्णज्वरघ्नी च चक्षुष्या ग्राहिणी परा।।" (ध. नि.)।

स्याहजीरा कटु, उष्णवीर्य, रोचन, दीपन, दुर्गन्धनाशक, ग्राही, चक्षुष्य तथा वात, कफ, शोथ, और जीर्णज्वर का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—इसमें एक उड़नेवाला तैल है। यह दीपन, स्तन्यजनन और उत्तम कोष्ठवातप्रशमन है। आध्मान, उदरशूल, शिथिलताप्रधान कुपचन और पेचिश में यह उपयुक्त औषध है। इसको जीर्णज्वर में अन्न पचने और भूख बढ़ाने के लिये देते हैं (डॉ वा. ग. देसाई)।

---

(१७८) यवानी।

नाम--(सं.) यवानी, भूतिक; (फा.) जाविन्द; (पं.) जवैण; (हिं.) अजवायन; (बं.) जोयान्; (म.) ओंवा; (गु.) अजमा; (फा., अ.) नानख्वाह; (ले.) केरम् कोप्टिकम् (Carum copticum)।

वर्णन-अजवायन सर्वत्र प्रसिद्ध है। अजवायन में उड़नेवाला तैल होता है, जो ठंडी में जम जाता है। उसको अजवायन के फूल या सत अजवायन (Thymol-थायमॉल) कहते हैं।

गुण-कर्म- चरके (सू. अ ४) शीतप्रशमने महाकषाये 'भूतीक' नाम्ना यवानी पठ्यते। "यवानी ××× हृद्यान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च" (च. सू. अ. २७)। "यवानी कटुतीक्ष्णोष्णा वातश्लेष्मद्विजामयान्। हन्ति गुल्मोदरं शूलं दीपयत्याशु चानलम्॥" (ध. नि.)। "यवानी पाचनी रुच्या तीक्ष्णोष्णा कटुका लघुः। दीपनी च तथा तिक्ता पित्तला शूलशुक्रहृत्॥ वात-श्लेष्मोदरानाहगुल्मप्लीहकृमिप्रणुत्॥" (भा. प्र.)।

अजवायन कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु, तीक्ष्ण, पाचन, दीपन, रोचक, हृद्य, पित्तकर तथा वायु, कफ, दाँत के रोग, गुल्म, उदर, शूल, प्लीहा की वृद्धि और कृमि का नाश करनेवाली है।

नव्यमत-अजवायन दीपन-पाचन, उष्ण, उत्तम वातहर, संकोचविकासप्रतिबंधक, उत्तेजक, बल्य, कोथप्रशमन, दुर्गन्धनाशक, व्रणरोपण, उत्तेजक, श्लेष्महर गर्भाशयोत्तेजक, ज्वरहर, और कृमिघ्न है। प्रसूता स्त्री को अजवायन देने से भूख लगती है, अन्न पचता है, वायु सरता है, कमर का दर्द कम होता और खून साफ गिरता है। प्रसव के बाद अजवायन की पोटली योनि में रखते हैं, जननेन्द्रिय को अजवायन के क्वाथ से धोते हैं और अजवायन की धूनी देते हैं। सूतिकाज्वर में अजवायन बहुत हितकारी हैं। शीतज्वर में अजवायन से ठंडी का जोर घटता है, ज्वर आने के बाद पसीना शीघ्र आता है और ज्वर उतरने के बाद थकावट कम मालूम होती है। फुफ्फुस के रोग में अजवायन से कफ अधिक उत्पन्न होना कम होता है, कफ ढ़ीला होकर जल्द गिरता है और घबराहट कम होती है। दमे में अजवायन का चूर्ण पानी के साथ देते हैं और उसका धूम्रपान कराते हैं। अजवायन से कफ की दुर्गन्ध और रोगजन्तु (कीटाणु) नष्ट होते हैं। उलटी; कुपचन, अजीर्ण, पेट का फूलना और दर्द तथा हैजे में अजवायन गुणकारी है। अजवायन के फूल (सत अजवायन) से पेट के वडिशाकार कृमि मरते हैं। सत अजवायन उत्तम कोथप्रशमन, जन्तुघ्न और दुर्गन्धनाशक है। कोथप्रशमन वर्ग के सब औषधों में यह उत्तम है। इससे वृक्क का दाह (शोथ) या व्रण की कोमल त्वचा को हानि नहीं होती। इससे पीप की उत्पत्ति कम होती है। सत अजवायन को

गरम जल में मिलाकर इससे व्रण धोते हैं। सत अजवायन ¼ १ रत्ती खाने को देने से आँतों में जन्तुवृद्धि नहीं होती । अजवायन को ।-॥. तोला थोड़ा सैंधव मिलाकर गरम जल से देते हैं। अजवायन का क्वाथ नहीं करना चाहिये। क्वाथ करने से इसमें स्थित उपयुक्त तैल उड़ जाता है।

कल्प-अर्क अजवायन—१।। सेर अजवायन को ४ सेर पानी में डालकर ३ सेर अर्क निकालना चाहिये। अर्कयन्त्र में अजवायन को कपड़े में पोटली बांधकर जल में डूबती रहे इस प्रकार लटका देनी चाहिये। मात्रा–२॥–५ तोला।

उपयुक्त अंग–बीज, तेल, सत्त्व और अर्क ।

---

(१७९) अजमोदा ।

नाम–(सं.) अजमोदा, दीप्यक; (हिं.) अजमोद; (बं.) बन् जोयान्, रान्धनी; (म.) अजमोदा; (गु.) अजमोद, बोडी अजमोद; (म.) अजमोदो; (सि.) बनजाण; (फा. अ.) करफसे हिंदी, तुख्म करफस; (ले.) केरम् रोक्सबर्धिएनम् (Carum roxburghianum) ।

वर्णन–अजमोद के बीज अजवायन जैसे परंतु उससे बड़े होते हैं ।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) दीपनीये; शूलप्रशमने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे अजमोदा पठ्यते । "अजमोदा तु शूलघ्नी तिक्तोष्णा कफवातजित् । हिक्काध्मानारुचीर्हन्ति कृमिजिद्वह्निदीपनी॥" (ध. नि.) "अजमोदा कटुरुष्णा रूक्षा कफवातहारिणी रुचिकृत् । शूलाध्मानारोचकजठरामयनाशिनी चैव ॥" (रा. नि.) ।

अजमोद कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, रुक्ष, रोचक, दीपन, शूलप्रशमन तथा कफ, वायु, हिचकी, आध्मान, कृमि, अरुचि और उदर के रोगों को दूर करनेवाली है।

नव्यमत––अजमोद सुगन्धि, दीपन, वातहर, उत्तेजक और गर्भाशयोत्तेजक है। इसका अजवान के जैसा उपयोग करते हैं। हिचकी, उलटी, कुपचन और मूत्राशय की पीड़ा में अजमोद देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१८०) धन्याक ।

नाम– (सं.) धान्यक, कुस्तुम्बरु; (क.) धानिवल; (पं.) धनिया, धनेल; (हिं.) धनिया; (बं.) धने; (म.) धणे; (गु.) धाणा; (मा.) धणीया, धांणा; (ले.) कोरिएन्ड्रम् सेटाइवम् (Coriandium sativum) ।

वर्णन––धनिया सर्वत्र होता है और सुप्रसिद्ध है। हरे धनिये की चटनी बनाते हैं और सूखे धनिये को मसाले में डालते हैं।

गुण-कर्म—चरके—(सू. अ. ४) तृष्णानिग्रहणे, शीतप्रशमने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) गुडूच्यादिगणे ('कुस्तुम्बरु' नाम्ना) धान्यकं पठ्यते। "भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता। आर्द्रा कुस्तुम्बरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम्॥ सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशिनी। दोषघ्नी कटुका किञ्चित्तिक्ता स्रोतोविशोधिनी॥" (सु. सू. अ. ४६)। "x x x धान्यतुम्बरु। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम्॥" (च. सू. अ. २७)। "धान्यकं कासतृड्छर्दिज्वरहृच्चक्षुषो हितम्। कषायं तिक्तमधुरं हृद्यं रोचनदीपनम्" (ध. नि.)। "धान्यकं मधुरं शीतं कषायं पित्तनाशनम्। ज्वरकासतृषाच्छर्दिकफहारी च दीपनम्॥" (रा. नि.)। "धान्यकं तुवरं स्निग्धमवृष्यं मूत्रलं लघु। तिक्तं कटुकमुष्णं च दीपनं पाचनं स्मृतम्॥ ज्वरघ्नं रोचनं ग्राहि स्वादुपाकि त्रिदोषनुत्। तृष्णादाहवमिश्वासकासार्शःकृमिप्रणुत्। आर्द्रं तु तद्गुणं स्वादु विशेषात् पित्तनाशि तत्॥" (भा. प्र.)।

धनिया कषाय, तिक्त, मधुर, कटु, मधुरविपाक, शीतवीर्य, लघु, स्निग्ध, हृद्य-स्रोतोविशोधन; रोचन, दीपन, पाचन, ग्राही, मूत्रल, तृष्णानिग्रहण, शीत-प्रशमन, त्रिदोषहर, चक्षुष्य तथा ज्वर, तृषा, दाह, कास, श्वास, वमन, आँव, अर्श और कृमि का नाश करनेवाला है। हरा धनिया भक्ष्य-भोज्य और व्यंजन में मिलाने से उसको स्वादिष्ट, सुगन्धि और हृद्य बनाता है तथा विशेष करके पित्त का शमन करता है।

नव्यमत—धनिये में उड़नेवाला सुगन्धि तैल होता है। धनिया दीपन, मधुर, शीत, कषाय, रूक्ष, मूत्रविरजनीय, पिपासाघ्न, दाहप्रशमन, वातहर और अभिष्यंदप्रशमन है। कुटे हुए धनिये पानी में उबाल, कपड़े से छानकर आँख में डालने से नेत्राभिष्यन्द में बड़ा लाभ होता है। ज्वर में धनिये के पानी (फांट या हिम) का अच्छा उपयोग होता है। पेट के दर्द में धनिये का तैल उत्तम औषध है। सिर के दर्द और भिलावे की सूजन पर हरे धनिये का लेप करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

मञ्जिष्ठादि वर्ग ४८.

N. O. Rubiaceae (रुबिएसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण सादे और अखण्डित किनारवाले; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४–५; पुंकेशर ४–५; पुष्प शाखाग्र किंवा पत्रकोण से निकलते हैं।

(१८१) मञ्जिष्ठा।

नाम–(सं.) मञ्जिष्ठा; विकसा; योजनवल्ली; (क.) मजेठ, (पं., (हिं., गु.) मंजीठ; (म.) मंजिष्ठा; (बं.) मंजिष्ठा; (सिंध.) मैठ; (फा.) रूनास, रोदक; (अ) फुव्व, फुव्वतुस्सबग; (ले.) रुबिआ कोर्डिफोलिआ (Rubia cordifolia)।

वर्णन–मजीठ की आरोहिणी लता पहाड़ी प्रदेशों में होती है। बाजार में इस लता के मूल मजीठ के नाम से मिलते हैं। मूल का उपयोग औषधार्थ और लाल रंग बनाने के लिये होता है।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. ४) वर्ण्ये, विषघ्ने, ज्वरहरे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) प्रियङ्ग्वादिगणे ('योजनवल्ली' नाम्ना), पित्तसंशमने च गणे (सु. अ. ३९) मञ्जिष्ठा पठ्यते। "मञ्जिष्ठा मधुरा स्वादे कषायोष्णा गुरुस्तथा। कफोग्रव्रणमेहास्रविषनेत्रामयाञ्जयेत्॥" (ध. नि.)। "मञ्जिष्ठा तुवरा तिक्ता वीर्योष्णा मधुरा गुरुः। कर्णाक्षियोनिरोगघ्नी कफशोषविषापहा। विसर्पमेहकुष्ठार्शोव्रणरक्तातिसारजित्॥" (कै. नि.)।

मजीठ कषाय, मधुर, तिक्त, गुरु, उष्णवीर्य, वर्ण्य, विषघ्न, ज्वरहर, पित्तसंशमन तथा कफ, व्रण, प्रमेह, रक्तविकार, नेत्ररोग, कान के रोग, योनिरोग, शोष, विसर्प, कुष्ठ, अर्श और रक्तातिसार को दूर करनेवाली है।

नव्यमत-मजीठ स्तंभन, पौष्टिक, आर्तवजनन, गर्भाशयोत्तेजक, त्वग्दोषहर, शोथघ्न और व्रणरोपण है। इसकी क्रिया मस्तिष्क और नाड़ियों पर होती है। अल्प प्रमाण में देने से इन इन्द्रियों को शांतता मिलती है; परंतु बड़े प्रमाण में देने से थोड़ा कैफ–नशा चढ़कर भ्रम उत्पन्न होता है। इससे गर्भाशय का संकोचन होता है गर्भाशय की पीड़ा कम होती है और आर्तव जारी होता है। यह क्रिया खुद गर्भाशय की पेशी पर और नाड़ियों द्वारा होती है। इससे त्वचा का रक्ताभिसरण बढ़कर त्वचा की जीवनविनिमय क्रिया सुधरती है। मजीठ से मूत्र और स्तन्य लाल होते हैं। मजीठ का क्वाथ प्रसूतावस्था में रक्त साफ गिरने के लिये देते हैं। इसके साथ गर्भाशय पर कार्य करनेवाले कीड़ामारी, कपास के मूल की छाल, भांग, पीपलामूल आदि अन्य औषध भी मिलाये जाते हैं। सूतिकाज्वर में मजीठ के साथ मूत्रजनन और स्वेदजनन औषध मिलाने चाहियें। (डॉ. वा. ग. देसाई)

(१८२) क्षेत्रपर्पट।

नाम–(सं.) पर्पट; (बं.) खेतपापड़ा, (म.) परिपाठ (ले.) ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा (Oldenlandia corymbosa)।

वर्णन—इसका १–१॥ फुट ऊँचा क्षुप वर्षा में होता है। बंगाल के वैद्य 'पर्पट' के नाम से इसका व्यवहार करते हैं।

गुण–कर्म–

नव्यमत—क्षेत्रपर्पट की राख में जौखार, सज्जीखार और थोड़ासा चूना होता है। ये द्रव्य मुख्यतः लवणाम्ल से मिले हुए होते हैं। क्षेत्रपर्पट शीतल, ज्वरघ्न, दाहशामक, कफघ्न, कटुपौष्टिक और थोड़ासा स्तम्भन है। पित्त और वातप्रधान ज्वर में क्षेत्रपर्पट देने से पसीना आता है, शरीर का दाह कम होता है, तृषा शांत होती है, पेशाब आती है और घबराहट कम होती है। पित्तज्वर में क्षेत्रपर्पट के साथ पित्तपापड़ा देते हैं। संततज्वर में रोगी को उलटी और जुलाब होते हों तो क्षेत्रपर्पट, हंसराज, ब्राह्मी, चंदन, खस, नागरमोथा, गिलोय और हरी चाय (lemom grass) का क्वाथ बनाकर देते हैं। रोमान्तिका (measles) में क्षेत्रपर्पट को महाराष्ट्र के वैद्य बिश्वसनीय औषध समझते हैं। क्षेत्रपर्पट, गिलोय, नागरमोथा, चिरायता और बच–इनका पंचभद्र क्वाथ सब ज्वरों पर चलता है। क्षेत्रपर्पट पेट में देने से त्वचा का दाह कम होता है। क्षेत्रपर्पट और चंदन का लेप करने से शरीर की जलन कम होती है। गले और श्वासनलिका की सूजन में क्षेत्रपर्पट का धूम्रपान करने से कफ ढीला होकर शीघ्र गिरने लगता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१८३) मदनफल।

नाम––(सं.) मदन, करहाट, राढ, पिण्डीतक फल; (पं.) मेणफल; (हिं.) मैनफल; (म.) गेळफळ; (गु.) मींढोल, मींढल; (बं.) मयनाफल; (ते.) मंग, भ्रंग; (ना.) मारुकारै, मरुक्काळम्; (म.) करळिक्काय: (अ.) जौजुल् कै; (ले.) रेन्डिआ डयुमिटोरम् (Randia dumetorum)।

वर्णन––मेनफल का कांटेदार गुल्म पहाडी प्रदेश में होता है। पत्र हरे, ममृण, छोटे–बडे; पुष्प हरे, पीले या श्वेत; फल अमरूद के आकार के पीले या ललाई लिये हुए भूरे रंग के; फल तोडने पर काले रंग के बीजों का पिंडसा निकलता है। इसे मदनफलपिप्पली कहते हैं। औषध के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

गुण-कर्म––चरके (सू. अ. १) एकोनविंशतिफलिनीषु, वमनद्रव्येषु (सू. अ. २) च मदनफलं पठ्यते। "मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्।" (च. सू. अ. २५)। "वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षतेऽनपायित्वात्।" (च. क. अ. १)। "× × मदनं सर्वगदाविरोधि च। मधुरं सकषायतिक्तकं तवरूक्षं सकटूष्णविज्जलम्। कफपित्तहृदाशुकारि

चाप्यनपायं पवनानुलोमि च ।।" (च. क. अ. ११) । सुश्रुते (सू.अ. ३८) आरग्वधादौ, मुस्तकादौ च गणे तथा (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे गणे मदनफलं पठ्यते । 'मदनो मधुरस्तिक्तो वीर्योष्णो लेखनोषणः । रूक्षो लघुःप्रतिश्याय-ज्वरविद्रधिकुष्ठहा । गुल्मशोफकफानाहव्रणहृद्वमनाग्रणिः ।।" (कै नि.) ।

मैनफल मधुर, तिक्त, कटु, उष्णवीर्य, अरूक्ष, लघु, लेखन, वमनद्रव्यों में श्रेष्ठ, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग, वातानुलोमन तथा कफ, पित्त, प्रतिश्याय, ज्वर, विद्रधि, कुष्ठ, गुल्म, शोथ, आनाह और व्रण का नाश करनेवाला है ।

नव्यमत—मैनफल के गर्भ में १/३ साबुन होता है । एक फल में लगभग २ रत्ती साबुन होता है । मैनफल के बीज और फल के इतर भाग के गुणों में अन्तर है । बीज वामक तथा कफघ्न हैं; गर्भ तथा त्वचा की क्रिया आमाशय और पक्वाशय पर होती है । इससे रक्त और पूयमिश्रित कफ तथा उस भाग की पीड़ा कम होती है । समग्र फल कफघ्न है । मैनफल उत्तम वामक है । १ फल का चूर्ण २.। तोले जल में एक घंटा भिगो, पत्थर के खरल में घोंट, कपड़े से छान, उसमें शहद और सैंधव मिलाकर खाली पेट पिलाने से एक घंटे में एक दो अच्छे वमन हो जाते हैं । कभी-कभी उलटी के बाद जुलाब भी होते हैं । तीव्र रक्तयुक्त आंव (प्रवाहिका) में मैनफल से अच्छा गुण आता है । एक फल के कवच का चूर्ण कर, उसके ३ भाग कर के दिन में तीन बार देना चाहिये । आंव में भीतर के बीज नहीं देना चाहिये । (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(१८४) नाडीहिङ्गु ।

नाम--(सं.) नाडीहिङ्गु, हिङ्गुशिवाटिका; (हिं.) डिकामाली; (म.) डिकेमाली; (गु.) डीकामारी, मालण, मालडी; (ले.) गार्डेनिआ गमिफेरा (Gardenia gummifera) ।

वर्णन-- नाड़ीहिङ्गु के वृक्ष पहाड़ी प्रदेशों में होते हैं । पान अमरूद जैसे होते हैं । शाखाओं के अग्रभाग पर हरे-पीले रंग का गोंद निकलकर जमता है, उसको नाडीहिङ्गु (डीकामाली) कहते हैं ।

गुण-कर्म—"नाडीहिङ्गु कटूष्णं च कफवातार्तिशान्तिकृत् । विष्ठाविबन्ध-दोषघ्नमानाहामयहारि च ।।" (रा. नि.) ।

डिकामाली कटु, उष्णवीर्य तथा कफ, वात, मल का विष्टम्भ और आध्मान को दूर करनेवाली है ।

नव्यमत—डिकामाली, संकोचविकासप्रतिबंधक, कोष्ठवातप्रशमन, कृमिघ्न विषमज्वरघ्न, स्वेदजनन, श्लेष्मनिस्सारक और त्वग्दोषहर है । मात्रा—१/२—२ रत्ती डिकामाली शीतज्वर में इतर सहायक औषधों के साथ शीत और कंप कम करने के लिये

देते हैं। आँतों के रोगों में डिकामाली देने से वायु सरता है, पीड़ा कम होती है और कृमि नष्ट होते हैं। गोल कृमि (केंचुवे) मारने के लिये यह उत्तम औषध है। कुपचन और पेट के आध्मान में इसको तिक्त और सुगन्धि द्रव्यों के साथ देते हैं। बच्चों को दाँत आते समय ज्वर आकर दस्त और उलटी होती हैं ऐसी स्थिति में डिकामाली से बहुत लाभ होता है। जीर्णत्वग्रोगों में डिकामाली देते है। इसे व्रण पर लगाने से मक्खियाँ नहीं बैठतीं और व्रण शीघ्र भर आता है। नारू में डिकामाली ५ रत्ती खाने को देते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१८५) कॉफी।

नाम–(म., गु.) बुंद, बुंददाणा; (फा., अ.) कहवा, बुन्न; (ले.) कॉफिया अरेबिका (Coffea arabica)।

वर्णन–कॉफी का मूल जन्मस्थान अरबस्तान है। परंतु अब दक्षिण भारत में कॉफी प्रचुर प्रमाण में उत्पन्न होती है। बीजों को थोड़ा घी लगा, सेंक, चूर्ण कर, दूध, जल और शक्कर के साथ फांट बनाकर पीते हैं।

गुण-कर्म-नव्यमत—बीजों में एक सुगन्धि उड़नेवाला द्रव्य, थोड़ा तैल और एक स्फटिकमय द्रव्य (कॅफीन) मिलता है। कॉफी की पत्तियाँ ज्वरघ्न हैं। बीज हृदयबल्य, हृदयोत्तेजक, नाड्युत्तेजक, मूत्रजनन और जीवनविनिमयक्रिया को सुधारने वाले हैं। पाव से आधा तोला पत्तियों का क्वाथ देने से ज्वर और ज्वर से उत्पन्न शिथिलता कम होती है। दूध, जल और चीनी के साथ बनाया हुआ फांट नाड़ी की शिथिलता में देते हैं। इससे नाड़ी स्वाभाविक जोर और स्थिरता से चलती है; यह फांट उत्तम हृदयबल्य और हृदयोत्तेजक है। हृदय पर इसकी क्रिया प्रत्यक्ष हृदयपेशी पर और नाड़ियोंद्वारा होती है। ज्वर में या अन्य किसी कारण से हृदय में शिथिलता आई हो तब इसे देते हैं। हृत्पटल के रोग से जब उदररोग हुआ हो तब हृदय को शक्ति देने के लिये इसे देते हैं। यह मूत्रजनन भी है इसलिये इससे हृदयोदर से शरीर में संचित विष मूत्रद्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं। हृदयोदर में कॉफी के साथ मूत्रल और आनुलोमिक द्रव्य देते हैं और ज्वर से हृदय में शिथिलता आई हो तब इसके साथ कुचला और डिजिटेलिस जैसे द्रव्य देते हैं। (डॉ. वा ग. देसाई)।

---

(१८६) सिकोना।

नाम––(अं) रेडबार्क् (Red bark); (ले.) सिकोना सक्सिरुब्रा (Cinchona succirubra)।

गुण-कर्म-सिकोना की छाल में राल, एक कषायधर्मी अम्ल द्रव्य, कुनैन (Quinine) और दूसरे कुछ कुनैन से कम दर्जे के सत्त्व पाये जाते हैं। सिकोना की छाल कटुपौष्टिक, स्तम्भन, ज्वरघ्न और नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक है। कुनैन कटुपौष्टिक, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक, ज्वरघ्न, वेदनास्थापन और गर्भाशयोत्तेजक है। मात्रा-छाल का चूर्ण १०-३० गुंजा; कुनैन १-५ गुंजा; मद्य, दूध, कॉफी किंवा द्राक्षासव के साथ देते हैं। सिकोना की छाल अल्प प्रमाण में देने से भूख बढ़ती है, पेशी और नाड़ियों की शक्ति बढ़ती है, रक्तवृद्धि होती है और शरीर पुष्ट होता है। शरीर में अशक्ति आने से कभी-कभी पसीना आते रहता है वह इससे बंद होता है। कुपचन, संग्रहणी, आँव और अतिसार में यह प्रशस्त औषध है। इसके साथ शंखद्राव किंवा गन्धकाम्ल देते हैं। इससे पचननलिका की शिथिलता दूर होकर उसको शक्ति मिलती है। कफरोग में जब कफ पुष्कल और पूय सरीखा आता हो तब सिकोना का फांट अनुपानरूप में देना चाहिये। बारी से आनेवाले विषमज्वर में यह उत्तम औषध है। ज्वर उतरने के बाद और ज्वर की हालत में भी इसे दे सकते हैं। इसका ज्वरघ्न गुण वहुत जोरदार है। विषमज्वर में देने के जितने औद्भिज्ज औषध हैं उनमें सिकोना श्रेष्ठ है। कुनैन से आमाशय की पचनक्रिया बिगड़ती है। मात्र यह अल्पमात्रा में (१ ग्रेन) देना चाहिये। बड़ी मात्रा में देने से पचनक्रिया बिगड़ती है। सर्व ज्वरघ्न औषधों में कुनैन श्रेष्ठ है। इसके देने के पहले रोगी को हलका जुलाब देना चाहिये और साथ में यकृदुत्तेजक द्रव्य देना चाहिये। विषमज्वर में अम्ल द्रव्यों के साथ मिलाकर प्रवाहीरूप में देना अच्छा है। बारी से आनेवाले रोगों में इससे लाभ होता है।

कल्प-फाण्ट-सिकोना का कपड़छान चूर्ण २॥ तोला, खट्टे नीबू का रस १। तोला, सोंठ का चूर्ण ९ माशा, दालचीनी चूर्ण ९ माशा, सबको मिट्टी के पात्र में उबलते हुए ५० तोला जल में डाल, पात्र को ढककर २ घंटे रहने दें। बाद में कपड़े से छानकर काच को शीशी में भर, डाट लगाकर रख दें। मात्रा २॥-५ तोला दिन में ३-४ बार दें। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

मांस्यादि वर्ग ४९.

N. O. Valerianaceae (वॅलेरेनेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विवीजपर्ण; विभक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पर्ण अभिमुख, उपपत्ररहित; शाखा के अग्र पर फूल के गुच्छे आते हैं।

---

(१८७) जटामांसी।

नाम-(सं.) जटामांसी; मांसी, जटिला, नलदा; (क.) भूतजटा; (पं, हिं.) बालछड़, जटामांसी; (म., गु.) जटामांसी; (अ.) संबुल-

तिब, सुंबुले हिंदी; (फा.) नारदींहिंदी; (ले.) नार्डोस्टेकिस जटामान्सी (Nardostachys jatamansi)।

वर्णन—जटामांसी का १–२ हाथ ऊँचा क्षुप हिमालय के कश्मीर, नेपाल आदि प्रदेशों में ६०००–१२००० फुट की ऊँचाई पर होता है। बाजार में जटामांसी के नाम से जो द्रव्य मिलता है वह इसका भूमिगत काण्ड है। इस काण्ड पर जंगली सूअर के रोम जैसे पर्णवृन्त और मूल के अवशेष लगे हुए होते हैं। मूल में सुगन्ध होती है।

गुण–कर्म–**चरके (सू. अ. ४) संज्ञास्थापने महाकषाये ('जटिल' नाम्ना) जटामांसी पठ्यते। "सुरभिस्तु जटामांसी कषाया कटुशीतला, कफहृद्भूतदाहघ्नी पित्तघ्नी मोदकान्तिकृत्॥" (रा. नि.)। 'मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा। स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत्॥ (भा. प्र.)।**

जटामांसी मधुर, कषाय, कटु, शीतवीर्य, संज्ञास्थापन, मेध्य, कान्ति-बल और आमोद देनेवाली तथा कफ, पित्त, भूत, दाह, त्रिदोष, रक्तविकार, विसर्प और कुष्ठ को दूर करनेवाली है।

नव्यमत--जटामांसी में एक काला राल जैसा पदार्थ ६, भीमसेनी कपूर जैसा कपूर और गोंद ९, तगर जैसी सुगंधवाला अम्लद्रव्य और जलविलेय पदार्थ १२ तथा उड़नेवाला तैल ¼ प्रतिशत होता है। यह उड़नेवाला तैल जटामांसी के अंदर का मुख्यसत्त्व है। यह कुछ हरापन लिये हुए फीके पीले रंग का, जल से हलका, हवा में जमनेवाला, कपूर के समान गंधवाला तथा रस में तिक्त और कटु होता है। जटामांसी तिक्त, कटु, सुगन्धि, कषाय, शीतल, वातहर, संकोच विकास प्रतिबन्धक, हृदयवल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, त्वग्दोषहर ज्वरहर, वेदनास्थापन, कफघ्न, केशवर्धक, कान्तिवर्धक और मोदकर है। इससे भूख बढ़ती है, अन्न अच्छा हजम होता है परंतु कब्ज नहीं होता, पेट में गरमी मालूम होती है, डकार आती है, सब शरीर गरम होता है, पसीना आता है, पेशाब छुटती है, और नाडी सुधरती है। बडी मात्रा में देने से उलटी, पेट में मरोड़ और जुलाब होते हैं। मस्तिष्क और नाड़ियों पर इसकी पौष्टिक और उत्तेजक क्रिया होती है। छोटी मात्रा में अधिक दिन लेते रहने से मन शांत होता है, काम करने का उत्साह मालूम होता है और नाडी का जोर बढ़ता है। अतिशय मानसिक परिश्रम अथवा चिन्ता से जब मन अस्थिर होता है, थकावट मालूम होती है और नाड़ी त्वरित चलती है, उस हालत में जटामांसी से लाभ होता है। सिर के दर्द में जटामांसी उत्कृष्ठ औषध है। मस्तिष्क और नाड़ियों के रोगों में उपयुक्त की जानेवाली कस्तूरी, हींग आदि औषधों की अपेक्षया जटामांसी शीघ्र और जोरदार काम करती है। भूतावेश जैसी चेष्टाओं में जटामांसी, ब्राह्मी का स्वरस, बच और शहद मिलाकर देते हैं। रक्ताभिसरण ठीक न होता हो तब जटामांसी बहुत उपयुक्त औषध है। मस्तिष्क का रक्ताभिसरण अधिक होने पर मस्तिष्क में रक्त का भराव सा

मालूम होता है तथा अन्य कुछ खास लक्षण होते हैं और रक्ताभिसरण कम होने पर चक्कर आना, मूर्च्छा होना, कम सुनना, आँखों के सामने अंधेरा मालूम होना, आदि लक्षण होते हैं। ऐसी हालत में जटामांसी से मस्तिष्क का रक्ताभिसरण सम होता है। हृदय की शिथिलता, धड़कन और हृदय के कुछ रोगों में पेट में वायु का संचय होता है। ऐसी स्थिति में इतर सुगन्धि द्रव्यों के साथ जटामांसी देते हैं। जटामांसी की रक्ताभिसरण के ऊपर की यह क्रिया खुद हृदय पर, रक्तवाहिनियों पर, नाड़ियों पर और रक्ताभिसरण के केन्द्रों पर होती है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोच होता है इसलिये रक्तपित्त, विसर्प और रक्तस्राव में जटामांसी से गुण होता है। आध्मान, उदरशूल, कुपचन आदि पचननलिका के रोगों में जटामांसी, नौसादर और सुगन्धि द्रव्यों के साथ देते हैं। इससे पित्त का स्राव ठीक होता है और पचनक्रिया सुधरती है। ज्वर में या शोथज्वर में जब त्रिदोष बढ़कर रोगी थकता है और त्रिदोष के लक्षण दिखने लगते हैं तब जटामांसी देने से रक्ताभिसरण सुधरता है, नाडीव्यूह को शक्ति मिलती है, कंठ और श्वासनलिका के अंदर का कफ छुटता है, शरीर का दाह कम होता है और शोथ भी कम होता है। जटामांसी का व्रण पर लेप करने से दाह और पीड़ा कम होती है। पीडितार्तव में जटामांसी से पीड़ा कम होती है और आर्तव ठीक आने लगता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१८८) तगर।

नाम–(सं.) तगर, नत, वक्र; (क.) मुष्कबाला; (पं.) सुगन्धबाला; (म.) तगरमूल; (गु.) तगरगंठोडा; (फा.) असारून; (लै.) वेलेरिआना वॅलिचिआई (Valeriana wallichii)।

वर्णन--तगर हिमालय के कश्मीर, गढ़वाल, कुमाऊं, नेपाल आदि प्रदेशों में ५०००–१०००० फुट की ऊँचाई पर होता है। बाजार में तगरमूल के १–१॥ इंच लंबे, अंगुली जितने मोटे, भंगुर, टेढे और उग्र गंधवाले टुकड़े मिलते हैं। तगर के नाम से कहीं–कहीं श्यामवर्ण की चंदन जैसी वजनदार लकड़ी बिकती है, वह तगर नहीं परंतु कालानुसार्य है। 'तगर' नाम का श्वेतपुष्पोंवाला एक छोटा वृक्ष होता है, वह भी असली तगर नहीं है।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. ४) शीतप्रशमने महाकषाये, तिक्तस्कन्धे च तथा सुश्रुते (सू. अ ३८) एलादिगणे तगरं पठ्यते। "तगरं स्यात् कषायोष्णं स्निग्धं दोषत्रयप्रणुत्। वृश्चिकविषदोषघ्नं भूतापस्मारनाशनम्॥" (ध. नि.)। "तगरं कटुकं तिक्तं कटुपाकं सरं लघु। स्निग्धोष्णं तुवरं भूतमदापस्मारनाशनम्॥ विषचक्षुःशिरोरोगरक्तदोषत्रयापहम्।" (कै. नि.)।

तगर कटु, तिक्त, कषाय, कटुविपाक, उष्णवीर्य, लघु, स्निग्ध, शीतप्रशमन तथा संनिपात, नेत्ररोग, शिरोरोग, विष, रक्तविकार भूतावेश और अपस्मार को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—तगर में एक उड़नेवाला तैल, दुर्गन्धयुक्त अम्लद्रव्य, राल और मधुर पदार्थ होता है। तगर वातहर, संकोच विकासप्रतिबन्धक, रक्ताभिसरण और नाडीतन्त्र के लिए उत्तेजक, पौष्टिक, चेतनाकारक, वेदनास्थापन और व्रणरोपण है। अधिक मात्रा में देने से चक्कर आते हैं, हिचकी आती है और उलटियां होती हैं। इसके फांट से हृदय की शक्ति और नाड़ी की गति बढ़ती है; परंतु अधिक मात्रा में देने से नाड़ी की गति और रक्ताभिसरण का जोर घटता है। इससे शरीर में गरमी आने जैसा मालूम होता है और पीछे पसीना छूटता है। तगर की क्रिया रक्ताभिसरण और दोनों प्रकार की (संज्ञावह और चेष्टावह) नाड़ियों पर होती है। इससे संज्ञावह नाड़ियों के प्रांतों की स्पर्शग्राहिता कम होती और उनमें शून्यता आती हैं; इसलिये इसमें वेदनास्थापन धर्म है। तगर के फांट का जखम, दुखदायक व्रण, अस्थिभग्न (काण्डभग्न) और तीव्र आमवात में सूजी हुई संधि की पीड़ा कम करने के लिये उपयोग करते हैं। अधिक दिन ज्वर रहने से हृदय और सर्व शरीर में शिथिलता आती है और वात-पित्त-कफ तीनों दोषों का प्रकोप होता है। ऐसे समय में तगर उत्तेजक और चेतना-कारक होता है। इससे प्रलाप और अस्वस्थता कम होकर नाड़ी सुधरती है। कुकर खांसी और श्वासनलिका के संकोचविकास से उत्पन्न श्वास में तगर का अच्छा उपयोग होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

भृंगराजादि वर्ग ५०.

N. O. Compositae (कोम्पोझिटि)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; अधःस्थगर्भाशय; पर्णक्रम एकान्तर, क्वचित् अभिमुख; पर्ण उपपत्ररहित; कुसुमोच्चय स्तबकाकार (जैसे सूरजमुखी में), कंदुकाकार (जैसे गोरखमुंडी में) या प्याली के आकार का (जैसे गेंदा में) होता है। पंखड़ियां ४-५; पुंकेशर ४-५—; स्त्रीकेशर १; फल शुष्क और अविदारि; बीज लंबे और पतली त्वचावाले होते हैं।

(१८९) भृङ्गराज।

नाम—(सं.) भृङ्गराज, मार्कव; (क.) भांगर, जाडववर; (पं; हिं.) भंगरा; (म.) माका; (गु.) भांगरो; (मा.) जलभांगरो; (बं.) भीमराज; (सिंध.) भंगिरो; (ले.) एक्लिप्टा आल्बा, वेडिलिआ केलेन्डयुलेसिआ (Eclipta alba, Wedelia calendulacea)।

वर्णन—भंगरे का छोटा क्षुप वर्षाऋतु में सर्वत्र होता है। पानीवाली जमीन में बारहों मास रहता है। इसमें दो जातियाँ होती हैं-(१) श्वेतपुष्पवाला और (२) पीतपुष्पवाला।

उपयुक्त अंग--स्वरस या छायाशुष्क पंचांग।

गुण-कर्म--"मार्कवः कटुकस्तिक्तो रूक्षोष्णोऽक्षिशिरोतिनुत्। कफवातहरो दन्त्यस्त्वच्यः केश्यो रसायनः।। हन्ति कासकृमिश्वासकुष्ठशोफामपाण्डुताः।" (कै. नि)। "ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरजःसमुत्थम्।। क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः समाः शतं जीवितमाप्नुवन्ति।।" (वा. उ.अ. ३९)

भंगरा कटु, तिक्त, रूक्ष, उष्णवीर्य, रसायन, दांत, त्वचा और केश को हितकर तथा कफ, वात, खांसी, कृमि, श्वास, कुष्ठ, शोथ, आम और पांडु रोग का नाश करनेवाला है। जो मनुष्य केवल दूध पर रहकर एकमास भंगरे का रस पीते हैं वे बल और वीर्ययुक्त होकर सौ वर्ष जीते हैं।

नव्यमत—भंगरे में एक जाति की राल और सुगंधि तिक्त द्रव्य है। भंगरे को उबालने से इसका गुण नष्ट होता है, अतः इसके स्वरस का प्रयोग करना चाहिये। भंगरा तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, वातहर, अनुलोमन, मूत्रजनन, बल्य, वातहर, त्वग्दोषहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण और वर्ण्य है। इसकी मुख्य क्रिया यकृत पर होती है। इससे यकृत् की विनिमयक्रिया सुधरती है, पित्तस्राव ठीक होता है, आमाशय और पक्वाशय की पचनक्रिया सुधरती है और इन तीन मुख्य स्थानों की क्रिया सुधरने से सर्व शरीर में शक्ति मालूम होती है। भंगरे का रस यकृत् की क्रिया बिगडी हो तब देते हैं। यकृत् की क्रिया सुधरने से कामला, यकृद्वृद्धि, प्लीहावृद्धि, अर्श, उदर और कुपचन ये रोग अच्छे होते हैं। यकृत् की क्रिया बिगड़ने से एक प्रकार का शारीरिक विष, जिसको आयुर्वेद में 'आम' कहते हैं। शरीर में जमता है और उससे आमवात, चक्कर आना, सिर का दर्द, दृष्टिमान्द्य और नानाप्रकार के त्वग्रोग उत्पन्न होते हैं उनमें भंगरा देने से अच्छा लाभ होता है। अग्निदग्ध व्रण पर भंगरा, मरवा और मेंहदी की ताजी पत्तियाँ पीसकर लेप करने से जलन नष्ट होती है और जो नई त्वचा आती है वह शरीर के समान रंग की आती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१९०) अरण्यजीरक।

नाम—(सं.) अरण्यजीरक, वनजीरक; (हिं.) काली जीरी; (म.) कडूजिरें; (गु.) काळी जीरी कडवी जीरी; (ले.) सेन्ट्रेथेरम् एन्थेल्मिन्टिकम (Centratherum anthelminticum)।

वर्णन–अरण्यजीरक के क्षुप ३–५ फुट ऊँचे होते हैं। पर्ण शल्याकृति, कंगरीदार; फूल फीके जामुनी रंग के; फल लंबे और श्यामवर्ण; बीज का स्वाद कडुआ होता है। उपकुञ्चिका (मंगरेला) को काला जीरा और अरण्यजीरक को काली जीरी कहते हैं। दोनों भिन्न द्रव्य हैं।

उपयुक्त अंग–फल (बीज)।

गुण-कर्म–"वनजीरकः कटुः शीतो व्रणहा कृमिनाशनः।" (ध. नि)।

काली जीरी तिक्त, शीतवीर्य तथा व्रण और कृमि का नाश करनेवाली है।

नव्यमत––काली जीरी तिक्त, दीपन, वातहर, कटुपौष्टिक, कृमिघ्न, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, स्तन्यजनन, त्वग्दोषहर और कडूघ्न है। काली जीरी कृमि मारने के लिये बच्चों को ५–१० रत्ती और प्रौढ मनुष्य को ६ माशा देकर ऊपर से विरेचन देते हैं। पेट की वायु और पेट फूलने पर इसे १॥–३ माशे की मात्रा में सुगंधित द्रव्यों के साथ देते हैं। जीर्णज्वर में इससे इच्छा लाभ होता है। प्रसूतावस्था में यह सर्व प्रकार से उपयोगी है; इससे दूध बढ़ता है। त्वचा के रोगों में कंडू शम करने के लिये यह उत्तम औषध है। इसको नींबू के रस में पीसकर लेप करने से जूं मरती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

काली जीरी का लेप शोथविलयन है।

---

(१९१) कुष्ठ।

नाम–(सं.) कुष्ठ, गद, वाप्य, पाकल, काश्मीरज; (पं., हिं., क.) कुठ, कुट; (गु.) कठ, उपलेट; (फा.) कुस्त इ-तल्ख; (ले.) सोसुरिआ लपा (Saussurea lappa)।

उत्पत्तिस्थान–हिमालय के काश्मीर, कांगड़ा आदि प्रदेशों में ७–१२ हजार फुट की ऊँचाई पर कुष्ठ होता है।

वर्णन–कुष्ठ के सुगन्धि मूल बाजार में मिलते हैं। मूल लगभग ३ इंच लंबे, ॥–१ इंच मोटे, जरा टेढ़े, एक बाजू पर फटे हुए, भंगुर, तोडने पर भीतर से श्वेताभ और गाजर के आकार के होते हैं।

उपयुक्त अंग– मूल। मात्रा २–१० रत्ती।

गुण-कर्म–चरके (सु. अ. ४) लेखनीये, शुक्रशोधने, आस्थापनोपगे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) एलादिगणे कुष्ठं पठ्यते। "कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपयोगिनाम्।" (च. सू. अ. २५)। "कुष्ठं कटूष्णं तिक्तं स्यात् कफमारुतकुष्ठजित्। बिसर्पविषकण्डूतिखर्जूदद्रुघ्नकान्तिकृत्॥" (रा. नि)। "कुष्ठं तिक्तं

कटु स्वादु लघूष्णं शुक्लं जयेत् । वातास्रविषवीसर्पकुष्ठकासकफानिलान् ॥" (कै. नि.) । 'कुष्ठं वातकफश्वासकासहिक्काज्वरापहम् ।" (रा. व नि.) ।

कुष्ठ तिक्त, कटु, मधुर, लघु, उष्णवीर्य, लेखन, शुक्रशोधन, शुक्रल, आस्थापनोपग, वातहराभ्यङ्गोपयोगी तथा वात, कफ, कुष्ठ, विसर्प, विष, कंडू, दाह, वातरक्त, खाँसी, श्वास, हिक्का और ज्वर को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत–कुष्ठ को जलाने से ३॥ प्रतिशत राख मिलती है । उसमें पुष्कल मॅगेनीझ होता है । कुष्ठ सुगन्धि, तिक्त, दीपन, पाचन, वातहर, कुछ संग्राहक उत्तेजक, कफघ्न, संकोचविकासप्रतिबन्धक, कुछ मूत्रजनन, आर्तवजनक, आर्तवशूलप्रशमन, वाजीकर, त्वग्दोषहर, कान्तिकर, व्रणरोपण, व्रणशोधन और वेदनास्थापन है । त्वग्रोगों में इसको खाने को देते है और इसका लेप करते हैं। इससे त्वचा का रुधिराभिसरण और विनिमयक्रिया सुधरती है । काँजी के साथ पीसकर लेप करने से सिर का दर्द बंद होता है । दाँत ढीले होने से मसूड़े दुखते है तब कुष्ठ का चूर्ण मसूड़ों पर मलने से मसूड़े शुद्ध होकर पीड़ा शांत होती है । व्रण पर लेप करने से व्रणजन्तु मरते हैं, व्रण की शुद्धि होती है और वह शीघ्र भर आता है । व्रण को कुष्ठ की धूनी भी देते हैं । आमवात मे कुष्ठ का चूर्ण एरण्डतैल में मिलाकर खाने को देते हैं और सूजे हुए जोड़ पर उसका लेप भी करते हैं । कुष्ठ उत्तेजक और स्वेदजनन है इसलिये ज्वर में देते हैं । स्वेदजनन औषध प्राय: थकावट लाने वाले होते हैं, परंतु यह उत्तेजक और चेतनाकारक है । ज्वर में इससे थोड़ी पेशाब भी अधिक आती है । यह उत्तेजक कफघ्न है इसलिये खाँसी में जब कफ अधिक आता हो तब देते हैं । इससे ज्वर उतरता है, खाँसने की शक्ति बढ़ती है, कफ पड़ने लगता है और खाँसी का जोर कम होता है । कुकुर खाँसी और दमे में इसका संकोचविकासप्रतिबन्धक गुण उपयोगी होता है । जननेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय पर इसकी उत्तेजक क्रिया होती है । इससे दूध बढ़ता है । प्रसूतावस्था में कुष्ठ देते हैं और प्रसूतिगृह में कुष्ठ का धूप करते हैं । इससे ऋतु साफ होता है और ऋतुसमय में होनेवाली पीड़ा कम होती है; इसलिये अनार्तव और पीडितार्तव में कुष्ठ देते हैं । अपचन, कुपचन, उदरशूल, आध्मान, अतिसार और हैजे में इससे अच्छा लाभ होता है । महामारी मे इसके फांट से शरीर में उष्णता आती है और नाड़ी सुधरतीहै । हृदयोदर और जलोदर में इससे पचन सुधरता है, पेशाब के मार्ग से पेट का जल निकलता है और शरीर में उत्तेजना आती है । उन्माद, सन्यास, भूतोन्माद, अपस्मार, आदि रोगों मे यह गुणकारी है। (डॉ वा. ग. देसाई) ।

(१९२) दमनक।

नाम–(सं.) दमनक; (हिं.) दवना, दौना; (म.) दवणा; (गु.) डमरो; (बं.) दोना; (ले.) आर्टिमिसिआ सिवर्सिआना (Artemisia sieversiana)।

वर्णन--दौने का १–१।। फुट उंचा क्षुप होता है। वर्ण पांडुर, स्वाद तिक्त, पत्र और पुष्प सुगन्धयुक्त होते हैं।

उपयुक्त अंग--पंचांग, पत्र और पुष्प।

गुण-कर्म--"दमनः स्याद्रसे तिक्तो विषघ्नो भूतदोषनुत्। त्रिदोषशमनो हृद्यः कण्डूकुष्ठापहः स्मृतः॥" (ध. नि.)। "दमनस्तुवरस्तिक्तो हृद्यो वृष्यः सुगन्धिकः। ग्रहणीविषकुष्ठास्रक्लेदकण्डूत्रिदोषजित्॥" (भा. प्र.)।

दौना तिक्त, कषाय, हृद्य, सुगन्धि तथा कण्डू, कुष्ठ, ग्रहणी विष, रक्त विकार, क्लेद और तीनों दोषों को दूर करनेवाला है।

नव्यमत--दौने में एक कडुआ सत्त्व; हरा, उडनेवाला और कपूर के समान गंधवाला तैल और पुष्कल यवक्षार है। दौना तिक्त, दीपन, पाचन पित्तद्रावी, वातहर, वेदनास्थापन, ज्वरघ्न, कासहर, शोथघ्न, मूत्रजनन और गर्भाशयसंकोचक है। मस्तिष्क के ऊपर इसके तेल की क्रिया कपूर जैसी होती है। अग्निमांद्य में दौने का टिंक्चर देते हैं। ५–१० रत्ती चूर्ण देने से डकार और अधोवायु सरकर पेट का शूल कम होता है। दौने से मल का रंग पीला होता है इसलिये इसको पित्तद्रावी कहा है। ज्वर में दौने का फांट देने से पसीना और पेशाब आकर ज्वर और शरीर का दर्द कम होता है तथा नींद आती है। अनार्तव और पीडितार्तव में दौना देने से स्त्री को थोड़ा नशा आता है, पीडा शांत होती है और ऋतु साफ आता है। पांडुरोग में लोहभस्म के साथ दौना देने से अच्छा लाभ होता है। दौने का क्षार जलोदर, वृक्कोदर और हृदयोदर में देते हैं। इससे मूत्र का प्रमाण बढ़कर सूजन उतर जाती है। दौने का व्रणशोथ पर लेप करने स वेदना और शोथ कम होते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१९३) अफसंतीन।

नाम---(क) टिटवीन; (कु.) तीत पाती; (अ.) अफसंतीन; (ले.) आर्टिमिसिआ एब्सिन्थियम् (Artemisia absinithium)।

वर्णन--भारतवर्ष मे कश्मीर और वायव्य सीमा प्रांत में अफसंतीन प्रचुर प्रमाण में होती है। शाखायें कोमल, श्वेतरोमयुक्त, पत्र १।–२ इंच लंबे, पुष्प पीलाई लिये हुए सफेद रंग के, समस्त वनस्पति तीव्रगंधयुक्त और अति तिक्त होती है।

गुण-कर्म-अफसंतीन सुगंधित, उत्तेजक और कृमिघ्न है। (डॉ वा. ग देसाई)।

यूनानीमत—अफसंतीन रूक्ष, उष्ण, कृमिघ्न, ज्वरघ्न, मूत्रल, आर्तवजनन, दीपन, वेदनास्थापन और यकृत् को बल देनेवाला है। यकृत् और प्लीहा का शोथ, जलोदर, जीर्णज्वर, विषमज्वर, कृमिरोग, अनार्तव, कृच्छ्रार्तव और अर्श में इसका प्रयोग किया जाता है।

उपयुक्त अंग—पंचांग। **मात्रा**—२–४ माशा।

(१९४) कीटमारी यवानी।

नाम—(सं.) कीटमारी यवानी, चौहार; (हिं.) किरमानी अजवायन; (क.) आममुरी; (म.) किरमाणी ओंवा; (गु.) करमाणी अजमा, छुहारो; (फा. दिमंना; (अ.) शीह; (ले.) आर्टिमिसिआ मेरिटिमा (Artemisia maritima)।

नव्यमत--किरमानी अजवायन को जलाने से ६½ प्रतिशत राख मिलती है, राख में चूना और यवक्षार होता है। फूलों से एक क्षारधर्मी सत्त्व (सेंटोनीन) निकलता है। यह नया हो तब श्वेत वर्ण का और पुराना होने या धूप में रखने पर पीले रंग का हो जाता है। किरमानी अजवायन दीपन, वेदनास्थापन और उत्कृष्ट कृमिघ्न है। इससे गण्डूपदाकार कृमि (केंचुए) मर जाते हैं। इसमें रेचक गुण नहीं है, इसलिये इसको रात्रि को देकर सवेर में एरंड तैल का विरेचन देते हैं। (डॉ. वा ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग—पंचांग। **मात्रा**-पंचांगचूर्ण ३ ६ माशा। सेंटोनीन १–३ ग्रेन।

(१९५) गोरखमुंडी।

नाम—(सं.) मुण्डिका, श्रावणी; (पं.) मुंडी; हिं.) मुंडी, गोरखमुंडी; म., गु., मा) गोरखमुंडी; (ले.) स्फिरेन्थस् इन्डिकस् (Sphaeranthus indicus)।

वर्णन--गोरखमुंडी का ॥–१॥ फुट ऊंचा जमीन पर फैला हुआ क्षुप वर्षाऋतु के अंत में होता है। शीतकाल में उसमें किरमजी रंग के पुष्प आते हैं। एक पुष्पसमूह में अनेक छोटे-छोटे फूल लगते हैं।

उपयुक्त अंग--पचांग और पुष्प।

गुण-कर्म—चरके (चि. अ. १, पा ४) इन्द्रोक्तरसायनद्रव्येषु श्रावणी, महाश्रावणी च पठ्यते। "मुण्डिका कटुतिक्ता स्यादनिलास्रविनाशिनी। अपचीघ्न्यपस्मारगण्डश्लीपदनाशिनी॥" (ध. नि.)। "मुण्डी तिक्ता कटुः पाके वीर्योष्णा मधुरा लघुः। मेध्या गण्डापचीकुष्ठकृमियोन्यर्तिपाण्डुनुत्॥ श्लीपदारुच्यपस्मार प्लीहमेदोगुदार्तिहृत्।" (भा. प्र)।

गोरखमुंडी कटु, तिक्त, मधुर, कटुविपाक, उष्णवीर्य, लघु, मेध्य, रसायन तथा वात, रक्तविकार, अपची, अपस्मार, श्लीपद, कुष्ठ, कृमि, योनिरोग, पांडुरोग, प्लीहा के रोग, मेदोरोग और अर्श का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत मुंडी में एक कालापन लिये हुए लाल रंग का तेल और कडुआ सत्त्व होता है । मुंडी दीपन, मूत्रजनन और आँनुलोमिक है । इसका तैल त्वचा और वृक्कद्वारा निःसारित होता है, इसलिये मुंडी लेनेवाले के पसीने और पेशाब में एक प्रकार की गंध आती है । मूत्रेन्द्रिय क रोगों में मुंडी से अच्छा लाभ होता है । इससे पेशाब छुटती है और वृक्क से मूत्रद्वारपर्यन्त सारे मार्ग का शोधन होता है, वारंवार पेशाब होना कम होता है, पेशाब का रंग सुधरता है । अधिक दिन लेते रहने से बारंवार फोडे-फुन्सी निकलने की आदत मिटती है और खाँसी, गण्डमाला, शारीरिक अशक्तता आदि जीर्ण रोग अच्छे होते हैं तथा कांति सुधरती है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(१९६) अकरकरा ।

नाम–(सं.) आकारकरभ, आकल्लक; (हिं.) अकरकरा; (म.) अक्कलकरा; (गु.) अक्कलकरो; (अ.) आकिरकिर्हा, (ले.) अॅनेसायक्लस् पायरेथ्रम् (Anacyclus pyrethrum) ।

उत्पत्तिस्थान-उत्तरी अफरीका, अलजीरिया ।

वर्णन–अकरकरा के मूल बाजार में मिलते हैं । ये २-३ इंच लंबे, पाव से पौन इंच मोटे और बेलनाकार गोल होते हैं । रंग बाहर भूरा और तोड़ने पर भीतर से सफेद होता है । खाने से स्वाद चरपरा मालूम होता है, लाल स्राव होता है और मुंह तथा कंठ में चुनचुनाहट मालूम होती है ।

गुण-कर्म–**"आकल्लको ह्युष्णवीर्यो बलकृत् कटुको मतः । प्रतिश्यायं च शोथं च वातं चैव विनाशयेत् ॥"** (भा. प्र.) ।

अकरकरा कटु, उष्णवीर्य, बलकारक तथा प्रतिश्याय, शोथ और वातरोगों का नाश करनेवाला है ।

यूनानीमत–अकरकरा उष्ण, रूक्ष, छेदन, स्वापजनन, अवरोधोद्घाटक, वाजीकर, शुक्रस्तम्भन, लालाप्रसेकजनन और आर्तवजन है । अर्दित, पक्षाघात, कम्पवात, अपतानक, अपस्मार आदि वात-कफज व्याधियों में अकरकरा देते हैं । वाजीकर माजूनों और गोलियों में डाला जाता है तथा अकेला भी मधु के साथ खिलाया जाता है । वाजीकर तिलाओं (पतले लेपों) में प्रयुक्त होता है । इससे कामोद्दीपन और शिश्नेन्द्रिय को दृढ़ता होती है । दंतशूल, मसूड़ों का शोथ और

जिह्वास्तम्भ में मंजन के रूप में इसका प्रयोग करते हैं । हाथ-पांव या अन्य किसी अंग में गरमी पहुंचाने के लिये इसको बारीक पीसकर या तेल में मिलाकर मर्दन करते हैं ।

नव्यमत–अकरकरा में राल, पीले रंग का उड़नेवाला तैल और शर्करा होती है । मूल का टुकड़ा मुंह में रखने से लार छुटती है और कुछ समय के बाद शून्यता (स्पर्शाज्ञान) मालूम होती है । मूल उत्तेजक, वातहर, वेदनास्थापन और नाड़ियों को बल देनेवाला है । रास्ना के प्रतिनिधिरूप में इसका प्रयोग कर सकते हैं । अकरकरा का थोड़ासा चूर्ण सड़े हुए दांत में भरने से लार बहकर पीड़ा कम होती है । जिह्वास्तंभ, गलस्तंभ और स्वरभेद में आर्द्रता आकर शिथिलता कम होने के लिये इसका टुकड़ा मुंह में रखते हैं । कफ–वातप्रधान रोगों में अकरकरा बहुत उपयोगी है । ज्वर सन्निपात के लक्षण दीखते ही रोगी को चेतना लाने के लिये इसका फांट देते हैं । इससे शरीर में उत्तेजना आती है और हृदय को बल मिलता है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(१९७) आयादान ।

नाम-(बं.) आयापान; (अं.) युपेटोरिअम् आयापान (Eupatorium ayapana) ।

वर्णन- आयापान का फलनेवाला छोटा क्षुप होता है । पत्ती १ इंच लंबी, तीन सिरायुत और मसृण होती है । मसलने से अच्छी सुगंध आती है । यह वनस्पति वंगदेश में अधिक होती है ।

गुण-कर्म नव्यमत—आयापान अल्पप्रमाण में रोचक, उत्तेजक और चेतनाकारक; बड़ी मात्रा में गरम-गरम फांट देने से स्वेदजनन और पुष्कळ फांट एक साथ पीने से वामक है । फांट थोड़ा थोड़ा देते रहने से शरीर में उष्णता आती है, हृदय का स्पन्दन जोर से और स्पष्ट होता है, नाड़ी जोर से चलती है और थोड़ा पसीना आता है । इसका लेप उत्तम व्रणशोधन और व्रणरोपण है । शारीरिक अशक्तता और तरुण शोथप्रधान रोगों में थकावट कम होने के लिये चाय के बदले इसका फांट देते हैं । विषमज्वर में ठंड भरने के समय और प्रतिश्याय के प्रारंभ में इसका गरम फांट देते हैं । फांट उत्तम उत्तेजक और बलकारक है । हैजे में शरीर में उष्णता लाने और रक्ताभिसरण सुधारने के लिये फांट बहुत उपयोगी है । कुपचन रोग में चाय बंदकर कें इसका फांट देते हैं । रक्तपित में स्वरस गुणकारक है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

उपयुक्त अंग-पंचांग । **मात्रा**— फांट ।।.–२ औंस; स्वरस १ ड्राम; चूर्ण १ ड्राम । अजीर्ण और अन्य रोगों में उत्तेजक बलकर के रूप में इसका प्रयोग होता है । रक्तकास, रक्तवमन, नकसीर फूटना, रक्तमूत्र, रक्तातिसार और अत्यार्तव में यह अमोघ औषध है ।

इसमें एक उड़नेवाला तेल, आयापानिन नाम का दानेदार सत्त्व और यथेष्ट प्रमाण में टेनिन (कषायद्रव्य) है। (डॉ. कार्तिकचंद्र बसु)।

वक्तव्य—बंगाल के वैद्य और डॉक्टर इसका प्रचुर प्रमाण में प्रयोग करते हैं। अन्य प्रांत के वैद्यों को भी यह अपने यहां लगाकर इसका उपयोग करना चाहिये।

---

(१९८) झण्डु।

नाम-(सं.) झण्डु; (हिं.) गेंदा; (गु.) गलगोटो; (फा.) गुलहजारा; (म.) झेंडू; (ले.) टॅगेटिस् इरेक्टा (Tagetes erecta)।

वर्णन–गेंदा का क्षुप अपने सुंदर पीले पुष्पों के लिये बागों में लगाया जाता है। कांड और साधारण कोणयुक्त और खरस्पर्श; पर्ण एकान्तर, मोटे और रोएदार; पुष्प पीले। पुष्प आने पर इसका प्रयोग किया जाता है।

गुण-कर्म–"झण्डुः कटुकषाया स्याज्ज्वरभूतग्रहापहा।" (रा. नि.)।

गेंदा तिक्त, कषाय और ज्वर तथा भूतग्रह का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—गेंदे में एक कड़ुवा सत्त्व पाया जाता है। गेंदा शोणितसंग्राहक और शोथहर है। फूल की पँखड़ियाँ ॥-१ तोला घी में तलकर अर्श का रक्त बंद करने के लिये देते हैं। गेंदे के पंचांग का स्वरस जोड़ों के मोच और अभिघातज शोथपर लगाने से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(१९९) पुष्करमूल।

नाम– (सं.) पुष्करमूल; (क.) पोशकरमूल, पोहकरमूल, (ले.) इन्युला रेसिमोझा (Inula Recemosa)।

हिंदी, मराठी और गुजराती में इसे पुष्करमूल या पोहकरमूल कहते हैं।

वर्णन- पुष्करमूल काश्मीर में ७-९ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है। मूल देखने में कुष्ठ के समान होते हैं काश्मीर सरकार पुष्करमूल बेचती है। अमृतसर, दिल्ली, बवई आदि बड़े शहरों में यह मिलता है।

गुण-कर्म-चरके–(सू. अ. ४) श्वासहरे, हिक्कानिग्रहणे च महाकषाये पुष्करमूलं पठ्यते। "पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां" (च. सू. अ. २५) "पुष्करं कटु तिक्तोष्णं कफवातज्वरापहम्। श्वासारोचककासघ्नं शोफघ्नं पाण्डुनाशनम्॥" (रा. नि.)। "पौष्करं कटुकं तिक्तमुष्णं वातकफज्वरान्। हन्ति कासारुचिश्वासान् विशेषात् पार्श्वशूलनुत्॥" (भा. प्र.)।

पुष्करमूल कटु, तिक्त, उष्णवीर्य तथा वात, कफ, कास, श्वास, पार्श्वशूल, हिक्का, अरुचि, शोथ और पांडुरोग का नाश करनेवाला है।

नव्यमत-पुष्करमूल तिक्त, कटु, उष्ण, पाचन, उत्तेजक, कफघ्न, श्वासहर, कासहर, ज्वरघ्न, शोथहर, त्वग्रोगनाशन वातहर और विषहर है। मस्तिष्क, आमाशय, वृक्क और गर्भाशय के ऊपर पुष्करमूल की उत्तेजक क्रिया होती है। पुष्करमूल जन्तुनाशक और पूतिहर है। पुष्करमूल कुपचन, पेट का अफारा और दर्द तथा सर्व प्रकार के फुप्फुस के रोगों (जैसे-दमा, जीर्ण श्वासनलिका-शोथ, क्षय, फुप्फुसकलाशोथ, पार्श्वशूल आदि में) देते हैं। इससे श्वासयन्त्र की सूजन कम होती है, रोगजन्तु का नाश होता है और ज्वर उतरता है। सर्व प्रकार के वातरोग चाहे वे सर्दी से हुए हों या आमविष से, पुष्करमूल से अच्छे होते हैं। इससे सूजन और ज्वर उतरता है तथा पीड़ा कम होती है। क्षयजन्तुओं से एक विशिष्ट प्रकार का व्रण होता है, उसका शोधन और रोपण पुष्करमूल से होता है। अनार्तव में पुष्करमूल देने से पेट का दर्द कम होकर आर्तव आने लगता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वक्तव्य-डॉ. देसाई ने ये गुण रास्ना के नाम पर दिये हैं। परंतु उनकी मानी हुई रास्ना (ले. इन्युला रेसिमोझा) वास्तव में रास्ना नहीं परंतु पुष्कर-मूल है। कई लोगों ने **ओरिस रूट** को पुष्करमूल माना है। **यह** कश्मीर में होता है। वहां **उसको मजारमुंड** और **मजारपोश** कहते हैं। यूनानी वैद्य इसको **इरसा या सोसन** कहते हैं। यह **हैमवती वचा** है, पुष्करमूल नहीं है।

चित्रकादि वर्ग ५१.

N. O. Plumbaginaceae (प्लम्बेजिनेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थ गर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख या एकान्तर; पर्ण सादे; पुष्पबाह्यकोश के दल ५ नीचे से जुड़कर नलिकाकार बने हुए, इस पर छोटी छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं; पँखड़ियाँ ५; पुंकेशर ५; स्त्रीकेशर १; फल बारीक और कठिन (नीरस) होते हैं।

---

(२००) चित्रक।

नाम-(सं.) चित्रक, अग्नि, दहन; (बं.) चिता; (हिं.) चित्रक, चीता; (गु.) चित्रो; (फा.) शितरज; (ले.) प्लम्बेगो झिलेनिका (Plumbago zeylanica) श्वेतचित्रक; प्लम्बेगो रोझिआ (Plumbago rosca) रक्तचित्रक।

वर्णन-चित्रक का ३-६ फुट ऊँचा बहुवर्षायु क्षुप होता है। कांड गोल; शाखाएं अनेक; पर्ण एकान्तर, लंबगोल, हरे रंग के, मोतिया के जैसे; फूल गुच्छों में, श्वेत-लाल या आसमानी रंग के; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तर कोश के दल ५;

पुंकेशर ५; स्त्रीकेशर १; फल लंब-गोल; मूल भंगुर; मूल का रंग ऊपर से ललाई लिये हुए भूरा और भीतर से सफेद; मूल का स्वाद कटु उग्र, जीभ को चुभनेवाला और दुःखदायक होता है।

उपयुक्त अंग--मूल की छाल। मूल की नई छाल काम में लेनी चाहिये, पुरानी होने से हीनवीर्य हो जाती है।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. ४) लेखनीये, भेदनीये, दीपनीये, अर्शोघ्ने, तृप्तिघ्ने, शूलप्रशमने, महाकषाये, कटुकस्कन्धे च; तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) आरग्वधादौ, वरुणादौ, मुष्ककादौ पिप्पल्यादौ, मुस्तादौ, आमलक्यादौ च गणे चित्रकः पठ्यते। "चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणां" (च. सू. अ. २५)। "x x x चित्रक x x x प्रभृतीनि। कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च। चित्रकः x x कफशोफहरे लघू।" (सु. सू. अ. ४६) "चित्रकोऽग्निसमः पाके कटुकः कफशोफजित्। वातोदरार्शोग्रहणीकृमिपाण्डुविनाशनः॥" (ध. नि.)।

चित्रक कटु, कटुविपाक, लघु, उष्णवीर्य, रुचिकारक, लेखन, भेदन, दीपन, पाचन, अर्शोघ्न, तृप्तिघ्न, शूलप्रशमन तथा वात, कफ, शोथ, गुदशोथ, शूल, उदर, अर्श, ग्रहणीरोग, कृमि और पांडुरोग का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--अल्पमात्रा में चित्रक से पचन नलिका की कला को उत्तेजन मिलता है और आमाशय तथा उत्तरगुद का रक्ताभिसरण बढ़कर उनको शक्ति मिलती है। इससे पेट में गरमी उत्पन्न होती है और पचनक्रिया बढ़ती है। इससे यकृत् उत्तेजित होकर पित्त ठीक बहने लगता है, इसलिये चित्रक देने के बाद मल का रंग पीला होता है। यह रक्त में मिलकर मलोत्सर्जक ग्रन्थियों पर विशेषतः त्वचा की स्वेदग्रन्थियों पर अपना कार्य करता है; इसलिये इससे पसीना अधिक छुटता है और ज्वर कम होता है। बड़ी मात्रा में चित्रक दाहजनक तथा नशा लानेवाला विष है। बडी मात्रा में देने से गले और आमाशय में जलन होती है, जी मिचलाता है, उलटी और जुलाब होते हैं, पेशाब करने में कष्ट होता है नाड़ी अशक्त होकर वक्रगति से चलती है और शरीर ठंडा पड़ता है। गर्भाशय पर चित्रक की क्रिया विशेष महत्त्व की और ध्यान में रखने योग्य है। साधारण बडी मात्रा से कटिस्थित सर्व अवयवों में दाह उत्पन्न होता है, जुलाब होते हैं और जुलाब के साथ गर्भाशय से रक्त बहने लगता है, पेशाब बूंद बूंद आने लगती है और गर्भाशय का जोरदार संकोच होता है-यहाँतक कि एक-दो प्रहर में गर्भ गिर जाता है। यह क्रिया निश्चित रूप से होती है और नौ मास में कभी भी देने से गर्भपात होता है-गर्भ मरा हुआ गिरता है। गर्भपात होने के लिये चित्रक देते हैं। चित्रक के ताजे मूल के लेप से फफोला-ब्लिस्टर

उठता है। त्वचा पर लगाने से बहुत पीड़ा होती है, त्वचा काली पड़ती है और व्रण शीघ्र भरता नहीं। विषमज्वर में जब यकृत् और प्लीहा की वृद्धि हुई हो तब चित्रक से बहुत लाभ होता है। ज्वर में जब रक्ताभिसरण मंद होता है और अन्न लिया नहीं जा सकता तब चित्रक उपयुक्त औषध है। सूतिकाज्वर में चित्रक से ज्वर कम होता है, सर्व शरीर को उत्तेजन मिलता है और गर्भाशय को उत्तेजन मिलकर दूषित रक्त बहने लगने से मक्कलशूल कम होता है। सूतिकाज्वर में चित्रक के साथ निर्गुंडी (संभालू) देना चाहिये। जननेन्द्रियों की शिथिलता से उत्पन्न नपुंसकत्व में चित्रक से लाभ होता है। अरोचक, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, कुपचन, कभी कब्ज कभी जुलाब, पेट का अफारा आदि पचननलिका की शिथिलता से उत्पन्न रोगों में चित्रक देते हैं। (डॉ वा.ग. देसाई)।

विडङ्गादि वर्ग ५२.

N. O. myrsinaceae (मर्सिनेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; ऊर्ध्वस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास एकान्तर; पर्ण सादे; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४--५; फल मांसल।

(२०१) विडङ्ग।

नाम--(सं.) विडङ्ग; (हिं.) बायविड़ंग; (पं.) बावडींग; (म.) वावडिंग, (गु. वावडिंग; (ले.) एम्बेलिया रिब्स् (Embelia ribes)।

वर्णन--बायबिडंग के बड़े गुल्म होते हैं। पत्र अंडाकृति; पुष्प श्वेत, फल काली मिर्च जितने बडे गुच्छों में आते हैं। फल तोड़ने पर भीतर ललाई लिये हुए भूरे रंग का मग्ज और एक बीज होता है। स्वाद जरा कड़ुआ और कषाय होता है।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. २) शिरोविरेचनद्रव्येषु तथा (सू. अ. ४) तृप्तिघ्ने, कृमिघ्ने, कुष्ठघ्ने च महाकषाये विडङ्गं पठ्यते। "विडङ्गं कृमिघ्नानां" (च. सू. अ. २५) सुश्रुते (सू. अ. ३८) सुरसादौ, पिप्पल्यादौ च गणे विडङ्गं पठ्यते। × × × विडङ्गं × तैलानि कटूनि कटुविपाकानि, सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहर्त्राणि च" (सु. सू. अ. ४५)। "विडङ्गं कटु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं वह्निकरं लघु। शूलाध्मानोदरश्लेष्मकृमिवातविबन्धनुत् ॥" (भा. प्र.)।

बायविडंग कटु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, लघु, दीपन, शिरोविरेचन, तृप्तिघ्न, कुष्ठघ्न तथा शूल, आध्मान, उदररोग, कफ, कृमि, वात और विबन्ध का नाश करनेवाला है।

नव्यमत-बायबिडङ्ग में एक अम्लस्वभावी सत्त्व (विडङ्गाम्ल·एम्बेलिक् अॅसिड) २॥ प्रतिशत होता है। बायबिडंग थोड़ा कड़ुआ, कषाय, उष्णवीर्य, दीपन, पाचन,

थोड़ा आनुलोमिक और मूत्रजनन, उत्तम कृमिघ्न, वातहर, बल्य, मस्तिष्क और नाड़ियों को बलप्रद, रक्तशोधन और रसायन है। इससे मूत्र का रंग लाल होता है और उसमें अम्लता बढ़ती है। बायबिडंग की क्रिया शरीर को सब ग्रन्थियों पर विशेषतः रसग्रन्थियों पर होती है। बायबिडंग लेने से भूख लगती है, अन्न पचता है, दस्त साफ होता है, वजन बढ़ता ह, त्वचा का रंग सुधरता है और मन को आल्हाद मालूम होता है। बच्चों के लिये यह दिव्य औषध है। गंडमाला में बायबिडंग गूगल, मनसील और साबरसींग के भस्म के साथ मिलाकर घृत और मधु के साथ देते हैं। इससे देरी से परंतु अच्छा लाभ होता है। आक्षेपक, अपस्मार, अर्धाङ्गवात आदि मस्तिष्क और नाड़ियों के रोगों में बायबिडंग लहसुन के साथ क्षीरपाकविधि से पकाकर देते हैं। त्वग्रोगों में वायबिडंग मुख द्वारा देते हैं और उसका लेप तथा धुआं देते हैं। विविध प्रकार के त्वग्रोग अन्न ठीक न पचने से होते हैं। वायबिडंग से पचनक्रिया सुधरती है, दस्त साफ होता है और बायबिड़ंग को त्वचा पर उत्तेजक क्रिया होती है. इसलिये कुष्ठविकार अच्छे होते हैं। अग्निमान्द्य, अरुचि, कुपचन, उलटी, शूल, आध्मान और अर्श में बायबिडंग का चूर्ण छाछ के साथ देते हैं। गोल और चिपटे कृमि के लिये १ तोला बायबिडंग का चूर्ण पहले जुलाब देकर खाली पेट देते हैं और ऊपर से फिर जुलाब देते हैं। इससे कृमि मरकर गिर जाते हैं। पीनस और अवकपाली में बायबिडंग का नस्य देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

मधूकादि वर्ग ५३.

N. O. Sapotaceae (सेपोटेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; पर्णविन्यास एकान्तर; पर्ण सादे, अखंड, चर्मसदृश और उपपत्ररहित; पुष्प पत्रकोणोद्भूत, पुष्पों में दूध जैसा पुष्कल रस होता है। फल मांसल और अविदारी।

---

(२०२) मधूक।

नाम---(सं.) मधूक, गुडपुष्प; (हिं.) महुवा; (म.) मोहड़ा; (गु.) महुडो; (बं.) मौल; (पं.) मह्वा, महुआ; (ले.) बेसिआ लेटिफोलिआ (Bassia Latifolia)।

वर्णन—महुवे के बडे वृक्ष जंगलों में होते हैं। पत्ते १ बिलाद लंबे; पुष्प श्वेत और मांसल; फल लंबगोल, बेर के तुल्य, पक्वावस्था में पीतवर्ण; फल में २-३ बीज होते हैं। बीजों से तैल निकालते हैं। फूलों को गरीब लोग आटे में मिलाकर उसकी रोटी बनाते हैं। पुष्पों से मद्य बनाया जाता है।

उपयुक्त अंग–फूल ।

गुण-कर्म–"× × × मधूकपुष्पप्रभृतीनि । रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च । बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु । वातपित्तप्रशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥" (सू सु अ. ४६) "मधूकपुष्पं मधुरं शीतलं गुरु बृंहणम् । बलशुक्रकरं प्रोक्तं वातपित्तविनाशनम् ॥ फलं शीतं गुरु स्वादु शुक्रलं वातपित्तनुत् । अहृद्यं हन्ति तृष्णास्रदाहश्वासक्षतक्षयान् ।' (भा. प्र.) ।

महुवा का फूल मधुर, गुरु, शीतवीर्य, बृंहण, बलकारक, वीर्यवर्धक तथा रक्तपित्त, वात और पित्त का नाश करनेवाला है। महुआ का फल, मधुर, गुरु, शीतवीर्य, शुक्रल, अहृद्य तथा वात, पित्त, तृषा, रक्तविकार, दाह, श्वास, क्षत और क्षय को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत–फूलों में ६० प्रतिशत एक प्रकार की शर्करा होती है, जो शीघ्र मद्य में परिणत होती है । फूलों में थोड़ा-बहुत मद्य तैयार हुआ होता है, इसलिये फूल खाने से थोड़ा नशा आता है । बीजों का तैल शीघ्र खराब होता है, इसलिये दवा के काम में नहीं आता । इससे अच्छा साबुन और मोमबत्ती बनती है । महुवा के फूल शीतल, बल्य, पौष्टिक और स्नेहन हैं; इसलिये ज्वर और कफरोग में देने के लिए कषायों में डालते हैं ।

(२०३) बकुल ।

नाम––(सं.) बकुल; (हिं.) मौलस (सि) री; (बं., म.) बकुल; (गु) बोलसरी; (ले.) मिम्युसोप्स् एलेंगी (Mimusops elengi) ।

वर्णन--मौलसरी के वृक्ष सुगंधि पुष्पों के लिये बागों में लगाये जाते हैं ।

उपयुक्त अंग—छाल, पुष्प और फल ।

गुण-कर्म—"सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलं × × × ।" (सु. सू. अ. ४६) । "मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि बाकुलम् । स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं तत्फलं गुरु ॥" (ध. नि.) बकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकरसो गुरुः । कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः ॥" (भा. प्र.)।

मौलसरी का पुष्प मधुर, कषाय, कटुविपाक, गुरु, हृद्य, स्निग्ध तथा कफ, पित्त, विष, श्वित्र, कृमि और दांत के रोगों का नाश करनेवाला है ।

नव्यमत—मौलसरी की छाल कषाय, पौष्टिक; फूल रोचक; फल स्नेहन और संग्राहक हैं । छाल का क्वाथ जीर्णज्वर में पुष्टिकरणार्थ देते हैं । फूलों का अर्क ज्वर में उत्तेजनार्थ देते हैं। दांत हिलने और मुखपाक में छाल के क्वाथ के कुल्ले कराते हैं या कच्चे फल चबाने को देते हैं । रक्तयुक्त जीर्ण आँव में पके हुए फल खिलाते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

रोध्रादि वर्ग ५४.

N. O. Symplocaceae (सिम्प्लोकेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; ऊर्ध्वस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास एकान्तर; पर्ण सादे, उपपत्ररहित; पुष्प गुच्छों में लगते हैं; पुष्पवाह्यकोश के दल ४; पँखड़ियाँ ४-५; फल मांसल।

---

(२०४) लोध्र।

नाम—(सं.) लोध्र, रोध्र, शाबरक (पं.) पठानी लोध; (हि.) लोध; (फ.) लोधिया; (म.) लोध्र; (गु.) लोधर; (मा.) लोद; (ले.) सिम्प्लोकोस् रेसिमोझा (Symplocos Racemosa), सिम्प्लोकोस् क्रेटिगोइड्स (Symplocos Cratagegoides)।

वर्णन—लोध्र का हमेशा हरा रहनेवाला मध्यम प्रमाण का वृक्ष होता है। पत्र लंबगोल मसृण; फूल पीलापन लिये हुए सफेद; फल अंडाकृति, पकाने पर जामुनी रंग का; छाल ललाई लिये श्वेत, भंगुर, बाहरी बाजू पर चीरेवाली, अंदर का भाग तन्तुमय; छाल का स्वाद कषाय और कुछ सुगंधित होता है।

उपयुक्त अंग - छाल; मात्रा—१०-२० रत्ती।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. ४) संधानीये, पुरीषसंग्रहणीये, शोणितास्थापने च महाकषाये तथा कषायस्कन्धे लोध्रः पठ्यते। सुश्रुते (सु. अ. ३८) लोध्रादौ, अम्बष्ठादौ, न्यग्रोधादौ च गणे रोध्रः सा (शा) बररोध्रश्च पठ्यते। "लोध्रो ग्राही लघुः शीतश्चक्षुष्यः कफपित्तनुत्। कषायो रक्तपित्तासृग्ज्वरातीसारशोथहृत्॥" (भा. प्र.)।

लोध्र कषाय, लघु, शीतवीर्य, ग्राही, संधानीय, शोणितास्थापन, चक्षुष्य तथा कफ, पित्त, रक्तपित्त, रक्तविकार, ज्वर, अतिसार और शोथ का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—लोध्र की छाल में कषाय द्रव्य (टॅनिन) नहीं हैं। छाल से ७½ प्रतिशत राख मिलती है। उसमें १८ प्रतिशत सज्जीखार होता है। लोध्र ग्राही, रक्तस्तम्भन, श्लेष्मघ्न और व्रणरोपण है। इसकी मुख्य क्रिया छोटी रक्तवाहिनियों पर होती है और उनका संकोच होता है, इसलिये रक्तस्राव बंद होकर सूजन उतरती है। लोध्र से श्लेष्मल त्वचा में शक्ति आकर कफ उत्पन्न होना कम होता है। त्वचा के रोग (कुष्ठ) और व्रण में लोध्र खाने को देते हैं और उसका लेप करते हैं। आँख की लाली और सूजन उतरने के लिये आँख की पलक पर लोध्र का लेप करते हैं। अतिसार, रक्तातिसार और प्रवाहिका में लोध्र देते हैं। श्वेतप्रदर और अत्यार्तव बहुत करके गर्भाशय की शिथिलता से उत्पन्न होते हैं। लोध्र से गर्भाशय की शिथिलता कम

होती है और रक्तवाहिनियों का संकोच होता है; इसलिये उक्त दोनों रोगों में लोध्र से लाभ होता है। सगर्भावस्था में सातवें आठवें मास में गर्भ का विशेष चलन होता है, उस समय लोध्र शहद के साथ देते हैं। इससे गर्भाशय की शिथिलता कम होकर गर्भ का चलन कम होता है। प्रसूतावस्था में योनि में क्षत हुए हों तो लोध्र का लेप करते हैं या लोध्र के क्वाथ की उत्तरबस्ति देते हैं। (डॉ. बा. ग. देसाई)।

वक्तव्य—सुश्रुत में (सू. अ. ३८) रोध्रादिगण में रोध्र और सावररोध्र दोनों का उल्लेख है और उस गण को स्तम्भी (स्तम्भनगुणवाला) लिखा है; अम्बष्ठादि गण में साबररोध्र का उल्लेख है और उस गण को पक्वातीसारनाशन लिखा है; न्यग्रोधादि गण में रोध्र और साबररोध्र दोनों का पाठ है और उस गण को संग्राही लिखा है; इससे स्पष्ट होता है कि सुश्रुत लोध्र और साबर-लोध्र दोनों को ग्राही मानते थे। चरक में (सू. अ. ४) संधानीय, पुरीषसंग्रहणीय और शोणितास्थापन इन तीन महाकषायों में लोध्र का उल्लेख मिलता है; इससे चरक के मत में भी लोध्र का ग्राही स्तम्भन होना सिद्ध होता है। परन्तु दृढबल ने चरक कल्पस्थान अ. ९ में तिल्वक का पर्याय लोध्र लिखकर भ्रम उत्पन्न किया है। तिल्वक और लोध्र दोनों भिन्न द्रव्य हैं। लोध्र ग्राही-स्तम्भन है, और तिल्वक विरेचन है। चरक–सुश्रुत दोनों में ग्राही–स्तम्भन गणों में लोध्र शब्द का प्रयोग किया है। (जैसा कि ऊपर बताया है) और विरेचन द्रव्यों में दोनों ने तिल्वक शब्द का प्रयोग किया है ' **विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतिकस्तिल्वकस्तथा।**" (च. सू. अ. १); सुश्रुत में श्यामादिगण (सू. अ. ३९) में तथा अधोभागहर द्रव्यों (सू. अ. ३९) में तिल्वक शब्द का प्रयोग किया है। अतः तिल्वक और रोध्र एक वस्तु नहीं हैं। तिल्वक इस समय वैद्यसमाज में अपरिचित है। कई लोग रेवंद (चीनी) को तिल्वक बताते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है; रेवंद का क्षुप होता है वृक्ष नहीं होता और चरक ने तिल्वक को वृक्ष-तरु लिखा है। चरक और सुश्रुत दोनों ने तिल्वक के वृक्ष की त्वचा का प्रयोग करने को लिखा है—"इमांस्त्रीनपरान् वृक्षान् प्राहुर्येषां हितास्त्वचः। पूतिकः कृष्णगन्धा च तिल्वकश्च तरुः।" (च. सू. अ. १) "तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः।" (सू. अ. ३८) परंतु रेवंद के मूल का प्रयोग होता है।

(२०५) लोबान।

नाम–(पं., हिं., मं., गु., बं) लोबान; (ता.) सांब्राणि; (ले.) स्टाइरेक्स् बेंझोइन्। (Styrax benzoin)।

वर्णन–भारतवर्ष में लोबान सयाम और सुमात्रा से आता है। सयाम का लोबान अच्छा होता है। लोबान में दूसरी वस्तुओं की मिलावट भी करते हैं। इसलिये अच्छा लोबान देखकर लेना चाहिये। लोबान एक वृक्ष का निर्यास है। अच्छे

लोबान के बादाम के आकार के कोडी जैसे दीखनेवाले टुकडे होते हैं। ये एक-दूसरे से चिपके हुए होते हैं। बहुधा ये टुकडे छोटे बडे होकर राल जैसे पदार्थ में मिले हुये होते हैं। अच्छा लोबान भंगुर होता है, उष्णता से नरम होता है, कोई खास स्वाद नहीं होता,गंध मधुर होता है। लोबान का आयुर्वेद में वर्णन नहीं पाया जाता।

नव्यमत--लोबान में एक अम्लस्वभावी सत्त्व है, जिसको लोबान के फूल (सतलोबान-एसिड वेन्झोइन्) कहते हैं। सयाम के लोबान में यह १५ प्रतिशत होता है। दूसरा अम्ल सत्त्व जिसको दालचीनी के फूल (सिनामिक् एसिड्) कहते हैं वह राल तथा उडनेवाला तैल है। इतर अम्ल द्रव्य उष्णता से उड़ते नहीं हैं; परंतु लोबान के फूल उष्णता से उड़ते हैं। लोबान पूतिहर, दुर्गन्धनाशक, त्वचा की रक्तवाहिनियों को उत्तेजित करनेवाला, व्रणशोधन, व्रणरोपण, शोणितास्थापन, श्लेष्मघ्न, उत्तेजक, कफघ्न और मूत्रजनन हैं। लोबान पेट में जाने पर श्वासनलिकाद्वारा निःसारित होता है। पुष्कल, गाढे और दुर्गन्धयुक्त जीर्ण श्वासनलिकाशोथ में लोबान बादाम और गोंद के साथ जल में घोटकर देते हैं। इससे श्वासनलिका की श्लेष्मल त्वचा में शक्ति आकर कफ की उत्पत्ति कम होती है तथा उत्पन्न कफ जल्दी गिरकर खाँसी कम होती है। क्षय और दमे में भी इससे लाभ होता है। फुफ्फुस के सर्व रोगों में लोबान का धुआँ लेने से लाभ होता है। लोबान के धुएँ से प्रतिश्याय, सिर का दर्द, गले की सूजन और श्लेष्मकज्वर (इन्फ्लुएन्झा) में लाभ होता है। आमाशय मे अन्न का विदाह, सूजाक और बस्तिशोथ में लोबान देते हैं। लोबान का मद्यासव (टिंक्चर वेन्झोइन) ताजे जख्म (सद्योव्रण) पर लगाने से रक्तस्राव बंद होता है। लोबान के फूल उत्तम पूतिहर, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, उत्तेजक, कफघ्न और जीवनविनिमयक्रिया को उत्तेजित करनेवाला है। यह त्वचा से निःसारित होता है तब पसीना आता है, फुफ्फुस से निःसारित होता है इसलिये कफघ्न हैं तथा वृक्क से निःसारित होता है तब मूत्र का प्रमाण बढ़ता है और मूत्र अम्ल होता है। **मात्रा** ३--८ रत्ती मूलेठी के चूर्ण के साथ देवें। जीर्ण बस्तिशोथ में लोबान के फूल बहुत उपयोगी हैं। यह वृक्क से मूत्राशय में जाने पर उसकी शोधन और पूतिहर क्रिया आरंभ होती है। इससे गाढे तथा क्षार और दुर्गन्धयुक्त मूत्र की शुद्धि होती है। वृक्कशोथ में भी इससे लाभ होता है। पुराने सुजाक में पेशाब की जलन इससे कम होती है। तीव्र और तरुण आमवात में लोबान के फूल १५ रत्ती प्रमाण में देने से सॅलिसिलिक् ॲसिड् जैसा फायदा होता है। इसके साथ शुद्ध सर्जिकाक्षार मिलाने से विशेष गुण होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

पारिजातादि वर्ग ५५.

N. O. Oleaceae (ओलिएसी)।

वर्गलक्षण---सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; ऊर्ध्वस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण उपपत्ररहित; पँखडियाँ ५; पुंकेशर २।

(२०६) पारिजात (हारशृङ्गार) ।

नाम--(हि.) हारसिंगार, परजाता; (बं.) शिऊली; (म.) पारिजात; (गु.) हारशणगार, (ले.) निक्टेन्थिस् आर्बोर् ट्रिस्टिस् (Nyctanthes arbor tristis) ।

वर्णन--हारशृंगार के वृक्ष अपने सुंदर और सुगन्धि पुष्पों के कारण बागों में लगाये जाते हैं। पत्ते जपा के जैसे और खर; पुष्पवृन्त लाल और पँखड़ियाँ सफेद होती हैं। फूल रात को खिलते हैं और सवेर में झड़ जाते हैं।

गुण-कर्म--हारशृंगार ज्वरघ्न, कफघ्न, यकृदुत्तेजक, आनुलोमिक, शामक और त्वग्दोषहर है। पत्र सेन्टोनीन जैसे कृमिघ्न, कटुपौष्टिक, पित्तद्रावक और आनुलोमिक हैं। ज्वर में ताजी पत्तियों का स्वरस और अदरक का स्वरस शहद के साथ देते हैं। खाँसी और दमे में पत्रचूर्ण १-२ रत्ती नागरपान के साथ देते हैं। बीज पानी में पीसकर सिर के गंज पर लगाते हैं। इस लेप से जन्तु मरकर नये बाल उगते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२०७) मल्लिका ।

नाम--(सं.) मल्लिका; (हिं.) बेला, मोगरा, मोतिया; (म) मोगरा, (गु.) डोलर, मोगरो; (बं.) बेला; (ले.) जस्मीनम् सेम्बॅक् (Jasminum Sambac) ।

वर्णन--मोतिया का क्षुप या झाड़ (गुल्म) होता है। यह सुगंधि फूलों के कारण बागों में लगाया जाता है। इसकी जिस जाति में वर्षा में पुष्प आते हैं, उसको **वार्षिकी**; जिसमें ग्रीष्म में फूल आते हैं, उसको **ग्रैष्मी**; जिसमें छोटे फूल आते हैं, उसको **अतिमुक्ता** कहते है। मोतिया के पत्र, पुष्प और मूल औषध के लिये प्रयुक्त होते हैं।

गुण-कर्म--'मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने।" (सु. सू. अ. ४६)। "मल्लिका कटुतिक्ता स्याच्चक्षुष्या मुखपाकनुत्। कुष्ठविस्फोटकण्डूतिविषव्रणहरा परा ।।" (ध. नि.)। "मल्लिका कटुका तिक्ता लघूष्णा शुक्रला हरेत्। पित्तवातास्यदृग्व्याधिकुष्ठारुचिविषव्रणान्। (कै. नि.)।

मल्लिका कटु, तिक्त, लघु, उष्णवीर्य, वाजीकर, चक्षुष्य तथा वात, पित्त, मुखपाक, नेत्र के रोग, कुष्ठ, विस्फोटक, कण्डू, विषव्रण और अरुचि को मिटानेवाली है।

नव्यमत--मल्लिका शोथघ्न, शोणितास्थापन, स्तन्यनाशन और गर्भाशयोत्तेजक है। मल्लिका की क्रिया गर्भाशय और स्तन पर होती है। प्रसूतावस्था में जब

स्तन की दुग्धवाहिनियों में शोथ होकर स्तन पकने लगता है तब मल्लिका से त्वरित लाभ होता है। तोलेभर फूलों को कुचल कर शोथ पर बांधते हैं। ४–४ घंटे से उन फूलों को उतारकर नये फूल बांधते हैं। इस प्रयोग से दूध बंद होता है, स्तन का शोथ उतरता है और पूय होने का क्रिया रुकती है। आर्तव अनियमित और थोड़ा आता हो तब पाव तोला मोतिया के मूल का क्वाथ देने से आर्तव साफ होता है। रक्तप्रवाहिका में २–४ कोमल ताजी पत्ती २–३ तोले ठंडे जल में पीस, कपड़े से छान, मिश्री मिलाकर दिन में ३–४ बार देते हैं। इससे रक्त और बार-बार दस्त आना कम होता है। न भरनेवाले व्रणों पर पत्तियों का लेप करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२०८) सोमनस्यायनी, जाती, मालती।

चमेली के नाम–(सं.) सौमनस्यायनी; (हिं.) चमेली, चंबेली; (म.) चमेली; (गु.) चंबेली, चमेली; (बं) चामेली; (ले.) जस्माईनम् ग्रान्डिफ्लोरम् (Jasminum grandiflorum)।

जाई के नाम–(सं.) सुमना, जाति; (हिं.) जाही; जाई; (म., गु) जाई; (बं.) जाति; (ले) जस्माइनम् ओरिक्युलेटम् (Jasminum auriculatum)।

मालती के नाम–(सं.) मालती; (हिं, बं., गु.) मालती; (म.) कुसर। (ले.) जस्माइनम एर्बोर्सिन्स् (Jasminum arborescens)।

वर्णन–चमेली की पत्तियां और फूल जाई से छोटे होते हैं। पँखडियाँ ऊपर से रक्ताभ श्वेत और भीतर से श्वेत वर्ण की होती है। सुगंधि जाई से अधिक होती है। जाई की पत्तियाँ और पुष्प चमेली से बड़े होते हैं और पुष्प श्वेत होता है। जाई की एक जाति पीले पुष्पवाली होती है, उसको स्वर्णजाति कहते हैं। मालती की बड़ी लता होती है। पत्र लंबोतरे और नुकीले, २।-३ अंगुल चौड़े, ४-५ अंगुल लंबे; फूल सफेद जाई जैसे परंतु उससे बड़े होते हैं। पुष्पवृन्त–१–२ अंगुलं लम्बा होता है।

गुण--कर्म–चरके (सू. अ. ४) कुष्ठघ्ने महाकषाये जातिप्रवालाः पठ्यन्ते। "मालती-मल्लिके तिक्ते सौगन्ध्यात् पित्तनाशने।" (सु. सू. अ. ४६)। "मालती कफपित्तास्यरुक्पाकव्रणकुष्ठजित्। चक्षुष्यो मुकुलस्तस्यास्तत्पुष्पं कफवातजित्॥" (ध. नि.)। "मालती शीततिक्ता स्यात् कफघ्नी मुखपाकनुत्। कुड्मलं नेत्ररोगघ्नं व्रणविस्फोटकुष्ठनुत्॥" (रा. नि.)।

चमेली, जाई और मालती तिक्त, शीतवीर्य तथा कफ, पित्त मुखपाक, व्रण और कुष्ठ को दूर करनेवाली है। उनकी कली और पुष्प चक्षुष्य तथा वात, कफ, नेत्ररोग, व्रण, विस्फोटक और कुष्ठ का नाश करनेवाले हैं।

नव्यमत-चमेली के पत्र-शीत, तिक्त, व्रणशोधन, व्रणरोपण और कुष्ठघ्न; तथा फूल मूत्रजनन, आर्तवजनन और वाजीकर हैं। चमेली के फूलों का लेप त्वचा के रोगों में कंडू कम होने के लिये करते हैं। मुखपाक और दाँतों की पीड़ा में पत्तियाँ चबाने को देते हैं। कान से पीव आती हो तब चमेलीपत्रकल्क से सिद्ध किया हुआ तेल कान में डालते हैं। पत्तियाँ कुचलकर पेडू और कमर पर बाँधने से पेशाब आती है, कामवासना बढ़ती है और आर्तवशूल कम होकर थोड़ा आर्तव भी साफ आता है। नेत्ररोग में फूलों का लेप करते हैं। सिर के दर्द में फूलों का लेप या चमेली के तैल की मालिश करते हैं। जाई-शीतल, त्वग्दोषहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण है। मुखपाक में जाई की पत्तियाँ चबाते हैं या जाई की पत्ती, दारुहल्दी और त्रिफला का क्वाथ करके उसके कुल्ले कराते हैं। कर्णशूल और पूतिकर्ण में पत्तियों के स्वरस से सिद्ध किया हुआ तैल कान में डालते हैं। पांव की अंगुलियों के बीच बीच में चीरे पड़ते हैं उनपर और व्रण पर पत्रकल्क लगाते हैं। मालती--ज्वरघ्न, कफघ्न, वामक और विरेचन है। फुफ्फुस और श्वासनलिका के शोथ में मालती का प्रयोग करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

पील्वादि वर्ग ५६.

N. O. Salvadoraceae (सॅल्वेडोरेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण अखंड और चर्मसदृश; फूल छोटे, पीले या सफेद रंग के; पुष्पबाह्यकोश के दल ३-५, पँखडियाँ ४; पुंकेशर ४; स्त्रीकेशर १; फल मांसल।

(२०९) पीलु।

छोटे पीलु के नाम-(सं.) पीलु, गुडफल; (हिं.) पीलु; (पं.) पीलूं, वण, जाल; (म.) पीलु; (गु.) खारो जाल (र.); (ले.) सॅल्वेडोरा पर्सिका (Salvadora persica)।

बड़े पीलु के नाम-(सं) बृहत्पीलु; (गु.) मीठी जाल (२); (ले.) सॅल्वेडोरा ओलिओइडस् (Salvadora oleoides)।

उत्पत्तिस्थान-गुजरात, कच्छ, काठियावाड, सिंध; निचला पंजाब आदि रुक्षोष्ण प्रदेशों में पीलु के वृक्ष अधिक होते हैं।

वर्णन-पीलु का वृक्ष १०-२० फुट ऊँचा होता है। शाखायें टेढ़ी-मेंढ़ी; पत्र मोटे, हरे रंग के आमने-सामने होते हैं। पुष्प पिलाई लिये हरे रंग के पौष-माघ में आते हैं। फल चैत्र-वैशाख में पक जाते हैं। फल श्यामता लिये लाल रंग के होते हैं। फल का स्वाद मीठा और चरपरा होता है।

गुण-कर्म—चरके—शिरोविरेचनद्रव्येषु, विरेचनद्रव्येषु च (सू. अ. २), तथा विरेचनोपगे, ज्वरहरे च महाकषाये (सू. अं. ४) तथा कटुकस्कन्धे (वि. अ. ८) पीलुः पठ्यते। सुश्रुते (सु. अ. ३९) शिरोविरेचनद्रव्येषु पीलुपुष्पं पठ्यते। "तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च। तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित्।।" (सु. सू. अ. ४६)। "x x पीलु x x। ×× दोषघ्नं गरहारि च।" (च. सू. अ. २७) 'रक्तपित्तहरः पीलुः फलं कटुविपाकि च। अर्शोघ्नं बस्तिशमनं सस्नेहं कफवातजित्।। पीलुजस्तु रसः स्वादुर्गुल्मार्शोघ्नस्तु तीक्ष्णकः।" (ध. नि.)। लघ्वाह्वः कटुकः पीलु कषायो मधुराम्लकः। सरः स्वादुश्च गुल्मार्शः शमनो दीपनः परः ।। मधुरस्तु महापीलुर्वृष्यो विषविनाशनः। पित्तप्रशमनो रुच्य आमघ्नो दीपनायकः।। (रा. नि.)।

पीलु तिक्त, कटु, कटुविपाकी, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, किंचित् स्निग्ध, सारक, शिरोविरेचन, विरोचनोपग, ज्वरहर, पित्तकर तथा गर (कृत्रिमविष), कफ, वात, रक्तपित्त, अर्श और बस्ति के रोगों को दूर करनेवाला है। पीलु के फल का रस मधुर, तीक्ष्ण और गुल्म तथा अर्श का नाश करनेवाला है। छोटा पीलु कटु, कषाय, खटमीठा, स्वादिष्ट, सारक, दीपन और गुल्म तथा अर्श का नाश करनेवाला है। बड़ा पीलु मधुर, वृष्य, रुचिकर, दीपन, पित्तप्रशमन तथा विष और आम का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—छोटे पीलु की पत्तियाँ सनाय जैसी रेचक हैं। बीजों के तैल की क्रिया राई के तैल के समान है। तैल संधिवात में लगाते हैं। मूल की छाल उत्तेजक, स्वेदजनन और थोड़ी मूत्रजनन है। मूल की छाल का क्वाथ ज्वर में जब रोगी प्रलाप करता हो, और अशक्त होता हो तब चेतनावर्धनार्थ देते हैं। बड़े पीलु की पत्तियाँ उष्णवीर्य, वातनाशक, मूत्रजनन और क्षीरजनन है। छाल तिक्त, उष्णवीर्य, दाहजनक और उत्तेजक है। फल उष्णवीर्य, लघु, दीपन, वातनाशक और मूत्रजनन हैं। फल में पुष्कल शर्करा होती है। संधिवात और प्लीहावृद्धि में फल देते हैं। बीजों से तैल निकालते हैं जो गाढ़ा, हरापन लिये तीक्ष्ण गंधवाला होता है। जीर्ण संधिवात में तैल की मालिश करने से पीड़ा कम होती है। तैल बंबई में 'खाखण का तैल' के नाम से मिलता है। (डॉ वा. ग. देसाई)।

कुटजादि वर्ग ५७.

N. O. Apocynaceae (ॲपोसाइनेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थगर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख या चक्राकार; पर्ण सादे, अखंड और उपपत्ररहित; पुष्प शाखाग्रोद्भूत; पुष्पाभ्यन्तरकोश और पुष्पबाह्यकोश के दल ४–५; पुंकेशर ४–५; फल सेम, गोल या लंबगोल; एक वृंत पर दो सेम साथ होती हैं।

(२१०) कुटज।

नाम--(सं.) शक्र, वृक्षक, कुटज, गिरिमल्लिका, वत्सक; (हिं. कुड़ा, कुरैया; (बं.) कुर्डचि; (म.) कुडा; (गु.) कडो; (ले.) स्वेतकुटज--होलेन्हेना अॅन्टिडिसेन्टेरिका (Holarrhena antidysenterica); असित--कुटज--राइटिआ टिन्क्टोरिआ (Writia tinctorea) (ज.) बीज—(सं.) इन्द्रयव, कलिङ्गक; (हि.) इन्द्रजव, इन्द्रजौं; (म.) इन्द्रजव; (गु.)इन्द्रजव।

वर्णन—कुटज में सितकुटज (सफेद कुड़ा) और असितकुटज (काला कुड़ा) ये दो जातियाँ होती हैं। सफेद कुड़ा के बीज कड़ुए (कड़वे इंद्रजव) और काला-कुड़ा के बीज मीठे (मीठा इद्रजव) होते हैं। वृक्ष ४ से १०–१२ फुट ऊंचा होता है। पुष्प श्वेत वर्ण के जाई जैसे सुगन्धित होते हैं। कड़वे इद्रजव में दो सेम की जोड़ी होती हैं परंतु दोनों सिरे पर अलग रहती हैं और मीठे इंद्रजव की सेम की जोड़ी सिरे पर जुड़ी हुई होती है।

गुण–कर्म–चरके—वमनद्रव्येषु (सू. अ. २); तथा अर्शोघ्ने, कण्डूघ्ने स्तन्यशोधने, आस्थापनोपगे च महाकषाये (सू. अ. ४) कुटजः पठ्यते। "कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानाम्" (च सू. अ. २५)। "रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः। हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते॥" (च. क अ. ५)। सुश्रुते--(सु. अ. ३८) आरग्वधादौ, पिप्पल्यादौ (इन्द्रयवः), हरिद्रादौ (कुटजबीजं), बृहत्यादौ (कुटजफलं), लाक्षादौ च गणे तथा ऊर्ध्वभागहरद्रव्येषु (सू. अ. ३९) कुटजः पठ्यते। "कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः। अर्शोऽतिसारपित्तास्रकफतृष्णामकुष्ठजित्॥" (भा. प्र.)। "तत्पुष्पं शीतलं तिक्तं कषायं लघु दीपनम्। वातलं कफपित्तास्रकुष्ठातीसार-जन्तुजित्॥" (कै. नि.) "शक्राह्वाः कटुतीक्ष्णोष्णास्त्रिदोषघ्नाश्च दीपनाः। रक्तार्शांस्यतिसारं च घ्नन्ति शूलं कृमींस्तथा॥" (ध. नि.)।

कुड़ा तिक्त, कषाय, रूक्ष, शीतवीर्य, दीपन, वामक, अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग, सांग्राहिक, उपशोषण तथा कफ, पित्त, रक्तपित्त, हृद्रोग, ज्वर, वातरक्त, विसर्प, अतिसार, तृषा, आम और कुष्ठ को मिटानेवाला है। कुड़ा के पुष्प तिक्त, कषाय, शीतवीर्य, लघु, दीपन, वातकर तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, कुष्ठ, अतिसार, और कृमि का नाश करनेवाले हैं। इन्द्रजव तिक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, त्रिदोषघ्न, दीपन तथा रक्तार्श, अतिसार, शूल और कृमि का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—सफेद कुड़े की छाल में एक बहुत कड़ुआ सत्त्व होता है। गिलोय के सत्त्व निकालने की विधि से यह निकाला जाता है। यह पिष्टि (स्टार्च) जैसा और क्षारस्वभावी होता है। यह मद्य और जल में घुल जाता है। इन्द्रजव में एक कड़ुआ और रवादार (दानेदार) सत्त्व होता हैं। यह। मद्य में घुलता हैं परंतु जलमें नहीं घुलता

कुड़ा की छाल इपिकाक्युआना के समान तिक्त, दीपन, स्तम्भन, नियतकालिकज्वर-प्रतिबंधक, ज्वरहर और बल्य है। छाल और बीजों में रक्तसंग्राहक और वेदना-स्थापन गुण है। बीजों के सेकने से संग्राहक गुण बढ़ता है। रक्तप्रवाहिका में कुड़ा के मूल को छाल के तुल्य दूसरी औषध नहीं है। ताजे मूल की छाल खट्टी छाछ में पीसकर ५ तोला की मात्रा में वह छाल ४-४ घंटे पर देने से ज्वर, बारंवार दस्त जाना और मल में रक्त आना कम होता है। आंव में इन्द्रजव का क्वाथ देते हैं। नवीन आंव में छाल से विशेष गुण नहीं होता परंतु जीर्ण आंव में निश्चित गुण होता है। हमेशा ताजी छाछ का उपयोग करना चाहिये, क्योंकि वह सूखने पर निरुपयोगी हो जाती है। ताजी छाल की घनरसक्रिया कर के रख लेने से काम चलता है। कुटज के घनक्वाथ के साथ अतीस, बच और शहद मिलाकर देते हैं। बच्चों के रक्तातिसार में कड़वा इद्रजव और नागरमोथा का क्वाथ देते हैं। संग्रहणी में छाल के साथ कषाय, सुगन्धि और बल्य औषध पिला, क्वाथ करके अथवा सेका हुआ इन्द्रजव देते हैं। कड़वे इन्द्रजव का चूर्ण हररोज खाने से भूख बढ़ती है, अन्न पचता है, पेट में हवा भरती नहीं और कृमि हो तो मरकर निकल जाते हैं। इन्द्रजव के फांट से अर्श से रक्त गिरता हो तो बंद होता है। मसूड़ों से रक्त बहने और मसूड़ों में पूय होने पर इन्द्रजव मसूड़ों पर मलने से लाभ होता है। काला कुड़ा अल्पप्रमाण में देने से आमाशय और यकृत की क्रिया सुधरती है परंतु अधिक प्रमाण में देने से उलटी और जुलाब होते हैं। कोमल पत्तियों का स्वरस १ ड्राम भर देने से कामला में लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग—मूल की छाल और बीज (इन्द्रजव)। **मात्रा**—मूलत्वचा १–२ तोला क्वाथ करके। इन्द्रजव चूर्ण ४–८ रत्ती।

(२११) सप्तपर्ण।

नाम-(सं.) सप्तपर्ण; (हिं.) सतौना, छतिबन; (पं.) सतौना; (बं.) छातिम; (म.) सातवीण; (गु.) सातवण; (ते.) एडाकुलरिटि; (ता.) एळिलप्पाले; (म.) ळिलंप्पाल; (का.) हाले; (ले.) एल्स्टोनिआ स्कोलेरिस् (Alstonia scholaris)।

वर्णन—सप्तपर्ण का जंगलों में बड़ा विशाल वृक्ष होता है। इसमें प्रायः सात (५–८ तक) पर्ण एकसाथ लगते हैं; इसलिये इसको सप्तपर्ण कहते हैं। पुष्प श्वेत वर्ण के गुच्छों में लगते हैं। छाल भंगुर; छाल का स्वाद कडुआ होता है।

गुण-कर्म–**चरके** (सू. अ. ८) कुष्ठघ्ने, उदर्दप्रशमने च महाकषाये तथा (वि. अ. ८) तिक्तस्कन्धे, कषायस्कन्धे शिरोविरेचनद्रव्येषु (सप्तच्छदपुष्पं) च सप्तपर्णः पठ्यते। **सुश्रुते** (सू. अ. ३८) आरग्वधादौ, लाक्षादौ च गणे तथा (सू. अ. ३९) अधोभागहरद्रव्येषु सप्तपर्णः (सप्तच्छदक्षीरं) पठ्यते।

'त्रिदोषशमनो हृद्यः सुरभिर्दीपनः सरः। शूलगुल्मकृमीन् कुष्ठं हन्ति शाल्मलिपत्रकः ॥" (ध. नि.) । सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित् । दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः ॥" (भा. प्र.) ।

सप्तपर्ण तिक्त,कषाय,स्निग्ध,उष्णवीर्य, सारक, दीपन,सुगंधि ,हृद्य,त्रिदोषघ्न तथा कुष्ठ, उदर्द, गुल्म,कृमि, व्रण रक्तविकार और श्वास को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत–सप्पपर्ण की छाल में २ प्रतिशत पिष्ट जैसा कुछ रवेदार, अतितिक्त और क्षारस्वभावी सत्त्व होता है। यह मद्य और जल में घुलनेवाला होता है । इस सत्त्व के गुण कुनैन के समान हैं। यह नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक, ज्वरघ्न, कटुपौष्टिक, कृमिघ्न और स्तन्यजनन है । समग्रत्वचा में स्तंभन गुण अधिक है। **मात्रा**–छाल का चूर्ण २–४ तोला ले, उसका फांट या क्वाथ कर के देवें । सत्त्व १५-३० रत्ती दिन में ३-४ बार देना चाहिये । सर्वप्रकार के ज्वर और पचननलिका के रोगों में सप्तपर्ण देते हैं । इससे कुनैन के समान गुण होता है, परंतु कुनैन से जो त्रास होता है वह इससे नहीं होता। प्रसूतावस्था में पहले दिन से ही सप्तपर्ण सुगंधि पदार्थों के (उदा०––वच, अदरक, कचूर) साथ देते रहने से, ज्वर नहीं आता, अन्न ठीक पचता है और दूध बढ़ता है । त्वग्रोगों में सप्तपर्ण का बहुत प्रयोग किया जाता है । त्वचा पर सप्तपर्ण की उत्तेजक क्रिया होती है। पुराने व्रणों पर छाल का लेप करते हैं । पुराने अतिसार और आंव में छाल का क्वाथ उत्तम है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(२१२) करवीर ।

नाम–(सं.) करवीर, अश्वमारक; (हिं., पं.) कनेर; (कु.) कन्यूर; (बं.) करबी; (म.) कण्हेर; (गु.) कणेर, करेण; (फा.) खरजहरा; (सि.) जंगी गुलु; (क.) खरजहर; (अ.) सम्मुल्हिमार; (ले.) नेरियम् ओडोरम् (Nerium odorum) ।

वर्णन–कनेर का गुल्म फूलों के लिये बागों में लगाया जाता है । पुष्पों के रंग के भेद से इसके श्वेत (सफेद फूलवाला),रक्त (लाल फूलवाला) और पीत (पीला फूलवाला) ये तीन भेद प्रसिद्ध हैं ।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. ४) कुष्ठघ्ने महाकषाये तथा (वि. अ. ८) तिक्तस्कन्धे करवीरः पठ्यते । सुश्रुते (सू. अ. ३८) लाक्षादिवर्गे, शिरोविरेचनद्रव्येषु च(सू. अ ३९) करवीरः पठ्येत । "करवीरः कटुस्तिक्तो वीर्ये चोष्णो ज्वरापहः । चक्षुष्यः कुष्ठकण्डूघ्नः प्रलेपाद्विषमन्यथा ॥" (ध. नि.) । "करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकं च तत् । व्रणलाघवकृन्नेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम् ॥ वीर्योष्णं कृमिकण्डूघ्नं भक्षितं विषवन्मतम् ॥ (भा. प्र.) ।

कनेर तिक्त, कटु, कषाय, उष्णवीर्य, चक्षुष्य, ज्वरहर तथा प्रलेप से कुष्ठ, कण्डू नेत्रप्रकोप और व्रण को दूर करनेवाला है। भक्षण करने से विषप्रभाव दिखलाता है।

नव्यमत—पीले कनेर का क्षीर दाहजनक तीक्ष्ण विष है। छाल तिक्त, भेदन, जोरदार ज्वरघ्न और नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक है। १५ रत्ती सिंकोना की छाल से जितना असर होता है उतना १ रत्ती पीली कनेर की छाल से होता है। घन ½ रत्ती ज्वर उतरने के बाद देने से ज्वर की पारी रुकती है। फांट ज्वर चढने पर देते हैं। यह औषध भरे पेट देना चाहिये। खाली पेट कभी न दें। इसकी क्रिया शारीरिक उष्णता के केन्द्रस्थान और त्वचा पर होती है इसके देने पर खूब पसीना छूटता है और शरीर ठंडा पड़ता है। यदि अधिक थकावट मालूम हो तो गरम दूध और मद्य देना चाहिये। पीली कनेर की हृदय पर डिजीटेलीस् के समान क्रिया होती है। इसकी क्रिया साक्षात् हृदय, हृदय में जाने–आनेवाली नाड़ियों और हृदय के केन्द्र पर होती है। इससे हृदय की संकोचनक्रिया सुधरती है तथा संकोचन थोड़े समय में होने से हृदय को अधिक समय आराम मिलता है और आराम के समय में हृदय का रक्ताभिसरण अच्छा होकर उसको पुष्टि मिलती है। हृदय ठीक काम करने लगने से इतर इन्द्रियों का रक्ताभिसरण भी ठीक होता है। वृक्कों (गुर्दों) का रक्ताभिसरण बढ़ने से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। इन सर्व क्रियायों का उपयोग हृद्रोग और हृदयोदर में होता है। हृदय में शिथिलता आने से हृदय का स्पन्दन ठीक सुनने में न आता हो, नाड़ी कमजोर होकर बहुत शीघ्र चलती हो, पेशाब बहुत कम होती हो, जरा उठने-बैठने पर साँस भरती हो, बिछौने पर सोया न जाता हो, पाँव सूजकर पेट में पानी हो गया हो, ऐसी स्थिति में पीली कनेर या उसके समान कार्य करनेवाला डिजीटेलीस, सफेद कनेर, जंगली प्याज, कुटकी आदि द्रव्य देते हैं। इन द्रव्यों को मिलाकर नहीं देना चाहिये, क्योंकि ये द्रव्य स्वतः प्रभावशाली हैं। इन द्रव्यों के साथ स्वेदजनन, मूत्रजनन और विरेचन द्रव्य दे सकते हैं। सफेद और लाल कनेर की रासायनिक घटना स्ट्रोफेन्थिस् के समान है। सफेद और लाल कनेर की हृदय पर डिजीटेलीस जैसी जोरदार क्रिया होती है। यह हृदय के लिये घातक, शोथघ्न त्वग्दोषहर और सर्व प्राणियों के लिये विष है। अल्पमात्रा में मूल की छाल की क्रिया हृदय पर पीली कनेर के समान होती है। पीली कनेर से यह अधिक तीव्र है। मात्रा-मूल की छाल ½ से १ गुंजा। हृद्रोग और हृदयोदर में कनेर देने से पेशाब छूटता है और उदर कम होता है। इसको हमेशा भरे हुए पेट पर देना चाहिये। मात्रा अधिक होने पर शरीर ठंडा पड़ता है, नाड़ी का स्पंदन एकदम कम होता है, शरीर खिंचता है और हृदय तथा श्वासोच्छ्वास की क्रिया एक साथ बंद होती है। त्वग्रोग और व्रणशोथ में मूल को गोमूत्र में पीसकर लगाते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२१३) सर्पगन्धा ।

नाम–(सं.) सर्पगन्धक; (बनारस) धवलबरुवा; (बि.) धनमरवा, चंवमरवा, इसरगज; (बं.) चावड़ (र.), छोटा चाँद; (म.) अडकई (ले.) रुवोल्फिआ सर्पेन्टिना (Rauwolfia serpentina) ।

उत्पत्तिस्थान–बिहार में विपुल प्रमाण में तथा बंगाल और कोंकण में अल्प प्रमाण में होती है ।

वर्णन—सर्पगंधा का २-३ हाथ ऊँचा क्षुप होता है । कांड स्वाश्रयी, कांड की प्रत्येक सन्धि से ३-४ पत्र निकलते हैं । पुष्प जामुनी छाया लिये हुए लाल रंग के; फल मटर जितने बड़े और लाल रंग के; मूल अंगुली जितने बड़े भंगुर; और स्वाद अत्यंत तिक्ता मूल तोड़ने पर भीतर गोल चक्र और केन्द्ररेखा स्पष्ट दिखती है ।

गुण-कर्म-सुश्रुते (उ. तं. अ. ६०) मानसरोगहरे अपराजिते गणे सर्पगन्धा पठ्यते। आयुर्वेद में केवल सुश्रुते के अमानुषोपसर्गोऽध्याय में मानसरोगहर अपराजितगण में सर्पगंधा का उल्लेख मिलता है। बनारस, बिहार और बंगाल के लोग प्राचीन काल से उन्माद और अनिद्रा में इसका प्रयोग करते हैं ।

उपयुक्तअंग--मूल ।

नव्यमत–सन् १९३० में डॉ. कार्तिकचंद्र वसु की लेबोरेटरी में स्व.वा. म. अ. क. और गणनाथसेनजी डॉ.वसु ने सर्पगंधा की क्रियाओं का परीक्षण किया । इसमें १ प्रतिशत एक प्रकार का उपक्षार है। इसके अतिरिक्त जल, पिष्ट(स्टार्च), गोंद और लवण(सॉल्ट)है । लवणांश में पोटेशियम् कार्बोनेट, फोस्फेट और सिलिकेट के साथ केल्सिअम और मेंगेनीझ होता है ।इसमें किसी प्रकार का टेनिन (कषायद्रव्य) नहीं है। जीवच्छरीर के ऊपर इसकी क्रिया–यह उत्तम निद्रा लानेवाली और उत्तेजनाशामक है। इसके मूल का चूर्ण उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से अच्छी नींद आती है और उन्मत्तता का ह्रास होता है । इसका उपक्षार हृदय पर अवसादक क्रिया करता है और सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का विकास करता है । इसलिये रक्त का दबात्र (ब्लड प्रेशर)कम होता है । इसका उपक्षार गर्भिणी के जरायु का संकोच करता है। राल की रक्त के दबाब पर कोई क्रिया नहीं होती,परंतु उसके द्वारा निद्रा आती है । उन्माद के सब रोगियों को इससे लाभ नहीं होता । खूब उत्तेजित और बलवान् रोगी पर इसका प्रयोग करना चाहिये । दुर्बल, निस्तेज और मनोवसाद-(Meancholy)ग्रस्त रोगी पर सावधानी से इसका प्रयोग करना चाहिये । इन रोगियों के रक्त के दबाव की परीक्षा कर के यदि वह अधिक हो तब ही इसका प्रयोग करना चाहिये । जिन उन्मादरोगियों का रक्त का दबाव कम हो उनको इससे लाभ नहीं होता । प्रबल ज्वर में इसके सेवन से अशांतता और मोह दूर होता है; अच्छी नींद आती हैं, प्रलाप दूर होता है, आंखों का वर्ण स्वाभाविक होता है और

साथ में ज्वर का वेग भी कम होता है। अकारण लिंगोत्थान से जिनको निद्राभंग और सिर में दर्द होता हो तथा सुजाक (पूयमेह) के परिणामस्वरूप अत्यंत ध्वजोच्छ्राय से शिश्न टेढ़ा होता हो उनको यह फलप्रद है। इसकी क्रिया स्त्री और पुरुष दोनों पर समान होती है। (भारतीय भैषज्यतत्त्व से अनुवादित)।

मात्रा—रक्त का दबाव कम करने के लिये ५–१० ग्रेन; निद्रा लाने के लिये १५–३० ग्रेन; उन्माद के लिये १।–३ माशा। अनुपान–दूध, जल या गुलाब का अर्क और मिश्री।

---

(२१४) कृष्णसारिवा।

नाम–(सं.) कृष्णसारिवा, श्यामालता; (हिं.) कालीसर; (कु.) डुधिलो; (बं.) श्यामालता; (ले.) इक्नोकार्पस् फ्रुटिसन्स (Ichnocarpus frutescens)

वर्णन—इसकी लता हिमालय, बंगाल और दक्षीण कोंकण में होती है। पत्र छोटे-बड़े, लंबगोल, साधारणतः २–३ इंच लंबे और $\frac{३}{४}$ से १$\frac{१}{२}$ इंच चौड़े, पत्रवृंत $\frac{१}{४}$ इंच लंबा; पुष्प का गुच्छा पत्रकोण या शाखाग्र से निकलता है; पुष्प सफेदी लिये हुए जामुनी रंग के होते हैं। मूल सारिवा जैसे कालाई लिये भूरे रंग के; इसमें अनंतमूल जैसी सुगंधि नहीं होती।

गुण–कर्म–सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ गणे कृष्णसारिवा पठ्यते। "कृष्णमूली तु संग्राही शिशिरा कफपित्तजित्। तृष्णारुचिप्रशमनी रक्तपित्तहरा स्मृता।।" (ध. नि.)। "सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम्।। दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम्।। (भा. प्र.)।

कृष्णसारिवा मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, ग्राही, शुक्रकर तथा कफ, पित्त, तृषा, अरुचि, रक्तपित्त, अग्निमान्द्य, श्वास, कास, आम, विष, रक्तविकार, प्रदर, ज्वर और अतिसार का नाश करनेवाली है।

वक्तव्य—जहाँ केवल सारिवा लिखा हो वहाँ अनंतमूल और सारिवाद्वय लिखा हो वहाँ अनंतमूल और श्यामालता का मूल दोनों लिये जाते हैं।

अर्कादि वर्ग ५८.

N. O. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण अखंड, मोटे, उपपत्ररहित; पुष्प नियमित; पुष्पबाह्यकोश, पुष्पाभ्यंतरकोश और

पुंकेशर ५-५; फल युग्म; बीज रोम (रूई) युक्त। इस वर्ग को सब वनस्पतियों को ताजी हालत में तोड़ने से क्षीर-दूध निकलता है।

---

(२१५) अर्क ।

नाम–(सं.) अर्क, मन्दार; (हिं.) आर्क, मदार; (कु.) आंक; (बं.) आकंद; (म.) रुई; (गु.) आकडो; (फ. सि. पं.) अक; (ले.) कैलोट्रोपिस् प्रोसिरा (Calotropis procera)।

वर्णन–आक भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। पत्ते लंबे, मोटे और चौड़े होते हैं। पत्रकोण से पुष्पदंड निकलता है जिस पर छत्राकार में पुष्पगुच्छ लगता है। फूल बाहर से सफेद और ललाई लिये बेंगनी रंग के होते हैं। केवल श्वेतपुष्पवाला आक भी होता है। फल में से मुलायम रूई निकलती है।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) भेदनीये, स्वेदोपगे, वमनोपगे ('सदा पुष्पा' नाम्ना) च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३) अर्कादिगणे, अधोभागहरे च गणे (सू. ३९) अर्कः पठ्यते। 'क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने।" (च. सू. अ. १) "अर्कस्तिक्तो भवेदुष्णः शोधनः परमः स्मृतः। कण्डूव्रणहरो हन्ति जन्तुसंततिमुद्धताम् ॥" (ध. नि.)। "अर्कस्तु कटुरुष्णश्च वातजिद्दीपनीयकः। शोथव्रणहरः कण्डूकुष्ठक्रिमिविनाशनः ॥" (रा. नि.)। "अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषव्रणान्। निहन्ति प्लीहगुल्मार्शः श्लेष्मोदरशकृत्क्रिमीन् ॥ अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम्। अरोचकप्रसेकार्शः कासश्वासनिवारणम् ॥ क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु। कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥" (भा. प्र.)।

आक तिक्त, कटु, उष्णवीर्य, शोधन, भेदन, स्वेदोपग, वमनोपग, दीपन तथा कण्डू, व्रण, वात, शोथ, कुष्ठ, कृमि, प्लीहरोग, गुल्म, अर्श, कफ और उदररोग का नाश करनेवाला है। आक के फूल वृष्य, लघु, दीपन, पाचन तथा अरुचि, प्रतिश्याय, खांसी और श्वास का नाश करनेवाला है। आक का क्षीर तिक्त, किंचित् लवण, उष्णवीर्य, स्निग्ध, वमन और विरेचन करनेवाला तथा कुष्ठ, गुल्म और उदररोग को दूर करनेवाला है।

नव्यमत--मूल की छाल, कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, पित्तस्रावी, स्वेदजनन, कफघ्न, वामक, संकोचविकासप्रतिबन्धक, जीवनविनिमयक्रियारसग्रन्थि और त्वचा के लिये उत्तेजक, बल्य और रसायन है। छाल अल्पमात्रा में आमाशय की प्रत्यक्ष उत्तेजक है। इससे आमरस ठीक बहने लगता है। बड़ी मात्रा से आमाशय में दाह होता है और उससे वमन होता है। छाल के अन्तर्गत उपयुक्त द्रव्य रक्त में शीघ्र मिल जाता है। यह त्वचा से निकलते समय त्वचा पर प्रत्यक्ष उत्तेजक क्रिया करता है,

और त्वचा की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का विकास होता है। यह उपयुक्त द्रव्य (वीर्य)रक्त में बहता हुआ श्वासोच्छ्वास के और वमन के केन्द्र पर प्रत्यक्ष क्रिया करता है। इस केन्द्रस्थान को उत्तेजन मिलने से वमन होता है। आक का वामक कार्य प्रत्यक्ष आमाशयद्वारा और परस्पर या वामक केन्द्र द्वारा होता है। इसका स्वेदजनन धर्म उत्तम है। इससे पुष्कल पसीना आता है। संकोचविकासप्रतिबंधक धर्म साधारण है और यह श्वासनलिकाओं पर विशेष स्पष्ट मालूम होता है। इसका रसायनधर्म पारद के समान उत्तम है। इसके अन्तर्गत वीर्य शरीर में संचार होते समय यकृत् की क्रिया सुधरती है और पित्त का स्राव अच्छा होता है, शरीरान्तर्गत विभिन्न ग्रन्थियों को उत्तेजना मिलने से उनके रस अच्छी तरह से तैयार होते हैं और जीवनविनिमयक्रिया को उत्तेजना मिलती है इसलिये शरीर की पुष्टि और बल बढ़ता है। इन धर्मों से आक को 'उत्तेजक बल्य' कहा गया है। अन्तस्त्वचा, बाह्यत्वचा और त्वचा के नीचे का ढीला स्तर इनके रोगों में मूल की छाल देते हैं और उससे लाभ होता है। सर्व प्रकार के व्रण वे सादे हों, रक्तदोष से हुए हों या उपदंश से हुए हों उनमें और श्लीपद में छाल खाने को देते हैं और उसका लेप करते हैं। श्लीपद में आक के मूल की छाल के साथ रससिंदूर, सुरमा (स्रोतोञ्जन-अँन्टिमनी सल्फाइड) और सांभारसींग-भस्म देते हैं। बद और गंडमाला में मूल की छाल खाने को देते हैं और क्षीर लगाते हैं। सर्व प्रकार के जीर्ण त्वग्रोगों में छाल का चूर्ण निमोली के तैल में मिलाकर लगाते हैं। यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि और उससे उत्पन्न उदररोग में मूल की छाल से लाभ होता है। जीर्ण और नूतन आंव में मूल की छाल सुगन्धि द्रव्यों (सौंफ, गुलाबपुष्प, दालचीनी) आदि के साथ देते हैं। जीर्णज्वर और शीत ज्वर में मूल की छाल नागरपान के साथ देते हैं। अर्कपुष्प दीपन, कफघ्न और संकोचविकासप्रतिबन्धक हैं। खांसी, दमा क्षुधानाश और कुपचन रोग में फूलों से अच्छा लाभ होता है। अर्कपत्र वातहर, शोथहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण और आनुलोमिक हैं। पत्रचूर्ण व्रण पर छिड़कने से व्रण का शीघ्र रोपण होता है। पत्तों पर एरंडतैल लगा, उनको गरम कर के सूजन पर बांधने से पीड़ा कम होकर सूजन उतरती है। (डॉ. वा. ग. देसाई कृत औषधिसंग्रह सारांशरूप में उद्धृत)।

---

(२१६) सारिवा।

नाम––(सं.) अनन्ता, उत्पलसारिवा, गोपी, गोपकन्या, सारिवा; (हि., बं.) अनंतमूल; (म.) उपरसाल, उपलसरी; (गु.) उपलसरी, कागडियो कुंढेर, कपूरीमधुरी; (ले.) हेमिडेस्मस इण्डिकस् (Hemidesmus Indicus)।

वर्णन—सारिवा की ५–१५ फुट लंबी लता होती है। कांड बारीक, कालाई लिये लाल रंग का; पर्णविन्यास अभिमुख; पत्रवृन्त छोटा; पत्ते छोटे–बडे, लंबे, मध्य में श्वेतरेखांकित; पुष्प पत्रकोणोद्भूत, छोटे, जामुनी छाया लिये हुए हरे रंग के गुच्छों में; फल युग्म, शिम्बी; मूल लंबे, गोल, जरा टेढे–मेढे, लाल रंग के सुगंधि; मूल का स्वाद मधुर और जरा तिक्त होता है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) स्तन्यशोधने, पुरीषसंग्रहणीये ज्वरहरे, दाहप्रशमने च महाकषाये; मधुरस्कन्धे (गोपवल्लीनाम्ना) (वि. अ. ९) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ, सारिवादौ, वल्लीपञ्चमूले च गणे सारिवा पठ्यते। "सारिवे द्वे तु मधुरे पित्तवातास्रनाशने। कण्डूकुष्ठज्वरहरे मेहदुर्गन्धिनाशने॥" (ध. नि.)। "सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम्॥ दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम्॥" (भा. प्र.)।

अनंतमूल मधुर, स्निग्ध, गुरु, शुक्रकर, वर्ण्य, कण्ठ्य, स्तन्यशोधन, पुरीषसंग्रहणीय, दाहप्रशमन तथा वातादि तीनों दोष, रक्तविकार, ज्वर, कण्डू, कुष्ठ, प्रमेह, शरीर की दुर्गन्ध, अग्निमान्द्य, अरुचि, श्वास, खांसी, आंव, विष और अतिसार को दूर करनेवाला हैं।

नव्यमत—अनंतमूल में एक सुगन्धि और बाष्प के साथ उड़नेवाला वीर्य है, इसलिये अनंतमूल का क्वाथ नहीं करना चाहिये। यह वीर्य मूल की छाल में होता है, भीतर के काष्ठ में नहीं होता है। इसलिये हमेशा बारीक और नये मूल लेने चाहिये। मूल मोटे हों तो मूल की त्वचा ही लेनी चाहिये। अनंतमूल मूत्रविरेचन, मूत्रविरजन, स्वेदजनन, दीपन जीवनविनिमयक्रिया को उत्तेजक, बल्य, त्वग्दोषहर और रसायन है। अनंतमूल के फांट से मूत्र का प्रमाण तिगुना चौगुना बढ़ने पर भी मूत्रपिंडों को कुछ भी त्रास नहीं होता। गिलोय और सौंफ मिलाने से अनंतमूल की क्रिया बढ़ती है। अनंत मूल का फांट मूत्रपिंड (गुर्दे) के शोथ और संकोचन में अतिगुणकारक है। इस रोग में अनंतमूल गिलोय और जीरे के साथ देते हैं। अनंतमूल से त्वचा की जीवनविनिमयक्रिया सुधरती है और बारीक रक्तवाहिनियों का थोड़ासा विकास होता है। ज्वर में इसके फांट से पसीना और पेशाब होता है, शरीर की उष्णता कम होती है और पचनक्रिया बढ़ती है। सर्व प्रकार के त्वग्रोगों और उपदंश की द्वितीयावस्था में अनंतमूल गिलोय के साथ देने से अच्छा लाभ होता है। गंडमाला में अनंतमूल बायविडंग के साथ देते हैं। क्षुधानाश और कुपचन रोग में अनंतमूल देने से आमाशय की शक्ति बढ़ती है, भूख लगती है, अन्न पर रुचि उत्पन्न होती है और अन्न ठीक हजम होता है। शरीर की थकावट, वजन कम होना, प्रदर, जीर्ण आमवात और रक्तदोष से उत्पन्न पांडुरोग में अनंतमूल गुणकारक है। उपदंश

या सुजाक से गर्भपात होता हो अथवा बच्चा पैदा होते ही मरता हो, ऐसी स्थिति में अनंतमूल देने बालक बच जाता है। गर्भ रहने पर प्रसवकाल तक स्त्री को अनंतमूल का सेवन कराना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२१७) जीवन्ती।

नाम--(सं.)जीवन्ती, शाकश्रेष्ठा; (म.) खानवोडकी, शिरदोडी; (गु.) वोडी, डोडी, खरणेर, मीठी खरखोडो, राडारूडी; (ले.) होलोस्टेमा एन्युलर, लेप्टेडेनिआ रेटिक्युलेटा (Holostemma unnulare; Leptadenia reticulata)।

वर्णन--जीवन्ती की लता चातुर्मास में होती है। पत्र हृदयाकृति; पुष्प आक के समान, जामुनी छाया लिये हुए श्वेतवर्ण के या पिलाई लिये हरे रंग के; सेम २-४ इंच लंबी; कच्ची सेम का शाक बनाकर खाते हैं; साग मधुर और स्वादिष्ट होता है। जिसकी सेम को तोड़ने से सफेद दूध निकलता है उसको जीवन्ती और जिसकी सेम को तोड़ने से पीला दूध निकलता है उसको स्वर्णजीवन्ती कहते हैं।

गुण कर्म—चरके (सू. अ. ४) जीवनीये महाकषाये, मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) च, तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) काकोल्यादिगणे जीवन्ती पठ्यते। "चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी समुदाहृता" (सु. सू. अ. ४६)। "चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा। शाकानां प्रवरा" (ध. नि.)। "जीवन्ती मधुरा शीता रक्तपित्तानिलापहा। क्षयदाहज्वरान् हन्ति कफवीर्यविवर्धिनी॥" (रा. नि)। "जीवन्ती मधुरा शीता सुस्निग्धा ग्राहिणी लघुः। चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी बल्या वृष्या रसायनी।" (कै. नि.)।

जीवन्ती मधुर, स्निग्ध, लघु, शीतवीर्य, चक्षुष्य, बल्य, वृष्य, रसायन, ग्राही, कफ और वीर्य को बढानेवाली तथा वातादि तीनों दोष, रक्तपित्त, क्षय, दाह और ज्वर को दूर करनेवाली है।

नव्यमत-जीवन्ती, स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन और शोथघ्न है। नये सुजाक में मूल का क्वाथ जीरे का चूर्ण, मिश्री और दूध मिलाकर देते हैं। इससे मूत्रनलिका की जलन कम होती है, पेशाब पुष्कल छुटती है और सुजाक शांत होता है। शुक्रस्राव में इसके मूल और सेमलमुसली दूध और चीन के साथ देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग--मूल। **मात्रा**-मूलचूर्ण ३ माशा; क्वाथ के लिये मूल १ तोला।

कारस्करादि वर्ग ५९.

N. O. Loganiaceae (लोगेनिएसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थगर्भाशय; पर्णक्रम अभिमुख; पर्ण अखंड, उपपत्ररहित, मसृण; पुष्प हरापन लिये शाखा के अग्र पर आते हैं; फल मांसल।

---

(२१८) कारस्कर (कुचला)।

नाम--(सं.) कारस्कर, विषतिन्दुक, काकतिन्दुक, कुपीलु; (हिं.) कुचला, (बं.) कुंचिला; (म.) काजरा; (गु.) झेरकोचला; (अ.) अजराकि, हब्बुल् गुराब; (फा.) कुचूला, फुलूसेमाही; (ले.) स्ट्राइक्नोस् नक्स्वोमिका (Strychnos nuxvomica)।

वर्णन—कुचला का बड़ा वृक्ष होता है। पत्र चमकीले; फल तेंदू के फल के समान; बीज अधेली जितने चौड़े, एक बाजू पर दबे हुए; दूसरी बाजू पर फूले हुए, बारीक लोमयुक्त; भीतर की गिरी लचीली, गंधरहित और अत्यंत तिक्त होती है।

उपयुक्त अंग--शुद्ध की हुई बीज की गिरी। मात्रा-.॥.-१ गुंजा।

गुण-कर्म—"कारस्करः कटूष्णश्च तिक्तः कुष्ठविनाशनः। वातामयास्न-कण्डूति कफामर्शोव्रणापहः॥" (रा. नि.)।

कुचला कटु, तिक्त, उष्णवीर्य तथा कुष्ठ, वातरोग, रक्तविकार, खाज, आम, अर्श और व्रण को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—कुचला में स्ट्रिक्नीन और ब्रुसीन नाम के दो तीव्र जहरीले सत्त्व पाये जाते हैं। कुचला तिक्त, दीपन, पाचन, कटुपौष्टिक, नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक, बल्य और वाजीकर है। बीज का लेप पूतिहर और वेदनास्थापन है। कुचला से शरीर के सब अवयवों की क्रियाएँ उत्तेजित होती हैं। नाडीसंस्थान के ऊपर इसकी विशेष क्रिया होती है। मस्तिष्क के ऊपर इसकी विशेष क्रिया नहीं होती, परंतु मस्तिष्क के नीचे जो जीवनीय केन्द्र हैं उन पर और पृष्ठवंश की नाडियों पर इसकी विशेष उत्तेजक क्रिया होती है। श्वासोच्छ्वास के केन्द्रस्थान को उत्तेजन मिलने से रोगी की श्वास लेने की शक्ति बढ़ती है, अच्छी तरह से खाँसा जाता है और कफ गिरता है। हृदय और रक्तवाहिनियों के केन्द्रस्थान को उत्तेजन मिलने से हृदय की संकोचन-विकसन क्रिया ठीक होती है, रक्तवाहियों की स्थिति सुधरती है और रक्त का दबाव बढ़ता है। कुचला शीतज्वर में गुणकारक है। इससे ज्वर की बारी रुकती है और शीतज्वर के दुष्परिणाम नहीं होते। कुचला से आमाशय की शक्ति बढ़ती हैं और पचनक्रिया सुधरती है, कुपचन और जीर्ण अभिष्यंदयुक्त

आमाशय के रोगों में कुचला देते हैं । आमाशय की अपेक्षया आँतों पर विशेषतः बड़ी आँत पर कुचला की जोरदार क्रिया होती हैं । इससे आँतों की चलनशक्ति बढ़ती है । आँतों की शिथिलता में सुगन्धि द्रव्यों के साथ कुचला देते हैं । अल्प प्रमाण में कुचला देने से कब्ज दूर होता है । अर्दित, अर्धांगवात आदि नाड़ियों के रोगों में जो गतिभ्रंश और ज्ञानभ्रंश होता है, उसमें कुचला देते हैं । बच्चों का शय्यामूत्र, हस्तमैथुन के अनंतर अपने आप वीर्य स्खलन, अतिमैथुन से उत्पन्न नपुंसकता; मूत्राशय की अशक्तता मानसिक थकावट से उत्पन्न अनिद्रा; इन रोगों में कुचला से लाभ होता है । हृदय में शिथिलता आने से हृदय का स्पन्दन ठीक सुनने में न आता हो, नाडी की गति मंद-अति त्वरित किंवा खंडित होती हो, जरासा श्रम करने पर पसीना आता हो और दम भर आता हो ऐसी स्थिति में कुचला देना आवश्यक है । हृत्पटल के जीर्ण रोग में हृदय में शिथिलता आती है और हृदय बड़ा होता है, हाथ-पाँव में सूजन आती है, पेट में जल जमता है, यकृत् बड़ा होता है, मूत्र कम और लाल रंग का होता है, दस्त साफ नहीं होता, अन्न पचता नहीं, पेट फूलता है, सोने से जी घबराता है, इसलिये दिन-रात बैठा रहना पड़ता है, ऐसी स्थिति को हृदयोदर कहते हैं । इसमें कुचला का अर्क देते हैं और साथ में इतर सहायक औषध जैसे-कफ की प्रधानता हो तो कफघ्न द्रव्य, हींग और कपूर; जलशोथ की प्रधानता हो तो स्वेदजनन, मूत्रजनन और रेचन द्रव्य तथा कॉफी आदि देना चाहिये । फुफ्फुस के तीव्र रोगों में जब श्वासक्रिया ठीक नहीं चलती, जी घबराता है और रोगी थकने लगता है तब कुचला देते हैं । श्वासनलिकाशोथ, फुफ्फुसशोथ और दमें में उत्तेजक कफघ्न औषधों के साथ कुचला देते हैं । राजयक्ष्मा में कुचला से रात्रि को स्वेद आना बंद होता है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

विषलक्षण और चिकित्सा--

कुचला अल्पमात्रा में बलकारक, दीपन और कामोत्तेजक है । सेवन करने से पाचनशक्ति बढ़ती है, भूख लगती है और पेशाब अधिक होती है । कुछ अधिक मात्रा में खाने से सुषुम्णाकांड पर क्रिया करता है, मुखमंडल और ग्रीवा की पेशियों में खींचाव (आक्षेप) होता है, हाथ-पाँव में कंप और श्वासोच्छ्वास में कुछ कष्ट मालूम होता है; कुछ देर के बाद अन्य पेशियों में भी आक्षेप मालूम होने लगता है; स्पर्शज्ञान उत्तेजित होता है अर्थात् किसी अंग को एकदम स्पर्श करने से समग्र शरीर काँपता है और रोयें खड़े होते हैं । विषमात्रा में सेवन करने से पूर्वोक्त लक्षण बढ़कर धनुर्वात के लक्षण होते हैं । पाँव से सिर तक समग्र पेशियाँ आक्षिप्त होकर कठिन हो जाती हैं । ग्रीवा की पेशियों के आक्षेप से सिर पीछे की ओर मुड़ जाता है । मुंह ऐसा बंद हो जाता है कि किसी तरह खुलता नहीं । मुखमंडल की पेशियों के आक्षेप से मुखमंडल भयानक विकृत दिखता है । हाँथ-पाँव प्रसारित और कठिन हो जाते हैं-मुड़ते नहीं । हाथ की मुट्ठी बद्ध हो जाती है । पृष्ठप्रदेश की

पेशियों के आक्षेप से शरीर धनुर्वात के समान पीछे की ओर मुड़ जाता है। १–५ मिनट यह हालत रहकर समग्र शरीर कुछ शिथिल होता है। ८–१० मिनट के बाद फिर आक्षेप आता है। श्वास-प्रश्वास संबंधी पेशियों के आक्षेप से श्वास की गति द्रुत और असंपूर्ण होती है, आक्षेप के समय प्रायः रुक जाती है प्रतिबार आक्षेप के बाद शरीर दुर्बल होता जाता है और नाड़ी क्षीण, क्वचित् मंदगति होती है। इस प्रकार वारंवार आक्षेप होते होते एकदम श्वास रुक कर मृत्यु होती है। मरण पर्यंत चैतन्य (होश) रहता है। अधिक मात्रा में सेवन करने से १०–३० मिनट में विषलक्षण प्रकाशित होते हैं और ५–६ आक्षेप होने के बाद मृत्यु होती है। कुचलाद्वारा विषाक्त होने आमाशय से विष निकाल देना प्रधान उद्देश्य होता है। इसलिये अर्कमूलत्वचा, मैनफल, गंधकाम्लीय यशद (झिंक सल्फेट) आदि वामक द्रव्यों से वमन कराना चाहिये। पीछे स्टमक पंप से आमाशय को वारंवार धोना चाहिये। पीछे दूध में गाय का घी या अंडे की सफेदी मिलाकर पिलावें। बिहीदाने का लबाब पिलाना भी अच्छा है। पेशियों को शिथिल करनेवाले अफीम, बेलाडोना, कर्पूर, गांजा और तमाखू (फांट के रूप में) जैसे द्रव्य देने चाहिये। रोगी लेने में असमर्थ हो तो इंजेक्सन द्वारा औषध देनी चाहिये।

भूनिंबादि वर्ग ६०.

N. O. Gentiaceae (जेन्शिएनेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थगर्भाशय; पर्णक्रम अभिमुख; पर्ण सादे, अखंड, उपपत्ररहित; कांड प्रायः चतुष्कोण; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल तथा नरकेशर ५-५; फल नीरस; फल में पुष्कल छोटे बीज होते हैं।

---

(२१९) भूनिंब (चिरायता)।

नाम—(सं.) भूनिम्ब, किराततिक्त, किरात; (पं.) चरैता; (हिं.) चिरायता; (बं.) चिराता; (म.) किराईत; (गु.) करियातुं; (मा.) चिरायतो; (सि.) चिराईतो; (ले.) स्वर्टिआ चिरेटा (Swertia chirata)।

वर्णन—चिरायता हिमालय की तराई या मध्यप्रदेश में होता है। यह भारतवर्ष में सर्वत्र मिलता है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) स्तन्यशोधने, तृष्णानिग्रहणे च महाकषाये तथा (वि. अ. ८) तिक्तस्कन्धे च किराततिक्तः पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) आरग्वधादिगणे किराततिक्तः पठ्यते। "किरातको रसे तिक्तः सरः शीतो लघुस्तथा। श्लेष्मपित्तास्रशोफार्शःकासतृष्णाज्वरापहः॥" (ध. नि.)। "किरातः सारको रूक्षः शीतलस्तिक्तको लघुः। सन्निपातज्वरश्वासकफपित्तास्रदाहनुत्॥ कासशोथतृषाकुष्ठज्वरव्रणकृमिप्रणुत्।" (भा. प्र.)।

चिरायता तिक्त, रूक्ष, लघु, शीतवीर्य, सारक, स्तन्यशोधन तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, शोथ, अर्श, खांसी, श्वास, तृषा, ज्वर, रक्तविकार, दाह, कुष्ठ, व्रण, और कृमियों का नाश करनेवाला है।

नव्यमत-चिरायता दीपन, पाचन, कटुपौष्टिक, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन और आनुलोमिक है। इससे आमाशयरस बढ़ता है और अन्न का पचन होता है। यह उत्तम कटुपौष्टिक है। इसके साथ सुगन्धि द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। जीर्ण विषमज्वर में जब शरीर में ज्वर गुप्तावस्था में रहता हो और कुपचन तथा शरीर में दाह रहता हो तब चिरायता से बहुत फायदा होता है। श्वासनलिकाओं के शोथ और संकोच विकास से उत्पन्न दमा में इससे लाभ होता है। आमाशयकी शिथिलता में यह उत्तम औषध है। इससे दस्त साफ होता है। (डॉ. वा ग. देसाई)।

---

(२२०) त्रायमाणा।

नाम–(सं.) त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिसानुजा; (अ.) गाफिस।

वर्णन––त्रायमाणा के विषय मे सोलन (जि. शिमला) के वैद्यराज विद्याधरजी विद्यालङ्कार लिखते हैं कि–"सोलन में यह खनोग नामक पहाड़ की चोटी पर होती है। यह पहाड़ो लगभग ७ हजार फुट की ऊँची है। वहां श्वेत रंग के कोमल पत्थरों को चट्टानों के बीच-बीच में यह पैदा होती है। पत्थर की चट्टानों में कहीं-कहीं थोड़ासा गढ्ढा होता है वहीं ही त्रायमाणा उगती है। इसकी जड़ ४–६ अंगुल गहरी पत्थर में होती है। ऊपर तीन-चार लंबे पत्ते होते हैं जो चट्टान पर बिछे होते हैं। बीचो-बीच नाल निकल कर एक बालिश्त से कम ऊँची जाती है। उस पर नीले रंग के दो-तीन फूल लगते हैं। सोलन तथा सिरमोर में इसे कडू कहते हैं। वैष्णवी देवी (जम्मू के पास) के पहाड़ की चोटियों पर भी यह पैदा होती है। वहां इसे तीता कहते हैं। यह सितंबर में पुष्पयुक्त होती है तब इसका संग्रह करते हैं"। गुले गाफिस इस समय ईरान से आता है। मुहीते आजम में गाफिस का संस्कृत नाम त्रायमाण दिया है।

गुण--कर्म—चरके (वि. अ. ८) तिक्तस्कन्धे तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) लाक्षादिगणे त्रायमाणा पठ्यते। "त्रायन्ती कफपित्तास्रगुल्मज्वरहरा मता। उष्णा कटुकषाया च सूतिकाशूलनाशिनी। रक्तपित्तभ्रमच्छर्दिविषघ्नी तिक्तवल्कला ॥" (ध. नि)। "त्रायन्ती तुवरा तिक्ता सरा पित्तकफापहा। ज्वरहृद्रोगगुल्मास्रभ्रमशूलविषप्रणुत् ॥" (भा. प्र.)। "त्रायमाणाशृतं वाऽपि पयसा ज्वरितः पिबेत् ॥" (च. चि. अ. ३)।

त्रायमाणा तिक्त, उष्णवीर्य, सारक तथा पित्त, कफ, रक्तविकार, गुल्म; ज्वर, मक्कलशूल, रक्तपित्त, भ्रम, वमन, विष और हृद्रोग को दूर करनेवाली है।

यूनानीमत--गाफिस पहले दर्जे में गरम और दूसरे में रूक्ष; यकृत्-प्लीहा के अवरोधों को खोलनेवाला, दोषातारल्यजनन, दोषच्छेदन, लेखन, स्रोतोविशोधन, दग्धदोषविरेचन, मूत्रजनन, आर्तवजनन, स्तन्यशोधन, स्वेदन, दीपन और रक्तप्रसादन है। यकृत्-आमाशय का शोथ एवं काठिन्य, प्लीहाकाठिन्य, पांडुरोग, जीर्ण एवं दोषसंमिश्र ज्वर, कंडू और इन्द्रलुप्त इन रोगों में गाफिस का प्रयोग करते हैं। अहितकर-प्लीहा को। निवारण-असारून (तगर) और अफसंतीन। प्रतिनिधि-अनीसून। उपयुक्त अंग--पुष्प और पंचांग की रसक्रिया। मात्रा-३-५ माशा।

नव्यमत-स्वाद तिक्त। इससे भूख लगती है, आमाशयरस बढ़ता है (दीपन), अन्न पचता है, पित्त का स्राव होता है और दस्त साफ होता है। इसमें थोड़ा कोष्ठवातप्रशमन धर्म होने से पेट फूलने से जो हलका दर्द होता है वह कम होता है। इससे मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। इसका प्राचीन समय में आर्य वैद्य विशेष उपयोग करते थे। आजकल हकीमलोग इसका विशेष प्रयोग करते हैं। यह तिक्त होने से कुपचन रोग में और अग्निमांद्यजनित शरीरशैथिल्य में कटुपौष्टिक के रूप में इसका उपयोग करते हैं। इससे दस्त साफ होता है और यह पीड़ाशामक है इसलिये अर्श में देते हैं। इससे दस्त साफ होता है और मूत्र का प्रमाण बढ़ता है इसलिये प्लीहोदर, यकृदुदर, जलोदर और हृदयोदर में इसे देते हैं। मूत्रजनन और स्रंसन होने से जीर्णज्वर और पित्तज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इन सब रोगों में इतर योगवाही औषधि के साथ त्रायमाणा देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वक्तव्य--त्रायमाणा बड़ा उपयोगी द्रव्य है। वैद्यों को इसके प्रयोग से लाभ उठाना चाहिये। त्रायमाणा वैद्य विद्याधरजी विद्यालङ्कार पो. सोलन, जि. शिमला से प्राप्त हो सकती है। गाफिस नाम से यूनानी पनसारियों के यहाँ से मिलने वाली वनस्पति त्रायमाणा की ईरान में होनेवाली एक जाति है।

श्लेष्मातकादि वर्ग ६१.

N. O. Boraginaceae (बोरेजिनेसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; ऊर्ध्वस्थगर्भाशय; शाखा और पत्र खर; पर्णक्रम एकांतर; पर्ण उपपत्ररहित, अखंड, मोटे, बहुधा लोमयुक्त; पुष्प वाह्यकोश, पुष्पाभ्यन्तरकोश और पुंकेशर ४-८; फल में १-४ बीज होते हैं।

(२२१) श्लेष्मातक ।

नाम-(सं.) श्लेष्मात (न्त) क, कर्बुदार, शेलु, बहुवार; (पं.) लसूडा; (हि.) लसूड़ा, लिसोड़ा (रा); (म.) भोंकर; (गु.) वडगुंदा, गूंदा; (मा.) बडगूंदा, ल्हेसवा; (सिंध.) लेसूडो; (फा.) सपिस्तां, सपिस्तान; (ले.) कोर्डिआ ओब्लिक्वा (Cordia obliqua) ।

वर्णन—इसका बड़ा वृक्ष होता है। कच्चे फल का अचार और पके फल का शाक बनाते हैं। फल कच्चे हरे रंग के और पके हुए पिलाई लिये सफेद रंग के होते हैं। इसकी छोटी जात को गोंदी या गोंदनी कहते हैं। फल लिसोड़े से छोटा, पकने पर रक्तवर्ण और स्वाद में मधुर होता है।

गुण-कर्म—चरके (सु. अ. ४.) विषघ्ने महाकषाये श्लेष्मातकः पठ्यते। 'बहुवारो विषस्फोटव्रणवीसर्पकुष्ठनुत्। मधुरस्तुवरस्तिक्तः केश्यश्च कफपित्तहृत्॥ फलमामं तु विष्टम्भि रूक्षं पित्तकफास्रजित्। तत् पक्वं मधुरं स्निग्धं श्लेष्मलं शीतलं गुरु॥" (भा. प्र.)।

लिसोड़ा मधुर, कषाय, तिक्त, केश के लिये हितकर तथा कफ, पित्त और विष को दूर करनेवाला है। लिसोड़े का कच्चा फल विष्टम्भी, रूक्ष तथा पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करनेवाला है। लिसोड़े का पका हुआ फल मधुर, स्निग्ध, गुरु और शीतवीर्य है।

नव्यमत–छाल संग्राहक और पौष्टिक तथा फल स्नेहन और संग्राहक है। कफ को पतला करने और पेशाब की जलन कम करने के लिये तथा अतिसार में फल का क्वाथ देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–प्रकृति अनुष्णाशीत और स्निग्ध। पके हुए लिसोड़े दूसरे फलों के सदृश खाये जाते हैं। सूखी खांसी, उष्ण प्रतिश्याय तथा गले और श्वासनलिकाओं की रूक्षता दूर करने के लिये इसे मुंह में रखकर चूसते हैं या इसका फांट पिलाते हैं। पैत्तिक ज्वर, पेशाब की जलन तथा अतितृषा में इसका क्वाथ देते हैं। तीक्ष्ण विरेचन औषधों के दोषनिवारण के लिये उनके साथ मिलाकर प्रयोग करते हैं।

(२२२) गोजिह्वा ।

नाम–(सं.) गोजिह्वा, स्वरपत्रा, दर्वीपत्रा, गोजी; (हिं., म., गु., फा.) गावजवान; (पं.) काजवां; (क.) काहवान; (सि.) गाजवां; (अ.) लिसानुस्सौर (वृषजिह्वा); (ले.) ओनोस्मा ब्रॅक्टिएटम् (Onosma bracteatum) ।

उत्पत्तिस्थान--ईरान; अफगानिस्तान और हिमालय में काश्मीर से कुमाऊं तक का प्रदेश ।

वर्णन--गावजबान का पत्र गोजिह्वासदृश, मोटे और मांसल होते हैं। पत्र के ऊपर साबूदाने जैसे छोटे दाग होते हैं। फूल नवीन नीलवर्ण, पुराने होने पर रक्ताभ वर्ण के होते हैं। पत्तों को जल में भिगोने से उनमें से लुआब निकलता है। यूनानी दवा वेचनेवालों के यहां पत्र वर्ग गावजबान और पुष्प गुले गावजवान–के नाम से मिलते हैं।

गुण--कर्म–"गोजिह्वा तुवरा तिक्ता स्वादुपाकरसा हिमा। वातला ग्राहिणी हृद्या कफपित्तहरा लघुः ॥ हन्यात् कासारुचिश्वासप्रमेहास्रव्रणज्वरान्।" (कै. नि.) ।

गावजबान कषाय, तिक्त, मधुर, मधुरविपाक, लघु, शीतवीर्य, वातल, ग्राही, हृद्य तथा कफ, पित्त, खांसी, अरुचि, श्वास, प्रमेह, रक्तविकार, व्रण और ज्वर को दूर करनेवाली है।

नव्यमत–पत्तों को जल में भिगोने से पुष्कल लुआब (पिच्छा) उत्पन्न होता है। पंचांग की राख में सज्जीखार ९।।, यवक्षार १४।, मेग्नेशिया २।।, चूना २७ और लोह १ प्रतिशत होता है। गावजबान क्षारस्वभावी, मूत्रजनन और स्नेहन है। विषमज्वर में ठंड लगने पर इसको आसव के साथ देते हैं। उपदंश और पूयमेह (सुजाक) से उत्पन्न संधिशोथ में इसे चोपचीनी के साथ देते हैं। इसके फांट से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। हृत्स्पन्दन और मूत्रकृच्छ्र में फांट देते हैं। **(डॉ वा. ग. देसाई)** ।

यूनानीमत–ताजा गावजबान पहले दर्जे में गरम और तर तथा शुष्क गावजबान रूक्षता लिये गरम है। गावजबान सौमनस्यजनन, हृद्य, उत्तमांगों को बलप्रद, सारक और श्लेष्मनिःसारक है। गावजबान के पत्र (वर्ग गावजबान) और पुष्प (गुले गावजबान) उन्माद, हृत्स्पन्दन, प्रतिश्याय, कास, श्वास और छाती की रूक्षता निवारण के लिये उपयोग में आते हैं।

उपयुक्त अंग--पत्र और पुष्प। **मात्रा**–पत्र ५-७ माशा; पुष्प ३-५ माशा।

त्रिवृतादि वर्ग ६२.

N. O. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; पर्णविन्यास एकांतर; पर्ण हृदयाकृति, उपपत्ररहित; पुष्प पत्रकोणोद्भूत, गलन्तिकाकार (Funnel-shaped); पुष्पबाह्यकोष स्थायी; पुंकेशर ५; बीजकोश २ खंडोंवाला; बीज ४।

---

(२२३) त्रिवृता।

नाम–(सं.) त्रिवृता (त्), सरला, सुवहा; (हिं.) निशो (सो)थ; (पं.) तिरवी; (सिध.) ट्रीज; (म.) निशोत्तर; (गु.) नसोतर; (बं.) तेउडी, (तं.) तेगड; (ता.) शिवदे, चिवते; (म.) विकोल्पकोन्न; (फा.) तुर्बुद; (ले.) ओपर्क्युलिना टर्पेथम् (Operculina turpethum)।

वर्णन–निणोथ की लता होती है। औषधार्थ मूल का व्यवहार होता है। मूल गोल और एक बाजू से फटे हुए होते हैं। ललाई लिये हुए सफेद मूल मध्य का काष्ठभाग निकाल कर काम में लेने चाहिये।

गुण-कर्म––चरके (सू. अ. ४) भेदनीये महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) श्यामादिगणे, अधोभागहरे गणे (सू. अ. ३९) च त्रिवृता पठ्यते। "त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्।" (च. सू. अ २५)। 'त्रिवृता कटूष्णा च कृमिश्लेष्मोदरज्वरान्। शोफपाण्ड्वामयप्लीहान् हन्ति श्रेष्ठा विरेचने॥' (ध. नि.)। 'त्रिवृदुष्णा कटुस्तिक्ता रूक्षा स्वाद्वी विरेचनी। कषाया कटुका पाके वातला कफपित्तहा॥ ज्वरशोफोदरप्लीहपाण्डुव्रणविनाशिनी॥" (कै. नि.)। "कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा। कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकारिणी। मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च। तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम्॥" सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तच्छुभम् (च. का. अ. ७)।

निशोथ कषाय, कटु, मधुर, रूक्ष, कटुविपाक, उष्णवीर्य, वातकर, विरेचन द्रव्यों में श्रेष्ठ; तथा कफ, पित्त कृमि, ज्वर, शोफ, पाण्डुरोग, प्लीहवृद्धि और व्रण का नाश करनेवाली है। निशोथ अरुण (फीके लाल) रंग के मूलवाली और श्याम मूलवाली दो प्रकार की होती हैं। इनमें अरुण मूलवाली श्रेष्ठ है और सुकुमार, बालक, वृद्ध तथा मृदुकोष्ठवालों के लिये अच्छी है।

नव्यमत––निशोथ रेचक है। इसकी क्रिया जालप के समान होती है। इससे पीले रंग के पानी जैसे दस्त होते हैं। इससे पेट में मरोड़ा होता है इसलिये इसके साथ सुगन्धि द्रव्य और सैंधव या मिश्री मिलाकर देना चाहिये। जलोदर, आमवात और वातरक्त में यह विशेष लाभप्रद है। निशोथ और बड़ी हर्रे का चूर्ण अच्छा कार्य करता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२२४) काला दाना ।

नाम–(हिं.) काला दाना; (कु.) मौरड़; (क.) सियाहदाना; (गु.) काळो कूंपो, काळा दाणा; (म.) काळादाणा; (फा.) तुख्मे नील; (अ.) हब्बुन्नील; (ले.) आइपोमिआ हेडरेसिआ (Ipomoea hederacea) ।

वर्णन—काला दाना की लता होती है। बीज काले रंग के और त्रिकोण होते हैं। बीजों को तोड़ने पर उनसे सफेद मग्ज निकलता है। इनका स्वाद आरंभ में मीठा और पीछे कडुआहट लिये चरपरा मालूम होता है।

गुण-कर्म–"रेचनं श्यामबीजं स्याच्छोथोदरविनाशनम्। ज्वरे पुरीषसंगे च दारुणे शिरसो गदे ॥ उदावर्ते तथाऽऽनाहेबुधैरेतत् प्रयुज्यते" (आ. वि.) ।

कालादाना रेचन है। शोथ, उदररोग, ज्वर, कब्ज, सिर का दर्द तथा उदावर्त में इसका प्रयोग करते हैं।

नव्यमत—इसकी क्रिया जालप किंवा निशोथ के समान होती है। इससे पित्त, कफ और कृमि विरेचनद्वारा निकलते हैं। जलोदर, आमवात और वातरक्त में इसका प्रयोग करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत-काला दाना रेचन, कृमिघ्न, रक्तशोधक, मूत्रजनन और आर्तवजनन हैं। इससे पेट में मरोड़ और उत्क्लेश होता है उसके निवारण के लिये इसे गुलाब के फूल और हड़ के साथ मिलाकर देते हैं। इसके लेप से किलास और झाईं में लाभ होता है।

उपयुक्त अंग--बीज। **मात्रा**-१॥-३ माशा। काला दाना को बालू के साथ भाड़ में भून, चूर्ण बना चीनी के साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

* * *

(२२४) विदारीकन्द ।

नाम-(सं.) विदारीकन्द, विदारिका, भूमिकूष्मांड; (जम्मू) सियालिया; (पं., हिं.) भूंई कोहला, भूंई कुम्हडा, बि (वि) दारीकंद, बिलाईकंद; (बं.) भूंईकुम्डा; (म.) भुईकोहळा; (गु.) विदारीकंद; (ते.) नेल्लगुम्मुडु; (मल.) मुत्तुकु; (ले.) आइपोमिआ डिजिटेटा (Ipomoea digitata) (क्षीरविदारी) ।

वर्णन-विदारीकंद की सुदीर्घ लता होती है, जो जमीन पर फैलती है या वृक्ष का आश्रय मिलने पर उस पर चढ़ जाती है। जमीन के भीतर कन्द होता है। कंद ऊपर से भूरे रंग का और भीतर से सफेद रंग का होता है। ताजे कंद को काटने पर उसमें से सफेद क्षीर निकलता है। विदारीकंद के विदारी और क्षीरविदारी ये दो भेद चरकने मधुरस्कन्ध (वि. अ. ८) में लिखे हैं। स्व. जयकृष्ण

इंद्र जी ने विदारी का लेटिन नाम प्युरेरिया टयुबरोझा (गु.फागियो,फगडानो वेलो, खाखरवेल; म. बेंदर) लिखा है। इसकी बड़ी लता होती है। पत्र पलाश के समान तीन–तीन एक साथ लगते हैं। इसको घोडे बड़े चाव से खाते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ने इसको उष्ण, स्तन्यजनन, मूत्रजनन और पौष्टिक लिखा है।

गुण-कर्म—चरके (सु. अ. ४) बृंहणीये, बल्ये, वर्ण्ये ('पयस्या'नाम्ना), कण्ठ्ये, स्नेहोपगे च महाकषाये तथा मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) विदारी (क्षीरविदारी च) पठ्यते। सुश्रुते (सु. अ. ३८) विदारिगन्धादौ, वल्लीपञ्चमूलसंज्ञके गणे, पित्तसंशमने वर्गे (सु. सू. अ. ३९) च विदारी पठ्यते। "मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः। बिदारीकन्दो बल्यस्तु पित्तवातहरश्च स ॥" (सु. सू. अ. ४६)। "विदारी मधुरा शीता गुरुः स्निग्धाऽस्रपित्तजित्। विज्ञेया कफकृत् पुष्टिबलवीर्यविवर्धनी ॥" (रा. नि.)। "विदारिकन्दो बल्यश्च वातपित्तहरस्तथा। मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतस्वर्योऽतिमूत्रलः ॥" (ध. नि.) "विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा। शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा ॥ गुरुः पित्तास्रपवनदाहान् हन्ति रसायनी ॥" (भा.प्र.)।

विदारीकंद मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, बृंहण, बल्य, कण्ठ्य (स्वर्य), वर्ण्य, स्नेहोपग, पित्तसंशमन, स्तन्यजनन, वृष्य, मूत्रल, जीवनीय, रसायन, कफकर तथा वात, पित्त, रक्तविकार और दाह को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–विदारीकंद में पुष्कल पिष्ट, दश प्रतिशत शर्करा और अल्पप्रमाण में आनुलोमिक राल हैं। विदारीकंद आनुलोमिक, पित्तसारक, स्तन्यजनन, स्नेहन और उत्तम पौष्टिक हैं। इससे भूख लगती है, अन्न पचता है, दस्त साफ होता है, शरीर का वर्ण सुधरता है और वजन बढ़ता है। कॉडलिवर ओईल से भी अच्छा कार्य इससे होता है। शारीरिक या मानसिक कारणों से जब शिथिलता आई हो और वजन कम हुआ हो तब विदारीकंद देते हैं। यकृत् और प्लीहा की वृद्धि में विदारीकंद देते हैं; इससे पित्तस्राव ठीक होता है और दस्त साफ होता है। दूध बढ़ाने के लिये द्राक्षासव के साथ विदारीकंद देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग—कंद। **मात्रा**—१/४–१/२ तोला, जरासे घी में सेंक, दूध और मिश्री मिला, पेया बनाकर देना चाहिये।

(२२६) शंखपुष्पी।

नाम—(सं.) शङ्खपुष्पी, विष्णुक्रान्ता; (हिं.) शंखाहुली, कौड़ेना, कौड़ियाली; (बं.) डानकुणी; (म.) सांखवेल, शंखाहुली (गु., पं.) शंखावळी; (ले.) इवोल्व्युलस् एल्सिनोईडस् (Evolvulus alsinoides)।

वर्णन—शंखपुष्पी की बहुवर्षायु पुष्कल शाखायुक्त, छोटी, फैलनेवाली लता होती है। शाखायें वर्षायु और जमीन पर फैली हुई होती हैं। पत्ती साधारण सनाय जैसी, ½ इंच से छोटी, सूक्ष्म लोमयुक्त होती हैं पुष्प श्वेत, गुलाबी या नील वर्ण के होते हैं। नीलवर्ण के पुष्पवाली शंखपुष्पी को विष्णुक्रांता कहते हैं।

गुण—कर्म—"कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः। ××× मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी।" (च. चि. अ. १)। "शङ्खपुष्पी सरा मेध्या वृष्या मानसरोगहृत्। रसायनी कषायोष्णा स्मृतिकान्तिबलप्रदा॥ दोषापस्मारभूताश्रीकुष्ठकृमिविषप्रणुत्।" (भा. प्र.)। 'शङ्खपुष्पी सरा स्वर्या कटुस्तिक्ता रसायनी। अनुष्णा वर्णमेधाग्निबलवायुःकान्तिदा हरेत्॥ अपस्मारमथोन्मादमनिद्रां च तथा भ्रमम्॥" (कै. नि.)।

शंखपुष्पी कषाय, कटु, तिक्त, सारक, मेध्य, वृष्य, बल्य, जठराग्नि और कान्ति को बढ़ानेवाली, स्वर्य, रसायन तथा मानसरोग, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, कृमि, विष, अनिद्रा और भ्रम को दूर करनेवाली है।

नव्यमत—शंखपुष्पी दीपन, पाचन, आनुलोमिक, शामक, ज्वरघ्न, पौष्टिक और गर्भाशय, मस्तिष्क तथा नाडियों को हितावह है। उन्माद में २–४ तोला ताजी शंखपुष्पी का स्वरस देने से दस्त साफ होता है और मद उतरता है। बद्धकोष्ठ, गुल्म और आनाह इन रोगों में मूल देते हैं। इससे दस्त साफ होकर शारीरिक विष बाहर निकल जाता है। ज्वर में जब प्रलाप होता है तब मस्तिष्क को शक्ति पहुँचाने और निद्रा लाने के लिये शंखपुष्पी का फांट देते हैं। **उपयुक्त अंग**—पंचांग। **मात्रा**—स्वरस २–४ तोला, चूर्ण ३–६ माशा; फांट ४–८ तोला।

---

(२२७) वृद्धदारु।

नाम—(सं.) वृद्धदारु, अन्तःकोटरपुष्पी, छगलान्त्री; (हिं.) विधारा; (बं.) बिजताड़क्; बिद्धताड़क्; (मं.) समुद्रशोक; (गु.) समदरशोष, वरधारो; (मा.) समन्दरसोख; (ले.) आर्जीरिआ स्पेशिओसा Argyreia Speciosa)।

वर्णन—बिधारे की वृक्षों पर चढ़नेवाली बड़ी लता होती है। पत्र गोल, एक वित्ते भर चौड़े; पत्र का अपर पृष्ठ मसृण, अधर पृष्ठ श्वेतरोमयुक्त; पुष्प गहरे गुलाबी या जामुनी रंग के, घंटाकृति; फल लंबगोल, कच्चे फीके हरे रंग के और पके हुए पिलाई लिये हुए भूरे रंग के होते हैं। बीज तीन धारवाले भूरापन लिये हुए सफेद रंग के होते हैं। इसके मोटे कांड के टुकड़े और मूल विधारा के नाम से बिकते हैं।

उपयुक्त अंग—मूल, अंगुष्ठ जितना मोटा कांड और बीज। **मात्रा**—मूल या कांड का चूर्ण १॥–३ माशा; बीज ५–१० रत्ती।

गुण-कर्म—सुश्रुते (सू अ. ३९) अधोभागहरे गणे 'छगलान्त्री' पठ्यते। "वृद्धदारुः कटुस्तिक्तः कषायोष्णो रसायनम्। शुक्रायुर्बलमेधाग्निस्वरकान्तिकरः सरः ।। शोथामवातवातास्रव्रणमेहकफापहः ।" (कै. नि.) ।

विधारा कटु, तिक्त, कषाय, उष्णवीर्य, रसायन, सारक, शुक्र-आयु-बल-मेधा-जठराग्नि-स्वर और कांति देनेवाला तथा शोथ; आमवात,वातरक्त, व्रण, प्रमेह और कफ को दूर करनेवाला है।

पत्र का नीचे का रोमश पृष्ठ व्रणशोथ पर बांधते हैं। इससे व्रणशोथ पककर फूट जाता है; ऊपर का चिकना पृष्ठ व्रण पर बांधने से व्रण का शोधन-रोपण होता है। विधारे के मूल का चूर्ण ३-६ माशा देने से दस्त साफ होता है। समभाग विधारा और असगंध का चूर्ण ३ माशा दूध के साथ खाने से श्वेत प्रदर मिटता है।

कण्टकार्यादि वर्ग ६३.

N. O. Solanaceae (सोलेनेसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; ऊपरिस्थगर्भाशय; पर्णक्रम एकांतर; पर्ण सादे, क्वचित् विभक्त, उपपत्ररहित; पुष्प पत्रकोणोद्भूत किंवा शाखाग्रोद्भूत; पुष्पबाह्यकोश स्थायी, ५-१० दलवाला; पुष्पाभ्यंतरकोश के दल ४-५ आपस में मिले हुए गलन्तिकाकार (funnel-shaped); पुंकेशर ५; स्त्रीकेशर बहुधा १; गर्भाशय दो खंडवाला; फल गोल किंवा लंबा और अविदारि होता है।

---

(२२८) कण्टकारी-क्षुद्रा ।

नाम-(सं.) कण्टकारी, निदिग्धिका, क्षुद्रा, व्याघ्री, दुःस्पर्शा; (पं.) कंडियारी; (सि.) कांडेरी; (हिं.) कटेरी, कटेली कटाई, भटकटैया; (भा.) पसरकटाई; (म.) भुईरिंगणी; (गु.) बेठी रिंगणी, भोटींगडी, भोरिंगणी भोयरिंगणी; (बं.) कण्टिकारी; (अ.) बादं जान बर्री; (फा.) बादंगानबर्री; (ले.) सोलेनम् जॅन्थोकार्पम् (Solanum xanthocarpum) ।

वर्णन—कटेली का क्षुप भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। इसमें जामुनी रंग के पुष्प लगते हैं। फल कच्चे हरे रंग के, श्वेतरेखांकित और पकने पर पीले रंग के होते हैं।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) कण्ठ्ये हिक्कानिग्रहणे, कासहरे, शोथहरे, शीतप्रशमने, अङ्गमर्दप्रशमने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) बृहत्यादिगणे,वरुणादिगणे,लघुपञ्चमूले च गणे कण्टकारिका पठ्यते। "कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः । रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान् ।। निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान् ।। तस्याः फलं कटु रसे पाके कटुकं च

भवेत् । शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निकृल्लघु । हन्यात् कफमरुत्कण्डूकासमेदः कृमिज्वरान् ।" (भा. प्र.) ।।

छोटी कटेरी तिक्त, कटु, लघु, रूक्ष, उष्णवीर्य;मारक, दीपन,पाचन, कण्ठ्य हिक्कानिग्रहण, कासहर, शोथहर, शीतप्रशमन,अंगमर्दप्रशमन तथा खाँसी, श्वास ज्वर, कफ, वात, पीनस, पार्श्वशूल, क्रमि और हृद्रोग का नाश करनेवाली है। कटेरी के फल तिक्त, कटु, विपाक में कटु, शुक्रविरेचन, भेदन, पित्तकर,अग्निकर, लघु तथा कफ, वात, कंडू, खाँसी, मेदोवृद्धि. कृमि और ज्वर को दूर करने वाले हैं।

नव्यमत—छोटी कटेरी स्वेदजनन, ज्वरघ्न, मूत्रजनन और कफघ्न है। बीज वेदनास्थापन हैं। इससे गले और श्वासनलिका का सूखापन कम होकर कफ छूटने लगता है; इसलिये गले और श्वासनलिका के शोथ की प्रथमावस्था में इसका प्रयोग करते हैं। स्वेदजनन ज्वरघ्न होने से सर्दी–जुकाम में इसको देते हैं। दाँत सड़कर होनेवाले दंतशूल में और बवासीर (अर्श) सूजकर होनेवाले दर्द में छोटी कटेरी के बीजों की धूनी देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२२९) बृहती।

नाम–(सं.) बृहती, स्थूलभण्टाकी; (हिं.) बडी कटेरी, बरहंटा, बनभंटा; (म.) डोरलें (ली); (गु.) उभी रिंगणी; (बं.) व्याकुड; (फा.) कटाई कलाँ; (ले.) सोलेनम् इन्डिकम् (Solanum indicum)।

वर्णन—बृहती का क्षुप ४–८ फुट ऊँचा, देखने में बेंगन के सदृश होता है। पुष्प जामुनी या आसमानी रंग के; फल कच्चे हरे; श्वेतरेखान्वित, पकने पर पीले पड़ जाते हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) कण्ठ्ये, हिक्कानिग्रहणे, शोथहरे, अङ्गमर्द प्रशमने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) बृहत्यादिगणे, लघुपञ्चमूले च गणे बृहती पठ्यते। "बृहती कटुका तिक्ता सोष्णा वातकफापहा दीपनी पाचनी हृद्या ग्राहिणी ज्वरकुष्ठनुत् ।। श्वासास्यमलवैरस्यकासारोचकशूलनुत् ।" (कै. नि.)।

बडी कटेरी कटु; तिक्त, उष्णवीर्य, दीपन, पाचन, हृद्य ग्राही तथा वात, कफ, ज्वर, कुष्ठ; श्वास, कास, मुख का वैरस्य और मल, अरोचक तथा शूल का नाश करनेवाली है।

नव्यमत-बृहती का मूल कफरोग में देते हैं। इससे ज्वर कम होता है, पेट का वायु–दर्द और मरोड़ कम होता है तथा पेशाब ठीक होती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२३०) काकमाची।

नाम–(सं.) काकमाची; (बं.) गुडकामाई; (हिं.) मकोय; (पं.) मको; (सिं.) फाविल; (म.) कामोणी; (गु.) पीलुडी; (कच्छ) कांपेरू; (कु.) फिवे, गिवे; (ले.) सोलेनम् नाइग्रम् (Solanum nigrum)।

वर्णन—मकोय का १–३ फुट ऊँचा क्षुप होता है। पत्र लाल मिर्च के समान; पुष्प सूक्ष्म, श्वेत वर्ण के; फल कच्चे हरे और पकने पर रक्ताभ श्यामवर्ण के हो जाते हैं।

उपयुक्त अंग––पंचांग, फल।

गुण-कर्म––चरके (वि. अ. ८) तिक्तस्कन्धे काकमाची पठ्यते। "त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी। नात्युष्णशीतवीर्या च भेदिनी कुष्ठनाशिनी॥" (च. सू. अ. २७) "ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम्। नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम्॥" (सु. सू. अ. ४६)। "हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनम्। काकमाची सरा स्वर्या" (वा. सू. अ. ६)। "काकमाची कटुस्तिक्ता सरोष्णा कफनाशिनी। शूलार्शःशोफदोषघ्नी कुष्ठकण्डूतिहारिणी॥" (रा. नि.)।

मकोय कटु, तिक्त, अनुष्णाशीत, भेदन (सारक), वृष्य, स्वर्य, रसायन, त्रिदोषप्रशमन तथा कुष्ठ, शूल, अर्श, शोथ और कंडू को मिटानेवाली है।

नव्यमत—मकोय शीतल, मूत्रजनन, रेचन, वेदनास्थापन श्लेष्महर, स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। मकोय की मुख्य क्रिया यकृत् पर होती है। यकृत की क्रिया बिगड़ने से जीर्ण यकृद्वृद्धि, अर्श, उदर, आँव और नाना प्रकार के त्वग्रोग उत्पन्न होते हैं। मकोय के पत्रस्वरस से दस्त साफ होकर अन्त्रगत विष निकल जाते हैं; जो थोड़े-बहुत विष यकृत् में पहुंचते हैं वे मूत्रद्वारा निकल जाते हैं। जलशोथ में स्वरस बड़ी मात्रा में देते हैं। ज्वर, जलशोथ, हृद्रोग और नेत्ररोग में फल देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२३१) अश्वगंधा।

नाम–(सं.) अश्वगन्धा; (हिं.) असगंध; (म.) डोरगुंज, आसंध; (गु.) आसंध, घोड़ाआहन, घोड़ाआकुन; (ले) वाइथेनिआ सोम्नीफेरा (Withania somnifera)।

वर्णन–अश्वगंधा का क्षुप २–५ फुट ऊँचा; पर्णक्रम एकान्तर, पर्ण लंबगोल, पत्र के दोनों पृष्ठों का रंग समान; पुष्प पत्रकोणोद्भूत, ३-६ गुच्छा में; पुष्पबाह्यकोश; पुष्पाभ्यंतरकोश और पुंकेशर ५–५; फल रसभरी के समान कवच से

ढका हुआ, लाल रंग का; मूल पेन्सिल से १–१॥ इंचतक मोटा और १–१॥ फूटतक लंबा होता है। असगंध स्वयंजात (जंगली) और खेती की हुई दो प्रकार की होती है। बाजार में जो असगंध के मूल मिलते हैं वे खेती की हुई असगन्ध के हैं। खेती करने, खाद देने और छोटे मूल लेने से जंगल की अपेक्षया इसके स्वरूप, रस तथा गुणों में अन्तर मालूम होता है। वाजीकर, बल्य तथा बृंहण गुण के लिये खाने के काम में बाजरी असगंध लेना चाहिये, लेपादि बाह्य प्रयोग तथा तैलादि में जंगली असगंध के मूल लेने चाहिये। मालवा में असगंध की खेती की जाती है और वहाँ से विक्रयार्थ मूल बाहर भेजे जाते हैं[1]।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) बृंहणीये, बल्ये च महाकषाये तथा मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) अश्वगन्धा पठ्यते। "अश्वगन्धाऽनिलश्लेष्मशोथश्वित्रक्षयापहा। बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णाऽतिशुक्रला॥" (भा. प्र.)। 'अश्वगन्धा कषायोष्णा तिक्ता वृष्या रसायनम्। बलपुष्टिप्रदा हन्ति कफकासानिलव्रणान्॥ शोफकण्डूविषश्वित्रकृमिश्वासक्षतक्षयान्॥" (कै. नि.)।

असगंधा मधुर, कषाय, तिक्त, उष्णवीर्य, बृंहण, बल्य, रसायन, वाजीकर तथा वात, कफ, शोथ, श्वित्र, क्षय, खाँसी, व्रण, कुष्ठ कृमि और श्वास को दूर करनेवाली है।

नव्यमत–बाजारी असगंध और विदारीकंद के गुण समान हैं। यह उत्तम पौष्टिक है। ॥. से १ तोला असगंध के चूर्ण को गाय के घी में सेंक, उसमें पावभर दूध और यथारुचि मिश्री मिला, गरम कर के देना चाहिये। छोटे बच्चों के लिये यह उत्तम औषध है। इससे बच्चों का सूखना बंद होता है। स्त्रियों का कमर का दर्द और श्वेत प्रदर इससे अच्छा होता है। जंगली असगंध के मूल अवसादक, स्वापजनन और मूत्रजनन हैं। वातनाडी पर इसकी अवसादक क्रिया होती है, परंतु हृदय पर अवसादक क्रिया नहीं होती। इसका स्वापजनन धर्म प्रसिद्ध है। बीज स्पापजनन और मूत्रजनन तथा बडी मात्रा में विष हैं। बद, ग्रन्थि आदि पर मूल का लेप करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

* * *

---

[1] इस विषय में मेरे पत्र के उत्तर में बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के आयुर्वेद कॉलेज के वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक प्रो. बलवंतसिंहजी लिखते हैं कि–असगंध बाजारी और जंगली दोनों के मूल की मैंने माइक्रोस्कोप में परीक्षा कर के देखी-दोनों एक ही वनस्पति के मूल मालूम होते हैं। बाजारी में स्टार्च का संग्रह अधिक होने से फाइबर (रेशे) कम बने हैं; जंगली में फाइबर अधिक हैं। दोनों के स्टार्च एक ही प्रकार के हैं। ऐसी संभावना है कि मिट्टी के भेद से और कृषि में आने के कारण यह परिवर्तन हो गया है।

(२३२) धत्तूर ।

नाम–(सं.) धत्तूर, कनक, धूर्त, उन्मत्तक; (क.) धुतूर; (हि.) धतूरा; (म.) धोत्रा; (मा.) धत्तूरो; (गु.) धत्तूरो, धतूरो; (बं.) धुतूरा (ले.) श्वेत-डतूरा आल्बा (Datura alba); कृष्ण-डतूरा फॅश्चुओझा (Datura fastuosa) ।

वर्णन––धतूर के राजधत्तूर, श्वेतधतूर और कृष्णधतूर ये तीन भेद हैं। राजधत्तूर काश्मीर, गढ़वाल, कुमाऊँ, नेपाल आदि हिमालय के प्रदेशों में होता है। इसके बीज काले, वृक्काकृति और चपटे होते हैं। श्वेत (सफेद फूलवाला) और कृष्ण (काला फूलवाला) धतूरा नीचे सर्वत्र होता है। इन दोनों के बीज पिलाई लिये सफेद होते हैं।

गुण-कर्म—"धत्तूरः कटुरुष्णश्च कान्तिकारीव्रणार्तिनुत् । त्वग्दोषखर्जूकण्डूतिज्वरहारी भ्रमप्रदः ॥" (ध. नि.) । "धूस्तूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत । कषायो मधुरस्तिक्तो यूकालिक्षाविनाशकः । उष्णो गुरुर्व्रणश्लेष्मकण्डूक्रिमिविषापहः ।" (भा. प्र.) । "धत्तूरो मदमूर्च्छाकृत् कफघ्नो वह्निपित्तकृत् ।" (रा. व. नि.) ।

धतूरा कटु, कषाय, मधुर, तिक्त, उष्णवीर्य, गुरु, भ्रम-मद-मूर्च्छा-वर्ण-जठराग्निपित्त और वायु करनेवाला तथा कफ, कुष्ठ, कण्डू, ज्वर, व्रण, कृमि, विष, जूं और लीख का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–धतूरा वेदनास्थापन, संकोचविकासप्रतिबन्धक, कासहर; श्वासहर, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक और शोथहर है। बड़ी मात्रा में उग्र विष है। धतूरा को बेलाडोना के प्रतिनिधिरूप में काम में ले सकते हैं। श्वासमार्ग के संकोचविकासप्रधान रोगों में धतूरे का विशेष उपयोग करते हैं। श्वासनलिकाशोथ और दमा इन दोनों रोगों में धतूरा खाने को देते हैं और उसके पत्र का धूम्रपान कराते हैं। इससे कफ गिरने लगता है और दमा कम होता है। पारी से आनेवाले शीतज्वर में धतूरे के बीज दही के साथ देते हैं। शीतज्वर में अफीम, भांग और खुरासानी अजवायन जैसे और भी मादक द्रव्य देते हैं। इन औषधों से ठंडी भरने से होनेवाला त्रास, शरीर का दाह तथा सिर और शरीर की पीड़ा कम होती है। इन औषधों से शीतज्वर समूल नहीं होता, परंतु उससे होनेवाली पीड़ा कम होती है। उदरशूल, पित्ताश्मरीशूल और वृक्कशूल में धतूरा देते हैं। शोथ में धतूरे की पत्तियों का या मूल का गोमूत्र में पीसकर उसका लेप करते हैं। धतूरा और शिलाजीत मिला कर लेप करने से अंडशोथ, उदरशोथ, फुफ्फुसधराकलाशोथ, संधिशोथ और अस्थिशोथ में विशेष लाभ होता है। स्तनशोथ, शोथयुक्त अर्श और पीड़ायुक्त अक्षिशोथ पर पत्ते जरा गरम करके बांधते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

उपयुक्त अंग--मूल, पत्र और बीज। **मात्रा**-पत्रचूर्ण $\frac{१}{२}$ से १$\frac{१}{२}$ गुंजा खाने के लिये; धूम्रपान के लिये ५-१५ गुंजा। शोधित बीजचूर्ण $\frac{१}{२}$ से १ गुंजा।

शोधन-धतूरे के बीजों को तीन दिन-रात मिट्टी या काच के पात्र में गोमूत्र में भिगोकर रखे। चौथे दिन गोमूत्र से निकाल, एक प्रहर गोदुग्ध में दोलायन्त्र में पका, गरम जल से धो, सुखाकर काम में ले।

विषलक्षण—धतूरा अधिक मात्रा में खाने से ज्ञानेन्द्रियाँ अस्थिर और बुद्धि लुप्त होती हैं, जीभ और कण्ठ सूखने लगता है, नेत्र रक्त होते हैं, कनीनिका (पुतलियाँ) विस्तृत होती हैं, रोगी प्रलाप करने लगता है, कभी-कभी रोगी भागने का प्रयास करता है परंतु मद्यपायियों की भाँति इधर उधर पैर रखता है, कपड़ा-दीवाल-बिछौना आदि पकड़ने का यत्न करता है। विषप्रभाव अधिक और चिकित्सा न होने पर रोगी श्वास और हृदय की गति बंद होकर मर जाता है। चिकित्सा प्रारंभ में कोई वामक औषध देकर वमन करावें और पीछे गाय का ताजा दूध और मक्खन दें।

---

(२३३) पारसि (सी) क यवानी।

नाम--(सं.) पारसीक यवानी, यावनी, तुरुष्का, मदकारिणी; (पं.) खुरासानी अजवैन; (हिं.) खुरासानी अजवायन; (म.) खुरासानी ओवा; (गु.) खुरासाणी अजमा; (अ.) बजुलबंज (फा.) तुख्मबंग; (ले.) हायोसायेमस् रेटिक्युलेटस् (Hyoscyamus reticulatus)।

वर्णन—खुरासानी अजवावन का क्षुप भारतवर्ष में काश्मीर, उत्तरी पंजाब की पहाड़ियाँ, गढ़वाल, कुमाऊँ आदि में होता है। वैद्य और हकीम प्रायः इसके बीज औषध के काम में लेते हैं। बीज अजवायन के बीज जितने बड़े, वृक्काकृति और खाकी रंग के होते हैं।

उपयुक्त अंग---पत्र और बीज। मात्रा २-५ रत्ती।

गुण-कर्म-"यवानी यावनी रूक्षा ग्राहिणी मोहिनी कटु:।" (रा. नि.)।

खुरासानी अजवायन कटु, रूक्ष, ग्राही और मादक है।

नव्यमत-बीजों में $\frac{१}{८}$ स्थायी तैल होता है। बीज और पत्र में अल्प प्रमाण में हायोसाएमिन् नाम का वीर्य (सत्त्व) पाया जाता है। खुरासानी अजवायन, वेदनास्थापन; स्वापजनन, संकोचविकासप्रतिबंधक, अवसादक और मूत्रजनन है। अल्पप्रमाण में हृदयावसादक और बल्य है, परंतु बड़ी मात्रा में हृदय के लिये अहित है। इसकी अवसादक (शामक) क्रिया मस्तिष्क, जनन मूत्रेन्द्रिय और आंतों पर होती है। यह निश्चित स्वापजनन है। इससे घंटोंतक गाढ़ निद्रा आती है। ऐसी निद्रा लानेवाला और वेदनास्थापन औषध अफीम है। परंतु जहाँ अफीम नहीं दे सकते

वहाँ खुरासानी अजवायन दे सकते हैं। अफीम से कब्ज होता है परंतु इससे दस्त साफ होता है। मस्तिष्क के संतापप्रधान रोग जैसे—नूतन उन्माद,मस्तिष्कप्राकलाशोथ आदि रोगों में खुरासानी अजवायन देने से गाढ़ी निद्रा आती है। किसी भी कारण से उत्पन्न मानसिक अस्वस्थता और निद्राभंग में खुरासानी अजवायन उत्तम औषध है। खुरासानी अजवायन की मूत्रेन्द्रिय की श्लेष्मत्वचा पर प्रत्यक्ष अवसादक क्रिया होती है। बार-बार थोड़ा थोड़ा पेशाब होना, बस्तिशोथ और अश्मरी से उत्पन्न बस्तिदाह में खुरासानी अजवायन से उत्तम लाभ होता है। जननेंद्रिय पर इसकी अच्छी अवसादक क्रिया होती है। पीड़ितार्तव, अत्यार्तव और अनियमितार्तव में इससे अच्छा लाभ होता है। शीघ्रशुक्रस्खलन, स्वप्नदोष और अतिकामवासना में भी इससे लाभ होता है। सूखी खांसी, कफ के साथ रक्त आना और दमा इनमें इससे लाभ होता है। पेट के दर्द में और किसी औषध से मरोड़ आने लगे उसमें यह उपयुक्त औषध है। शोथ और पीडा में खुरासानी अजवायन को मधु में पीसकर उसका लेप करते हैं; स्तनशोथ, अंडशोथ, सिरदर्द, अर्श, दुष्टव्रणग्रन्थि और आमवात में इस लेप से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२३४) बेलाडोना।

नाम—(पं.) सूची; (क.) झलाकफल; (ले.) एट्रोपा बेलाडोना (Atropa belladonna)।

उत्पत्तिस्थान—बेलाडोना का क्षुप काश्मीर, शिमला, कुमाऊँ, बलोचिस्तान और इरान में ६०००–१२००० फुट की ऊँचाई पर होता है।

वर्णन—क्षुप ४–५ फुट ऊँचा, कांड मोटा और मसृण; पत्र ३–८ इंच लंबे, दोनों सिरों पर संकरे; कोमल पत्ते लोमश, जीर्ण पत्ते लोमरहित, नीचे के पत्ते एकांतर, परंतु ऊपर के आमने-सामने; फल करौंदे जैसे काले, चमकीले; मूल १ फुट-तक लंबा, १–२ इंच मोटा और मांसल होता है।

गुण-कर्म—बेलाडोना में एट्रोपीन और हायोसाएमिन नाम के दो जहरीले सत्त्व पाये जाते हैं। बेलाडोना घातक विष है, परंतु सावधानी से और अत्यल्प प्रमाण में उपयोग करने से उपयुक्त औषध है। बेलाडोना अवसादक, संकोचविकासप्रतिबंधक, कासहर, श्वासहर, हृदयबल्य, नाड़ीशैथिल्यकर, तारकाविकासी, शोथहर, रक्तप्रतिबंधक, ग्रन्थिस्रावस्तंभन मस्तिष्कावसादक, मूत्रजनन, स्तन्यनाशन, कंडूघ्न, वेदनास्थापन, और त्वचा को सुन्न करनेवाला है। फुफ्फुस के रोगों में बेलाडोना बहुत गुणकारी है। दमा, श्वासनलिकाशोथ और बड़ी खांसी (Whooping cough) में इसे देते हैं। खांसी में कफ पुष्कल हो, खांसने की शक्ति कम हो और हृदय अशक्त हो तब यह उत्तम औषध है। बेलाडोना से शरीर के बहुत से

रस कम होते हैं। मस्तिष्क के रोगों में और सगर्भावस्था में लालास्राव अधिक होता हो तब इसे देते हैं। क्षय में और अन्य कई ज्वरों में पसीना बहुत आता हो तब इसे अकेला या यशदभस्म के साथ देते हैं। दूध वंद करने के लिये इसे देते हैं। इससे दूध वंद होता है और स्तन में सूजन आई हो तो वह भी उतरती है। आमाशय में अम्लरस अधिक उत्पन्न होता हो तब बेलाडोना देते हैं। पुराने कब्ज में एलुए (मुसब्बर) के साथ बेलाडोना देते हैं। बेलाडोना मूत्रमार्ग से निकलते समय मूत्र का प्रमाण बढ़ाता है। केवल मूत्रजनन कर्म के लिये इसका प्रयोग नहीं होता। परंतु इतर उपयुक्त द्रव्यों के साथ देने से मूत्रमार्ग की पीड़ा और संकोचविकास, दुःखदायक शिश्नस्तब्धता, स्वप्न में शुक्रस्राव, मुत्रावरोध, शय्यामूत्र, बस्तिशोथ और कफमेह इन रोगों में बेलाडोना देते हैं। बेलाडोना को मधु में पीसकर लेप करने से ज्ञानतन्तुओं के टोंकों पर इसकी क्रिया होकर उतने भाग में सुन्नता आकर दुःख कम होता है। इससे शोथ की विभिन्न अवस्थाओं का जोर कम होता है, पूयोत्पत्ति कम होती है या होती ही नहीं। व्रणशोथ, ग्रंथिशोथ, दूध भरने से उत्पन्न स्तनशोथ और संधिशोथ में इसका पूय-रक्त-प्रतिबन्धक धर्म अच्छा देखने में आता है। आमवात संधिशोथ, वातरक्त, विसर्प और सिराशोथ में इसका लेप करने से सूजन उतरती है और पीड़ा कम होती है। हृदय की पीड़ा, हृदय और हृदय के अनियमित स्पन्दन में बेलाडोना देते हैं। बेलाडोना अफीम का अगद (निवारण-उतार) है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग--पत्र और मूल। **मात्रा**-१/८ से १/२ रत्ती। बेलाडोना से आँख की तारका (पुतली) बिकसित होती है। जब पुतलो बड़ी हो जाय तो इसका प्रयोग बंद कर देना चाहिये।

तिक्तादि वर्ग ६४.

N. O. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलेरिएसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थगर्भाशय; पर्णक्रम एकान्तर या अभिमुख; पर्ण उपपत्ररहित; पँखड़ियाँ संयुक्त; पुंकेशर ४, उनमें से एक जोड़ी छोटी और एक बड़ी होती है।

---

(२३५) कुटकी।

नाम-(सं.) कटुका, तिक्ता, कटुरोहिणी, मत्स्यरोहिणी; (पं) कोड़; (हिं.) कुटकी; (बं.) कट्की; (म.) काळी कुटकी, बालकडू; (गु.) कडू; (ले.) पिक्रोराइझा कुरो (Picrorrhiza Kurrooa)।

उत्पत्तिस्थान–कुटकी हिमालय में काश्मीर से सिक्किम तक ७०००-१४००० फुट की ऊँचाई पर होती है।

वर्णन–कुटकी के मूल बाजार में मिलते हैं। मूल गहरे भूरे रंग के, १-२ इंच लंबे और साधारण मुड़े हुए होते हैं। बाहरी पृष्ठ खुरदरा, सूक्ष्मग्रन्थियुक्त और उस पर पत्र गिरने के चिह्न होते हैं। मूल एक ओर मोटा और दूसरी ओर सकरा होता है, मोटी बाजू के सिरे पर काण्ड का अवशेष होता है। स्वाद अत्यन्त तिक्त होता है। मूल तोड़ने से शीघ्र टूट जाते हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) लेखनीये ('कटुरोहिणी' नाम्ना), भेदनीये ('शकुलादनी' नाम्ना), स्तन्यशोधने च महाकषाये तथा तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ८) कटुका पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे, पटोलादिगणे, मुस्तादिगणे च कटुरोहिणी पठ्यते। 'कट्वी तु कटुका पाके तिक्ता रूक्षा हिमा लघुः। मेदिनी दीपनी हृद्या कफपित्तज्वरापहा ॥ प्रमेहश्वासकासास्रदाहकुष्ठकृमिप्रणुत्।" (भा. प्र.)।

कुटकी तिक्त, कटुविपाक, शीतवीर्य, रूक्ष, लघु, लेखन, भेदन, स्तन्यशोधन, दीपन, हृद्य तथा कफ, पित्त, ज्वर, प्रमेह, श्वास खांसी, रक्तविकार, दाह, कुष्ठ और कृमि का नाश करनेवाली है।

नव्यमत–कुटकी में मुख्य तिक्त द्रव्य (पिक्रोऱ्हाइझिन्–कटुकीन) १५ प्रतिशत तथा रेचनद्रव्य (कॅथार्टिक् ॲसिड्–रेचनाम्ल) ९⅓ प्रतिशत होता है। मुख्य तिक्त सत्त्व जल में सुविलेय और अम्लस्वभावी है। इसको जलाने से ३¼ प्रतिशत राख मिलती है। कुटकी दीपन, उत्तम कटुपौष्टिक और बड़ी मात्रा में स्रंसन है। इसका नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक धर्म कुनैन से कम दर्जे का है। इससे दीपन–पाचन होता है, आमाशयरस बढ़ता है और दस्त साफ होता है। मूल का क्वाथ देने से डिजिटेलिस के समान क्रिया होती है, हृदय की गति कम होती है। परंतु शक्ति बढ़ती है और रक्त का दबाव बढ़ता है। विषमज्वर रोकने के लिये कुटकी बड़े प्रमाण में देनी पड़ती है। कभी-कभी उससे जुलाब होने लगते हैं। जिन रोगियों को विषमज्वर के साथ मलावष्टंभ हो उनको अच्छा लाभ पहुँचाती है। कुपचन से उत्पन्न दमा में कुटकी मिश्री के साथ देते हैं। कुटकी का क्वाथ दिन में तीन बार हृदयोदर और जलशोथ में देने से विशेष लाभ होता है। इससे पानी जैसे दस्त होते हैं, हृदय को शक्ति मिलती है और उदर कम होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग– मूल। **मात्रा**–कटुपौष्टिक गुण के लिये ५-१० रत्ती; विरेचन के लिये ४ से ६ माशे का क्वाथ बना कर देना चाहिये।

(२३६) डिजिटेलिस ।

नाम--(सं.) तिलपुष्पी; (ले.) डिजिटेलिस पर्प्यूरिआ (Digitalis purpurea)।

वर्णन--डिजिटेलिस भारतवर्ष में ५०००–७००० फुट ऊँचाई पर हिमालय और नीलगिरि की पहाड़ियों पर होता है। पत्र तमाखू के पत्र जसे और खुरदरे होते है। पुष्प तिल के पुष्पों के समान परंतु उससे बड़े होते हैं।

नव्यमत--डिजिटेलिस हृदयावसादक, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, बड़ी मात्रा में दाहजनक और मादक विष है। उपयुक्त अंग-पत्र। मात्रा–१/४ से १/२ रत्ती चूर्ण, गोली या फांट के रूप में देना चाहिये। डिजिटेलिस की क्रिया हृदय, रक्तवाहिनियों और रक्ताभिसरण पर होती है। रक्ताभिसरण पर क्रिया करनेवाला एक गण है। उसमें डिजिटेलिस के अतिरिक्त कनेर, जंगली प्याज, कॉफी, कपूर, जवाखार, ताम्र, जस्त, एरंडखर्बूजे के पत्र, मकई के ऊपर के केश ये प्रधान हैं। यह गण हृदयोत्तेजक हृदयशक्तिवर्धक और मूत्रजनन है। ये सब द्रव्य विष हैं, इसलिये निश्चित मात्रा से अधिक प्रमाण में नहीं देने चाहिये। जो गुण-कर्म डिजिटेलिस के हैं वे ही थोड़े-बहुत प्रमाण में इस गण के अन्य द्रव्यों में भी हैं। इसकी क्रिया खास हृदय, हृदय में जानेवाली नाडी और हृदय के केन्द्रस्थान पर होती है; छोटी रक्तवाहिनियों पर भी क्रिया होती है और उनका संकोचन होता है, हृदय अपना कार्य जोर से और शीघ्र करता है इसलिये हृदय को अधिक विश्रांति मिलती है, नाडी सावकाश चलती है और कुछ समय के अनंतर मूत्र का प्रमाण भी बढ़ता है। ऊपर लिखे हुए गुणों के कारण ज्वर या इतर रोगों में जब हृदय में शिथिलता आती है तब डिजिटेलिस देते हैं। हृदयोदर और वृक्कोदर में इससे दो प्रकार से लाभ होता है। हृदय को शक्ति मिलती है और मूत्र का प्रमाण बढ़कर उदर कम होता है। इस प्रकार के उदर में मूत्रजनन, स्वेदजनन और विरेचन औषध इस गण के साथ देना चाहिये। ये औषध देते हों तब रोगी को बिछौने पर लेटाये रखना चाहिये और दूध, शर्करा, मांसरस आदि पौष्टिक अन्न देना चाहिये। दमा, खांसी, क्षय, फुप्फुस से रक्तस्राव होना और फुप्फुसशोथ इन रोगों में डिजिटेलिस से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

श्योनाकादि वर्ग ६५.

N. O. Bignoniaceae. (बिग्नोनिएसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; पर्ण अभिमुख, बहुधा संयुक्त, उपपत्ररहित और बडे; पुष्प बिगुल (Bugle) की आकृति के; पुष्पवाह्यकोश ५ दलों का और घंटाकृति; पँखडियाँ ५ नीचे से जुडी हुई; पुंकेशर ४, दो छोटे, दो बडे; फल लंबी-चपटी सेम जैसे; बीज चपटे, पतले और पंखयुक्त होते हैं।

(२३७) श्योनाक।

नाम--(सं.) श्योनाक, शुकनास, कट्वङ्ग, टिण्टुक; (हिं.) सोनापाठा; (गु.) फरकट, ढोलदगड़ो; (बं.) शोणा; (म.) टॅटू; (ले.) ओरोक्साइलम् इन्डिकम् (Oroxylum indicum)।

वर्णन- इसका साधारण बड़ा वृक्ष होता है। पर्ण संयुक्त २-३ हाथ लंबे; चातुर्मास के प्रारंभ में पुष्प लगते हैं; फली दो दो हाथ लंबी, चार अंगुल चौडी, तलवार की आकृति की; बीज चपटे और पंखवाले; छाल फीके पीले रंग की, छाल का स्वाद जरा कड़वा और चरपरा होता है।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. ४) अनुवासनोपगे, पुरीषसंग्रहणीये, शोथहरे, शीतप्रशमने च महाकषाये तथा कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) श्योनाक पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) अम्बष्ठादौ, बृहत्पञ्चमूले च गणे श्योनाकः पठ्यते। "टिण्टुकः शिशिरस्तिक्तो वस्तिरोगहरः परः। पित्तश्लेष्मामवातातिसारकासारुचीर्जयेत्॥" (ध. नि.)। "स्योनाकः कटुकः पाके कषायस्तिक्तको हिमः। संग्राही दीपनः कासश्लेष्मपित्तामवातजित्॥" (कै. नि.)।

सोनापाठा कषाय, तिक्त, कटुविपाक, शीतवीर्य, ग्राही, दीपन, वस्ति रोगहर तथा पित्त, कफ, आमवात, अतिसार, कास और अरुचि को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—इसके फल की छाल उत्तम स्वेदजनन, जरा वेदनास्थापन, स्तंभन और व्रणरोपण है। शोथ और वातप्रधान रोगों में श्योनाकमूल देते हैं। तरुण आमवात में इससे अच्छा लाभ होता है। यह स्तंभन है इसलिये इससे कब्ज हो तो एरंडतैल देना चाहिये। अतिसार में छाल का पुटपाक करके निकाला हुआ रस देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग- मूल की छाल। **मात्रा**-मूलत्वक्चूर्ण १०-२० रत्ती। इसका फांट बनाना चाहिये; क्वाथ बनाने से उसमें स्तंभन द्रव्य अधिक उतरता है।

---

(२३८) पाटला।

नाम--(सं.) पाटला; (पं.) पाडल; (हिं.) पाडर; पाढ़ल; (बं.) पारुल; (म., गु.) पाडळ; (ते.) कळिगोट्टु; (मल.) पाति (वि) रि; (ले.) स्टिरिओस्पर्मम् स्वाविओलन्स् (Stereospermum Suaveolens)।

वर्णन—पाटला का बड़ा वृक्ष होता है। पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण संयुक्त, विषमदल; पुष्प वसंत ऋतु में शाखा के अग्रभाग पर पिलाई लिये हुए लाल रंग के और सुगन्धित होते हैं। इसमें टेढी बडी सेम लगती है, जिसमें १२-३० बीज होते हैं।

गुण-कर्म-चरके—(सू. अ. ४) शोथहरे महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. १८) आरग्वधादौ, महत्पञ्चमूले, अधोभागहरे (सू. अ. ३९) च गणे पाटला पठ्यते । "पाटलाऽरुचिशोथास्रश्वासतृट्छर्दिनाशिनी । नात्युष्णं तुवरं स्वादु तत्पुष्पं कफवातनुत् ॥ पित्तातिसारदाहघ्नं फलं हिक्कास्रपित्तनुत् ॥" (ध. नि.) । "पाटला तुवराऽनुष्णा तिक्ता दोषत्रयापहा । अरुचिश्वासशोथार्शश्छर्दिहिध्मातृषापहा ॥" (कै. नि.) । "सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलं पाटलानि च ।" (सु. सू. अ. ४६) ।

पाटला कषाय, तिक्त, वीर्य में अनुष्णाशीत, अधोभागदोषहर तथा तीनों दोष, अरुचि, श्वास, शोथ, अर्श, वमन, हिचकी, तृषा और रक्तविकार को मिटानेवाली है । पाटला के पुष्प कषाय, मधुर, कुछ उष्णवीर्य, सुगन्धि, विशद हृदय तथा कफ और वात को दूर करनेवाले हैं । पाटला का फल पित्तातिसार, दाह, हिक्का और रक्तपित्त का नाश करनेवाला है ।

नव्यमत– सूखे हुए फूलों में शर्करा, लुआब और मांसल पदार्थ (प्रोटीन) होता है । फूलों को जल में रखने से जल में उनका सुवास उतरता है । पाटला-दशमूल का एक द्रव्य है । पुष्प वाजीकर, पौष्टिक और शीतल तथा छाल कफवातहर है । पाटला कफ और वातप्रधान रोगों में देते हैं । फूलों का स्वरस शहद के साथ हिचकी में देते हैं । पंचांग का क्षार मधुमेह और मूत्राघात में देते हैं । छाल का फांट अम्लपित्त में देते हैं । फूलों का गुलकंद पौष्टिक है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(२३९) रोहीतक[1] ।

नाम–(सं.) रोहीतक, प्लीहशत्रु, दाडिमच्छद; (हिं.) रोहेड़ा; म.) रोहिड़ा; (गु.) रोहिडो; (ले.) टिकोमेला अन्डयुलेटा (Tecomella undulata) ।

उत्पत्तिस्थान–राजपूताना, पंजाब का राजपूताने से लगा हुआ प्रदेश (हिसाररोहतक आदि) काठियावाड़ और कच्छ में रोहिड़े के वृक्ष होते हैं ।

वर्णन—वृक्ष १०–१५ फुट ऊँचा; पत्तियाँ २–५ इंच लंबी, १। इंच तक चौड़ी और लहरदार धार की होती हैं । ये देखने में अनार की पत्तियों से मिलती-जुलती हैं । पुष्प १।–२।। इंच लंबे केशरी रंग के (नारंगपीत वर्ण के) शीतकाल में लगते हैं । फली पतली, कुछ टेढ़ी, ८ इंच तक लंबी होती है ।

---

(१) पहले १४३ वें पृष्ठ पर निम्बादिवर्ग में रोहीतक का वर्णन दिया है, परंतु वास्तव में रोहीतक श्योनाकादि वर्ग की वनस्पति है, अतः इसका वर्णन दुबारा यहाँ दिया है । १४३ पृष्ठ पर दिया हुआ अमूरा रोहितका यह लेटिन नाम भी ठीक नहीं है ।

उपयुक्त अंग--वृक्षत्वक् । **मात्रा**--१॥-३ माशा चूर्णरूप में; क्वाथ के लिये ॥-१ तोला।

गुण-कर्म--"रोहीतको यकृत्प्लीहगुल्मोदरहरः सरः ।" (ध. नि.)।

रोहिड़ा सारक तथा यकृत् के रोग, प्लीहा के रोग, गुल्म और उदररोग का नाश करनेवाला है।

तिलादि वर्ग ६६.

N. O. Pedaliaceae (पेडेलिएसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थ बीजकोश; पर्ण अभिमुख, अखंड, उपपत्ररहित; पँखड़ियाँ ५, नीचे से जुड़कर नलिकाकार बनी हुई; पुंकेशर ४, दो छोटे दो बडे; बीजकोश दो खंडों का और पुष्कल बीजयुक्त होता है।

---

(२४०) तिल।

नाम-(सं.) तिल; (हिं.) तिल; (म.) ति (ती)ळ; (गु.) तल; (सि.) तिर; (फा.) कुंजद; (ले.) सिसेमम् इन्डिकम् (Sesamum indicum)।

वर्णन--तिल भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। तिल में काले, सफेद और लाल तीन जातियाँ होती हैं। औषध के लिये प्रायः काले तिल लिये जाते हैं।

गुण-कर्म-"स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः। त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत् ॥" (च. सू. अ. २७)। "ईषत्कषायो मधुरः सतिक्तः सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः। तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः स्निग्धो व्रणालेपन एक पथ्य ॥ दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्रस्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च। तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥" (सु. सू. अ. ४६) "कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च। पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम्॥ वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्धनम्। तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं स्मृतम्॥" (च. सू. अ. २७)। "तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं शोधनं मेधामार्दवमांसस्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिलबलासक्षयकरं क्रिमिघ्नमशितंपित्तजननं योनिकर्णशिरःशूलप्रशमनं गर्भाशयशोधनं च, तथा छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टच्युतमथितक्षतपिच्चितभग्नस्फुटितक्षाराग्निदग्धविश्लिष्टदारिताभिहतदुर्भग्नमृगव्यालविदष्टप्रभृतिषु परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिलतैलं प्रशस्यते" (सु. सू. अ. ४५)।

तिल मधुर-कटु-कुछ कषाय और तिक्त, विपाक में मधुर, स्निग्ध, गुरु, उष्णवीर्य, दांत-त्वचा और केश के लिये हितकर, बल्य, कफ-पित्तकर, सांग्राहिक, व्रण में लेपन के लिये पथ्य, मूत्र कम करनेवाला, जठराग्नि और मेधा को बढ़ानेवाला तथा वातहर हैं। तिलों में काले तिल उत्तम, सफेद मध्यम और अन्य कम गुणवाले हैं। तिल का तैल मधुर, तिक्तकषायानुरस, मधुरविपाक, उष्णवीर्य, सूक्ष्म, व्यवायि, पित्त को बढ़ानेवाला, मूत्र कम करनेवाला, शरीर की स्थूलता कम करनेवाला, कफ को न बढ़ानेवाला, वातघ्न द्रव्यों में श्रेष्ठ, बलकारक, त्वचा को हितकर, मेधा और अग्नि को बढ़ानेवाला, द्रव्यान्तर-संयोग और संस्कार से तीनों दोषों के रोगों को हरनेवाला, तीक्ष्ण, बृंहण, प्रीणन, गुरु, सारक, विकासि वृष्य, शोधन, मार्दवकर, मांस को दृढ़ करनेवाला, चक्षुष्य, लेखन, पाचन, क्रिमिघ्न, योनि-कान और सिर के दर्द को दूर करनेवाला गर्भाशयशोधन तथा छिन्न, भिन्न, कटा हुआ, बिद्ध, उत्पिष्ट, च्युत, मथित, क्षत, पिच्चित, भग्न, स्फुटित क्षार तथा अग्नि से दग्ध विश्लिष्ट, दारित, अभिहत, दुर्भग्न, अहिंस्र या हिंस्र पश्वादि से दष्ट आदि अवस्थाओं में परिषेक, अभ्यंग, अवगाह आदि में प्रशस्त है।

नव्यमत—तिल स्नेहन, कंठ्य, कफघ्न, आनुलोमिक, मूत्रजनन, वाजीकर, आर्तवजनन, स्तन्यजनन, पौष्टिक, बल्य, व्रणशोधन, व्रणरोपण और केशवर्धन है। अर्शरोग में तिलों को पीस, गरम करके अर्श के ऊपर बांधते हैं और मक्खन के साथ मिलाकर खाने को देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२४१) बड़ा गोखरू।

नाम—(सं.) बृहद्गोक्षुर; (हिं.) बड़ा गोखरू; (म.) मोठें गोखरू; (गु.) ऊभा गोखरू, म्होटा गोखरू, कडवा गोखरू; (पं.) बड़ा भखडा (रा.); (अ.) हसके कबीर; (फा.) खारेखसके कलां; (ले.) पेडेलियम् म्युरेक्स; (Pedalium murex)।

वर्णन—बड़े गोखरू सर्वत्र मिलते हैं और प्रसिद्ध हैं।

उपयुक्त अंग—पत्र और फल। **मात्रा**—३-६ माशा।

गुण-कर्म—"गोक्षुरःशीतलःस्निग्धो बलकृद्बस्तिशोधनः। मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः। प्रमेहश्वासकासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्॥" (भा. प्र.)। "शर्कराश्मरिमेहेषु कृच्छ्रेषु प्रदरेऽपि च। रसायनप्रयोगेषु महानेव गुणोत्तरः"॥ (शिवदत्त)।

बड़ा गोखरू शीतवीर्य, स्निग्ध, बलकारक, बस्तिशोधन (मूत्रविरेचन), मधुर, दीपन, वृष्य, पौष्टिक तथा अश्मरी, प्रमेह, श्वास, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग और वातरोग को दूर करनेवाला है। शर्करा, अश्मरी, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र प्रदर-इन रोगों में और रसायनप्रयोगों में बड़ा गोखरू विशेष गुणकारक हैं।

नव्यमत–ताजी पत्तियाँ ठण्डे पानी में मसलने से पानी लुआबदार हो जाता है। बड़ा गोखरू स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य और वाजीकर है। इसका मूत्रजनन धर्म उत्तम है। नये सुजाक में ताजे-हरे पंचांग का हिम ताजा-ताजा बनाकर देते हैं। फलों का क्वाथ करना हो तो उसमें मुलेठी और नागरमोथा मिलाना चाहिये। इससे पेशाब की जलन कम होती है। स्वप्न में वीर्यस्राव होना, पेशाब अपने आप हो जाना, कामशक्ति कम होना-इनमें फलों का फांट या दो माशा चूर्ण शक्कर, घी और दूध के साथ देते हैं। सूतिका रोग में तथा यकृत् और प्लीहा के रोगों में फलों का क्वाथ अथवा पंचांग का स्वरस देते हैं। **फांटविधि**—२॥ तोला फल का चूर्ण २५ तोले उबलते हुए जल में डाल, एक घंटे तक पात्र को बंद रख, कपड़े से छान, थोड़ा-थोड़ा करके दिनभर में दे देवें। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–बड़ा गोखरू स्नेहन, संशमन, मूत्रजनन, आर्तवजनन, अश्मरीनाशक, बल्य और वाजीकर है। इसके ताजे पंचांग का जल में निकाला हुआ लुआब या सूखे फलों का क्वाथ मूत्रमार्गदाह, मूत्रावरोध, वेदनायुक्त बिंदुमूत्रता, सुजाक, जननाङ्गों की बढ़ी हुई स्पर्शशक्ति, स्वप्नमेह, शीघ्रपतन, जलोदर, यकृत्-प्लीहा की वृद्धि, आमवात और अनियमित आर्तव में देने से लाभ होता है।

अटरूषादि वर्ग ६७.

N. O. Acanthaceae. (अॅकेन्थेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण उपपत्ररहित; पुष्प का आकार दो ओष्ठों के समान; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तर कोश के दल ५-५; पुंकेशर दो या चार; गर्भाशय उपरिस्थ और दो खण्डोंवाला होता है।

(२४२) अटरूषक।

नाम–(सं.) वासा, वासक, वृष, अटरूषक; (पं.) वासा, बहेंकड, बोंकड; (हिं.) बाँसा, अडूसा; (कु.) बैसिंग; (मं.) अडुळसा; (गु.) अरडुसो (स्त्री.); (अ.) हशीशतुस्सुआल; (फा.) बाँस, ख्वाजा; (ले.) अधाटोडा वासिका (Adhatoda vasica)।

वर्णन—अडूसा भारतवर्ष में ४००० फुट की ऊँचाई तक सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

उपयुक्त अंग—पत्र, पुष्प और मूलत्वचा।

गुण-कर्म–"वृषपुष्पं ××× कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ॥" (च. सू. अ. २७) । "वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि च ॥" (सु. सू. अ. ४६) । "वासा तिक्ता कटुः शीता कासघ्नी रक्तपित्तजित् । कामलाकफपित्तास्रज्वरश्वासक्षयापहा ॥" (रा. नि.) ।

अडूसा तिक्त, कटु शीतवीर्य तथा कास, रक्तपित्त, कामला, कफ, पित्त, रक्तविकार, ज्वर, श्वास और क्षय का नाश करनेवाला है । अडूसे के फूलतिक्त, शीतवीर्य, कटुविपाकी तथा कफ, पित्त, क्षय और खाँसी का नाश करनेवाले हैं ।

नव्यमत–अडूसा उत्तम उत्तेजक,कफनिःसारक और संकोचविकासप्रतिबन्धक है । इसकी क्रिया इपिकाकुआना के समान होती है । फूल तिक्त, कटु, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, रक्त की उष्णता कम करनेवाले और संकोचविकासप्रतिबंधक हैं । मूल ज्वरघ्न, मूत्रजनन, श्लेष्मनिःसारक, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक, कृमिघ्न और कोथप्रतिबन्धक हैं । पत्र और मूल की अपेक्षया फूलों में संकोचविकासप्रतिबंधक धर्म अधिक है । पत्र की अपेक्षया मूल में कफनिःसारक धर्म अधिक है । पत्र में स्वेदजनन धर्म भी है । अडूसा का स्वेदजनन और ज्वरघ्न धर्म अल्प प्रमाण में है । कफ को पतला करना और कास का वेग कम करना–ये अडूसा के प्रधान कर्म हैं । **मात्रा**—पुटपाक विधि से निकाला हुआ स्वरस १ से १½ तोला थोड़ा सैंधव, पिप्पलीचूर्ण और शहद मिलाकर देते हैं । फूल ५-१० रत्ती शहद के साथ अथवा फांट करके देते हैं । मूलत्वक्चूर्ण २-५ रत्ती शहद के साथ देते हैं । अडूसा से छोटी रक्तवाहिनियों का संकोचन होकर रक्तस्राव बंद होता है । इसलिये रक्तपित्त और क्षय में फुप्फुस से रक्तस्राव होना, रक्तमिश्रित आँव, रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श और रक्तप्रदर में अडूसा का स्वरस पिलाते हैं । सद्योव्रण और शोथ पर पत्तियों का लेप करते हैं । नेत्राभिष्यन्द में आँख की ललाई दूर करने के लिये ताजे फूल आँख पर बांधते हैं । कफकास (श्वासनलिकाशोथ) में अडूसा देने से कफ पतला होकर तुर्त गिरने लगता है और खाँसी, दमा, ज्वर और मूत्रदाह कम होता है । अडूसा की सूखी पत्तियों के मोटे चूर्ण में थोड़ी धतूरे की पत्ती का चूर्ण मिलाकर धूम्रपान कराने से दमा का वेग शांत होता है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(२४३) इक्षुरक ।

नाम–(सं.) इक्षुरक कोकिलाक्ष; (हिं.) तालमखाना; (बं.) कुलेखाडा, कुलेकाटा; (म.) ताळिमखाना, कोळसुंदा; (गु.) एखरो; (ले.) एस्टेराकेन्था लोंगिफोलिआ (Asteracantha longifolia) ।

वर्णन–तालमखाना का काँटेदार क्षुप आर्द्र या जलासन्न भूमि में होता है । कांड चतुष्कोण; शाखा की ग्रन्थि पर से अवृन्त लंबे पत्रों की जोड़ी निकलती है;पुष्प द्रोण-

पुष्पी (गूमा) के समान शाखाग्रन्थि के चारों ओर से आसमानी रंग के निकलते हैं। बीज छोटे और रक्ताभ होते हैं। बीजों को जल में भिगोने से लुआब (पिच्छा) बनता है।

उपयुक्त अंग--बीज (तालमखाना), मूल, पत्र और पंचांग का क्षार। **मात्रा**—पंचांग का स्वरस २ तोला, मूलक्वाथ ४ तोला, बीजचूर्ण १॥-३ माशा, क्षार २-५ रत्ती।

गुण-कर्म—**चरके (सू. अ. ४) शुक्रशोधने महाकषाये इक्षुरकः पठचते। "कोकिलाक्षस्तु मधुरः शीतः पित्ताश्मरिव्रणुत्। वृष्यः कफहरो बल्यो रुच्यः संतर्पणः परः॥" (रा. नि.) 'इक्षुरः शीतलो वृष्यो मधुरः पिच्छिलस्तथा। तिक्तो वातामशोफाश्मतृष्णारुच्यनिलास्रजित्॥" (भा. प्र.)।**

तालमखाना मधुर, तिक्त, शीतवीर्य, शुक्रशोधन, वृष्य, पिच्छिळ, संतर्पण, बल्य, रुचिकारक तथा पित्त, कफ, अश्मरी, आमवात शोथ, तृषा, अरुचि, वातरोग और रक्तविकार को दूर करनेवाला है।

नव्यमत--तालमखाना का मूल उत्कृष्ट शीतल, वेदनास्थापन, बलकारक और मूत्रजनन है। बीज स्निग्ध, मूत्रजनन और कामोत्तेजक है। पंचांग का क्षार मूत्रजनन है। मूल का क्वाथ सुजाक और बस्तिशोथ में देते हैं। मूल का क्वाथ अथवा पंचांग का क्षार यकृदुदर में देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२४४) कालमेघ।

नाम--(हिं.) कल्पनाथ, कालमेघ; (बं.) कालमेघ; (म.) पालेकिराईत, ओलें किराईत; (गु.) लीलुं करियातुं; (ले.) एन्ड्रोग्रेफिस् पेनिक्युलेटा (Andrographis paniculata)।

वर्णन-काण्ड ३ फुट तक ऊँचा हरे रंग का; पत्र आमने-सामने; पुष्प दूर से देखने पर मच्छर के आकार के दिखते हैं; सेम यवाकार। सेम जौ के आकार की और समग्र क्षुप अत्यंत तिक्त होने से बंगाल के वैद्य इसको **यवतिक्ता** मानते हैं।

उपयुक्त अंग--समग्र क्षुप। **संग्रहकाल**—वर्षा ऋतु के अंत और शीत के आरंभ में इसे ले, छाया में सुखाकर शुष्क स्थान में रखना चाहिये। **मात्रा**-चूर्ण ५-१० रत्ती; स्वरस २ माशा; क्वाथ २-४ तोला।

गुण-कर्म-तिक्त, दीपन और कटुपौष्टिक। दो भाग कालमेघ और एक भाग काली मिर्च का चूर्ण १॥ माशाकी मात्रा में मलेरिया ज्वर में देते हैं। यकृत की वृद्धि, जीर्ण ज्वर और शोथ में इसके सेवन से दस्त साफ होता है, भूख लगती है और शरीर सुस्त होता है। बंगाल में जीरा, अजमोद, लवंग, जायफल और बड़ी इलायची के

बीज–इनके चूर्ण को कालमेघ के स्वरस की ५–७ भावनायें दे, २–२ रत्ती की गोलियाँ बना, माँ के दूध में मिलाकर बालकों को अतिसार, पेट का दर्द, वमन आदि में देते हैं। इस योग को आलुई कहते हैं।

निर्गुण्डचादि वर्ग ६८.

N. O. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; उपरिस्थ गर्भाशय; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण एकाकी; फूल छोटे, परंतु बड़े गुच्छों में पुष्पबाह्यकोश नलिकाकार और स्थायी; पुंकेशर ४, उसमें दो बड़े और दो छोटे; फल एकबीजी अथवा बहुबीजी और मांसल।

(२४५) निर्गुण्डी।

नाम–(सं.) निर्गुण्डी सिन्दु (न्धु) वार, शेफालिका; (हिं.) सम्हालू, संभालू, मवेड़ी; (म.) निर्गुण्डी; निगड; (गु.) नगद, नागोड; (बं.) निशिदा; (कु.) सेंवाली; (अ.) अस्लक; (फा.) पंजंगुस्त; (ले.) विटेक्स निगुन्डो, विटेक्स् ट्राइफोलिआ (Vitex negundo, Vitex trifolia)।

वर्णन–संभालू का वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। फूल के रंगभेद से इसके सफेद फूलवाली और नीलाभ पुष्पवाली ये दो भेद होते हैं। पत्रभेद से इसके अखण्ड किनारी के पत्रवाली और कटी हुई किनारी के पत्रवाली ये दो भेद होते हैं।

गुण-कर्म चरके (सू. अ. ४) विषघ्ने ('सिन्धुवार' नाम्ना), क्रिमिघ्ने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ ३८) सुरसादिगणे निर्गुण्डी पठ्यते। "सिन्धुवारं (पुष्पं) विजानीयाद्धिमं पित्तविनाशनम्।" (सु. सू. अ. ४६)। 'निर्गुण्डी कटुतिक्तोष्णा कृमिकुष्ठज्वरापहा। वातश्लेष्मप्रशमनी प्लीहगुल्मापचीर्हरेत्॥" (ध. नि.)। "सिन्दुवारः कटुस्तिक्तः कफवातक्षयापहः। कुष्ठकण्डूतिशमनः शूलहृत् काससिद्धिदः॥ कटूष्णा नीलनिर्गुण्डी तिक्ता रूक्षाऽस्रकासजित्। श्लेष्मशोफसमीरार्तिप्रदराध्मानहारिणी॥" (रा. नि.)।

संभालू कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, रूक्ष तथा कफ, वात, कृमि, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहा के रोग, गुल्म, अपची, क्षय, कण्डू, शूल, खाँसी, वातरोग, प्रदर और आध्मान का नाश करनेवाली है। संभालू के पुष्प शीतवीर्य और पित्तनाशक हैं।

नव्यमत--संभालू, कटु, तिक्त, कषाय, लघु, उष्ण, दीपन, वातप्रशमन, वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, उत्तम शोथघ्न, कफनिःसारक, ज्वरघ्न, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक, कफघ्न, कासहर, मूत्रजनन, आर्तवजनन, कृमिघ्न, मस्तिष्कबलदायक, बल्य और रसायन है। किसी भी प्रकार की बाहरी या भीतरी सूजन सँभालू से अच्छी होती है। शोथ में सँभालू का पत्रस्वरस अथवा मूल या पत्र का क्वाथ पिलाते हैं और पत्तियों को गरम करके सूजन पर बांधते हैं। फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ, अन्त्रकलाशोथ, संधिशोथ, आमवात, वृषणशोथ आदि में संभालू से अच्छा लाभ होता है। स्नायुक (नारू, नहरवा) रोग में स्वरस पिलाते हैं और पत्रकल्प का लेप करते हैं। संभालू के पत्रस्वरस से सिद्ध किया हुआ तैल पूयकर्ण में कान में डालते हैं। सूतिकाज्वर में सँभालू से गर्भाशय का संकोचन होकर दूषित रक्त निकल जाता है और गर्भाशय की सूजन उतरकर गर्भाशय पूर्व स्थिति पर आता है। सूतिकाज्वर में सँभालू खाने को देते हैं तथा जननेन्द्रिय और पेंडू पर पत्तियां गरम कर के बाँधते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--**प्रकृति**--दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क। **गुण-कर्म**--सँभालू लेखन, वेदनाहर, कठिनश्वयथुविलयन, उपशोषण और यकृत् एवं प्लीहा के अवरोध का उद्घाटनकर्ता है।

---

(२४६) शाक।

नाम---(सं.) शाक, साग, खरपत्र; (हिं.) सागौन, सागवान; (म., गु.) सागवान; (बं.) सेगुन; (लै.) टिक्टोना ग्रेण्डिस् (Tectona grandis)।

वर्णन--यह बड़ा और प्रसिद्ध वृक्ष जंगलों में होता है। इसकी लकड़ी इमारत और फर्निचर बनाने के काम में आती है।

गुण-कर्म--**सुश्रुते**-- (सू. अ. ३८) सालसारादिगणे शाकः पठ्यते। **"शाकः कषायः शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः। कुष्ठश्लेष्मानिलहरो गर्भसंधानस्थैर्यकृत्॥ शाकपुष्पं प्रमेहघ्नं रूक्षं तुवरतिक्तकम्। कफपित्तहरं वातकोपनं विशदं लघु॥"** (कै. नि.)।

सागौन कषाय, शीतवीर्य, रक्त और पित्त का शमन करनेवाला, गर्भस्थैर्यकर तथा कुष्ठ, कफ और वायु को हरनेवाला है। सागौन के पुष्प कषाय, तिक्त, रूक्ष, विशद, लघु, वातप्रकोपक तथा प्रमेह, कफ और पित्त का नाश करनेवाले हैं।

नव्यमत--पुष्प और बीज मूत्रजनन; बीजतैल केशवर्धन और कण्डूघ्न; पत्र पित्तशामक, शोणितास्थापन और सूक्ष्मरक्तवाहिनीसंकोचक; छाल पित्तशामक, साधारण स्तंभन, शोथघ्न और कृमिघ्न है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२४७) अग्निमन्थ ।

नाम—-(सं.) अग्निमन्थ, अरणी, तर्कारी; गणिकारिका; (हिं.) अ (अँ) गथू, अरनी (णी), गनियारी; (कु.) अग्नो; (म.) ऐरण, टाकली; (गु.) अरणी; (ब.) गणियारी; (ले.) क्लिरोडेन्ड्रोन् फ्लोमिडीस् (Clerodendron phlomidis)।

वर्णन—अरनी का वृक्ष सर्वत्र होता है। पत्र आमने-सामने, गोल, किंचित नोकीले, मृदु; पुष्प श्वेतवर्ण, गुच्छेदार, सुगन्धित; फल छोटे करोंदे के समान।

गुण-कर्म—-चरके (सू. अ. ४) अनुवासनोपगे शोथहरे, शीतप्रशमने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) वरुणादौ, वीरतर्वादौ, महत्पञ्चमूले च गणे, तथा वातसंशमने वर्गे (सू. अ. ३९) अग्निमन्थः पठ्यते। "तर्कारी कटुका तिक्ता तथोष्णाऽनिलपाण्डुनुत। शोथश्लेष्माग्निमान्द्यामविबन्धांश्च विनाशयेत्"॥ (ध. नि.)॥ "अग्निमन्थः श्वयथुनुद्वीर्योष्ण; कफवातहृत्। पाण्डुनुत् कटुकस्तिक्तस्तुवरो मधुरोऽग्निदः॥" (भा. प्र.)॥ 'तर्कारी कटुका तिक्ता तुवरा मधुराऽग्निदः। वीर्योष्णा हन्ते वातकफश्वयथुपाण्डुताः॥ अग्निमन्थो गुणैस्तद्वद्विशेषाद्वातशोथहा"। (कै. दे.)।

अरनी कटु, तिक्त, कषाय, मधुर उष्णवीर्य, अग्निदीपन, शोथहर, अनुबासनोपग, शीतप्रशमन तथा वात, कफ, पाण्डुरोग, शोथ, अग्निमान्द्य और विबन्ध को हरनेवाली है।

नव्यमत-–वात,कफ और शोथप्रधान रोगों में अरणी का उपयोग होता है। अरणी दशमूल का एक द्रव्य है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वक्तव्य—सुश्रुत में वरुणादि गण में तर्कारी और अग्निमन्थ ये दोनों शब्द आये हैं, अतः ये दोनों भिन्न द्रव्य मालूम होते हैं। अग्निमन्थ को (हिं.) अरणी (नी.); (गु.) मोटी अरणी; (म.) ऐरण; (ले.) क्लिरोडेन्ड्रोन् फ्लोमोमिडीस् और तर्कारी को (हिं.) गनियारी; (म.) नरवेल; (गु.) नानी अरणी और (ले) प्रेम्ना एन्टिग्निफोलिआ (Premna Integrifolia) मानना उचित मालूम होता है। एक के अभाव में दूसरे का उपयोग कर सकते हैं।

---

(२४८) भार्गी ।

नाम—-(सं.) भार्गी; ब्राह्मणयष्टिका; (हिं.) भारंगी बनबाकरी (जौनसर); (बं.) बामुनहाटी; (म.) भारंग; (गु.) भारंगी; (पं.) भरंगी; (ले.) क्लिरोडेन्ड्रोन् सरेटम् (Clerodendron serratum)।

वर्णन—हिमालय की तराई में इसके गुल्म होते हैं। पत्तियाँ ४ इंच लंबी; २-३ इंच चौडी, लंबगोल; पुष्प नीलाभ श्वेत; फल पकने पर जामुनी रंग के होते हैं।

उपयुक्त अंग—मूल। **मात्रा**—१॥--४ माशा।

गुण-कर्म—सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे भार्गी पठचते ॥ "भार्गी तु कटुतिक्तोष्णा कासश्वासविनाशिनी। शोफव्रणकृमिघ्नी च दाहज्वरनिवारिणी ॥" (रा. नि.)। "भार्गी रूक्षा कटुस्तिक्ता रुच्योष्णा पाचणी लघुः। दीपनी तुवरा गुल्मरक्तजिन्नाशयेद्ध्रुवम् ॥ शोथकासकफश्वासपीनसज्वरमारुतान् ॥" (भा. प्र.)।

भारंगी कटु, तिक्त, कषाय, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, दीपन, रुचिकर तथा कफ, वात, कास, श्वास शोथ, व्रण, कृमि, दाह, ज्वर, गुल्म, रक्तविकार और पीनस का नाश करनेवाली है।

नव्यमत-भारंगमूल उष्ण, तिक्त, कटु, पाचन, दीपन, कफघ्न, ज्वरघ्न, श्वासहर, वातहर और शोथघ्न है। भारंगमूल ज्वर और कफयुक्त रोगों में देते हैं। सर्दी, कण्ठशोथ और कफयुक्त दमा में सोंठ या बच के साथ भारंगमूल देते हैं। इसमें थोड़ा उत्तेजक गुण भी है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२४९) काश्मरी-गम्भारी।

नाम-(सं.) श्रीपर्णी, काश्म (श्मी) री; गम्भारी; (पं. हिं.) गंभारी; (बं.) गामार; (म.) शिवण; (गु.) शीवण, सवन; (ले.) मेलीना आर्बोरिआ (Gmelina arborea)।

वर्णन—गंभारी के मध्यम ऊँचाई के वृक्ष होते हैं। पत्ती ५-१० इंच लंबी; ३ इंच चौड़ी; फूल पीले रंग के और छाल श्वेताभ होती है।

उपयुक्त अंग—फल और मूल।

गुण-कर्म-चरके—(सू. अ. ४) विरेचनोपगे (काश्मरीफलं); दाहप्रशमने (काश्मर्यफलं), श्वयथुहरे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) महत्पञ्चमूल, सारिवादिगणे च काश्मरी (काश्मरीफलं) पठचते। "हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तासृग्वातनाशनम्। केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते ॥" (सु.सू.अ.४६)। "काश्मर्यफल रक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम् ॥" (च. सू. अ. २५)। "काश्मर्यं तैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि।" (सु. सू. अ. ४५)। "काश्मीरी कटुका तिक्ता गुरूष्णा कफशोथनुत्। त्रिदोषविवाहार्तिज्वरतृष्णास्रदोषजित् ॥" (रा. नि.) "श्रीपर्णी मधुरा तिक्ता वीर्योष्णा तुवरा गुरुः। दीपनी पाचनी मेध्या भेदिनी भ्रमशोषजित्। दोषतृष्णामशूलार्शोविषदाहज्वरापहा।" (कै. नि.)।

गंभारी कटु, तिक्त, मधुर, कषाय, गुरु, उष्णवीर्य, विरेचनोपग, दाहप्रशमन, श्वयथुहर, दीपन, पाचन, मेध्य, भेदन तथा त्रिदोष, विष, दाह, ज्वर, तृषा, रक्तविकार, भ्रम, अर्श, शोष और शूल को दूर करनेवाली है। गंभारी के फल हृद्य, केश्य, मेध्य, रसायन, रक्तसांग्राहिक, रक्तपित्तप्रशमन तथा पित्त, रक्तविकार और मूत्र की रुकावट को दूर करनेवाला है। गंभारी के बीजों का तेल मधुर, काषाय तथा कफ और पित्त को शमन करनेवाला है।

नव्यमत-गंभारी की **कोमल पत्ती** शीतल और स्नेहन, फल तृषाहर, दाहप्रशमन और स्नेहन; **मूल** तिक्त, दीपन और अनुलोमन है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

तुलस्यादि वर्ग ६९.

N. O. Labiatae (लेबिएटी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; ऊर्ध्वस्थगर्भाशय; काण्ड प्रायः चतुष्कोण; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण उपपत्ररहित, सुगन्धि; पुंकेसर ४; उनमें दो छोटे और दो बड़े; बीजकोश ४ खण्डवाला; प्रत्येक खण्ड में १-१ बीज होता है। बीजों को जल में भिगोने से पिच्छिल लुआब निकलता है।

(२५०) तुलसी।

नाम—(सं.) तुलसी, सुरसा (स); (पं., हिं., गु., बं.) तुलसी; (म.) तुळस; (अ.) फरंजमि (मू.) रुक; (ले.) ओसिमम् सेन्कटम् (Ocimum sanctum)।

वर्णन—तुलसी भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और प्रसिद्ध है। तुलसी के श्वेत तुलसी, काली तुलसी, रामतुलसी ये तीन मुख्य भेद हैं।

गुण-कर्म—सुश्रुते (सू. अ. ३८) सुरसादिगणे ('सुरसा' नाम्ना) तुलसी पठ्यते। "हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः। पित्तकृत् कफवातघ्नः सुरसः पूतिगन्धहा ॥" (च. सू. अ. २७)। "कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः। पित्तकृत पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः ॥" (सु. सू. म. ४६)। तुलसी लघुरुष्णा च रूक्षा कफविनाशिनी। कृमिदोषं निहन्त्येषा रुचिकृद्वह्निदीपनी ॥ (ध. नि.)। "तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत्। दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्र-पार्श्वरुक्कफवातजित्।" (भा. प्र.)।

तुलसी कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, रुक्ष, लघु, रुचिकर, हृद्य, दीपन, दाह और पित्त करनेवाली तथा कफ, वात, हिक्का, खाँसी, श्वास, पार्श्वशूल, बिष, कृमिविकार, कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र और रक्तविकार का नाश करनेवाली है।

नव्यमत–तुलसी का स्वरस तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, ज्वरघ्न, शीतहर, कफघ्न, उत्तेजक और वातहर है। शीतप्रधान रोगों में तुलसी देते हैं। ज्वर में तुलसी का स्वरस काली मिर्च के चूर्ण के साथ देते हैं और शरीर में दर्द अधिक हो और संधिशोथ हो तो अजवायन और सँभालू के साथ देते हैं। सर्दी के ज्वर में तुलसी देने से सर्दी छाती में उतरती नहीं और छाती में उतरी हो तो कफ सरलता से पड़ने लगता है और छाती का दर्द कम होता है। जहरीले ज्वर में अथवा बहुत दिनों तक रहनेवाले ज्वर में तुलसी का स्वरस रोगी के शरीर पर मलते हैं और मुंह में लगाते हैं। इससे रोगी को उत्तेजना मिलती है, दुर्गन्ध नष्ट होती है और इतर लोगों को संक्रमण का भय नहीं रहता। मलेरियाग्रस्त विस्तार में तुलसी के क्षुप लगाने से मलेरिया का भय कम होता है। आँतों पर तुलसी का वातप्रशमन और कृमिघ्न प्रभाव होता है। तुलसी के स्वरस से वमन बंद होता है और दस्त साफ होता है। तुलसी के स्वरस से व्रण धोने से व्रणगत कृमि नष्ट होते हैं और व्रण शीघ्र भर आता है। तुलसी के बीज का हिम (लुआब) जीरा, मिश्री और दूध के साथ मूत्रदाह, सुजाक, बस्तिशोथ और अश्मरीशूल में देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२५१) मरुबक।

नाम–(सं.) मरुवक; (हि.) मरुआ, मरुवा; मर्वा; (म.) मरवा; (गु.) मरवो; (फा.) मर्ज़ञ्जोश; [ले.] ओरिजेनम् मॅजोराना (Origanum majorana)।

वर्णन–मरुआ बागों में लगाया जाता है और जंगली भी होता है।

गुण-कर्म–“मरुवकः कफहरो रुच्यो मुखसुगन्धकृत्।” (ध. नि.)। “मरुवः कटुतिक्तोष्णः कृमिकुष्ठविनाशनः। विड्बन्धाध्मानशूलघ्नो मान्द्यत्वग्दोषनाशनः॥” (रा. नि.)।

मरुआ कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, रुचिकारक, मुख को सुगन्धित करनेवाला तथा कृमि, कुष्ठ, मलावरोध, आध्मान, शूल, अग्निमान्द्य और त्वग्दोष का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–मरुआ सुगन्धी, कोष्ठवातप्रशमन, स्वेदजनन, उत्तेजक, श्वासहर और आर्तवजनन है। सर्दी (प्रतिश्याय) में मरुआ का फांट देने से पसीना आता है और स्फूर्ति मालूम होती है। सर्दी से ऋतु आना बंद हुआ हो तो मरुआ का फांट देते हैं। पुराने व्रण पर मरुआ का स्वरस लगाने से व्रणरोपण और वेदनास्थापन कार्य होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२५२) पुदीना ।

नाम–(सं.) पूतिहा; (हिं.) पुदीना; (पं.) पोदीना, पूतना; (म.) पुदिना; (गु.) फुदीनो; (अ.) फूदनज; (फा.) पुदिनः; (ले.) मेन्था अर्वेन्सिस्, मेन्था विरिडिस्, मेन्था सिल्वेस्ट्रिस् (Mentha arvensis, Mentha viridis Mentha sylvestris) ।

वर्णन–पुदीना भारतवर्ष में सर्वत्र बागों में लगाया जाता है और हिमालय की पहाड़ियों में स्वयंजात भी होता है। पुदीना को सैंधव, जीरा, अदरख आदि के साथ पीसकर चटनी बनाई जाती है।

गुण-कर्म–**पूतिहा कटुरुष्णश्च रोचनो दीपनस्तथा। हन्ति वातं कफं शूलं वम्याध्मानकृमींस्तथा॥**

पुदीना कटु, उष्णवीर्य, रोचन, दीपन तथा वायु, कफ, उलटी, पेट का दर्द और अफारा तथा कृमियों का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–पुदीना उष्ण, रूक्ष, वातप्रशमन, दीपन, आर्तवजनन, संकोचविकासप्रतिबंधक (आक्षेपहर) और उत्तेजक है। पुदीना अजीर्ण, कुपचन, उदरशूल उदराध्मान और वमन में देते हैं। प्रसूतिज्वर में पुदीने का स्वरस १–२ तोला रोज देने से बहुत फायदा होता है। कफज्वर, आमाशय की अशक्तता, अतिसार, वातरोग और अश्मरी में इसका स्वरस देने से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

पुदीने का स्वरस, फांट या अर्क के रूप में उपयोग करना चाहिये। **मात्रा**–स्वरस ॥–२ तोला, फांट २–४ तोला और अर्क २–४ तोला।

यूनानीमत–पुदीना दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, श्वयथुविलयन, गाढे दोष को पकाने और पतला करनेवाला, उत्क्लेशहर, कृमिघ्न, वेदनाहर, मूत्रल, आर्तवजनन, स्वेदन, वातानुलोमन, दीपन और विषहर है।

---

(२५३) पुदीने के फूल ।

नाम–पुदीने के फूल, पुदीने का सत्त्व, सत पुदीना; (अ.) मेन्थोल् (Menthol) ।

वर्णन– पुदीने की जाति के मेन्था अर्वेन्सिस् और मेन्था पाइपरेटा इन दो पुष्पित और ताजी वनस्पतियों (क्षुपों) से परिस्रावणविधि से प्राप्त तैल की **ओइल पीपरमेन्ट्** (Oil peppermint) और इस तैल से प्राप्त लंबे षट्कोन, दानेदार पदार्थ को **पुदीने के फूल या पुदीने का सत्त्व** (त.) कहते हैं। पुदीने का तैल और सत्त्व ये दोनों चीन और जापान से भारतवर्ष में आते हैं।

गुण-कर्म–बाह्यप्रयोग से पुदीने का सत्त्व उत्तम कोथप्रशमन, स्वापजनन (सुन्नता लानेवाला) और त्वग्दोषहर है। खिलाने से इसकी क्रिया कपूर के समान होती है, परंतु इसमें श्लेष्महर और कोष्ठवातप्रशमन धर्म विशेष है। पुदीना का सत्त्व धान्याहारी लोगों के कुपचन, अजीर्ण और उदरशूल में देते हैं। इससे उलटी, विशेषतः सगर्भावस्था में होनेवाली उलटी बंद होती है। दन्तशूल में रूई को १–२ बूंद पीपरपेन्ट के तैल भिगोकर दांत के नीचे दबाने से पीड़ा शांत होती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

एक भाग मेन्थोल और दो भाग कपूर को एकत्र मिलाने से द्रव बन जाता है। किसी भी प्रकार की वातजन्य पीड़ा को शमन करने के लिये इसकी मालिश करते हैं। अजीर्णजन्य वमन, अतिसार, विसूचिका और उदरशूल में इससे २–५ बूंद शक्कर में मिलाकर देते हैं।

(२५४) उस्तू (स्त) खुदूस।

नाम–(ले.) लॅवेन्डयुला स्टीकस् (Lavandula steachas) (अं.) अरेबियन् लेवेन्डर् (Arabian lavander)।

वर्णन–उस्तखुदूस के फूल यूनानी दवा बेचनेवाले पनसारियों के यहाँ मिलते हैं। फूल कुछ पिलाई और ललाई लिये हुए बनफशाई-बैंगनी रंग के होते हैं। इनमें कपूर की सी गंध आती है।

यूनानीमत-प्रकृति–पहले दर्जे में गरम और दूसरे में खुश्क। **गुणकर्म**–प्रमाथी, श्वयथुविलयन, नाड़ी और मस्तिष्कसंशोधक, बलकारक, दीपन, वातानुलोमन और कफ-सोदाविरेचक है। यूनानी वैद्य उस्तखुदूस का अधिकतया पक्षवध, अर्दित, अपस्मार, प्रतिश्याय, विस्मृति, नाड़ीशूल और आमवात में उपयोग करते हैं।

नव्यमत–उस्तखुदूस मधुर, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, वायुनाशक, संकोचविकासप्रतिबन्धक, उत्तेजक, और कफघ्न है। यह कफरोग और दमा में गुणकारी है। सूखे दमे में उस्तखुदूस, जूफा, सौंफ और मुलेठी का क्वाथ देते हैं। उदरवात, उदरशूल और भूतोन्माद में उस्तखुदूस देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२५५) द्रोणपुष्पी

नाम–(सं.) द्रोणपुष्पी; (हिं.) गूमा; (कु.) धनफूला; (बं.) घलघसे, दंडकलस; (म.) तुंबा, कुंभा; (गु.) कूद्रो; (मा.) बड़घल; (ले.) ल्यूकस् सिफॅलोटस् (Leucas cephalotes)।

वर्णन—गूमा वर्षा ऋतु में सर्वत्र होता है। क्षुप २–३ फुट ऊंचा; पत्र २–३ इंच लंबे, ½ इंच चौड़े; पुष्प श्वेतवर्ण, शाखाओं पर पत्रकोण में लगे हुए, आकृति में द्रोण के तुल्य होते हैं (अतः इसे द्रोणपुष्पी कहते हैं) । पुष्प शरद् ऋतु में लगते हैं। गरमी में क्षुप शुष्क हो जाता है।

गुण-कर्म—"द्रोणपुष्पी कटुः सोष्णा रुच्या वातकफापहा। अग्निमान्द्यहरा चैव कामलाज्वरहारिणी ॥" (रा. नि.) चरके (सू. अ. २७), सुश्रुते (सू. अ. ४६) च शाकवर्गे 'कुतुम्बक' नाम्ना द्रोणपुष्पी पठ्यते।

गूमा कटु, उष्णवीर्य, रुचिकर तथा वात, कफ, अग्निमान्द्य, कामला और ज्वर को दूर करनेवाला है।

नव्यमत-गूमा उष्ण, स्वेदजनन, वातप्रशमन, स्रंसन और कफघ्न है। कफज्वर में गूमा का स्वरस शुद्ध टंकण और शहद मिलाकर देते हैं। आध्मान और पेट के दर्द में स्वरस पिलाते हैं। सर्दी के सिरदर्द में इसके स्वरस का नस्य देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--गूमा दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, श्वयथुविलयन तथा कामला, कफ ज्वर, अर्श और विष को दूर करनेवाला है।

------

(२५६) जूफा।

नाम—(अ., फा.) जूफा; (ले.) हिसोपस् ओफिसिनेलिस् (Hyssopus officinalis)।

वर्णन—यह जूफा के नाम से यूनानी दवा बेचनेवाले पनसारियों के यहाँ मिलता है। उपयुक्त अंग-पंचांग। मात्रा—३–६ माशा।

यूनानीमत–प्रकृति–प्रथम दर्जे में गरम और खुश्क। गुण-कर्म–प्रमाथी, कफनिःसारक, श्वयथुविलयन, लेखन, वातानुलोमन, कृमिघ्न और कासश्वासघ्न है। कृच्छ्रश्वास, कफज कास, श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया) और प्रतिश्याय में इसका क्वाथ देते हैं। इसका शर्बत श्वास और खांसी में देते हैं।

उक्त रोगों में हकीम लोग इसका विशेष उपयोग करते हैं। यह उपयुक्त औषध है। वैद्यों को भी इसका उपयोग करना चाहिये।

इसबगोलादि वर्ग ७०.

N. O. Plantaginaceae (प्लेन्टेजिनेसी)।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तदल; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यंतरकोश के दल ४-४; पुंकेशर ४; फल विदारी और बहुबीज; बीज पानी में भिगोने से लुआब छोड़ते हैं।

------

(२५७) इसबगोल ।

नाम–(सं.) ईषद्‌गोल, अश्वकर्णबीज; (हिं.) इसबगोल; ईसरगोल; (गु.) ओ (ऊ) थमी जीरुं; (फा.) अस्पगोल; (ले.) प्लेन्टेगो ओवेटा (Plantago ovata)।

उत्पत्तिस्थान–ईरान, पंजाब और सिंध ।

वर्णन–इसके बीज सर्वत्र बाजार में मिलते हैं । बीज हलके गुलाबी रंग के और नोकदार होते हैं । बीज पानी में भिगोने से गंध और स्वादरहित प्रचुर लुआब (पिच्छा) से आवृत हो जाते हैं ।

उपयुक्त अंग–बीज और बीज के छिलके (इसबगोल की भूसी) । **मात्रा**–३–६ माशे । फांट या हिम के लिये ½ से १ तोला ।

यूनानीमत—प्रकृति दूसरे दर्जे में शीत और स्निग्ध । **गुण-कर्म**—उष्ण-श्वयथुविलयन, संशमन, तृषाहर, ज्वरसंतापहर, सर और पिच्छिल; भुना हुआ इसबगोल संग्राही है । अपनी पिच्छिलता के कारण यह विबद्ध मल (सुद्दा) को फिसल कर निकालता है । थोड़ा सा गाय का घी लगा; जरा सा सेंक कर खाने से अतिसार और प्रवाहिका में लाभ पहुँचाता है । शुष्क कास, कंठ और श्वासनलिका की शुष्कता, तीव्र ज्वर, तृषा तथा सुजाक की जलन दूर करने के लिये इसबगोल का लुआब थोड़ी सी मिश्री मिलाकर पिलाते हैं ।

पुनर्नवादि वर्ग ७१.

N. O. Nyctaginaceae (निक्टेजिनेसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प, द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्णविन्यास अभिमुख; पर्ण सादे, उपपत्ररहित, पर्ण की जोड़ी में एक पर्ण मोटा और एक छोटा; पुंकेशर अनियत; बीजकोश उपरिस्थ, एक खंडवाला; फल पतली त्वचावाला और कोश की नली के अंदर ढका हुआ होता है ।

---

(२५८) पुनर्नवा ।

नाम–(सं.) पुनर्नवा, वर्षाभू, कठिल्लक, वृश्चीर; (पं.) इटसिट; (हिं.) गदहपूरना, विसखपरा (प.) घेटुली, खापरा; (गु.) राती साटोडी, वसेडो; (बं.) गदापुण्या; (मा.) साटी; (ले.) बोह्रेविया डिफ्यूज़ा (Boerhavia diffusa)।

वर्णन–पुनर्नवा की बहुवर्षायु भूमि पर फैलनेवाली लता होती है। वर्षारम्भ में इसमें नये अङ्कुर उत्पन्न होते हैं। पत्र प्रायः गोल और मांसल; पुष्प और शाखा प्रायः रक्ताभ।

गुण-कर्म–चरके–(सू. अ. ४) स्वेदोपगे, अनुवासनोपगे, कासहरे वयः–स्थापने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ गणे पुनर्नवा पठ्यते। "पुनर्नवा × × प्रभृतीनि। उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च। तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोथनाशनम् ॥" (सु. सू. अ. ४६)। "पुनर्नवा भवेदुष्णा तिक्ता रूक्षा कफापहा। सशोथपाण्डुहृद्रोगकासोरःक्षतशूलनुत् ॥" (ध. नि.)। 'रक्ता पुनर्नवा तिक्ता सारिणी शोफनाशिनी। रक्तप्रदरदोषघ्नी पाण्डुपित्तविमर्दिनी ॥ (रा. नि.)।

पुनर्नवा मधुर, तिक्त, सारक, रूक्ष, स्वेदोपग, अनुवासनोपग, कासहर, वयःस्थापन, उष्णवीर्य तथा वात, कफ, शोथ, रक्तप्रदर, पाण्डुरोग, हृद्रोग, उरःक्षत और शूल को दूर करनेवाली है।

नव्यमत–पुनर्नवा दीपन, विरेचन, मूत्रविरेचन, स्वेदजनन, कफघ्न, वामक और शोथहर है। पुनर्नवा से मूत्रपिण्ड को कुछ भी त्रास न होकर मूत्र का प्रमाण दूना बढ़ता है। मूत्रजनन गुण आधा तोला की मात्रा में देने से ही होता है। कफघ्न गुण थोड़ी–थोड़ी बार-बार देने से देखने में आता है। वमन होने के लिये ४० रत्ती की मात्रा १-२ बार देनी पड़ती है। इससे उलटी के साथ विरेचन होकर दोनों मार्गों से कफ बाहर निकल जाता है। पुनर्नवा का स्वेदजनन गुण अल्प है। इसका असर हृदय पर अल्प प्रमाण में, धीरे-धीरे परंतु स्पष्ट होता है। इससे हृदय की संकोचन क्रिया बढ़ती है, रक्त जोर से धमनियों में जाता है, रक्त का दबाव बढ़ता है और सिराओं से हृदय में रक्त अधिक शोषण होता है, यह क्रिया डिजिटेलिस के समान है। रक्त का दबाव बढ़ने से पेशाब का प्रमाण बढ़ता है और शरीर में जमा हुआ पानी कम होता है। इसलिये पुनर्नवा को शोथघ्नी कहा गया है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

अपामार्गादि वर्ग ७२.

N.O. Amaranthaceae. (अॅमेरेन्थेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्ण सादे, उपपत्ररहित, अभिमुख अथवा एकान्तर; पुष्प गुच्छों में शाखाग्र या पत्रकोण से निकलते हैं; फल शुष्क, स्थायी और कोश के अंदर ढका हुआ होता है।

(२५९) अपामार्ग ।

नाम–(सं.) अपामार्ग, शिखरी, किणिही, प्रत्यक्पुष्पा, मयूरक, खरमञ्जरी; (पं) पुठकंडा; (हिं.) चिरचिटा, लटजीरा; (कु.) साजी; (मा.) आंधीझाडो ओगा; (बं.) अपाङ्; (म.) आघाडा; (गु.) अघेडो; (ले.) ॲचिरेन्थस् एस्पेरा (Achyranthes aspera) ।

वर्णन—अपामार्ग भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। इसकी दो जातियाँ होती हैं। (१) श्वेत और (२) रक्ताभ। उपयुक्त अंग-मूल, बीज, पञ्चाङ्ग और पञ्चाङ्ग का क्षार।

गुण-कर्म–चरके शिरोविरेचनद्रव्येषु (सु. अ. २); क्रिमिघ्ने, शिरोविरेचनोपगे, वमनोपगे च महाकषाये (सू. अ. ४); तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) अर्कादिगणे ('मयूरक'नाम्ना) अपामार्गः पठ्यते । "प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानाम्।" (च. सू. अ. २५)। "अपामार्गस्तु तिक्तोष्णः कटुकः कफ नाशनः । अर्शःकण्डूदरामघ्नो रक्तहृद्ग्राहिवान्तिकृत् ॥" (ध. नि.) । "अपामार्गः कटुस्तिक्तस्तीक्ष्णोष्णो दीपनः सरः । पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोनिलापहः ॥ निहन्ति शूलहिध्मार्शोदद्रूकण्डूदरापचीः ।" (कै. नि.) ।

अपामार्ग कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन, सारक, रोचक, वमन करानेवाला, ग्राही, शिरोविरेचन (बीजतण्डुल) तथा कफ, मेद, वात, अर्श, कण्डू, उदर, आम, शूल, हिक्का और अपची का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--अपामार्ग तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, दीपन अम्लतानाशक, रक्तवर्धक, शोधन, अश्मरीघ्न, मूत्रजनन, मूत्राम्लतानाशक, स्वेदजनन, कफघ्न और पित्तसारक है। भोजन के पहले अपामार्ग देने से आमाशय का पाचक रस बढ़ता है और आमाशय की पीड़ा कम होती है। भोजन के बाद देने से आमाशय में अम्लता कम होती है और कफ विलीन होता है। अपामार्ग से यकृत् की पित्तवाहिनियों का शोथ कम होता है, यकृत् की क्रिया सुधरती है और यकृत में रक्तसंचार ठीक होने लगता है। इसलिये पित्ताश्मरी और अर्श में अपामार्ग देते हैं। अपामार्ग के अन्तर्गत क्षार रक्त में शीघ्र मिल जाता है, रक्त के रञ्जक कण बढ़ते हैं, रक्त का रंग सुधरता है और रक्तोदक का क्षार धर्म बढ़ता है। रक्त में मिला हुआ क्षार मूत्रपिंड (गुर्दे), त्वचा, फुफ्फुस, आमाशय, यकृत् और पित्त के द्वारा बाहर आता है और जिन जिन अवयवों द्वारा बाहर आता है उनकी जीवनविनिमयक्रिया सुधारता है। अपामार्ग तरुण और जीर्ण आमवात, संधिशोथ, गण्डमाला, मूत्रपिण्डोदर, हृदयोदर, अश्मरी, बस्तिशोथ, मूत्रपिंडशोथ, श्वासनलिकाशोथ, प्लीहावृद्धि और यकृद्वृद्धि इन रोगों में हितकर है। रतौंधी में अपामार्ग मूल चूर्ण ॥–१ तोला रात को सोते समय दूध के साथ देना और रोगी को पौष्टिक आहार खाने को देना लाभप्रद है। आँख की फूली में अपामार्ग मूल शहद में घिसकर लगाते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

चुक्रादि वर्ग ७३.

N. O. polygonaceae (पोलिगोनेसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; काण्ड गोल; पर्ण एकान्तर, सवृन्त; पुंकेशर ५–९, एक या दो चक्रों में; बीजकोश २–३ खंडवाला, उपरिस्थ ।

---

(२६०) चुक्र ।

नाम–(सं.) चुक्र; (हिं.) चूका; (बं.) चुकापालङ्; (म.) चाकवत; (गु.) चुको, खाटी भाजी; (अ.) ह (हू)म्माज; (ले.) रुमेक्स् वेसिकेरिअस (Rumex vesicarius) ।

वर्णन—चूका भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। इसका साग बनाकर खाते हैं। स्वाद खट्टा होता है। चूका के बीजों का यूनानी वैद्यक में 'तुख्म हुम्माज' के नाम से व्यवहार होता है।

गुण–कर्म–"चुक्रं स्वादम्लपत्रं तु लघूष्णं वातगुल्मनुत्। रुचिकृद्दीपनं पथ्यमीषत्पित्तकरं मतम् ॥" (रा. नि.) ।

चूका लघु, उष्णवीर्य, रुचिकर, दीपन, पथ्य, किंचित् पित्तकर और वातगुल्म को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—चूका शीतल, दीपन, शोथघ्न, वेदनास्थापन और स्रंसन है। चूका पचननलिका के दाह और आंव में तथा उलटी बंद करने और भूख लगाने के लिये देते हैं। सूजन और वृश्चिकदंशपर पत्तियों का लेप करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत–चूका पहले दर्जे में शीत, दूसरे दर्जे में रूक्ष, ग्राही, दाहप्रशमन, वेदनास्थापन और उष्णयकृद्‌बलदायक है। पित्तातिसार, पैत्तिक वमन, पित्तप्रकोप, तृष्णा और कामला में चुका गुणकर हैं। चुका के बीज (तुख्म हुम्मांज) ग्राही, लेसदार, चिपकनेवाला और दाहप्रशमन है। पित्तोद्वेग, उष्ण, हृत्स्पंदन, कामला आमाशयशोथ, मूत्रमार्ग का दाह, आन्त्रव्रण और पित्तातिसार में चूका के बीजों का उपयोग करते हैं। मात्रा—३–५ माशा ।

---

(२६१) रेवंदचीनी ।

नाम--(सं.) पीतमूला, अम्लपर्णी; (पं.) रयोंदचीनी; (का.) पम्बचालन; (गढ़वाल) आर्चा; (कु.) डोलु; (ने.) पम्प (ब) मचाल; (हिं.) रेवंदचीनी; (बं.) रेउचिनी; (गु.) रेवन (न्द)चीनी; (अ., फा.) रेवंद, रावंद, रेवास; (ले.) हिअम् इमोड़ी (Rheum emodi) ।

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष में ७०००–१२००० फूट की ऊँचाई पर काश्मीर से नेपाल तक तथा तातार, खोतान (खता), सिकिम और चीन।

वर्णन–रेवंद फारसी नाम है। यह ईरान, अरबस्तान आदि में चीन और खता (खोतान) से जाती थी इसलिये हकीमों ने इसका नाम रेवंदचीनी या रेवंदखताई रखा। बाजार में इसके भूरे पीले रंग के मूल मिलते हैं। चबाने से थूक पीला हो जाता है; स्वाद तिक्त और कषाय होता है। इसकी शाखायें और पत्तियाँ खट्टी होती हैं। शाखाओं को सुखा, वेणी जैसे गूंथकर अमलबेत के नाम से बेचते हैं। इसकी एक छोटी जाति काश्मीर में होती है। उसको रेवास कहते हैं।

गुणकर्म--रेवंदचीनी तिक्त, दीपन, छोटी (२–१० ग्रेन), मात्रा में ग्राही यकृदुत्तेजक और सारक है; बड़ी (१५–३० ग्रेन) मात्रा में रेचक है। थोडी मात्रा में देने से लालारस और आमाशयरस बढ़ता है, भूख लगती है, अन्न पचता है और यकृत को उत्तेजना मिलने से पित्तस्राव ठीक होता है। छोटी मात्रा में देने से इसका गुण स्पष्ट देखने में आता है। बड़ी मात्रा में देने से जुलाब होते हैं। इससे बडी आँतों की गति बढ़कर ६–८ घंटे में विरेचन होने लगता है और पेट में मरोड़ आते हैं। विरेचन होने के बाद इसकी ग्राही क्रिया आरम्भ होती है और जुलाब अपने आप वंद हो जाता है,इससे मूत्र का रंग गाढ़ा (लाल) होता है। वातरक्त के रोगी को विरेचन के लिये रेवंदचीनी प्रशस्त औषध है। अर्श के रोगी को रेवंदचीनी के जुलाब से लाभ होता है। छोटे बच्चों को पेट में दूध न पचकर सड़ने से और अम्लता बढ़ने से दस्त होते हैं। ऐसी स्थिति में रेवंदचीनी देने से सड़ा हुआ दूध विरेचन द्वारा निकल जाता है, अम्लता कम हो जाती है और जुलाब अपने आप बंद हो जाते हैं। पहले जुलाब लाकर पीछे से कब्ज करनेवाले दो औषधद्रव्य हैं—एक एरंडतैल और दूसरा रेवंदचीनी। परंतु एरंडतैल क्षारस्वभावी न होने से उससे पेट की अम्लता नष्ट नहीं होती और रेवंदचीनी से अम्लता नष्ट होती है। रेवन्दचीनी का क्षारस्वभाव अल्प है इस लिए इसके साथ थोड़ा शुद्ध सर्जिकाक्षार (सोड़ा बाई कार्ब) मिलाना चाहिए। रेवन्दचीनी से पेट में मरोड़ होता है, इसलिये इसके साथ शुंठी (और सौंफ) जैसे सुगंधि द्रव्य मिलाने चाहियें। रेवंदचीनी को जल में पीसकर सूजन पर लगाने से सूजन उतरती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–रेवंदचीनी वाह्य प्रयोग से लेखन, शोथविलयन और वेदनाहर है। अल्प प्रमाण में अंतःप्रयोग से कफनिःसारक, आमाशय और अन्त्र को शक्ति देनेवाली, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, मूत्रल और आर्तवजनन है। अधिक प्रमाण में देने से पतले और पीले रंग के दस्त लाती है, परन्तु अन्त में कब्ज करती है।

ईश्वर्यादि वर्ग ७४.

N. O. Aristolochiaceae (एरिस्टोलोकिएसी) ।

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; वाह्याभ्यान्तरसंयुक्तकोश; अधःस्थगर्भाशय; पर्ण सादे, एकान्तर, अवृन्त, उपपर्णरहित; पुंकेशर ६, स्त्रीकेशरनलिका के नीचे चक्राकार में लगे हुए; गर्भाशय ६ खंडवाला; फल नीरस, ६ खंडवाला; प्रत्येक खंड में पुष्कल वीज होते हैं।

(२६२) ईश्वरी ।

नाम-(सं.)नाकुली, ईश्वरी; (हिं.)ईश्वरमूल, इसरमूल, इशरोल (ब.); (म.) सापसण (म), सापसंद; (ले.) एरिस्टोलोकिआ इण्डिका (Aristolochia indica) ।

वर्णन—इसरमूल की वहुवर्षायु लता होती है। उपयुक्त अंग-मूल; मात्रा-५-१० रत्ती ।

गुण-कर्म-"नाकुली तुवरा तिक्ता कटुकोष्णा नियच्छति। भोगिलूतावृश्चिकाखुविषज्वरकृमिव्रणान् ।" (भा. प्र.) ।

इसरमूल कषाय, तिक्त, कटु उष्णवीर्य तथा सर्प-लूता-बिच्छू-चूहा आदि का विष, ज्वर, कृमि और व्रण को दूर करनेवाला है।

नव्यमत-ईश्वरी कपूर के समान सुगन्धित और अति कड़ई होती है। ईश्वरी कटुपौष्टिक,वातहर, ग्राही, गर्भाशयोत्तेजक, सन्धिशोथघ्न नाड्युत्तेजक, स्वेदजनन, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक और विषहर है। ज्वर में ईसरमूल देने से सिर का दर्द और पेशाब की जलन कम होती है और थकावट न आकर ज्वर उतरता है। सर्व प्रकार के ज्वर में इसे दे सकते हैं,परंतु विषमज्वर और सूतिकाज्वर में यह विशेष गुणकारी है। त्रिदोषज ज्वर में इसको तगर के साथ देने से विशेष लाभ होता है। तरुण और जीर्ण आमवात और संधिशोथ से ईसरमूल खिलाते हैं और संधि पर इसका लेप करते हैं। कफज्वर में ईसरमूल से खाँसने की शक्ति बढ़कर कफ पड़ने लगता है। प्रसवकाल में स्त्री को कष्ट होता हो तो पीपलामूल केसाथ ईसरमूल देते हैं। इससे गर्भाशय का संकोचन होकर शीघ्र प्रसव होता है। प्रसूति के अनंतर ईसरमूल देने से दूषित रक्त साफ गिर जाता है। अनार्तव और पीड़ितार्तव में ईसरमूल देते हैं। इसरमूल से आमाशय की पाचनशक्ति बढ़ती है और आँतों की शिथिलता कम होती है। बालकों को दंतोद्गम के समय में ज्वर, उलटी और जुलाब होते हों तो ईसरमूल देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(२६३) कीटमारी ।

नाम--(सं.) कीटमारी, धूम्रपत्रा; (गु.) कीड़ामारी; (मा.) गंधण, कीड़ामारी; (ले.)एरिस्टोलोकिआ ब्रॅक्टिएटा (Aristolochia bracteata) ।

वर्णन—कीड़ामारी की १–३ फुटतक जमीन पर फैलनेवाली लता वर्षाऋतु में होती है। पर्ण १–३ इंच लंबे, १–२ इंच चौड़े; पुष्प जामुनी रंग के; फल ½--१ इंच लंबा, ½ इंच चौड़ा और ६ फांकवाला होता है। समग्र लता का स्वाद तिक्त होता है ।

गुण--कर्म–"धूम्रपत्रा रसे तिक्ता शोथघ्नी कृमिनाशिनी । उष्णा कासहृरा चैव रुच्या दीपनकारिणी ॥" (रा. नि.) "वातश्लेष्मज्वरहरा कृमिघ्नी विषनाशिनी ।" (शो. नि.) ।

कीड़ामारी तिक्त, उष्णवीर्य, रुचिकारक, दीपन तथा वात, कफ, शोथ, कृमि, खाँसी और विष को दूर करनेवाली है ।

नव्यमत--कीड़ामारी कड़ुई, कटुपौष्टिक, स्रंसन, कृमिघ्न, गर्भाशयोत्तेजक, स्वेदजनन; नियतकालिज्वरप्रतिबंधक और विषघ्न है । कीड़ामारी से गर्भाशय का संकोचन होता है और शीघ्र प्रसव होता है। अनार्तव में, विशेषतः स्त्री को पांडुरोग और मलावरोध हो तो कीड़ामारी से लाभ होता है। कीड़ामारी का ज्वरघ्न और स्वेदजनन गुण प्रशंसनीय है । विषमज्वर में कीड़ामारी काली मिर्च के साथ देते हैं। कीड़ामारी से पेट के कृमि मरकर निकल जाते हैं। व्रणान्तर्गत कृमिनाशनार्थं कीड़ामारी का रस व्रण पर लगाते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

उपयुक्त अंग--पञ्चाङ्ग । **मात्रा**--१॥–३ माशा ।

पिप्पल्यादि वर्ग ७५.

N. O. Piperaceae (पाइपरेसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; कांड मुड़नेवाला, आधार मिलने पर ऊपर चढ़ने वाला; पर्ण अखण्ड, एकान्तर, हृदयाकृति; पुष्प छोटे कांड पर एकस्थान पर जमे हुए, पत्रकोण या पत्र के सामने से निकलते हैं ।

---

(२६४) पिप्पली ।

नाम फल--(सं.) पिप्पली, कणा, मागधी; (हिं.) पीपल; (पं.) मगां; (बं.) पिपुल; (म.) पिंपळी; (गु.) पीपळ (र), लिंडी पीपर; (अ.) दार फिल्फिल्; (फा.); फ़िल्फिल् दराज; (ले.) पाइपर् लॉगम् (Piper longum) ।

मूलनाम--पिप्पलीमूल; कणामूल, ग्रन्थिक; (हिं.) पीपलामूल; (म.) पिंपळीमूल; (गु.) पीपळा (रा) मूळ; पीपरगंठोडा। (अ) फिल्फिलमूय; (फा.) बेख फिल्फिल दराज।

वर्णन—पीपल की दो जातियाँ बाजार में मिलती हैं—(१) छोटी पीपल या पीपल और (२) बडी पीपल या गजपीपल। गजपीपल के काण्ड को चव्य या चविका कहते हैं। छोटी पीपल के मूल को पीपलामूल कहते हैं।

उपयुक्त अंग--फल और मूल। **मात्रा**–५–१० रत्ती।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. २) शिरोविरेचनद्रव्येषु, वमनद्रव्येषु तथा (सू. अ. ४) दीपनीये, तृप्तिघ्ने, हिक्कानिग्रहणे, कासहरे, शूलप्रशमने च महाकषाये पिप्पली पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे तथा (सू. अ. ३९) ऊर्ध्वभागहरे, शिरोविरेचने च गणे पिप्पली पठ्यते। "पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानाम्।" (च. सू. अ. २५)। "श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली। सा शुष्का कफवातघ्नी कटूष्णा वृष्यसंमता।।" (च. सू. अ. २७)। "तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा। शुष्का कफवातघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी।।" (सु. सू. अ. ४६)। "पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी। अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः।। पिप्पली पाचनी हन्ति वातश्लेष्मोदरज्वरान्। कुष्ठप्रमेहगुल्मार्शःप्लीहशूलाममारुतान्। दीपनं पिप्पलीमूलं कटूष्णं पाचनं लघु। रूक्षं पित्तकरं भेदि कफवातोदरापहम्।। आनाहप्लीहगुल्मघ्नं कृमिश्वासक्षयापहम्।। (भा. प्र.)।

पीपल कटु, मधुरविपाक, स्निग्ध, अनुष्णाशीत, लघु, दीपन, पाचन, वृष्य, रसायन, शिरोविरेचन, ऊर्ध्वभागदोषहर, पित्त को न बढ़ानेवाली तथा कफ, वात, तृप्ति, हिक्का, खाँसी, शूल, उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, प्लीहरोग और आमवात का नाश करनेवाली है। पीपलामूल कटु, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, दीपन, पाचन, पित्तकर, भेदन तथा कफ, वात, उदर, आनाह, प्लीहरोग, गुल्म, कृमि, श्वास और क्षय का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—पीपल उष्ण, वातहर, श्वासहर, दीपन, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक और गर्भाशयसंकोचक है। काली मिर्च की क्रिया जैसे पचनेन्द्रिय पर विशेष होती है वैसे पीपल की क्रिया फुफ्फुस और गर्भाशय पर विशेष होती है। शीत और कफप्रधान रोगों में पीपल से लाभ होता है। प्रसव होने में विलम्ब हो तो पीपलामूल, ईसरमूल और हींग नागरपान के साथ देते हैं। इससे आवी का जोर बढ़कर शीघ्र प्रसव हो जाता है। प्रसव के अनंतर पीपलामूल का फांट देने से जरायु आसानी से गिर जाता है। प्रसूतिज्वर, शीतज्वर, आमवात, गृध्रसी और कफज्वर में पीपल शहद के साथ देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--पीपल दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दीपन, वातानुलोमन, वाजीकर, उष्णताजनन और श्वयथुविलयन है। अग्निमान्द्य, उदरशूल, आनाह, कास, श्वास, आमवात, गृध्रसी तथा अन्य कफज व्याधियों में पीपल देते हैं।

---

(२६५) नागवल्ली।

नाम–(सं.) नागवल्ली, ताम्बूलवल्ली; (म.) नागवेल; (ग. मा.) नागरवेल; (अ., फा.) तंबूल; (ले.) पाइपर् बीट्ल् (Piper bettle)।

इसके पत्तों को उत्तरभारत की सब भाषाओं में पान कहते हैं।

वर्णन-पान भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसपर चूना और कत्था लगाकर सुपारी, इलायची, सोंफ आदि के साथ इसको मुंह में रखकर चबाते हैं।

गुण-कर्म–'ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तप्रकोपणम्। सुगन्धि विशदं स्वर्यं तिक्तं वातकफापहम्॥ स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम्। वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविनाशनम्॥" (सु. सू. अ. ४६)। 'नागवल्ली कटुस्तीक्ष्णा तिक्ता पीनसवातजित्। कफकासहरा रुच्या दाहकृद्दीपनी परा॥"(रा. नि.)।

पान कटु, तिक्त, कषाय, कटुविपाक, उष्णवीर्य, सुगन्धि, विशद, स्वर (आवाज) को सुधारनेवाला, दीपन, रुचिकर, दाहकर, पित्तप्रकोपक तथा वात, कफ, मुंह के कण्डूमल-क्लेद और दुर्गन्ध, पीनस और खांसी का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--पान में एक प्रकार की सुगन्धि और उष्णता से उड़नेवाला तैल होता है। इस तैल में फीनोल और डार्विन होता है। पान उत्तम दीपन, पाचन, श्लेष्मघ्न, शोथघ्न, वेदनास्थापक और व्रणरोपण है। पान का रस उत्तम पूतिहर है। कारबॉलिक एसिड से भी यह अधिक जन्तुघ्न है और कफप्रधान रोगों में बहुत उपयुक्त होता है। दमा, फुप्फुसनलिकाशोथ और श्वासमार्गद्वारशोथ में पान का रस देते हैं। कंठरोहिणी (डिप्थेरिआ) में पान का रस गरम पानी में डालकर कुल्ला कराने से जन्तुओं का नाश होता है, गले की सूजन कम होती है और कफ छूटता है। भोजन के बाद पान खाने से लाला का प्रमाण बढ़कर आमाशय को उत्तेजना मिलती है। पान गरम करके सूजी हुई ग्रन्थिपर बांधने से सूजन और पीड़ा कम होती है। स्तनशोथपर पान गरम करके बांधने से दूध नष्ट होता है और शोथ उतरता है। मात्रा—स्वरस ½ से १ तोला।

(डॉ. वा. ग. देसाई)

---

(२६६) मरिच।

नाम–(सं.) मरि (री) च, ऊषण, कटुक, कोल; (हिं.) काली मिर्च, गोल मिर्च, मिरिच; (बं.) गोल मरिच; (म.) मिरी; (गु.) मरी, काळामरि

तीखा; (अ.) फिल्फिल् अस्वद; (फा.) फिल्फिल् स्याह; (ले.) पाइपर नाईग्रम् (Piper Nigrum)।

वर्णन-मलबार और कोंकण में काली मिर्च की खेती की जाती है। पके हुए फलों को पानी में भिगो, ऊपर का काला छिलका निकालकर सफेद मिर्च के नाम से बेचते हैं।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. २) शिरोविरेचनद्रव्येषु तथा (सू. अ.४) दीपनीये, कृमिघ्ने, शूलप्रशमने च महाकषाये मरिचं पठ्यते। सुश्रुते (सू. ३८) पिप्पल्यादिगणे, त्र्यूषणगणे च मरिचं पठ्यते। "स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च। कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित्॥ नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मरिचं सितम्। गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः॥" (सु. सू. अ. ४६)। "नात्यर्थमुष्णं मरिचमवृष्यं लघु रोचनम्। छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित्॥" (च. सू. अ. २७) "मरिचं कटु तीक्ष्णोष्णं लघु श्लेष्मविनाशनम्। समीरकृमिहृद्रोगहरं च रुचिकारकम्॥"(रा.नि.)।

काला मिर्च-कटु, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, लघु, अवृष्य, रोचन, छेदन, शोषण, दीपन, शिरोविरेचन, कृमिघ्न, शूलप्रशमन तथा कफ, वात और हृद्रोग का नाश करनेवाली है। सफेद मिर्च उष्णता और शीतता में मध्यम (न अति उष्ण, न अतिशीत), काली मिर्च से विशेष गुणकारक और नेत्र के लिये हितकर है। ताजी (आर्द्र) मिर्च मधुर–विपाक, गुरु और कफ का स्राव करानेवाली है।

नव्यमत—काली मिर्च के छिलके में एक रालसदृश पदार्थ है जो पानी में विलेय है और दूसरा बाष्प के साथ उड़नेवाला तैल होता है; सफेद मिर्च के छिलके निकाले हुए होते हैं इसलिये उसमें कटुता कम होती है। काली मिर्च उष्ण, दीपन, वात नाशक, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक, उत्तेजक तथा मूत्रेन्द्रिय और उत्तरगुदपर इसकी क्रिया विशेष होती है। इसलिये इससे अर्श में लाभ होता है। काली मिर्च मूत्रपिंड के लिये उत्तेजक है इसलिये इससे मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। शीतज्वर में ज्वर आने के पहले काली मिर्च देने से रोगी को अच्छा मालूम होता है। परंतु इसमें ज्वरघ्न गुण अल्प है, इसलिये इसके साथ अन्य ज्वरघ्न औषध देना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत—काली मिर्च तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क; बाह्यप्रयोग से प्रथमत: लेखन, रक्ताकर्षण और संक्षोभक परंतु अन्ततः अवसादक, चबाने से लालास्रावजनक, आन्तरिक प्रयोग से नाडीबलदायक, दीपन, पाचन, यकृद्बलवर्धन, वातानुलोमन, मूत्र और आर्तवप्रवर्तक तथा कफनि:सारक है।

(२६७) कंकोल्ल।

नाम–(सं.) कंकोल (ल्ल); (हिं.) कबाबचीनी, शीतलचीनी, शीतलमिर्च; (गु.) चणकबाब; (बं.) काबाबचिनि; (अ.) कबाबेसीनी, हब्बुल् उरूस; (फा.) कबाब। कबाबचीनी; (ले.) पाइपर् क्युबेबा (Piper cubeba)।

उत्पत्तिस्थान--सुमात्रा, जावा, मलाया आदि।

वर्णन--कबाबचीनी के काली मिर्च के तुल्य सवृन्त फल बाजार में मिलते हैं। इनको चबाने से मनोरम तीक्ष्ण गंध आती है, स्वाद कडुआ तथा चरपरा और जीभ ठंडी मालूम होती है।

गुण कर्म–"कङ्कोल्लं कटु तीक्ष्णोष्णं वक्त्रजाड्यहरं परम्। दीपनं पाचनं रुच्यं कफवातनिकृन्तनम्॥" (रा. नि.)। "कङ्कोल्लकं × कटु तिक्तं कफापहम्। लघु तृष्णापहं वृष्यं वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनम्॥" (सु. सू. अ. ४६)।

कबाबचीनी, कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, लघु, दीपन, पाचन, रुचिकर, वृष्य तथा कफ, वात, तृषा एवं मुख की जड़ता और दुर्गन्ध का नाश करनेवाली है।

नव्यमत--कबाबचीनी कफघ्न, उत्तेजक, पूतिहर, मूत्रजनन, वातनाशक और दीपन है। इसकी क्रिया श्लेष्मल कला पर विशेषतः मूत्रमार्ग और गुदा पर होती हैं। श्वासमार्ग की श्लेष्मल कला पर इसकी थोड़ी बहुत उत्तेजक क्रिया होती है। पुराने सुजाक (पूयमेह) और अर्श में यह उत्तम औषध है। पुराने कफरोग में कबाबचीनी उत्तेजक कफघ्न क्रिया करती है। गले की शिथिलता और मुखपाक में कबाबचीनी मुंह में रखने को देते हैं। नाक के भीतर का कफ कम होने के लिये कबाबचीनी का नस्य देते हैं। (डॉ वा. ग. देसाई)। सुजाक में कबाबचीनी का तैल शक्कर में मिलाकर देते हैं।

कबाबचीनी में १० प्रतिशत उड़नेवाला तैल, दो प्रकार की राल और क्युबेबिन् नाम का दानेदार वीर्य होता है।

यूनानीमत–कबाबचीनी दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दोषों को पतला करनेवाली, प्रमाथी, श्वयथुविलयन, दीपन, दांतों और मसूढ़ों को बलप्रद, स्वरशोधक, मूत्रल, आर्तवजनन, वातानुलोमन, मुखदौर्गन्ध्यहर, शोणितोत्क्लेशक और त्वजोच्छ्रायजनक है।

मात्रा--बीजचूर्ण १–३ माशा, तैल ५-२० बूंद।

उपयुक्त अंग--बीज और तैल।

जातीफलादि वर्ग ७६.

N. O. Muristicaceae (माइरिस्टिकेसी) ।

वर्गलक्षण––सपुष्प; द्विबीजपर्ण; वाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्ण एकान्तर; अखण्ड, उपपत्ररहित, पुष्प श्वेतरंग के; पुष्पवाह्यकोश के दल ३; पुंकेशर १०; बीजकोश १ खंडवाला; फल मांसल; बीज बड़े और प्रचुरतैलयुक्त ।

---

(२६८) जातीफल ।

नाम-बीज-(सं.) जातीफल; (हिं., बं.) जायफल; (पं.) जयफल; (म., गु.) जायफल; (अ.) जौजबुवा; (फा.) जौजबुया; । कोश—(सं.) जातीकोश, जातिपत्री; (हिं.) जायपत्री, जावित्री । (पं.) जयपत्री, जवित्री; (म.) जायपत्री; (गु.) जावंत्री; (बं.) जैत्री; (अ.) बस्बास; (फा.) बज्बाज । वृक्ष को लेटिन में माइरिस्टिका फ्रॅग्रेन्स (Myristica fragrans) कहते हैं ।

वर्णन–जायफल और जावित्री सर्वत्र बाजार में मिलते हैं और प्रसिद्ध है । इसकी एक जाति सुगन्धरहित होती है; उसके फल को **रामफल** और कोश को **रामपत्री** कहते हैं। औषध के लिये नया, सुगन्धी, वजनदार और तैलयुक्त जायफल काम में लेना चाहिये ।

गुण-कर्म––"जातीकोशेऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् । ×× तिक्तं कटु कफापहम् । लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम् ।" (सु. सू. अ. ४६) । "जातीफलं कषायोष्णं कटु कण्ठामयार्तिजित् । वातातिसारमेहघ्नं लघु वृष्यं च दीपनम् ।" (ध. नि.) । "जातीफलं रसे तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं लघु । कटुकं दीपनं ग्राहि स्वर्यं श्लेष्मानिलापहम् ।। निहन्ति मुखवैरस्यमलदौर्गन्ध्यकृष्णताः । कृमिकासवमिश्वासज्वरपीनसहृद्रुजः ।। जातीपत्री लघुः स्वादुः कटूष्णा रुचि-वर्णकृत् । कफकासवमिश्वासतृष्णाकृमिविषापहा ।।" (भा. प्र.) ।

जायफल तिक्त, कटु, कषाय, उष्णवीर्य, लघु, तीक्ष्ण, वृष्य, दीपन, रुचिकर, ग्राही, स्वर के लिये हितकर तथा कफ, वात, तृषा, मुंह का क्लेद-दुर्गंध और वैरस्य, कृमि, खांसी, वमन, श्वास, ज्वर, पीनस; कण्ठ के रोग, अतिसार, प्रमेह और हृद्रोग का नाश करनेवाला है । जावित्री तिक्त, कटु, मधुर, उष्णवीर्य, लघु, रुचिकर, वर्णकर तथा कफ, तृषा, मुख का क्लेद और दुर्गन्ध, खांसी, वमन, श्वास, कृमि और विष को दूर करनेवाली है ।

नव्यमत—जायफल सुगन्धि, दीपन, वातहर, वेदनास्थापन, उत्तेजक, मादक, पौष्टिक और बाजीकर है । इससे आमाशय का पाचक रस बढ़ता है, भूख लगती है,

और अधोवायु सरता है। बड़ी मात्रा में जायफल जोरदार कैफी (नशा लानेवाला) है। मस्तिष्क के ऊपर इसकी कपूर के समान क्रिया होती है। जावित्री वेदनास्थापन है। पेट का दर्द, ऐंठन और अतिसार में जायफल सेंक कर देते हैं। सिर का दर्द और प्रसवोत्तर कालीन कमर के दर्द में जायफल पानी या मद्य में घिसकर लगाते हैं। पुराने संधिशोथ में जावित्री के तैल की मालिश करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--जायफल दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, सौमनस्यजनन, बल्य, मुखदौर्गन्ध्यहर, वाजीकर, संग्राही, स्वापजनन, दीपन, वातानुलोमन और शीघ्र वीर्यस्खलन को दूर करनेवाला है। जावित्री-दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दीपन पाचन, उष्णताजनन, वातानुलोमन, किंचित् संग्राही, सौमनस्यजनन, श्वयथुविलयन, रूक्षण, द्रवशोषणकर्ता, वाजीकर, गर्भाशयसंशोधक, बल्य और कोथप्रतिबन्धक है।

उपयुक्त अंग-बीज (जायफल) और बीज के ऊपर का कोश (जावित्री)।

मात्रा—४ रत्ती से १ माशा।

कर्पूरादि वर्ग ७७.

N. O. Lauraceae (लोरेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्ण उपपत्ररहित, सादे, तैल ग्रन्थियुक्त; सदाहरित; पुष्प शाखाप्रोद्भूत; पुंकेशर २-३; फल मांसल।

------

(२६९) कर्पूर।

नाम—(सं.) कर्पूर, घनसार, चन्द्र; (हिं., म. गु.) कपूर; (अ.) काफूर; (फा.) कापूर; (ले.) सिनेमोम् केम्फोरा (Cnnamum camphora)।

वर्णन—कर्पूर के नाम से भारतवर्ष में तीन भिन्न भिन्न वर्ग की वनस्पतियों से प्राप्त उड़नेवाला द्रव्य मिलता है। (१) भीमसेनी कपूर अथवा बरास कपूर, (२) चीनी अथवा जापानी कपूर और (३) पत्री कपूर (हिन्दुस्तानी कपूर)। भीमसेनी कपूर का वर्णन इसी खण्ड में पृ. १०७, १०८ पर दिया गया है। पत्री कपूर भारतवर्ष में कुकुरौंधा से बनाया जाता है। भीमसेनी कपूर इस समय बाजार में प्रायः कृत्रिम मिलता है, अतः औषध में जापानी कपूर का व्यवहार करना अच्छा है।

गुण-कर्म—"घार्ण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता। × × × कर्पूरनिर्यासः × ×।" (च. सू. अ. ५)। "कर्पूरं कटु तिक्तं च मधुरं शिशिरं विदुः। तृष्णमेदोविषदोषघ्नं चक्षुष्यं मदकारकम्।" (ध. नि.)। "चीनकः कटुकस्तिक्तो हृद्यः शीतः कफापहः। कण्ठदोषहरो मेध्यः पाचनः कृमिनाशनः॥" (रा. नि.)।

“कर्पूरो मधुरस्तिक्तः सुरभिः शीतलो लघुः । चक्षुष्यो लेखनो वृष्य कफमेदोविषापहः ॥ दाहतृष्णास्यवैरस्यमलदौर्गंध्यनाशनः ।” (कै. नि.) ।

कपूर कटु, तिक्त, मधुर, लघु, शीतवीर्य, मेध्य, पाचन, सुगन्धी, चक्षुष्य; लेखन, वाजीकर, रुचिकर तथा कफ, तृषा, मेदोरोग, दाह, कण्ठरोग, कृमि और मुख का वैरस्य-मल और दुर्गंध को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत—कपूर, वातहर, दीपन, पूतिहर, रक्तगत श्वेत कणों की वृद्धि करनेवाला, कफघ्न, कासहर, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, दाहशामक, वाजीकर (अल्प मात्रा में), कामावसादक (बड़ी मात्रा में), स्तन्यनाशन, नाड्युत्तेजक, संकोचविकासप्रतिबंधक, हृदयोत्तेजक, हृदयसंरक्षक, रक्तवाहिनीसंकोचक और श्वासहर है। कपूर की क्रिया मात्रा के न्यूनाधिक्यानुसार भिन्न भिन्न होती है । साधारण औषधीय मात्रा में कपूर प्रारम्भ में स्वेदजनन, सार्वाङ्गिक उत्तेजन, नाड्युत्तेजन, रक्ताभिसरणोत्तेजन और श्वासोच्छ्वासोत्तेजन कार्य करता है। पीछे उसके अवसादन, वेदनास्थापन और संकोचविकासप्रतिबन्धक गुण देखने में आते हैं । औषधीय मात्रा से अधिक मात्रा में कपूर दाहजनक और मादक बिष है । कपूर मुंह में रखने से लालास्राव अधिक होता है। उष्णता उत्पन्न होती है और कुछ समय के बाद मुंह की श्लेष्मल त्वचा में सुन्नता आती है । कपूर आमाशय में जाने पर वहाँ उष्णता उत्पन्न होती है, आमाशय की श्लेष्मल त्वचा का रक्ताभिसरण बढ़ता है, आमाशयरस अधिक उत्पन्न होता है, अन्न का सड़ान (पूतिभाव) कम होता है, पेट में हवा भरती नहीं और पाचन बढ़ता है । कपूर उत्तम वातहर, दीपन और पूतिहर है । कपूर का कुछ अंश शरीर में वैसा ही रहता है और कुछ अंश शरीरगत शर्करा में मिल जाता है। कपूर से शरीर की उष्णता कम होती है । कपूर त्वचा के मार्ग से बाहर आता है और बाहर आते सयय रक्तबाहिनियों का विकासन होता है और स्वेदग्रन्थियाँ उत्तेजित होती हैं। इन दो कारणों से पसीना आता है, त्वचा में कपूर का वास आता है और त्वचा ठंडी मालूम होती है। कपूर कुछ भी रूपान्तर हुए विना फुफ्फुस द्वारा उत्सर्जित होता है और कफ को पतला और ढीला करता है। श्वासोच्छ्वास के केन्द्रस्थान पर कपूर की जोरदार उत्तेजक क्रिया होती है और कफ आसानी से गिरने लगता है। कपूर की खुद हृदय पर और हृदयगतनाडी केन्द्र पर उत्तेजक क्रिया होती है, इसलिये हृदय अपना कार्य ठीक करने लगता है। कपूर से रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है और धमनीगत रक्त का दबाव बढ़ता है, इससे नाड़ी भरी हुई और जोर से चलती है। अति उष्णता या कुछ अन्य कारणों से हृदय में कुछ विकृति होती है वह कपूर देते रहने से उत्पन्न नहीं होती, इसलिये कपूर को हृदयसंरक्षक कहा गया है । मस्तिष्क, सुषुम्णा और नाड़ियों पर कपूर की क्रिया मद्य के समान होती है।नाड़ीतन्त्र के सब स्थानों पर कपूर की प्रारम्भ में उत्तेजक और पीछे अवसा-

दक-शामक क्रिया होती है। मात्रा-१-३ रत्ती गोली से रूप में देना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२७०) दालचीनी।

नाम--(सं.) त्वक्, त्वचा, वराङ्ग, भृङ्ग, चोच; (हिं.) दालचीनी, दारचीनी, तज; (म., गु.) तज; दारुचिनि; (अ.) दारसीनी, किर्फा; (फा.) दारचीनी; (ले.) सिनेमोमम् झेलेनिकम् (Cinnamomum Zeylanicum)।

वर्णन-दालचीनी तीन प्रकार की बाजार में मिलती है--(१) भारतीय-इसको हिंदी में तज, बंगाली में नालुका, अरबी में सलीखा और इसके वृक्ष को लॅटिन में सिनेमोमम् टमाल (Cinnamomum tamala) कहते हैं। ये वृक्ष चकरोता, गढ़वाल, कुमाऊँ आदि में ५००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर होते हैं। इसकी पत्ती का तेजपात या तमालपत्र नाम से व्यवहार होता है। इसके अपक्व सूखे फल का 'काला नागकेशर' नाम से दक्षिण भारत में व्यवहार होता है। (२) चीनी-यह चीन और सिंगापुर से आती है। (३) सिंहली-सिलोनी। सिलोनी सबसे पतली, स्वाद में चीनी से विशेष मधुर और तेजी में कम होती है। भारतीय सबसे मोटी, तेजी में कम और जल के साथ पीसने से पिच्छिलतायुक्त हो जाती है। चीनी और सिलोनी दोनों को दाल (र) (चीनी) कहते हैं। दालचीनी का तैल चीन और सिंगापुर से आता है।

उपयुक्त अंग-त्वचा और त्वचा से निकाला हुआ तेल। **मात्रा**--त्वचा ५-१५ रत्ती। तैल-२-५ बूंद।

गुण-कर्म-सुश्रुते एलादिगणे त्वक् पत्रकं च पठचते। "वराङ्गं लघु तीक्ष्णोष्णं कफवातविषापहम्। कण्ठवक्त्ररुजो हन्ति कृमिहृद्बस्तिशोधनम्॥" (ध. नि.)। "त्वचं लघूष्णं कटुकं स्वादु तिक्तं च रूक्षकम्। पित्तलं कफवातघ्नं कण्डवामारुचिनाशनम्॥ हृद्रोगबस्तिवातार्शःकृमिपीनसकासजित्" (भा. प्र.)। "वह्निमान्द्यानिलहरमाध्मानाक्षेपनाशनम्॥ वान्त्युत्क्लेशप्रशमनं संग्राहि दशनार्तिहृत्। त्वाचं तैलं रजःस्रावि तोये क्षिप्तं निमज्जति॥" (आ. सं)। "पत्रकं मधुरं किञ्चित्तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं लघु। निहन्ति कफवातार्शोहृल्लासारुचिपीनसान्॥" (भा. प्र.)।

दालचीनी कटु, मधुर, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, पित्तकर तथा कफ, वात, विष, कुष्ठ, मुखरोग, कृमि, हृद्रोग, कण्डू, आम, अरुचि, बस्ति के रोग, अर्श, पीनस और खाँसी को दूर करनेवाली है। दालचीनी का तैल ग्राही, आर्तवप्रवर्तक तथा अग्निमान्द्य, वात, आध्मान, आक्षेप, वमन, उत्क्लेश और दाँत का दर्द-इनको दूर

करनेवाला है। तेजपात कुछ मधुर, पिच्छिन, लघु, तीक्ष्ण उष्णवीर्य, तथा कफ, वात, अर्श, हृल्लास, अरुचि और पीनस को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—दालचीनी उष्ण, सुगन्धि, दीपन, पाचन, वातहर, स्तम्भन, गर्भाशयोत्तेजक शोणितास्थापन रक्तगत श्वेत कणों की वृद्धि करनेवाली और उत्तेजक है। दालचीनी से आमाशय की श्लेष्मक त्वचा उत्तेजित होकर जठररस बढ़ता है और अन्न का परिपाक अच्छा होता है। आध्मान, पेचिश (मरोड़) और उलटी बंद करने के लिये दालचीनी का तैल शक्कर में मिलाकर देते हैं। कृमिदन्त में दालचीनी के तैल को १ २ बूंद रूई पर डालकर दांत के नीचे दबाते हैं। राजयक्ष्मा के जन्तु से उत्पन्न व्रण पर दालचीनी का तैल लगाने से व्रण की शुद्धि होती है, राजयक्ष्मा और राजयक्ष्मा के कीटाणुओं से उत्पन्न रोगों में दालचीनी का तैल देते हैं। किसी भी अवयव से होनेवाले रक्तस्राव में दालचीनी का हिम देते हैं। दालचीनी से गर्भाशय का संकोचन होता है, इसलिये प्रसवकाल में आवी का वेग बढ़ाने के लिये पीपलामूल और भांग के साथ तथा अत्यार्तव में अशोक की छाल के साथ दालचीनी देते हैं। तेजपात–कफ और आमप्रधान रोगों तथा पेट में हवा भरना, पेट का दर्द, अतिसार आदि पाचन संस्थान के रोगों में और गर्भाशय की शिथिलता में तेजपात देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत-दालचीनी तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क, सुगन्धित, दोषों को पतला करनेवाली, कोथप्रतिबन्धक, कामोत्तेजक, ग्राही और उत्तमांगों को विशेष बल देनेवाली है। तेजपात दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष, मनःप्रसादकर, मस्तिष्क-बलदायक, दीपन, वातहर, मूत्रल, आर्तवजनन, लेखन, कोथप्रतिबन्धक और शीतल शोथहर है।

(२७१) मैदालकड़ी।

नाम–(हिं.) मैदालकड़ी; (पं.) मेदासक; (मा.) कर्कमेदा, मैदालकडी; (गु., म.) मेदालकड़ी; (अ.) मगासे हिंदी; (फा.) फिलज; (ले.) लिट्सिआ चायनेन्सिस् (Litsea chinensis), लिट्सिआ पोलिएन्था (Litsea polyantha)।

वर्णन–मैदालकड़ी के मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष होते हैं। औषध के लिये इसकी छाल का उपयोग होता है। छाल ऊपर से धूसरवर्ण, भीतर से रक्ताभ और मुलायम होती है। छाल का चूर्ण पानी में भिगोने से लुआब उत्पन्न होता है।

यूनानीमत–मैदालकड़ी दूसरे दर्जे में उष्ण और पहले दर्जे में रूक्ष, शोथविलयन, संग्राही, दीपन नाड़ीबलदायक और कामोत्तेजक है। अस्थिभग्न, मोच, चोट, और अंग की कड़ाई को दूर करने के लिये इसका लेप करते हैं। कटिशूल, आमवात, गृध्रसी, आक्षेप जैसे कफ-वातज रोगों में इसे शहद में मिलाकर खिलाते हैं।

नव्यमत—मैंदालकड़ी स्नेहन, किंचित् स्तम्भन और शोथघ्न है। इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है, त्वचा मृदु होती है और पीड़ा शांत होती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

मात्रा | १–२ माशा।

अगुर्वादि वर्ग ७८.

N. O. Thymelaeaceae. (थायमेलीएसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोण; गर्भाशय २ खण्डवाला; फल शुष्क और विदारी।

---

(२७२) अगुरु।

नाम--(सं.) अगुरु, कृमिजग्ध, लोह; (हिं., म., गु.) अगर; (अ.) ऊद; (ले.) एक्विलेरिआ एगेलोका (Aquilaria agallocha)।

वर्णन—बाजार में अगर की लकड़ी के श्यामता लिये भूरे रंग के बेडौल टुकडे मिलते हैं। जो कोयलों की आग पर जलाने से सुगन्धित धुआँ दे, पानी मे डूब जावे और रंग में काला हो वह अगर उत्तम होता है।

गुण–कर्म–चरके (सू. अ. ४) श्वासहरे. शीतप्रशमने च महाकषाये, तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ८), शिरोविरेचनद्रव्येषु (अगुरुनिर्यासः) च अगुरु पठ्यते। सुश्रुते—(सू. अ. ३८) एलादिगणे, सालसारादिगणे, तथा (सू. अ. ३९) श्लेष्मसंशमने च वर्गे अगुरु पठ्यते। "रास्नागुरुणि शीतापनयनप्रलेपनानाम्" (च. सू. अ. २५)। "× × अगुरु × × सारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च ॥" (सू. अ. ४५)। "अगुरूष्णं कटु त्वच्यं तिक्तं तीक्ष्णं च पित्तलम्। लघु कर्णाक्षिरोगघ्नं शीतवातकफप्रणुत् ॥ कृष्णं गुणाधिकं तत्तु लोहवद्वारि मज्जति ॥" (भा. प्र.)।

अगर कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु, तीक्ष्ण, पित्तकर, श्वासहर, शीतप्रशमन; शिरोविरेचन, कफप्रशमन, त्वच्य तथा कर्णरोग, नेत्ररोग, शीत, वात और कफ का नाश करनेवाला है। अगर के काष्ठ का तैल (इत्र) तिक्त, कटु, कषाय, दुष्टव्रणशोधन तथा कृमि, कुष्ठ कफ और वायु का नाश करनेवाला है।

यूनानीमत--अगर दूसरे दर्जे में गर्म और खुश्क, उत्तमांगों को बल देनेवाला, दीपन, दोषों को पतला करनेवाला, मुख को सुगन्धित करनेवाला, वाजीकर और वातानुलोमन है। मूत्राशय की दुर्बलता दूर करने और गर्भ की रक्षा के लिये इसका उपयोग करते हैं।

नव्यमत--अगर उत्तेजक और नाड्युत्तेजक है। वातरक्त और आमवात में अगर खाने को देते हैं और सूजी हुई संधि पर लेप करते हैं। ज्वर में अगर का फांट देने से तृषा कम होती है और स्फूर्ति मालूम होती है। वमन, अतिसार आदि पचननलिका के रोगों में अगर का चूर्ण खिलाते हैं। अगर के लेप से कण्डू आदि त्वग्रोग और पीड़ा शांत होती है। मात्रा--५-१५ रत्ती।

(डॉ. वा. ग. देसाई)।

अगर तैल की १-२ बूंद पान पर लगाकर खाने से दमा में आराम मालूम होता है।

बन्दाकादि वर्ग ७९.

N. O. Loranthaceae (लोरेन्थेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्णविन्यास प्राय: अभिमुख; पर्ण मांसल, अखण्ड किनारीवाले और उपपत्ररहित; पँखड़ियाँ ४-८, विभक्त किंवा संयुक्त; पुंकेशर ४-८; बीजकोश अधःस्थ; फल मांसल, एकबीज अथवा बहुबीज। इस वर्ग के उद्भिज्ज परोपजीवी होते हैं।

---

(२७३) बाँदा।

नाम--(सं.) बन्दाक, वृक्षादनी; (हिं.) बाँदा; (कु.) बानो; (म.) बांडगुळ; (गु.) बांदो; (अ.) खरकतान; (ले.) लोरेन्थस् लोंगिफोलिआ (Loranthus longipholia)।

वर्णन—बाँदा आम, कीकर आदि वृक्षों पर होता है। शाखाएँ लता जैसी दृढ़, ३-५ फुट लंबी, कुछ शाखायें खडी भी होती हैं; पत्ते लम्बे, गोल, ३-६ इंच लंबे, १-२ इंच चौडे; पुष्प विविध रंग के श्वेत, जामुनी किंवा गुलाबी; फल मांसल, कच्चे हरे, पकने पर लाल रंग के; बीज स्निग्ध।

उपयुक्त अंग—पत्र और पुष्प।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) मूत्रविरेचनीये महाकषाये तथा सुश्रुते (सु. अ. ३८) वीरतर्वादिगणे वृक्षादनी पठ्यते। "वृक्षादनी वातहरा" (सु. अ. ४६)। "वृक्षादनी हिमा तिक्ता कषाया मधुरा रसे। अश्मरीकफवातास्त्ररक्षोव्रणविषापहा।।" (कै. नि.)।

बाँदा तिक्त, कषाय, मधुर, शीतवीर्य, मूत्रविरेचन तथा अश्मरी, कफ, वातरक्त व्रण और विष को मिटानेवाला है।

नव्यमत-बांदा शीत, तिक्त, कषाय, मधुर, ग्राही, कफघ्न, रक्तविकारनाशक और व्रणरोपण है। इसके पुष्प और पत्र का कल्क गरम करके सूजन पर बांधने से सूजन उतर जाती है। हृद्रोग से उत्पन्न दमा, कफ के साथ रक्त गिरना,

अपस्मार, उन्माद और तरुणशोथ में इसके फूल देते हैं। हृद्रोग में वमन और मूत्रदाह इससे कम होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत–बांदा शीत, रूक्ष, संग्राही, रक्तस्तंभन, दीपन और मस्तिष्क-संशोधक है।

---

(२७४) किशमिश कावली।

नाम—(फा.) मवीजक असली, अंगूरे कौली; (अ.) दिब्क, मवीजजे असली; (ले.) विस्कम् आल्बम् (Viscum album)।

उत्पत्तिस्थान-ईरान और भारतवर्ष में कश्मीर से नेपाल तक का प्रदेश।

वर्णन–यह एक प्रकार का बांदा है जो सेब, नाशपाती आदि के वृक्षों पर होता है। बाजार में किशमिश काबली के नाम से मटर जितने बड़े, नरम, झुर्रीदार और भूरे रंग के सूखे फल मिलते हैं। इनके अंतर एक छोटा बीज और चेपदार पदार्थ होता है।

गुण-कर्म–इसकी क्रिया रक्ताभिसरण पर डिजिटेलिस के समान होती है। इससे छोटी रक्तवाहिनियों का संकोच होता है, हृदय को शक्ति मिलती है और मूत्र का प्रमाण बढ़कर जलोदर अच्छा होता है। गर्भाशय पर इसकी क्रिया अर्गट के समान होती है। इससे गर्भाशय का संकोच होता है। सगर्भावस्था में देने से गर्भपात हो जाता है। यह अनुलोमिक और शोथघ्न है।(डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत–किशमिश काबली दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दोषों को पतला करनेवाली, शोथविलयन, सारक, ज्ञानेन्द्रियों को बलप्रद और अंगों की सर्दी दूर करनेवाली है।

उपयुक्त अंग—फल। **मात्रा**—५-१५ रत्ती।

चन्दनादि वर्ग ८०.

N. O. Santalaceae (सेन्टेलेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्ण उपपत्ररहित; फूल जामुनी रंग के; पुष्पबाह्यकोश के दल; ४-५; पुंकेशर ४-५; बीजकोश अधःस्थ।

---

(२७५) चन्दन।

नाम—(सं.) चन्दन, श्वेतचन्दन, भद्रश्री, श्रीखण्ड; (हिं.) सफेद चंदन; (ग.) सुखड; (अ.) संदले अब्यज; (फा.) संदले सफेद; (ले.) सॅन्टलम् आल्बम् (Santalum album)।

उत्पत्तिस्थान—मैसूर, कुर्ग, मलाबार।

वर्णन—श्वेतचंदन बाजार में मिलता है और प्रसिद्ध है। जो चंदन हलके पीले रंग का, सुगन्धित और भारी हो वह उत्तम है। चंदन का तेल स्वच्छ, हलका पीला, चंदन की गन्धयुक्त तथा स्वाद में कुछ तिक्त और चरपरा होता है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) वर्ण्ये, कण्डूघ्ने, विषघ्ने, तृष्णानिग्रहणे, दाहप्रशमने अङ्गमर्दप्रशमने च महाकषाये तथा तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ८); सुश्रुते (अ. ३८) सालसारादौ पटोलादौ, सारिवादौ, प्रियङ्ग्वादौ गुडूच्यादौ च गणे तथा पित्तसंशमने वर्गे चन्दनं पठ्यते। 'चन्दनं दुर्गन्धहर-दाहनिर्वापणलेपनानाम्" (च. सू. अ. २५)। "श्रीखण्डं शीतलं स्वादु तिक्तं पित्तविनाशनम्। रक्तप्रसादनं वृष्यमन्तर्दाहापहारकम्॥ पित्तास्रविषतृड्दाहकृमिघ्नं गुरु रूक्षणम्॥" (ध. नि.)। 'भद्रश्रियं हिमं तिक्तं हृद्यमाह्लादनं लघु। वर्ण्यं बलासपित्तघ्नं दाहतृष्णाविषप्रणुत् ॥" (कै. नि.)।

श्वेत चंदन वर्ण्य, कण्डूघ्न, विषघ्न, तृषा को कम करनेवाला, दाहप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन, पित्तसंशमन, तिक्त, मधुर, शीतवीर्य, रक्तप्रसादन, वृष्य, हृद्य, आल्हाद उत्पन्न करनेवाला तथा अन्तर्दाह, विष और कृमि का नाश करनेवाला है। चंदन का लेप दुर्गन्धहर तथा दाहनिर्वापण है।

नव्यमत—जल में घिसा हुआ चंदन तिक्त, शीतल, स्वेदजनन, दाहशामक, पिपासाहर, ग्राही, हृदयसंरक्षक और रक्ताभिसरण को शान्तिप्रद है। चंदन का तेल उत्तम मूत्रजनन, मूत्रनलिका के लिये पूतिहर, मूत्रपिण्ड (गुर्दे) का उत्तेजक, त्वग्दोषहर तथा कृमिघ्न है। ज्वर में हृदय शिथिल होता है और उसमें विकृति होती है वह चंदन देते रहने से नहीं होती तथा अति उष्णता से हृदय का रक्षण होता है। चंदन से हृदय की गति कम होती है, परंतु शक्ति कम नहीं होती। पित्तज्वर, जीर्णज्वर और तीव्रज्वर में चंदन देने से पसीना आता है और शरीर का दाह कम होता है। चंदन जल में घिसकर देने से तृषा; कफ में रक्त आना, दुर्गन्धयुक्त कफ आना और रक्तातिसार ये रोग अच्छे होते हैं। पूयमेह (सूजाक) और जीर्णबस्तिशोथ में चंदन का तेल देते हैं। विसर्प, खुजली, फोडे-फुन्सी, पैत्तिक शोथ आदि में चंदन कपूर के साथ घिसकर लगाते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत—चंदन तीसरे दर्जे में शीत और प्रथम दर्जे में रूक्ष, शीतजनन, उष्णतानिवारण, मनःप्रसादकर, रक्तप्रसादन तथा मस्तिष्क-यकृत्-अन्त्र और आमाशय को बल देनेवाला है। हृदयदौर्बल्य, उष्ण, हृत्स्पन्दन, रक्तातिसार और मूत्रदाह को दूर करने के लिये चन्दन देते हैं। गरम सिरदर्द में सिर पर और हृत्संताप में हृदयप्रदेश पर इसका लेप करते हैं।

एरण्डादि वर्ग ८१.

N. O. Euphorbieceae. (युफोर्बिएसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्णविन्यास एकान्तर या अभिमुख; पर्ण उपपत्रयुक्त या उपपत्ररहित, बहुधा सादे, क्वचित् खण्डित किनारीवाले, विभक्त या संयुक्त होते हैं; पुष्प क्षुद्र; बीजकोश उपरिस्थ, तीन खण्डोंवाला; बीज चिकने, चमकीले, चित्रित और गोलाई लिये हुए लम्बे होते हैं। इस वर्ग के उद्भिज्जों को तोड़ने से प्रायः क्षीर–दूध निकलता है।

---

(२७६) एरण्ड।

नाम-(सं.) एरण्ड, गन्धर्वहस्त, रुबु, उरुबूक, पञ्चाङ्गुल; (हिं.) रेंडी, अरंड, अरंडी; (बं.) भेरेंडा, (म.) एरंडी; (गु.) एरंडो, एरंडियो; (अ.) खिर्वअ; (फा.) बेदअंजीर; (ले.) रिसिनस् कॉम्युनिस् (Ricinus communis)।

वर्णन–एरंड भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। एरंड छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है। छोटे एरंड के बीजों के छिलके निकाल और दबाकर निकाला हुआ तेल और मूल तथा बड़े एरंड के पत्र औषधार्थ प्रयुक्त होते हैं।

गुण-कर्म—चरके—(सू. अ. ४) भेदनीये, स्वेदोपगे, अङ्गमर्दप्रशमने च गणे तथा मधुरस्कन्धे; सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ गणे, तथा (सू. अ. ३९) अधोभागहरे, वातसंशमने च वर्गे एरण्डः पठ्यते। "एरण्डमूलं वृष्यवातहराणां" (च. सू. अ. २५)। "लघु भिन्नशकृत्तिक्तं लाङ्गलक्युरुबूकयोः (शाकं) (च. सू. २५)। "× × उरुबूक × × प्रभृतीनि। उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च।"(सु. सु. अ. ४६)। "एरण्डतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम्। वातासृग्गुल्महृद्रोगजीर्णज्वरहरं परम्॥" (सु सू. अ. २७)। "एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं कटुकषायानुरसं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वयःस्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृतिबलकरं वातकफहरमधोभागदोषहरं च।" (सु सू. अ. ४५)। "एरण्डो मधुरो वृष्यो गुरूष्णो मार्गशोधनः। कफपित्तानिलश्वासकासब्रध्नाश्मनाशनः। गुल्मप्लीहोदरानाहकटिबस्तिशिरोरुजि। मेहज्वरामवातास्रशूलशोथेषु शस्यते॥" (कै. नि.)।

एरंड मधुर, गुरु, उष्णवीर्य, भेदन, स्वेदोपग, अङ्गमर्दप्रशमन, अधोभागहर, वातसंशमन, वृष्य, मार्गशोधन तथा कफ, पित्त, वात, श्वास, कास, ब्रध्न, अश्मरी, गुल्म, प्लीहारोग, उदर; अनाह, कटि–बस्ति और सिर की पीड़ा, प्रमेह, ज्वर, आमवात, रक्तविकार, शूल और शोथ को दूर करनेवाला है। एरंडपत्र का शाक तिक्त,

मधुर, उष्णवीर्य, वातप्रशमन और मल को पतला करनेवाला है। एरंडतैल मधुर, कटुकषायानुरस, मधुरविपाक, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, स्रोतोविशोधन, त्वच्य, वाजीकर, वयःस्थापन, मेधा-आरोग्य-कान्ति और बल को बढ़ानेवाला, योनि (गर्भाशय) और शुक्रशोधन, गुरु, कफवर्धक, अधोभागदोषहर तथा वातरक्त, गुल्म, हृद्रोग और जीर्ण ज्वर को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—एरंडतैल सौम्य, स्रंसन, स्तन्यजनन, दाहशामक और वातहर है; एरंडमूल वातहर है। २-४, ड्राम एरंडतैल रात को सोते समय देने से सवेर में साधारण पतले पीले रंग के एक-दो दस्त होते हैं। एरंडतैल से आँतों की श्लेष्मल त्वचा मृदु होती है और उससे मल की गाँठें(सुद्दे)नीचे आती हैं। इस प्रकार मल को नीचे सरकानेवाले द्रव्यों को स्रंसन (सारक, आनुलोमिक) कहते हैं। एरंडतैल सवेर में खाली पेट अदरक के रस के अनुपान से देना चाहिये। एक ड्राम मात्रा में एरंडतैल रोज रात को सोते समय लेने से पुराना कब्ज दूर होता है और अर्श में तथा गुदा में चीरे पड़े हों तो उसमें लाभ होता है। बड़ी आँत के सिरे पर एक अवशिष्ट भाग रहता है उसमें कभी कभी शोथ होता है, इससे पेडू में दाहिनी ओर दर्द होता है, उलटियाँ होती हैं, ज्वर आता है, नाड़ी जल्दी चलती है और वारीक होती हैं। इस (एपेन्डिसाइटिस्) रोग में प्रारंभ से ही एरंडतैल देते रहने से शस्त्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें एरंडतैल पीने को देने के साथ हींगमिश्रित जल और एरंडतैल की बस्ति देनी चाहिये। इस व्याधि में दर्द बहुत होता है उसको दबाने के लिये अफीम नहीं देना चाहिये, खुरासानी अजवायन दे सकते हैं। कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात और संधिशोथ में एरंडमूल और सोंठ का क्वाथ सवेरे-शाम और रात को सोते समय एरंडतैल और थोड़ा शिलाजीत मिलाकर देते हैं और पीड़ित स्थान पर एरंडतैल की मालिश करते हैं। स्तनपर एरंडतैल लगाकर एरंडपत्र बांधने से स्तनशोथ कम होता है और दूध का प्रमाण बढ़ता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२७७) स्नुही।

नाम-(सं.) स्नुक्, स्नुही, गुडा, सुधा, सेहुण्ड, महावृक्ष, वज्री; (हिं.) थूहर, सेहुँड; (पं., श., गु) थोर; (बं.) मनसा, सिज्, (म.) निवडुंग, (ले.) युफोर्बिआ निवुलिया (Euphorbia nivulia), युफोर्बिआ नेराइफोलिआ (Euphorbia neriffolia)।

वर्णन—थूहर-सेहुंड भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। इसकी डंडा, तिधारा, चौधारा, अंगुलिया आदि कई जातियाँ होती हैं।

उपयुक्त अंग—मूल, पत्र और क्षीर (दूध)।

गुण-कर्म--"स्नुक्पयस्तीव्रविरेचनानाम्" (च. सू. अ. २५)। "विद्यात स्नुहीक्षीरं विरेचने ।" (च. सू. अ. १) विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता । संघातं हि भिनत्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा ।। तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन् । न दोषनिचये चाल्पे सति चान्यपरिक्रमे ।। पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते । श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि । रोगैरेवंविधैर्यस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम् । प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक्स ह्यवचारितः ।। सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि सञ्चयम् ।। (च. क. अ. १०) । "सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता । द्विवर्षा वा त्रिवर्षा वा शिशिरान्ते विशेषतः ।। तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धारयेत्ततः ।" (अ. सं. क. अ.) । सुश्रुते (सू. अ. ३८) श्यामादिगणे सुधा तथा (सू. अ. ३९) अधोभागहरे गणे स्नुक्, महावृक्षश्च पठ्यते ।

पाण्डुरोग, उदर, गुल्म, कुष्ठ, दूषीविष, शोथ, मधुमेह और दोषज उन्माद में बलवान् रोगी को थूहर का प्रयोग कराना चाहिये, थूहर का क्षीर-दूध तीक्ष्ण विरेचक है, इसलिये मृदु कोष्ठवाले को, दोष अल्प हो और अन्य उपाय से रोगी अच्छा हो सकता हो तो इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये । तीक्ष्ण और अधिक काँटेवाले सेहुँड के दो या तीन वर्ष के वृक्ष में शस्त्र से छेद करके क्षीर लेना चाहिये ।

नव्यमत—तिधारा थूहर कफघ्न, ज्वरघ्न, रेचन और रक्तशोधक है । इससे कफ पतला होकर मुख और गुदा के द्वारा निकल जाता है । बालक के कफरोग में तिधारे थूहर का बहुत उपयोग करते हैं । इसके साथ अडूसा, शहद और शुद्ध सोहागा दे सकते हैं । मूल का क्वाथ जीर्ण आमवात और उपदंश में देते हैं । थूहर की जाति में जो दाहजनक द्रव्य होता है वह इसमें अल्प प्रमाण में होता है । उपयुक्त अंग-मूल और डंडा । डंडे के टुकड़े को गरम कर, कुचल और निचोड़कर रस निकालना चाहिये । मात्रा-बच्चों के लिये १॥-३ माशा, बडों के लिये १॥-२ तोला । सेहुंड(डंडा थूहर) थूहर की जाति में जो दाहजनक विष होता है वह इसमें अधिक होता है । सेहुंड का दूध तीव्र रेचन है । इससे वमन और पानी के समान दस्त होते हैं। उदर रोग में काली मिर्च के चूर्ण को सेहुँड के दूध में भिगो, गोली बनाकर देते हैं । सेहुँड के मूल और काली मिर्च का चूर्ण सूतिकाज्वर में देते हैं । मात्रा-मूलचूर्ण २-४ रत्ती, पत्रस्वरस २--५ बूंद, क्षीर -।--१ रत्ती (डॉ. बा. ग. देसाई) ।

वक्तव्य—सुश्रुत ने (सु. अ. ३९)अधोभागहरवर्ग में थूहर के मूल और क्षीर दोनों का उपयोग करने को लिखा है । चरक(सू. अ. १) में षोडशमूलिनी औषधियों में अधोगुडा शब्द आया है । उसका अर्थ आयुर्वेदाचार्य पं. भागीरथजी स्वामी ने "गुडायाः (स्नुहेः) अधः (अधोभागः मूलं) इति अधोगुडा"

(संदिग्धवनौषधिनिर्णयः पृ. १७६ पर) यह लिखा है, वह ठीक मालूम होता है। प्राचीनों का स्नूही–सेहुँड डंडा थूहर होगा ऐसा प्रतीत होता है।

---

(२७८) आँवला।

नाम—(सं.) आमलकी, धात्री, वयःस्था; (हिं.) आँवला, आमला; (बं.) आमलकी, आम्ला; (म., गु.) आंवला; (फा.) आम्लज; आमळ; (ले.) फाइलेन्थस् एम्ब्लिका (Phyllanthus emblica)।

वर्णन—आँवला भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

उपयुक्त अंग--परिपक्व फल।

गुण-कर्म—चरके (सू.अ. ४) विरेचनोपगे, वयःस्थापने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) परूषकादौ, त्रिफलागणे च आमलकं पठ्यते। "विद्यादामलके सर्वान् रसान् लवणवर्जितान्।" (च. सू. अ. २७)। "अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम्। चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम्॥ हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत्।" (सु. सू अ. ४६)। 'हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम्। दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम्॥ आयुष्यां पौष्टिकां धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्। कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम्॥ अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम्। हृद्रोगं सशिरोरोगमतिसारमरोचकम्॥ कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम्। कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन्॥ श्वयथुं तमकं छर्दि क्लैब्यमङ्गावसादनम्। स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः॥ स्मृतिबुद्धिप्रमोह च जयेच्छीघ्र हरीतकी। तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि॥ यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः।' (च. चि. अ. १)।

आँवले में लवणरस को छोड़कर अन्य छः रस विद्यमान हैं। आँवले अपने अम्ल रस से वात को; मधुर रस और शीतवीर्य से पित्त को तथा कषाय रस और रूक्षवीर्य से कफ को दूर करते हैं। आँवले शीतवीर्य, विरेचनोपग, श्रेष्ठ वयःस्थापन, चक्षुष्य, रसायन और सर्वदोषघ्न हैं। आँवले दोषानुलोमन, लघु, दीपन, पाचन, आयुष्य, पौष्टिक तथा कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष, पाण्डुरोग, मद, अर्श, ग्रहणीरोग, पुराना विषमज्वर, हृद्रोग, शिरोरोग, अतिसार, अरुचि, कास, प्रमेह आनाह, प्लीहा के रोग, नया उदररोग, प्रतिश्याय, वैवर्ण्य, स्वरभंग, कामला, कृमि, शोथ, तमकश्वास, वमन, नपुंसकता, हृदय और छाती का लेप तथा स्मृति और बुद्धि के प्रमोह का नाश करनेवाले हैं।

नव्यमत—ताजे पके आँवले दीपन, पाचन, पित्तशामक, आनुलोमिक, रोचन, बल्य, पौष्टिक, कान्तिवर्धक, त्वग्रोगनाशक और वाजीकर हैं। सूखे आँवले स्तम्भन, श्लेष्मघ्न, शोणितस्थापन और बडी मात्रा में पित्तस्रावक और स्रंसन हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत—आंवला पहले दर्जे में शीत, दूसरे दर्जे में रूक्ष, उत्तमांगों को बलप्रद, दीपन, ग्राही, पित्तरक्तसंशमन, चक्षुष्य तथा बालों की जड़ मजबूत करने वाला और उन्हें काला करनेवाला है। बुद्धि स्मरणशक्ति और दृष्टि को बल देने, हृत्स्पन्दन–हृदयदौर्बल्य और अग्निमांद्य को दूर करने, पित्त एवं रक्त का उद्वेग शमन करने, प्यास बुझाने तथा अतिसार दूर करने के लिये उसका उपयोग करते हैं। उक्त गुण-कर्म के लिये आंवले के मुरब्बे का भी उपयोग करते हैं।

---

(२७९) भूम्यामलकी।

नाम—(सं.) भूम्यामलकी, भूधात्री, तामलकी; (हि.) भूईआँवला; (म.) भूई आंवळी; (गु.) भोंयआंवळी; (बं.) भुई आम्ला, (ले.) फायलेन्थस् यूरिनेरिआ (Phyllanthus urinaria)।

वर्णन—भूईआँवले का १ वित्ताभर ऊँचा क्षुप वर्षाऋतु में सर्वत्र होता है। इस में आंवले जैसे छोटे पत्र और सरसों के बराबर छोटे फल लगते हैं। फलों का स्वाद आंवले के सदृश होता है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) कासहरे, श्वासहरे च महाकषाये तामलकी पठ्यते। "भूधात्री तु कषायाऽम्लपित्तमेहविनाशिनी। शिशिरा मूत्ररोगार्तिशमनी दाहनाशिनी॥" (रा. नि.) "तामलकी हिमा तिक्ता कषाया मधुरा लघुः। रोचनी पाण्डुपित्तास्रकफकुष्ठविषापहा। जयेच्छ्वासतृषादाह हिध्माकासक्षतक्षयान्।" (कै. नि.)।

भुईआंवली कषाय, अम्ल, तिक्त, मधुर, शीतवीर्य, लघु तथा कास, श्वास, पित्त, प्रमेह, मूत्ररोग, दाह, पाण्डुरोग, रक्तविकार, कफ, कुष्ठ, विष, तृषा, हिक्का, क्षत और क्षय को दूर करनेवाली है।

नव्यमत--भुईआंवला दीपन, पाचन, मूत्रजनन, स्रंसन, दाहप्रशमन, शोथघ्न और नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक है। भुईआंवला के पंचांग का क्वाथ शीतज्वर में देने से दस्त साफ होता है, पसीना आता है, निद्रा आती है, ज्वर की बारी रुकती है और यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि कम होती है। भुई आंवली से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है और पेशाब की जलन कम होती है, इसलिये सुजाक में इसे देते हैं। भुई आंवला के लेप से स्तन की सूजन उतर जाती है (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग--पंचांग। **मात्रा**-स्वरस १–२ तोला। भुईआंवला का स्वरस कामला में देते हैं।

(२८०) जयपाल ।

नाम--(सं.) जयपाल, जेपाल, दन्तीबीज; (हि.) जमालगोटा (बं.) जयपाल; (पं) जपो (ब्रो) लोटा; (गु.) नेपाळो; (अ.) हब्बुस्सलातीन, बंदुस्सीनी; (फा.) तुख्म बेदअंजीर खताई; (ले.) क्रोटन् टिग्लिअम् (Croton tiglium) ।

वर्णन—जमालगोटे का सदाहरित छोटा वृक्ष होता है। पत्र लम्बगोल, कुण्ठताग्र, किनारी कटी हुई; फूल हरे पीले रंग के मंजरी के रूप में; फल तीन खंडवाला। यह दंती और नागदंती से भिन्न उसी जाति का अन्य वृक्ष-गुल्म है। संभव है यह द्रवन्ती हो।

उपयुक्त अंग—बीज और बीजतैल ।

गुण-कर्म--"जैपाल: कटुरुष्णश्च कृमिहारी विरेचनः। दीपनःकफवातघ्नो जलोदरविनाशनः ॥" (रा. नि.)।

जमालगोटा कटु, उष्णवीर्य, विरेचन, दीपन तथा कफ वात, क्रिमि और जलोदर का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—जमालगोटा तीव्र रेचन और बड़ी मात्रा में विष है। इसके तैल की एक बूंद देने से जोर से पाँच--पचीस पानी जैसे दस्त हो जाते हैं, पेट में मरोड आते हैं और अन्त्रकला में शोथ हो जाता है। इससे पेट के कृमि भी मरते हैं परन्तु कृमि नाशन के लिये इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। जब रक्त का जलांश कम करना अभीष्ट हो अथवा हृदयोदर में जब हृदय पर के पानी का दबाव कम करना हो तब जमालगोटा देकर रक्त का जलांश कम न किया जाय तो मस्तिष्क में रक्त का स्राव अधिक होकर रोग असाध्य हो जाता है। रोगी नि:संज्ञ हो तो तेल की एक बूंद मक्खन में मिलाकर जीभपर रखना चाहिये। यदि विरेचन अधिक हों तो कत्था पानी में मिलाकर या नीबू का शर्बत पिलावें।

(डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानी मत—जमालगोटा चौथे दर्जे में गरम और खुश्क है। बीज तीव्र विरेचन और विस्फोटजनन हैं। तेल त्वचापर लगाने से विस्फोटजनन और खिलाने से आमाशय और अन्त्र में संक्षोभ कर के तीव्र विरेचन करता है। बीज आमवात, जलोदर, सन्यास जैसे कफ और सौदा के रोगों में विरेचनार्थ देते हैं और हस्तमैथुनी के लिये प्रयुक्त तिलाओं में विस्फोटजननार्थ प्रयुक्त होते हैं।

वक्तव्य--आयुर्वेद में जमालगोटे का शोधन करके ही व्यवहार किया जाता है। **जमालगोटे की शोधनविधि**--जमालगोटे के छिलके और दो दलों के बीच की जीभ (अंकुर) निकाल, जल मिलाये हुए भैंस के गोबर, दूध या पंवाड़-चकवड़ के ताजे पत्ते और पानी में मंदाग्नि पर तीन घंटे पका, शीतल होनेपर गरम जल से धो, नीबू के रस में पीस, मिट्टी के कोरे तवेपर बिछाकर सुखा लेने से जमालगोटा शुद्ध होजाता है

(२८१) दन्ती और द्रवन्ती।

नाम–(सं०) दन्ती, प्रत्यक्श्रेणी, उदुम्बरपर्णी, निकुम्भा, मकूलका; (हिं.) दन्ती; (म.) दांती; (ले.) बॅलिओस्पर्मम् मोन्टेनम् (Baliospermum montanum), क्रोटन् पोलिएन्ड्रम् (Croton polyandrum)। **नाम–द्रवन्ती**–(सं.) द्रवन्ती, पुत्रश्रेणी।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. १) षोडशमूलिनीषु दन्ती ('प्रत्यक्श्रेणी' नाम्ना), द्रवन्ती, नागदन्ती च; विरेचनद्रव्येषु (सू. अ. २, वि. अ. ८) दन्ती, द्रवन्ती च; तथा एकादशमूलासवेषु (सू. अ. २५) दन्ती, द्रवन्ती च पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) श्यामादिगणे दन्ती 'पुत्रश्रेणी' नाम्ना, द्रवन्ती च; तथा विरेचनवर्गे (सू. अ. ३९) दन्ती, द्रवन्ती च पठ्यते। "दन्तिदन्तस्थिरं स्थूलं मूलं दन्तीद्रवन्तिजम्। आताम्रश्यावतीक्ष्णोष्णमाशुकारि विकाशि च॥ गुरु प्रकोपि वातस्य पित्तश्लेष्मविलायनम्। तत्क्षौद्रपिप्पलीलिप्तं स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे। शोषयेच्चातपेऽन्यकौ हतो ह्येषां विकाशिताम्॥" (अ. सं., क. अ० २)। "दन्ती द्रवन्तिका चोष्णा कटुपाकरसा लघुः। विकाशिनी सरा तीक्ष्णा दीपनी पाचनी हरेत्॥ कफपित्तोदरानाहशोथशूलगुदाङ्कुरान्। विदाहकण्डूकुष्ठास्रप्लीहगुल्माश्मरीकृमीन्॥" (कै. नि.) "××× दन्तीद्रवन्तीस्नेहास्तिक्तकटुकषाया अधोभागदोषहराः कृमिकुष्ठकफानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च।" (सु. सू. अ० ४५)। "××× दन्तीद्रवन्तीस्नेहाः ×××विरेचयन्ति (सु. चि. अ० ३१)। "सैन्धवाजमोवायुक्तं वा निकुम्भतैलम्॥ (सु. चि. अ. १४)।

दन्ती और द्रवन्ती रस और विपाक में कटु, उष्णवीर्य, विरेचन, तीक्ष्ण, आशुकारी, विकाशी, दीपन, पाचन (मूल अल्प मात्रा में) तथा कफ, पित्त, ज्वर, आनाह, शोथ, गुल्म, अश्मरी, कृमि, शूल, अर्श, विदाह, कण्डू, कुष्ठ, रक्तविकार और प्लीहा के रोगों को दूर करनेवाली है। दन्ती और द्रवन्ती के बीज के तैल–तिक्त, कटु, कषाय, अधोभागदोषहर तथा कृमि, कुष्ठ, कफ, वात और दूष्योदर को दूर करनेवाले और दुष्ट व्रण का शोधन करनेवाले हैं।

नव्यमत- दन्ती के बीज जमालगोटे के जैसे तीव्र विरेचन हैं। दंतीमूल शोथघ्न, रेचन और ज्वरघ्न हैं। दंतीमूल से यकृत् की क्रिया सुधरकर दूषित पित्त मलद्वारा निकल जाता है। ज्वर में इसे छाल के साथ देना चाहिये। जलोदर, हृदयोदर, यकृदुदर और वृक्कोदर आदि उदर रोगों में तथा कामला में दंतीमूल का विरेचन देते हैं। शरीर में जीवनविनिमयक्रिया में कुछ दूषित द्रव्य जमा होकर नाना प्रकार के त्वग्रोग होते हैं, उनमें दंतीमूल देते हैं। मात्रा मूल १॥-३ माश; सुगन्धि द्रव्यों के साथ क्वाथ करके देना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(२८२) नागदन्ती ।

नाम—(सं.) हस्तिदन्ती, नागदन्ती; (म.) घणसर; (ले.) क्रोटन् ओब्लोंगिफोलिआ (Croton oblongifolia) ।

वर्णन—नागदन्ती का मध्यम ऊँचाई का वृक्ष होता है। सवृन्त, ५–१० इंच लंबे, एकान्तर, शाखाग्र पर एकत्र जमे हुए; दोनों बाजू पर मसृण, पत्रप्रान्त दन्तुर, फूल फीके हरे-पीले रंग के मंजरी में लगे हुए; पुंकेसर १०-१२; फल गोलाई लिये हुए तीन खण्डोंवाला होता है।

उपयुक्त अंग—मूल की छाल। **मात्रा**—१।–३ माशा सुगन्धित द्रव्यों के साथ देना चाहिये।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. १) षोडशमूलिनीषु हस्तिदन्ती, शिरोविरेचनद्रव्येषु (वि. अ. ८) नागदन्तीमूलं च पठ्यते। "नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्ती-स्नुक्पयःफलैः। साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं पिबेत्॥ सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये॥" (च. चि. अ. ३०) 'नागदन्ती कटुस्तिक्ता रूक्षा वातकफापहा। मेधाकृद्विषदोषघ्नी पाचनी शोथनाशिनी॥ गुल्मशूलोदरव्याधि-कुष्ठदोषनिकृन्तनी॥" (रा. नि)।

नागदन्ती विरेचक, शिरोविरेचन, कटु, तिक्त, रूक्ष, पाचन, मेधाकर तथा वात, कफ, विषविकार शोथ, गुल्म, शूल, उदररोग और कुष्ठ को दूर करनेवाली है।

नव्यमत—नागदन्ती के मूल की छाल शोथघ्न, ज्वरघ्न और बड़ी मात्रा में रेचन तथा विषनाशक है। किसी भी प्रकार की सूजन वह भीतरी हो या बाहरी, नागदन्ती देने से अच्छी होती है। फुफ्फुसशोथ, फुप्फुसावरणकलाशोथ, वृषणशोथ, संधिशोथ और यकृच्छोथ में नागदन्ती बहुत हितावह है। शोथ की प्रारंभिक अवस्था में इससे जितना विशेष लाभ होता है उतना जीर्णावस्था में नहीं होता। इसके साथ संभालू और करंजुआ देना अच्छा है। ज्वर में नागदन्ती के साथ नौशादर देना अच्छा है। इस मिश्रण से यकृत की क्रिया सुधरकर दूषित पित्त मल के साथ निकल जाता है और यकृद्वृद्धि कम होती है। मूल की छाल खाने को देते हैं और मूल को जल में घिसकर शोथ पर लगाते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वक्तव्य—चरक में दन्ती, द्रवन्ती और नागदन्ती तीनों का एकत्र उल्लेख मिलता है। अतः इन तीनों के भिन्न होने में संदेह नहीं हो सकता। जिसको मराठी में घणसर और लेटिन में क्रोटन् ओब्लोंगिफोलिआ कहते हैं उसको डॉ. वा. ग. देसाई और प्रो. बलवंतसिंह जी ने नागदन्ती माना है, वह ठीक है। दन्ती और द्रवन्ती का चरक और सुश्रुत में प्रायः साथ ही उल्लेख पाया जाता है। दन्ती वैद्यों में प्रसिद्ध है, परंतु द्रवन्ती के विषय में मतभेद पाया जाता है। कई लोग जिसको हिंदी में बा (ब) घरेंड, मराठी में मोगलाई एरंड और लेटिन में

जेट्रोफा कर्कस् कहते हैं। उसको द्रवन्ती मानते हैं। परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वघरेंड के मूल में रेचक गुण नहीं हैं। मेरे विचार में प्राचीनों ने जमालगोटा के वृक्ष को द्रवन्ती माना है। चरक (सू.अ.१) में षोडश मूलिनियों में हस्तिदन्ती, द्रवन्ती और प्रत्यक्श्रणो शब्द आया है वहाँ प्रत्यक्श्रेणो दन्ती का पर्याय जानना चाहिये, (अ. ३८) सुश्रुत में श्यामादि गण में दन्ती और पुत्रश्रेणी ये शब्द आये हैं वहाँ पुत्रश्रेणी शब्द द्रवन्ती का पर्याय जानना चाहिये।

(२८३) कम्पिल्लक।

नाम--(सं.) कम्पिल्लक; (हिं.) कमीला, कंबीला; (म.) कपिला; (गु.) कपीलो; (बं.) कमलागुंडि; (अ.) कं (कि) बील; (फा.) कंबील; (ले.) मेलोटस् फिलिपाइनेन्सिस् (Mallotus phillippinensis)।

वर्णन—कमीला भारतवर्ष के सभी प्रांतों में होता है। कमीले का मध्यम कद का सदाहरित वृक्ष होता है। फल त्रिखण्ड; आकार में झड़बेरी के समान और गुच्छों में लगते हैं। पक्व फल पर रक्त वर्ण की रज होती है। इसे कमीला कहते हैं। यह रज औषधार्थ प्रयुक्त होती है (कम्पिल्लकफलजः-सु. सू. अ. ३९)। कमीला जल में अविलेय और जलाने से बारूद जैसा जलता है। शुद्ध कमीले को जल में भिगोई हुई अंगुली से उठाकर सफेद कागजपर अंगुली रगड़ने से पीले रंग की रेखा उठती है और स्पर्श मृदु मालूम होता है।

गुण—कर्म-चरके (सू. अ. २) विरेचनद्रव्येषु तथा सुश्रुते (सु. अ. ३८) श्यामादिगणे, विरेचनद्रव्येषु च कम्पिल्लकः पठ्यते। "कम्पिल्लको विरेची स्यात कटूष्णो व्रणनाशनः। गुल्मोदरविबन्धाध्मश्लेष्मकृमिविनाशनः।" (ध. नि.)।

कमीला कटु, उष्णवीर्य, रेचक तथा व्रण, गुल्म, उदर मलावरोध, पेट का अफारा, कफ और कृमि का नाश करनेवाला है।

नव्यमत—सब प्रकार के पेट के कृमि के लिये कमीला उत्तम औषध है। इससे कृमि मर कर विरेचन द्वारा निकल जाते हैं। कमीला तेल में मिलाकर व्रण, अग्निदग्ध व्रण और कण्डू पर लगाते हैं। मात्रा--१॥-३ माशा, बालक को ५ रत्ती (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--कमीला दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, उदरकृमिनाशन एवं निःसारक, पिच्छिल एवं द्रवदोषविरेचन तथा व्रणशोषण-रोपण है।

वटादि वर्ग ८१.

N. O. Urticaceae । (अर्टिकेसी)

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पत्रविन्यास; एकान्तर; पत्र उपपत्रयुक्त; पुष्प छोटे और कर्णिका के अंदर एकत्र जमे हुए (नतोदर स्तबक); बीजकोश एक खण्डवाला ।

(२८४) वट ।

नाम–(सं.) वट, न्यग्रोध; (हिं.) बड़, बरगद; (पं.) बोड़, बोहड़; (म.) वड; (गु.) वड, वडलो; (अ.) कबिरुल् अश्जार; (फा.) दरख्तेरीश; (ले.) फाईकस् बेन्गालेन्सिस् (Ficus bengalensis) ।

वर्णन—वड़ भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है ।

गुण--कर्म–चरके (सू. अ. ४) मूत्रसंग्रहणीये महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादौ गणे वटः पठ्यते । "वटः शीतः कषायश्च स्तम्भनो रूक्षणात्मकः । तथा तृष्णाच्छर्दिमूर्च्छारक्तपित्त-विनाशनः ।" (ध. नि.) "वटः शीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः । वर्ण्यो विसर्पदाहघ्न; कषायो योनिदोषहृत् ।। (भा. प्र.) ।

बड़ कषाय, शीतवीर्य, गुरु, ग्राही, स्तम्भन, रूक्षण, वर्ण्य, मूत्रसंग्रहणीय तथा तृष्णा, वमन, मूर्च्छा, रक्तपित्त, विसर्प, दाह और योनिदोष को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत—बड़ का क्षीर वेदनास्थापन और व्रणरोपण, सूखे पत्र स्वेदजनन, कोमल पत्र श्लेष्मघ्न और छाल स्तम्भन है । बहुमूत्र में मूल की छाल का क्वाथ और मधुमेह में फल देते हैं । सडे हुए दांतों में बड़ का दूध भरने से पीड़ा शांत होती है, कमर और जोडों के दर्द में वटक्षीर लगाते हैं—(डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--बड़ पहले दर्जे में शीत, दूसरे दर्जे में खुश्क और वटक्षीर तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है । बड़ शीतग्राही, व्रणलेखन, शुक्रस्तम्भन और उत्तमांग-बलदायक है । अर्श, स्वप्नदोष और शीघ्रपतन में बड़ का दूध देते हैं । कर्णगत व्रण और कृमिकर्ण में कान में बड़ का दूध टपकाते हैं । हाथ-पांव के तलों का फटना और शोथ, विशेषकर वंक्षणशोथपर वटक्षीर का लेप करते हैं । वटजटा के लेप से स्तन कठोर होते हैं । कोंपल और वटजटा का चूर्ण शुक्रमेह में खिलाते हैं ।

(२८५) अश्वत्थ ।

नाम--(सं.) अश्वत्थ, पिप्पल; (हिं.) पीपल; (बं.) आशुद; (म.) पिंपळ; (गु.) पीपळो; (अ.) शज्रतुल् मुर्तअश; (फा.) दरख्ते लर्जां; (ले.) फाइकस् रिलिजिओज्ञा (Ficus religiosa) ।

वर्णन—पीपल का वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) मूत्रसंग्रहणीये महाकषाये कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादिगणे, अश्वत्थः पठ्यते। "अश्वत्थफलमूलत्वक्शुङ्गसिद्धं पयो नरः। पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति॥" (सु. चि. अ. २६)। "अश्वत्थः शीतलो रूक्षः कषायो दुर्जरो गुरुः। व्रणपित्तकफास्रघ्नो वर्ण्यो योनिविशोधनः॥" (कै. नि.)।

पीपल कषाय, शीतवीर्य, रूक्ष, गुरु, मूत्रसंग्रहण, वर्ण्य, योनिविशोधन, दुर्जर तथा व्रण, पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करनेवाला है। पीपल के फल, मूल, त्वचा और कोंपल के साथ दूध पका, उसमें शक्कर और शहद गेर कर पीने से वाजीकर गुण होता है।

नव्यमत—पीपल की छाल स्तंभन, रक्तसांग्राहिक और पौष्टिक; पत्र आनुलोमिक, कोमलपत्र पहिले रेचन और पीछे स्तंभन; फल पाचन, आनुलोमिक, संकोचविकासप्रतिबंधक और रक्तशोधक हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत—पीपल गरम, खुश्क, श्वयथुविलयन, रूक्षण तथा वमन और उबकाई को दूर करनेवाला और फोड़े को बैठानेवाला है।

---

(२८६) प्लक्ष।

नाम—(सं.) प्लक्ष; (हिं.) पाकर, पाखर; (कु) कामडो; (ने.) कावरो; (बं.) पाकुड; (म.) पिंपरी; (गु.) पीपळी, पीपर; (ले.) फाईकस् लेकोर् (Ficus lacor)।

वर्णन—पाकर का बड़ से छोटा, बहुशाखायुक्त वृक्ष होता है। इसमें जटायें क्वचित् ही लगती है। पत्र गूलर के सदृश परंतु उससे छोटे होते हैं।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) मूत्रसंग्रहणीये, महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) न्यग्रोधादिगणे प्लक्षः पठ्यते। "प्लक्षः कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः। दाहपित्तकफामघ्नः शोथहा रक्तपित्तहृत्॥ रक्तदोषहरो मूर्च्छाप्रलापभ्रमनाशनः।" (भा. प्र)।

पाकर कषाय, शीतवीर्य, मूत्रसंग्रहणीय तथा व्रण, योनिरोग, दाह, पित्त, कफ, आम, शोथ, रक्तपित्त, रक्तदोष, मूर्च्छा, प्रलाप और भ्रम को दूर करनेवाला है।

---

(२८७) उदुम्बर ।

नाम---(सं.) उदुम्बर; भद्रोदुम्बर, हेमदुग्ध, यज्ञाङ्ग; (हिं.) गूलर; (बं.) यज्ञडुमुर; (म.) उंबर; (गु.) उंबरो, उमरडो; (फा.) अंजीरे आदम, अंजीरे अहमक; (ले.) फाईकस् ग्लोमिरेटा (Ficus glomerata) ।

वर्णन--गूलर भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है ।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) मूत्रसंग्रहणीये महाकषाये, कषायस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते न्यग्रोधादिगणे उदुम्बरः पठ्यते । 'उदुम्बरो हिमो रूक्षः कषायो मधुरो गुरुः । भग्नसंधानकृद्वर्ण्यो व्रणशोधनरोपणः । (कै. नि.) ''औदुम्बरं कषायं स्यात पक्वं तु मधुरं हिमम् । कृमिकृत् पित्तरक्तघ्नं मूर्च्छादाहतृषापहम् (ध. नि) ।

गूलर कषाय, मधुर, शीतवीर्य, गुरु, रूक्ष, मूत्रसंग्रहण, भग्नसंधानकर, वर्ण्य तथा व्रण का शोधन और रोपण करनेवाला है । गूलर का कच्चा फल कषाय; पक्व फल मधुर, शीतवीर्य, कृमिकर तथा पित्त, रक्तविकार, मूर्च्छा, दाह और तृषा को मिटानेवाला है ।

नव्यमत--गूलर की छाल स्तम्भन; पक्व फल शीतल, स्तम्भन और रक्त सांग्राहिक; दूध शीतल, स्तम्भन, रक्तसांग्राहिक, पौष्टिक और शोथहर है । जिन रोगों में रक्तस्राव होता हो या शोथ हो उन रोगों में गूलर का उपयोग करते हैं । मधुमेह में फल पाचन और पौष्टिक गुण के लिये देते हैं । छोटे बच्चे जब सूखते जाते हों, खाया पीया गुण नहीं देता हो, उलटी और दस्त होते हों और हलका ज्वर रहने लगता हो तब गुलर का दूध ५-१० बुंद दूध में मिलाकर देते हैं । गंडमाला, बद आदि सूजे हुए स्थान पर एवं कमर तथा बक्षःस्थल के दर्द पर गूलर का दूध लगाते हैं । गूलर का मूल आंव में देते हैं । ताजे मूल का रस शीतल, स्तम्भन, रक्तस्तम्भन और उत्तम पौष्टिक है तथा सुजाक में देने से मूत्रनलिका का शोथ कम करता है । गूलर की छाल का फांट अत्यार्तव में देते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(२८८) काकोदुम्बर ।

नाम--(सं.) काकोदुम्बर मलपू, जघनेफला; (हिं.) कठूमर, कठगूलर; (बं.) काक्डुमुर; (म.) भुईउंबर, बोखाडा; (गु.) ढेडउंबरो; (ले.) फाईकस् हिस्पिडा (Ficus hispida) ।

वर्णन--कठगूलर का छोटा झाड़ी जैसा वृक्ष होता है । पत्रपृष्ठ खर, इसके काण्ड में गूलर जैसे रोमावृत फल लगते हैं ।

गुण-कर्म---"मलपूः स्तम्भकृत्तिक्ता शीतला तुवरा जयेत् । कफपित्तव्रणशिवत्रकुष्ठपाण्ड्वस्रकामलाः ॥" (भा. प्र.) ।

कठगूलर तिक्त, कषाय, स्तम्भन तथा कफ, पित्त, व्रण, श्वित्र, कुष्ठ, रक्तविकार और कामला को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—कठगूलर में एक साबुन जैसा पदार्थ है, उससे वमन होता है। इसके फल वामक और विरेचक हैं। छाल नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक और स्तम्भन, अल्पमात्रा में पौष्टिक और बडी मात्रा में वामक और विरेचक है। मात्रा-फल ॥ से १ नग; छाल २०-३० रत्ती। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

सुश्रुत-(चि. अ. ९) में लिखा है कि-श्वित्रवाले को गूलर और कठगूलर के मूल का सुखोष्ण क्वाथ पिलाकर धूप में बैठाने से श्वित्र में फोड़े उठेंगे। उनको फोड़ कर उस पर चीते या हाथी का चमड़ा जला, तैल में मिलाकर लेप करे। इससे श्वित्र अच्छा होता है (भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलप्वाः। सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं स्फोटाञ्छ्वित्रे पुण्डरीके च कुर्यात् ॥ द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः)।

(२८९) अंजीर।

नाम-(सं.) फल्गु; (हिं., फा.) अंजीर; (अ.) तीन; (ले.) फाइकस् केरिका Ficus carica)।

वर्णन-प्रसिद्ध फल है।

गुण-कर्म-"तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम्।" (च. सू. अ. २७)। "विष्टम्भि मधुरं शीतं फल्गुजं तर्पणं गुरु।" (सु. सू. अ. ४६)।

अंजीर मधुर, गुरु, शीतवीर्य, तर्पण, बृंहण और विष्टम्भि है।

नव्यमत-अंजीर स्नेहन और स्रंसन हैं। सूखे अंजीर स्नेहन, कफघ्न और आनुलोमिक हैं। मलावष्टम्भ और मधुमेह में सूखे अंजीर खाने को देते हैं।

यूनानीमत- अंजीर पहिले दर्जे में उष्ण, दूसरे दर्जे में तर, दोषमार्दवकर, कोष्ठमृदुकर, दोषपाचन, स्वेदन, कफनिःसारक, मूत्रल, पौष्टिक और कब्ज को दूर करनेवाला है। मोतीझरा और मसूरिका में दोनों को बाहर लाने के लिये खूबकलाँ और अंजीर का क्वाथ देते हैं। प्लीहा की वृद्धि में जामुन के सिरके में अंजीर को ५--७ दिन भिगोकर खाने को देते हैं।

(२९०) तूत।

नाम- (सं.) तूत, तूद; (हिं.) तूत, शहतूत; (फ.) तूल; (गु.) शेतूर, सेतूर; (मा.) सहतूत; (कु.) किमु; (फा.) तूत नब्ती (मीठा-सफेद), तूत स्याह (मनुराम्ल-रक्ताभ श्याम); (ले.) मोरस् इन्डिका (Morus indica)।

वर्णन–तूत एक प्रसिद्ध फल है । इसकी दो जातियाँ होती हैं–(१) पिलाई लिये सफेद, १–१॥ इंच लंबा और मीठा होता है; (२) लम्बगोल, मधुराम्ल और रक्ताभ काला होता है ।

गुण कर्म–"तूदस्य तु फलं स्वादु बलवर्णाग्निवृद्धिकृत् । तूदं तु मधुराम्लं स्याद्वातपित्तहरं सरम् ॥ दाहप्रशमनं वृष्यं कषायं कफनाशनम् ।" (ध. नि.) । "तूदं गुरु सरं साम्लमामं तद्रक्तपित्तलम् । उष्णं पक्वं तु मधुरं शीतं पित्तानिलापहम् ।" (कै. नि.) ।

मीठा तूत बल-वर्ण और अग्नि को बढ़ानेवाला, शीतवीर्य तथा पित्त और वायु का शमन करनेवाला है । मधुराम्ल तूत गुरु, सारक, वातपित्तहर, दाहप्रशमन तथा वृष्य है ।

यूनानीमत–सफेद (मीठा) तूत पहले दर्जे में गरम और तर, अवरोधोद्घाटक, मस्तिष्कस्नेहन, उर: फुप्फुसबलदायक और दोषपाचन है । स्याह तूत—शीत, तर, शीतसंग्राही, दोषविलोमकर्ता, दोषों को पतला करनेवाला, रक्त की तीक्ष्णता का शमन करनेवाला, पिपासाघ्न, कण्ठ के उष्ण शोथ का विलयन तथा जड़ की छाल उदरकृमिनाशन है । कण्ठशोथ, रोहिणी जिह्वामूलशोथ जिह्वाशोध और मुखपाक में शहतूत का शर्बत पिलाते हैं तथा इसकी पत्तियों के क्वाथ का गण्डूष कराते हैं । जड़ का क्वाथ व्रणाकारकृमिनाशन है ।

(२९१) भांग और गाँजा ।

नाम–(सं.) भंगा, विजया, शक्रासन; (हिं.) भाँग, भंग; (म. गु.) भांग; (बं.) भाङ्, सिद्धि; (अ.) किन्नुब; (ले.) केनेबिस् सेटाइवा (Cannabis sativa) ।

वर्णन-भांग भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और प्रसिद्ध है । पत्र और बीजयुक्त कोमल शाखाओं को भाँग, मादा पौधे की रालदार पुष्पमंजरी को गाँजा और कोमल शाखाओं पर जमे हुए लेसदार रालसदृश द्रव्य को चरस (मारवाड़ में सुल्फा) कहते हैं । इन तीनों और बीजों का औषध के लिये उपयोग करते हैं ।

गुण-कर्म–"भङ्गा तु दीपनी रुच्या ग्राहिणी पाचनी लघु: । निद्रापित्तप्रदोष्णा च कामदा कफवातजित् ॥ (शो. नि.) ।"

भांग उष्णवीर्य, दीपन, लघु, ग्राही, रुचिकर, निद्राकर, कामोत्तेजक तथा कफ और वात को दूर करनेवाली है ।

यूनानी मत–भांग तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष, संग्राही, दीपन, सौमनस्यजनन, वाजीकर,शुक्रस्तम्भन वीर्यंगोषण, वेदनास्थापन,स्वापजनन, आक्षेपहर, प्रलापजनक

और मादक है। पाचनविकृति, अतिसार, प्रवाहिका, काली खाँसी, अनिद्रा और आक्षेप में भाँग का उपयोग करते हैं। बवासीर (अर्श) की पीड़ा शान्त करने के लिये भाँग को दूध में उबाल, पीसकर उसकी टिकिया बाँधते हैं।

नव्यमत—गाँजे की क्रिया प्रधानतः मस्तिष्क पर होती है। गांजा उत्तेजक, वेदनास्थापन, शांतिकारक, क्षुधावर्धक, पित्तद्रावी, मूत्रजनन, आल्हादकारक, कफघ्न, स्वापजनन, शोणितास्थापन, संकोचविकासप्रतिबंधक, गर्भाशयसंकोचक, बल्य, वाजीकर और त्वचा की ज्ञानग्राहक शक्ति कम करनेवाला है। **मात्रा**-शुद्ध भांग १-२ रत्ती, शुद्ध गांजा ½-१ रत्ती, चरस ¼ रत्ती। (डॉ. वा. ग. देसाई)। भाँग और गाँजे को दूध में दोलायन्त्र से पका, जल से धोकर सुखा लेने से शुद्ध हो जाता है।

कट्फलादि वर्ग ८२.

N. O. Myricaceae. (माइरिकेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प, द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्ण एकान्तर और सादे; बीजकोश उपरिस्थ, एक खण्डवाला; फल मांसल, एकबीज।

(२९२) कट्फल।

नाम–(सं.) कट्फल; (कु. ग. ने.) काफल, (हिं. म., गु.) कायफल; (बं.) कट्फल, कायछाल; (अ.) अजूरी, उदुल्बर्क, कन्दूल; (फा.) दारशीश् आन; (ले.) माइरिका नेगी (Myrica nagi)।

उत्पत्तिस्थान–उत्तर पंजाब, गढ़वाल, कुमाऊँ, नेपाल।

वर्णन-बाजार में कायफल के नाम से रक्ताभ, भारी, स्वाद में चरपरी और कुछ कषाय-तिक्त स्वादवाली छाल मिलती है। इसके फल खिरनी की आकृति के ।॥. इंच लम्बे, अण्डाकार-कुछ चिपट, रक्ताभ और स्वाद में खटमीठे होते हैं। फल में मांस कम होता है और गुठली बड़ी होती हैं। छाल का चूर्ण सूंघने से छींकें आती हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) सन्धानीये, शुक्रशोधने; वेदनास्थापने च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) लोध्रादौ, सुरसादौ च गणे कट्फलं पठ्यते। "कट्फलः कटुरुष्णश्च कासश्वासज्वरापहः। प्रतिश्यायहरो रुच्यो मुखरोगशमप्रदः।" (रा. नि.)।

कायफल की छाल कटु, उष्ण वीर्य, संधानीय, शुक्रशोधन, वेदनास्थापन, रुचिकर तथा खाँसी, श्वास, ज्वर, प्रतिश्याय और मुखरोग का नाश करनेवाली है।

यूनानीमत—कायफल की छाल दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, ग्रन्थिविलयन, संग्राही, उदरवातहर, वातनाड़ीबलप्रद, प्रकोथनाशक, छींक लानेवाली, मस्तिष्क के द्रवों को आकर्षित करनेवाली तथा कफ को पकाकर निकालनेवाली है ।

नव्यमत—कायफल की छाल कटु, तिक्त, सुगन्धि, ग्राही, स्वेदजनन, कफघ्न, उत्तेजक, वातहर, शोथघ्न और गर्भाशयोत्तेजक है । ज्वर में कायफल से पसीना आता है,शरीर की पीड़ा कम होती है, सरदी और शिर का दर्द कम होता है और छाती में कफ हो तो ढीला होकर पड़ने लगता है । अग्निमान्द्य, अरुचि, कुपचन, अतिसार, गले की सूजन, खांसी और दमा में कायफल देते हैं । पीड़ितार्तव में कायफल, केशर और काले तिल की गुड़ में गोली बनाकर खिलाने से लाभ होता है । कायफल के चूर्ण की कपड़े में पोटली बनाकर योनि में रखने से गर्भाशय की संकोचविकाशक्रिया बढकर आर्तव ठीक आने लगता है । मूर्च्छा, जुकाम और सिर के दर्द में कायफल का चूर्ण सूंघने को देते हैं । कायफल का चूर्ण छिड़कने से अथवा इसके क्वाथ से व्रण को धोने से व्रण का शोधन-रोपण होता है । शरीर ठंडा पड़ने पर कायफल के चूर्ण की मालिश करते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

उपयुक्त अंग—वृक्ष की छाल । छाल का चूर्ण या क्वाथ बनाकर उपयोग किया जाता है । **मात्रा**—१-२ माशा ।

मायाफलादि वर्ग ८३.

N. O cupulifereae (क्युप्युलिफेरी) ।

वर्गलक्षण— सपुष्प, द्विबीजपर्ण, बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्ण एकान्तर, पक्षाकार; पुंकेशर ५-१०; बीजकोश अधःस्थ; फल कवचवाला; बीज १-२ ।

---

(२९३) माजूफल ।

नाम-(सं.) मायाफल; (हिं.) माजूफल; (म.) मायफल; (गु.) कांटाळुं मायुं, मायुं माजुफल; (अ.) अफ्स, अफ्सुल् बुल्त; (फा.) माजू; (ले.) क्वेर्कस् इन्फक्टोरिआ (Quercus infectoria) ।

उत्पत्तिस्थान—ईरान, एशिया मायनर, सीरिया ।

वर्णन-यह फल नहीं परंतु एक प्रकार का कीटगृह है । जो माजूफल गोल, वजनदार, बड़ा, छिद्ररहित और हरे-पीले रंग का हो वह अच्छा होता है । इसका स्वाद अतिकषाय होता है ।

यूनानीमत—माजूफल पहले दर्जे में शीत और दूसरे में रूक्ष, संग्राही, उपशोषण, रक्तस्तम्भन, कोथप्रतिबन्धक और बालों को काला करनेवाला है। आन्त्रव्रण, पुराने अतिसार और श्वेतप्रदर में इसका चूर्ण खिलाते हैं। दाँतों और मसूढों के शैथिल्य को दूर करने और उनके रक्तस्राव को बंद करने के लिये माजूफल को दंतमंजनों में डालते हैं और इसके काढे से कुल्ले भी कराते हैं। रक्तस्तम्भन होने के कारण सद्योव्रणों पर इसका चूर्ण छिड़कते हैं। श्वेत और रक्तप्रदर में इसके चूर्ण को कपड़े में पोटली बांधकर योनि में रखवाते हैं और इसके क्वाथ की उत्तरबस्ति देते हैं। गुदभ्रंश और गुदव्रण में माजूफल के क्वाथ से गुदप्रक्षालन कराते हैं। यह बालों को काला करता है, इसलिये केशकल्पों (खिजाबों) में प्रयुक्त होता है।

नव्यमत—माजूफल में गेलिक् एसिड् और टेनिक् एसिड् ये दो अम्ल द्रव्य हैं। माजूफल उत्तम स्तम्भन, श्लेष्मघ्न, शोणितास्थापन और विषघ्न है। दालचीनी आदि इतर सहायक औषधों के साथ माजूफल का चूर्ण पुराने अतिसार और संग्रहणी में देते हैं। पुराने सुजाक और तन्तुमेह में माजूफल का चूर्ण १० रत्ती की मात्रा में देते हैं। जब बिना पीड़ा के पूय आता हो तब यह देना चाहिये। कुचला, धतूरा, बच्छनाग, अफीम आदि विषद्रव्य खाये गये हों तब प्रथम वमन कराकर पीछे विषप्रशमनार्थ माजूफल का तेज काढ़ा बड़ी मात्रा में बार-बार देना चाहिये। मांजूफल जल में घिस कर व्रण पर लगाने से व्रण का संकोचन होता है और वह शीघ्र भर आता है। माजूफल जल में घिसकर गले में लगाने से गले की गांठों (टॉन्सिल) की सूजन उतरती है और कागलिया बढ़ा हो तो संकुचित होकर सूखी खाँसी आना बंद होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वेतसादि वर्ग ८४.

N. O. Salicaceae (सेलिकेसी)

वर्गलक्षण-सपुष्प; द्विबीजपर्ण; बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश; पर्णविन्यास एकान्तर; बीजकोश उपरिस्थ और एक खण्डवाला; बीज पुष्कल और रोमयुक्त।

---

(२९४) वेतस-वेदमुश्क।

नाम-(सं.) वेतस, वानीर, गन्धपुष्प; (फ.) बेदमुश्क; (पं.) बेदमुश्क; (अ.) खिलाफुल् बलखी; (ले.) सेलिक्स् केप्रिआ (Salix caprea)।

उत्पत्तिस्थान-ईरान और उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त।

वर्णन–बेदमुश्क का १५–३० फुट ऊँचा वृक्ष होता है। पत्र एकान्तर, हरे रंग के, लंबगोल, नोकदार और दन्तुर; पुष्प पीले और सुगन्धित।

गुण-कर्म–"वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत्। हन्ति वीसर्प-कृच्छ्रास्रपित्ताश्मरिकफानिलान्" ॥ (भा. प्र.)।

बेदमुश्क शीतवीर्य तथा दाह, शोथ, अर्श, योनिरोग, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार, पित्त, अश्मरी, कफ और वात को दूर करनेवाला है।

यूनानीमत–बेदमुश्क पहले दर्जे में शीत, दूसरे दर्जे में तर, हृदयबलदायक मेध्य, संतापहर, मूत्रल, वेदना स्थापन, सारक, शिरःशूलनाशक और वाजीकर है। हृत्स्पन्दन और उष्ण ज्वरों में इसका अर्क पिलाते हैं। **मात्रा**–अर्क ५-१० तोला। मुक्ता आदि रत्नों की पिष्टी बनाने के लिये इसके अर्क की भावना दी जाती है।

नव्यमत—बेदमुश्क की छाल ग्राही, शीतल, ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है; फूल रोचक हैं। छाल का क्वाथ और फूलों का अर्क उपयोग में लेना चाहिये। छाल का क्वाथ विषमज्वर, पित्तज्वर, तरुण आमवात और क्षय में देते हैं। इससे ज्वर में दाह और सिर का दर्द, क्षय में छाती से रक्त आना और संधिवात में सन्धि की सूजन और पीड़ा कम होती है। नेत्राभिष्यन्द और सिर के दर्द में अर्क बेदमुश्क में कपड़ा भिगोकर रखने से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(२९५) जलवेतस-बेदसादा।

नाम–(सं.) वञ्जुल, जलवेतस; (म.) वालुंज; (फा.) बेद बेदसादा; (क.) वीर; (ले.) सेलिक्स् टेट्रास्पर्मा (Salix terasperma)।

वर्णन–इसके वृक्ष कश्मीर आदि में नदी-नालों के किनारे होते हैं। पत्र एक बित्ता तक लंबा, पत्रपृष्ठ सफेद, पत्रोदर हरा; पुष्प सफेदी लिये पीले और कुछ सुगन्धित होते हैं। इसकी टहनियों से टोकरे आदि बनाते हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) वेदनास्थापने महाकषाये, आसवयोनिसार-वृक्षेषु (सू. अ. २५) च वञ्जुलः पठ्यते।

यूनानीमत–बेदसादा पहले दर्जे में सर्द और खुश्क; फूल पहले दर्जे में सर्द और दूसरे में तर, संतापहर, हृद्य, मूत्रल, वेदनास्थापन, मस्तिष्कबलदायक तथा उष्ण ज्वर के लिये गुणकारक हैं। रक्तातिसार, यकृत और प्लीहा के शोथ एवं कामला में इसके ताजे पत्तों का रस देते हैं।

नव्यमत–बेदसादा पौष्टिक, ज्वरघ्न और नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक है। **मात्रा**—छाल क्वाथ के लिये ।॥। १ तोला। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

वक्तव्य—चरक (क. अ. १, ८) में "वञ्जुल-वानीरोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगतभूमिभाग:" तथा (सि.अ. १०, २१) "नलवञ्जुलवानीरशतपत्राणि शैवलम्" ।। इन स्थानों में वञ्जुल और वानीर दोनों का उल्लेख एकत्र देखने में आता है। अतः ये दो भिन्न वनस्पतियां हैं। कई निघण्टुकारों ने इनको पर्याय माना है वह ठीक नहीं है। हकीम लोग अर्क बेदमुश्क का पुष्कल उपयोग करते हैं, वैद्यों को भी इसका प्रयोग करना चाहिये।

सोमादि वर्ग ८५.

N. O. Gnetaceae. (नेटेसी)।

वर्गलक्षण—सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तकोश; पर्ण अभिमुख, अखंड और सिराजालयुक्त।

---

(२९६) सोम।

नाम--(सं.) सोम; (हिं.) टूटगंठा (चकरीता); (पं.) असमानी बूटी; (फ.) असमानिया; (ईरान) होम; (लि.) एफेड्रा वल्गेरिस् (Ephedra vulgaris), एफेड्रा गेरेंडिआना (Ephedra gerardiana)।

उत्पत्तिस्थान--ईरान, काश्मीर, नेपाल, सिक्किम आदि।

वर्णन--इसका छोटा और भंगुर क्षुप होता है। शाखायें हरी, खडी और रेखायुक्त; पत्र अल्प; पुष्प अवृन्त मंजरी के रूप में। स्वाद कषाय, सुगन्धित। पारसी लोग अपनी धार्मिक क्रियाओं में अब तक होम (सोम) के नाम से इसका प्रयोग करते हैं।

उपयुक्त अंग—समग्र क्षुप। इसका चूर्ण या अर्धावशेष क्वाथ बनाकर उपयोग करना चाहिये। **मात्रा**--चूर्ण ५-१० रत्ती; क्वाथ २-४ तोला।

गुण-कर्म--सोम पाचन, आनुलोमिक, मूत्रजनन, यकृदुत्तेजक, ज्वरघ्न, आमनाशक, वातहर, शोथहर, मस्तिष्कोत्तेजक, तारकाविकाशि और श्वासावरोध को कम करनेवाला है। सोम का क्वाथ तरुण आमवात में देने से पीड़ा और शोथ कम होता है, भूख बढ़ती है, मूत्र का प्रमाण बढ़ता है, दस्त साफ होता है और ज्वर उतरता है। थोड़ा उत्तम मद्य पीने से जैसे मस्तिष्क में उत्तेजना मालूम होती है वैसी इससे भी मालूम होती है, परन्तु नशा नहीं आता। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

तमकश्वास का वेग कम करने के लिये यह उत्तम औषध है।

देवदार्वादि वर्ग ८६.

N. O. Conifereae. (कोनिफेरी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; द्विबीजपर्ण; संयुक्तकोश; पत्र सरल; सकड़े, नोकदार ।

---

(२९७) देवदार ।

नाम--(सं.) देवदारु, भद्रदारु, सुराह्व, किलिम; (हिं., म., गु.) देवदार; (कु.) दयार; (पहाड़ी) केलोन; (पं.) दियार; (फ.) दीवदार; (ले.) केड्रस् डिओडोरा (Cedrus deodara) ।

वर्णन—हिमालय में ७०००-९००० फुट की ऊँचाई पर देवदारु के महावृक्ष होते हैं । इसका सार-काष्ठ और काष्ठ को जलाकर निकाला हुआ तैल औषधार्थ प्रयुक्त होता है । गुजरात और दक्षिण भारत में प्रायः देवदार के नाम से सरल (चीड़) की लकडी बिकती है ।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) स्तन्यशोधने, अनुवासनोपगे च महाकषाये तथा कटुकस्कन्धे (वि. अ. ८) ('किलिम'नाम्ना) देवदारु पठ्यते। सुश्रुते (सु. अ. ३९) "वातसंशमने वर्गे 'भद्रदारु'नाम्ना देवदारु पठ्यते। देवदारु लघु स्निग्धं तिक्तोष्णं कटुपाकि च । विबन्धाध्मानशोथामतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित ॥ प्रमेहपीनसश्लेष्मकासकण्डूसमीरनुत्" (भा प्र.) । "×× देवदारुस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः क्रृमिकफकुष्ठानिलहराश्च ।" (सु. सू. अ. ४५) ।

देवदार; कटु, तिक्त, कटुविपाक, उष्णवीर्य, लघु, स्निग्ध, स्तन्यशोधन, अनुवासनोपग तथा विबन्ध, आध्मान, शोथ, आम, तन्द्रा, हिक्का, ज्वर, रक्तविकार, प्रमेह, पीनस, कफ, खांसी, कण्डू और वायु का नाश करनेवाला है। देवदारु का तेल तिक्त, कटु, कषाय, दुष्टव्रणशोधन तथा कृमि, कुष्ठ और वात को मिटानेवाला है ।

नव्यमत— देवदार स्वेदजनन, मूत्रजनन, वातनाशक और त्वग्दोषहर है। देवदार का तेल उत्तम व्रणशोधन और व्रणरोपण है। जीर्णत्वग्रोग में देवदार का तेल खाने और लगाने को देते हैं। ज्वर में देवदार देने से स्वेद आता है, मूत्र का प्रमाण बढ़ता है, शोथ कम होता है और कफ की दुर्गन्ध कम होकर ज्वर नष्ट होता है । जीर्ण संधिवात में देवदार से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(२९८) सरल ।

नाम--(सं.) सरल, श्याह्व; (हिं.) चीड, चीढ; (फ.) चीर; (कु.) सल्ल; (गु.) तेलियो देवदार; (ले.) पाइनस् लोन्गिफोलिआ (Pinus longifolia) ।

वर्णन–हिमालय में ३०००–६००० फुट की ऊँचाई पर चीड के वृक्ष होते हैं। वृक्ष सीधा (सरल) होता है। इसके कांड में क्षत करने से एक प्रकार का निर्यास निकलता है,उसको **गंधाबिरोजा** कहते हैं। गंधाबिरोजा से तिर्यक् पातन द्वारा जो तैल निकाला जाता है उसको **तारपीन का** तेल (टर्पेन्टाईन) कहते हैं। समभाग दूध और जल भरे हुए पात्र पर कपड़ा बांध, उस पर गन्धाबिरोजा डाल कर नीचे आंच देने से विरोजा कपडे से टपक कर नीचे के पात्र में जम जाता है, उसको **बिरोजे का सत्त्व या सत बिरोजा** कहते हैं। **गंधाबिरोजा के नाम**—(सं.) श्रीवास, श्रीवेष्ट, सरलनिर्यास; (हिं.) गन्धाबिरोजा; बिहरोजा (क.) यारिकांगुलुन; (ग., कु.) लासा; (अ.) किन्न; (फा.) वा (वे) जद; (गु.) वेरजो।

गुण-कर्म––चरके (सु. अ. ४) पुरीषविरजनीये गणे तथा सुश्रुते (सू. अ.३८)एलादिगणे श्रीवेष्टकः पठ्यते। "सरलः कटुतिक्तोष्णः कफवातविनाशनः। त्वग्दोषशोथकण्डूतिव्रणघ्नः कोष्ठशुद्धिदः।।" (रा. नि.)। "सरल × × × सारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।" (सू. सु. अ. ४५)।

चीड़ कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, कोष्ठशुद्धिकर तथा कफ, वात, त्वग्रोग, शोथ, कण्डू और व्रण का नाश करनेवाला है। सरल के काष्ठ का तैल तिक्त कटु;कषाय, दुष्टव्रणशोधन तथा कृमि, कफ, कुष्ठ और वायु का नाश करनेवाला है।

नव्यमत–गन्धाबिरोजा खाने से मुंह में लाल छुटती है, पेट में गरमी मालूम होती है, डकार आते हैं, वायु सरता है, नाडी भरी हुई चलती है, श्वासोच्छ्वास का प्रमाण बढ़ता है, शरीर में गरमी आती है, मूत्र का प्रमाण बढ़ता है और मस्तिष्क तथा नाडियों में उत्तेजन आता है। बड़ी मात्रा में देने से उलटी और जुलाब होते हैं, नाड़ी पतली होती है, जी घबराता है, शरीर ठंढा पड़ता है, पेशाब में जलन होती है और रक्त आता है तथा सर्व शरीर में शिथिलता आती है। इसलिये गंधाबिरोजा अथवा चीढ़ का तेल (टार्पिन तेल) अल्प प्रमाण में देना चाहिये। गंधाबिरोजा अथवा चीड़ का तेल वातनाशक, पित्ताश्मरीघ्न, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन, रक्तसंग्राहक, उत्तेजक, कृमिघ्न, शोथघ्न,व्रणशोधन-रोपण और दुर्गन्धनाशक है। आध्मान में तारपीन का तेल पेट पर लगाते हैं। चीड़ का तेल गोंद के साथ मर्दन कर उसमें थोडी चीनी और पानी मिलाकर देने से पेट के कृमि मरते हैं और आँतों से रक्तस्राव होता हो तो वह बंद होता है। जीर्ण कास और राजयक्ष्मा में गन्धाबिरोजा बहुत उपयोगी होता है। इससे फुप्फुस और श्वासनलिका का रक्ताभिसरण बढ़ता है, कफ कम होता है, कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है, कफ शीघ्र गिरने लगता है और कफ के साथ रक्त आता हो तो वह बंद होता है। जीर्ण बस्तिशोथ और पुराने सूजाक में गंधाबिरोजा से लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–चीड़ की लकड़ी तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दोषविलोमकर्ता, शीतशोथविलयन, वेदनास्थापन तथा व्यंगनाशक है। अर्दित, पक्षवध, अंगघात, संन्यास, अपस्मार तथा अन्य शीतल मस्तिष्क और वातव्याधियों में इसे जल में घिसकर पीने और लगाने से उपकार होता है। इससे अश्मरी खंड-खंड होकर निकल जाती है, श्लेष्मातिसार, वातज हिक्का, आध्मान, कफज्वर और कफ का नाश होता है। कंठमाला और शीतल शोथों को विलीन करने के लिये इसका लेप करते हैं। गंधाबिरोजा दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, उष्णताजनन, शोथ और ग्रन्थिविलयन, सर, वातानुलोमन, व्रणशोधन-रोपण, वातज और कफज रोगों में लाभकारी, श्लेष्मनिःसारक, मूत्रजनन, आर्तवजनन, आवीजनन और कृमिनाशन है। गंधाबिरोजा को अधिकतया सूजाक में गोली के रूप में या इसका तेल निकालकर उपयोग करते हैं। व्रणशोधन-रोपण मरहमों में इसका उपयोग करते हैं।

(२९९) तालीसपत्र।

तालीसपत्र के नाम से इस समय नीचे लिखे हुए तीन द्रव्यों का व्यवहार हो रहा है।

तालीसपत्र १।

नाम––(सं.) तालीसपत्र; (हिं.) तालीसपत्र, बर्मी, बिर्मी; (गढ़वाल) थुनेर; (कश्मीर) पोस्तुल, पोस्तिल; (अ.) जर्नब; (ले.) टेक्सस् बॅकेटा (Texus beccata)।

उत्पत्तिस्थान–हिमालय के कश्मीर, पूर्वी, पंजाब का पहाड़ी प्रदेश, गढ़वाल आदि में ६०००–१०००० फुट की ऊँचाई पर इसके सदाहरित वृक्ष होते हैं।

वर्णन–पत्तियाँ दो कतारों में निकली हुई; १–१॥ इंच लंबी $\frac{१}{१०}$ इंच चौडी, रेखाकार, चिपटी, नोकीली, ऊपरी पुष्ठ पर गहरे हरे रंग की, अधःपृष्ठ पर हलके पीले या मुरचई रंग की; पत्रवृन्त छोटा; इसमें लाल कोश से घिरा हुआ हरिताभ बीज होता है, जो शीर्ष पर खुला रहता है (वनौषधिदर्शिका)। युक्तप्रान्त, राजपूताना, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के वैद्य तालीसपत्र के नाम से इसका व्यवहार करते हैं।

गुण-कर्म—तालीस के पत्र और बीज में एक जहरीला द्रव्य होता है, जो बीज के ऊपर के लाल कोश में नहीं होता। तालीसपत्र अवसादक, संकोचविकासप्रतिबन्धक और आर्तवजनन है। अल्पमात्रा में देने से नाडी और श्वास की गति कम होती है; मध्यम मात्रा से श्वासोच्छ्वास शीघ्र चलता है और हृदय धड़कता है; बडी मात्रा से चक्कर आते हैं, आक्षेप होता है और प्राणनाश होता है। तालीसपत्र का जहर चढ़ने पर वमन होता है, नशा चढ़ता है, आंख की तारकाएँ संकुचित होती हैं और श्वासोच्छ्वास मन्द होता है। आक्षेपयुक्त रोग, श्वासनलिका के जीर्णशोथ और दमा में तालीसपत्र देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--तालीसपत्र दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, सौमनस्यजनन, हृदय मस्तिष्क और नाड़ियों को बलप्रद; उष्णताजनन दीपन और वातानुलोमन है। मन्दाग्नि, अरुचि, कफज, कास, कृच्छ्रश्वास और कफज हिक्का में इसका प्रयोग करते हैं।

---

(३००) तालीसपत्र २।

नाम–(कश्मीर) बुदुल, बुदिल; (ले.) एबिस् वेबिआना (Abies webbiana)।

वर्णन–इसके सदाहरित ऊँचे वृक्ष होते हैं। नवीन शाखाएँ प्रायः सूक्ष्म और भूरे रोमों से ढकी और झुकी हुई; पत्तियाँ १-२ इंच लंबी, १/१० इंच चौड़ी, पतली, रेखाकार, कांड से पेचदार क्रम में निकली हुई परंतु देखने में दो कतारों में निकली हुई; पत्र का ऊपरी पृष्ठ चमकीला और गहरे रंग का, पत्ती नताग्र और अग्रपर दो तीक्ष्ण और कठोर नोंकवाली; फल लंबगोल, पकने पर गहरे बैंगनी रंग के होते हैं (वनौषधिदर्शिका)। बंगाल के वैद्य इसका तालीसपत्र के नाम से व्यवहार करते हैं।

गुण कर्म–यह कोष्ठवातप्रशमन, दीपन, श्लेष्मनिःसारक और ग्राही है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(३०१) तालीसपत्र ३।

नाम–(कश्मीर) तालीशफर; (नेपाल) तालीसपत्र; (ले.) रोडोडेन्ड्रोन् एन्थोपोगोन् (Rhododendron anthopogen) यह एरिकेसी N. O. ericaceae. हेमन्तहरितादिवर्ग की बनस्पति है।

वर्णन–यह हिमालय के १०००० से १४००० फुट की ऊँचाई पर कश्मीर से नेपाल तक के प्रदेशों में होता है। सदाहरित क्षुप १–२॥ फुट ऊँचा होता है। पत्र सादे, एकान्तर, पत्र का अधःपृष्ठ रक्ताभ; भूरे रंग का (ब्राउन), ऊपर का पृष्ठ चिकना; पुष्प किंचित् पीताभ। नेपाल और पंजाब के कुछ वैद्य[1] इसका तालीस पत्र के नाम से व्यवहार करते हैं। Wild flowers of Kashmir (By B. O. Caventry) नामक ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में पृ. ६५ पर तथा Flora Kashmere (By J. Forbes Royle) नामक ग्रन्थ के दूसरे खंड में प्लेट नं. ६२ में इसका रंगीन चित्र दिया गया है।

आयुर्वेद में वर्णित तालीसपत्र के गुण-कर्म-सुश्रुते (सू. अ. ३९) शिरोविरेचनद्रव्येषु तालीसपत्रं पठ्यते। "तालीसं श्वासकासघ्नं दीपनं श्लेष्मवातजित्। मुखरोगहरं हृद्यं" (धं. नि.)। तालीसपत्रं तिक्तोष्णं मधुरं कफ-

---

(१) यह तालीसपत्र अमृतसर के वैद्य हरिशरणानंदजी से मिल सकता है।

वातनुत् । कासहिक्काक्षयश्वासछर्दिदोषविनाशकृत् ।।' (रा. नि.) । 'तालीसं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान् । निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमान्द्यक्षयामयान् ।।" (भा. प्र.) । "तालीसं तिक्तकटुकं कृमिवातकफापहम् ।।" (कै. नि.)।

तालीसपत्र तिक्त, कटु, मधुर, उष्णवीर्य, लघु, तीक्ष्ण, शिरोविरेचन तथा कफ, वात, कास, श्वास, हिक्का, क्षय, वमन, अरुचि, गुल्म, आम, अग्निमान्द्य और कृमि का नाश करनेवाला है।

वक्तव्य–डल्हण, भावमिश्र आदि ने स्थौणेयक का भाषानाम थुनेर–थुणेर लिखा है। प्रथमोक्त तालीस (ले. टॅक्सस बॅकेटा) को आजकल चकरौता गढ़वाल आदि में थुनेर कहते हैं; अतः इसको शास्त्रोक्त स्थौणेयक मानना उचित मालूम होता है। स्थौणेयक का उल्लेख चरक चि. अ. ३. अगुर्वादितैल में, चि. अ. २३. मृतसंजीवन अगद में, चि. अ. २८ बलातैल में तथा कल्पस्थान अ. १ में मदन फल-उत्कारिका–मोदकयोग में और सुश्रुत सू. अ. ३८ में एलादिगण में मिलता है। स्थौणेयक के गुण-कर्म–'स्थौणेयं कफवातघ्नं सुगन्धि कटुतिक्तकम् । पित्तप्रकोपशमनं बलपुष्टिविवर्धनम् ।।" (ध. नि.) । 'स्थौणेयकं कटु स्वादु तिक्तं स्निग्धं त्रिदोषनुत् । मेधाशुक्रकरं रुच्यं रक्षोऽश्रीज्वरजन्तुजित् । हन्ति कुष्ठास्रतृड्दाहदौर्गन्ध्यतिलकालकान् ।।" (भा. प्र.)। स्थौणेयक कटु, तिक्त, मधुर, स्निग्ध, सुगन्धि, पित्तप्रकोप को शांत करनेवाला, त्रिदोषहर, रुचिकर, बल-पुष्टि-मेधा-शुक्रकर तथा ज्वर, कृमि, कुष्ठ, रक्तविकार, तृषा, दाह, दुर्गन्ध और तिलकालक का नाश करनेवाला है। तृतीय तालीसपत्र को आधुनिक लेखकों ने सुगन्धि, उत्तेजक और छिक्काजनन लिखा है।

---

(३०२) हपुषा।

नाम--(सं.) हपुषा, हवुषा; (हि.) हाऊबेर; (क.) यठुर; (अ.) अबहल; हब्बुल अरअर; (ले.) जुनिपरस् कोम्युनिस् (Juniperus comunis) ।

उत्पत्तिस्थान–उत्तर–पश्चिम हिमालय और ईरान।

वर्णन–बाजार में इसके मटर के समान बड़े, कुछ श्यामता लिये किरमिजी रंग के और सुगन्धित फल मिलते हैं।

उपयुक्त अंग– फल।

गुण-कर्म–"हपुषा कटुतिक्तोष्णा गुरुर्वातबलासजित् । प्रवरोदरविड्बन्धशूलगुल्मार्शसां हिता ।।" (रा. नि.) । "हपुषा तुवरा तिक्ता कटूष्णा दीपनी गुरुः । ग्रहणीशूलगुल्मार्शोवातपित्तोदरापहा। (कै. नि.) ।

हाऊबेर कटु, तिक्त, कषाय, उष्णवीर्य, गुरु, दीपन तथा वायु, कफ, प्रदर, उदर, मलावरोध, शूल, गुल्म, अर्श और ग्रहणी को दूर करनेवाली है।

नव्यमत--हाऊबेर वातशामक, उत्तेजक और मूत्रजनन है। हाऊबेर उत्तम उत्तेजक मूत्रजनन है। इसकी क्रिया साक्षात् वृक्कपर होती है और इससे मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। यकृदुदर, जलोदर, हृदयोदर, पुराना सुजाक, श्वेतप्रदर और पेट के दर्द में इसका प्रयोग करते हैं।

यूनानीमत—हाऊबेर दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, श्वयथुविलयन; उपशोषण, लेखन, हलका संग्राही, वातानुलोमन, मूत्रजनन और आर्तवजनन है।

मुञ्जातकादि वर्ग ८७.

N. O. Orchidaceae (ओर्चिडेसी)

वर्गलक्षण-सपुष्प; एकबीजपर्ण; पर्ण सादे, अखंड; पुष्पवाह्यकोश के दल ६; तीन तीन के दो चक्रों में पुंकेशर १; बीजकोश अधःस्थ, ३ खंडवाला; मूल कन्दमय।

---

(३०३) मुञ्जातक।

नाम-(सं.) मुञ्जातक; (हिं.) सालममिश्री; (कु.) हथजोडी; (अ.) साल (लि) बमिश्री; (ले.) युलोफिआ कोम्पेस्ट्रिस् (Eulophia Compestris)।

वर्णन-सालममिश्री एक प्रसिद्ध कंद है। इसकी दो जातियां बाजार में मिलती हैं--(१) पंजासालम और (२) लहसुनी या लहसुनिया सालम। मुञ्जातक पंजासालम है। कन्द की आकृति हाथ के पंजे के समान होती है; इसलिये इसको पंजासालम कहते हैं।

गुण-कर्म-"बल्यः शीतो गरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः। वातपित्तहरः स्वादुर्वृष्यो मुञ्जातकः परम्॥" (च. सू. अ. २७)।

सालम मधुर, गुरु, स्निग्ध, शीतवीर्य, बलकारक, तृप्तिकारक, पौष्टिक, श्रेष्ठ वाजीकर और वात तथा पित्त का नाश करनेवाला है।

नव्यमत-सालम मस्तिष्क और नाडियों का उत्तेजक और पौष्टिक, संग्राहक, स्तंभन, जीवन, बृंहण और वयःस्थापन है। पचननलिका के दाहयुक्त रोगों में सालम हितकर है। इससे श्लेष्मा कम होता है, व्रण का रोपण होता है और अशक्तपन कम होता है। सालम पचने में हलका और संग्राहक है। अतिसार, आंव, गर्भिणी का अतिसार और कुपचन-इन रोगों में यह गुणकर अन्न है। प्रसूति के अनन्तर

तथा अति अभ्यास, अतिमथुन आदि से जो थकावट आती है उस में सालम लाभप्रद है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

मात्रा--१॥-३ माशा। इसका चूर्ण बकरी या गाय के दूध में पका, उसमें मिश्री और इलायची के बीज का चूर्ण मिलाकर देना चाहिये।

हरिद्रादि वर्ग ८८.

N. O. Scitaminaceae. (स्किटेमिनेसी)।

वर्गलक्षण–सपुष्प; एकबीजपर्ण; पर्णक्रम एकान्तर; पत्रकाण्ड को परिवेष्टित; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल २–३; पुंकेशर ९; बीजकोश अधःस्थ और तीन खण्डवाला।

(०४) हरिद्रा।

नाम–(सं.) हरिद्रा, रजनी, निशा, गौरी; (हिं.) हलदी, हल्दी; (पं.) हरदल, हरधल; (क.) लेदिर, लिधर; (कु.) हल्दो; (बं.) हलुद; (म.) हळद; (गु.) हळदर; (अ.) उरूफुस्सफर; (फा.) जर्दचोब; (ले.) कर्क्युमा लोन्गा (Curcuma longa)।

वर्णन--हलदी भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ.) लेखनीये; कुष्ठघ्ने, कण्डूघ्ने विषघ्ने; च महाकषाये तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ८) शिरोविरेचनद्रव्येषु (सू. अ. २) च तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) हरिद्रादौ, मुस्तादौ च गणे तथा श्लेष्मसंशमने वर्गे (सू. अ. ३९) च हरिद्रा पठ्यते। "हरिद्रा तु रसे तिक्ता रूक्षोष्णा विषकुष्ठनुत्। मेहकण्डूव्रणान् हन्ति देहवर्णविधायिनी॥ विशोधनी कृमिहरा पीनसारुचिनाशिनी॥" (ध. नि.) निशा तिक्ता कटु रूक्षा वर्ण्योष्णा कफपित्तहा। पाण्डुव्रणापचीमेहत्वग्दोषविषशोथजित्।" (कै. नि.)।

हलदी तिक्त, कटु, उष्णवीर्य, रूक्ष, वर्ण्य, लेखन, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, विषघ्न; शोधन तथा कफ, पित्त, पीनस, अरुचि, कुष्ठ, कण्डू, विष, प्रमेह, व्रण; कृमि, पाण्डुरोग, अपची को दूर करनेवाली है।

नव्यमत–हलदी कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, श्लेष्मघ्न, शोथघ्न, ग्राही, वातनाशक त्वग्दोषहर, कांतिवर्धक, व्रणशोधन, व्रणरोपण और स्तन्यशोधन है। हलदी श्लेष्मलत्वचा में रुक्षता लाती है और कफ कम करती है इसलिये जब श्लेष्मकला से आवश्यकता से अधिक कफ का स्राव होता हो तब हलदी देते हैं। प्रमेह में जब मूत्र गंदला, थोडा-थोड़ा और बार-बार होता हो तब हलदी और आँवले के क्वाथ से बहुत लाभ

होता है । प्रदर में हलदी और गूगल या हलदी और रसौत देते हैं नेत्राभिष्यन्द में एक भाग हलदी को दश भाग जल में पका, कपड़े से छानकर उसका नेत्र में आश्च्योतन करने और उसमें भिगोये हुए कपड़े को घड़ी नेत्र पर रखने से आँख में ठंडक मालूम होती है, पीड़ा कम होती है तथा कीचड़ और पूय आना कम हो जाता है । सूजे हुए मस्से पर हलदी को घीकुवार के रस में पीसकर लगाने से लाभ होता है । हलदी का चूर्ण मक्खन में मिलाकर मलने से त्वचा नरम होती है और बहुत से त्वग्रोग नष्ट होते हैं । व्रण पर हल्दी का चूर्ण छिड़कने से व्रण संकुचित होता है और भर आता है । मार-चोट आदि अपघातों में हलदी और गुड़ खाने को देते हैं और उसका लेप करते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(३०५) कर्चूर ।

नाम(सं.) कर्चूर; (हिं.) कचूर, नरकचूर; (कु.) बन आदो; (ब.) शटी; (म.) कचोरा; (गु.) षट्कचूरो कचूरो; (अ.) झरंबाद; (ले.) कर्क्युमा झेडोरिआ (Curcuma zedoaria) ।

वर्णन-कचूरे के कंद को काटकर सुखाये हुए टुकड़े बाजार में मिलते हैं ।

उपयुक्त अंग—कन्द । मात्रा १–२ माशा । इसका चूर्ण या फांट बनाकर उपयोग करना चाहिये ।

गुण-कर्म—"रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः । कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसां हितः ॥" (च. सू. अ. २७) । 'कर्चूरः कटुतिक्तोष्णो रुच्यो वातबलासजित् । दीपनः प्लीहगुल्मार्शःशमनः कुष्ठकासहा ॥(ध. नि.) ।

कचूर कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, रोचन, दीपन, हृद्य, सुगन्धित तथा कफ, वात, श्वास, हिक्का, अर्श, प्लीहा, गुल्म और खाँसी को दूर करनेवाला है ।

यूनानीमत—कचूर वातानुलोमन, सौमनस्यजनन, यकृत् और आमाशय को बल देनेवाला, लेखन, मुख को सुवासित करनेवाला, श्लेष्मनिःसारक, मूत्रजनन, आर्तवजनन, वाजीकर और श्वयथुविलयन है ।

---

(३०६) शटी-कपूरकचरी ।

नाम—(सं.) शटी; (हिं.) कपूरकचरी; (म., गु.) कपूरकाचरी; (ले.) हेडिचिअम् स्पाइकेटम् (Hedychium spicatum) ।

वर्णन—कपूरकचरी के कन्द को काटकर सुखाये हुए टुकड़े बाजार में मिलते हैं ।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) हिक्कानिग्रहणे, श्वासहरे च महाकषाये शटी पठ्यते । 'शटी स्यात् कटुतीक्ष्णोष्णा सन्निपातज्वरापहा । कफास्रव्रणकासघ्नी वक्त्र,

शुद्धिविधायिनी ।।" (ध. नि.) "शटी तिक्ता कटुस्तीक्ष्णा कषाया ग्राहिणी लघुः । अनुष्णा मुखवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशिनी ।। छर्दिकासव्रणश्वासशूलहिध्मा-ज्वरापहा ।।" (कै. नि.) ।

कपुरकचरी कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु, ग्राही तथा मुख का वैरस्य-मल और दुर्गंध, उलटी, कास, व्रण, श्वास, शूल, हिक्का और ज्वर को दूर करनेवाली है।

नव्यमत—कपूरकचरी दीपन और वातनाशक है। दाँत का दर्द दूर करने के लिये इसका मंजन किया जाता है। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(३०७) कुलञ्जन ।

नाम–(सं.) कुलञ्जन, मलयवचा; (हिं.) कुलंजन; (म. गु.) कुलिजन; (अ.) खुलिजान; (फा.) खुशबेदारू; (ले.) अल्पिनिआ ओफिसिनेरम् (Alpinia offisinarum) ।

वर्णन–कुलिजन के मूल-कंद के सुखाए, अंगूठे जितने मोटे और १-३ इंच लंबे टुकड़े बाजार में मिलते हैं। इसमें सुगन्ध और चरपरा (कटु) स्वाद होता है।

उपयुक्त अंग—मूल । **मात्रा**––१–२ माशा ।

गुण-कर्म–, 'कुलञ्जः कटुतीक्ष्णोष्णो दीपनो मुखदोषहृत् ॥ (रा. नि.) । "सुगन्धाऽप्युग्रगन्धा च विशेषात् कफवातनुत् । सुस्वरत्वकरी रुच्या हृत्कण्ठमुख-शोधिनी ।।" (भा. प्र.)

कुलंजन कटु, तीक्ष्ण, सुगंधि, दीपन, रुचिकर, स्वर को सुधारनेवाला, छाती-कण्ठ और मुख का शोधन करनेवाला तथा कफ की खाँसी को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—कुलंजन उष्ण, दीपन, पाचन, वातनाशक, उत्तेजक और बाजीकर है। बच्चे बोलते न हों या स्पष्ट उच्चारण न कर सकते हों तो उनको कुलंजन चबाने को देते हैं। मुख की दुर्गन्धि दूर करने तथा वाजीकरण के लिये इसको मुंह में रखते हैं। मधुमेह में पेशाब कम करने के लिये कुलंजन का फांट देते हैं। पसीना अधिक आकर शरीर ठंडा हो तो कुलंजन का चूर्ण शरीर पर मलते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत––कुलंजन दूसरे दर्जे में गरम और रूक्ष, सौमनस्यजनन, हृदय-आमाशय और शीतल यकृत् को बल देनेवाला, उष्णताजनन, सौदा और कफज रोग नाशक, वातानुलोमन, मुख को सुवासित करनेवाला, कफनिःसारक, लाला-प्रसेकजनन, शीतजन्यवेदनाहर, लेखन और वाजीकर है।

(३०८) इलायची-एला ।

नाम–(सं.) एला, त्रुटि; (हिं.) इलायची; (बं.) एलाइच्; (म.) वेलची, वेलदोडे; (गु.) एलची; (पं.) एलाची; (सिं.) एलाची, फोटा;

(अ.) काकुलः (फा.) हील; (ले.) इलेटेरिआ कार्डेमोमम् (Elettaria Cardamomum) ।

वर्णन–इलायची प्रसिद्ध सुगन्धित द्रव्य है। इसकी दो जातियाँ होती हैं-(१) छोटी और (२) बड़ी। नाम छोटी इलायची के (सं.) सूक्ष्मैला, द्राविडी; (हिं.) छोटी इलायची, गुजराती इलायची, सफेद इलायची; (गु.) एलची, मलबारी एलची, कागदी एलची; (अ.) काकुलः सिगार, शूसमीर; (फा.) हील बवा, हील उन्सा, इलायची खुर्द, इलायची सफेद। नाम बड़ी इलायची के (सं) स्थूलैला, भद्रैला; (हिं.) बड़ी इलायची, लाल इलायची; (गु.) एलचा; (अ.) काकुले कुबार; (फा.) हील कलाँ; इलायची सुर्ख; (ले.) एमोमोम् सब्युलेटम् (Amomum subulatum) ।

गुण-कर्म––चरके (सू. अ.२) शिरोविरेचनद्रव्येषु (सू. अ. ४) श्वासहरे, अङ्गमर्दप्रशमने च महाकषाये तथा कटुकस्कन्धे (वि. अ. ८) एला पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) एलादिगणे एला पठ्यते। "सूक्ष्मैला मूत्रकृच्छ्रघ्नी श्वासकासक्षये हिता। सूक्ष्मैला शीतला स्वादी हृद्या रोचनदीपनी ॥" (ध. नि.) । "भद्रैला कटुका पाके रसे पित्ताग्निकृल्लघुः । रूक्षोष्णा रोचनी श्वासकासवातास्रपित्तहा ॥ हन्ति हृल्लासतृट्कण्डूशिरोबस्त्यास्यरुग्वमीः ॥" (कै. नि.) ।

छोटी इलायची—कटु, मधुर, शीतवीर्य, शिरोविरेचन, हृद्य, रोचन, दीपन तथा श्वास, अंगमर्द, मूत्रकृच्छ्र, खाँसी और क्षय को दूर करनेवाली है। बड़ी इलायची रस और विपाक में कटु, पित्त और अग्निवर्धक, लघु, रूक्ष, उष्णवीर्य तथा श्वास, खाँसी, वात, रक्तपित्त, हृल्लास, तृषा, कण्डू, शिरोरोग, बस्तिरोग, मुखरोग और वमन को दूर करनेवाली है।

नव्यमत–इलायची सुगन्धित, रोचन, दीपन, पाचन, वातनाशक और उत्तेजक हैं। मात्रा ५-१० रत्ती। पचन नलिका के शैथिल्यप्रधान या दाहप्रधान रोगों में इलायची से बहुत लाभ होता है। अन्त्ररस कम उत्पन्न होता हो और पित्तस्राव ठीक न होता हो तब इलायची देते हैं। हृल्लास, वमन, उदरशूल और आध्मान में इलायची देते हैं। नाड़ीशूल में इलायची १५ रत्ती थोड़ा (२-३) ग्रेन कुनैन मिलाकर देने से बहुत लाभ होता है।

यूनानीमत–छोटी इलायची-दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दीपन, वातानुलोमन, सौमनस्यजनन और अवसादक है। वातज उदर शूल, शीतल हृत्स्पन्दन, उबकाई (उत्क्लेश) और वमन निवारण के लिये छोटी इलायची का उपयोग करते हैं। बड़ी इलायची––दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, मनःप्रसादक और मुख को सुगन्धित करनेवाली है। मन्दाग्नि, आध्मान, उदरशूल और अतिसार में इसका प्रयोग करते हैं।

---

(३०९) आर्द्रक और शुण्ठी ।

नाम-आर्द्रक-(सं.) आर्द्रक, शृङ्गबेर, विश्वभेषज; (हि.) अदरक; आदी; (कु.) आदी; (बं.) आदा; (म.) आलें; (गु.) आदु। **नाम-सोंठ**-(सं.) शुण्ठी, शृङ्गबेर, नागर, विश्वभेषज; (हिं.) सोंठ; (म.) सुंठी; (गु.) सुंठ; (अ. फा.) जंजबील; (फा.) शांगबीर; (लि.) झिन्जिबर ऑफिशिनेल् (Zingiber officinale) ।

वर्णन-अदरक भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध हैं सुखाये हुए अदरक को सोंठ कहते हैं ।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. ४) दीपनीय, शूलप्रशमने च महाकषाये शृङ्गबेरं पठयते । सुश्रुते (सू अ. ३८) पिप्पल्यादिगणे, त्रिकटुकगणे च शृङ्गबेरं पठ्यते । "नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु । वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम् ।। "कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत् । कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम् ।।" (सु. सू. अ. ४६) । "रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम् । वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ।।" (च. सू. अ.२७) ।

सोंठ-कटु, मधुरविपाक, किंचित् स्निग्ध, लघु, उष्णवीर्य, दीपन, रोचन, हृद्य तथा कफ और वातनाशक है । अदरक कटु, उष्णवीर्य स्वर को हितकर, रोचन, हृद्य, वृष्य, दीपन तथा विबन्ध, आनाह और शूल को दूर करनेवाला है । वात, कफ और विबन्ध में अदरक का रस देना चाहिये ।

नव्यमत-सोंठ सुगन्धित, उष्ण, वातनाशक, संकोचविकासप्रतिबन्धक, उत्तेजक और कफघ्न है । मात्रा-५-१० । सोंठ से पचनक्रिया अच्छी होती है और पेट में वायु का संचय नहीं होता । सब प्रकार की पीड़ा को शांत करने के लिये सोंठ का उपयोग करते हैं । जीर्ण संधिशोथ में एक तोला सोंठ का फांट रात को सोते समय पीनेसे नींद आती हैं । पेट के फूलने से छाती में दर्द होता हो तो सोंठ देने से वायु सरता है और छाती की पीड़ा शांत होती है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

------

(३१०) वनहरिद्रा ।

नाम-(सं.) वनहरिद्रा, अरण्यहरिद्रा; (हिं.) आमाहलदी, आंबाहलदी; (म.) आंबेहळद; (गु.) आंबाहळदर; (ले.) कर्क्युमा एरोमेटिका (Curcuma aromatica) ।

उत्पत्तिस्थान-मैसूर और मलाबार ।

वर्णन-यह जंगलों में स्वयंजात होती है और लगाई भी जाती है । इसके बाजार में हलदी के रंग के मोटे कंद मिलते हैं । गंध हलदी की अपेक्षया तीक्ष्ण और किंचित् कर्पूरसदृश होती है ।

गुण-कर्म—"अरण्यरजनीकन्दः कुष्ठवातास्रनाशनः। सर्वदोषविषघ्नश्च हिध्माश्वसनकासजित् ॥" (कै. नि.)।

आमाहलदी कुष्ठ, वातरक्त, सर्वदोष, विष, हिक्का, श्वास और कास को दूर करनेवाली है।

नव्यमत·—इसके गुण-कर्म हलदी के समान हैं। कण्डू, मार, चोट, सूजन आदि में इसका लेप करते हैं। (डॉ· वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग—कन्द। मात्रा-१॥-३ माशा।

------

(३११) आम्रगन्धिहरिद्रा।

नाम-(सं.) आम्रगन्धिहरिद्रा; (बं.) आम आदा; (म.) पांढरी हळद; (गु.) सफेद (धोळी) हळदर; (ले.) कर्क्युमा आमाडा (Curcuma amada)।

वर्णन-कलकत्ता, बंबई आदि में सफेद हलदी के अदरक जैसे कंद मिलते हैं। इनका अचार, चटनी आदि बनाया जाता है।

गुण-कर्म—आम्रगन्धिहरिद्रा तु शीतला वातपित्तहृत्। पाचनी स्वादुतिक्ता च वृष्या कण्डूविनाशिनी ॥

सफेद हलदी मधुर, तिक्त, शीतल, पाचन, वृष्य तथा वात, पित्त और कण्डू को मिटानेवाली है।

नव्यमत—सफेद हलदी दीपन और वातनाशक है। इसके गुण-धर्म अदरक के समान हैं। परंतु अदरक उष्ण और यह शीतल है। जब दीपन, वातनाशक और शीतल द्रव्य की आवश्यकता हो तब इसका उपयोग करते हैं। इसका लेह बनाकर देते हैं। (डॉ वा. ग. देसाई)।

------

(३१२) कदली—केला।

नाम—(सं.) कदली, मोचा, रम्भा; (हिं.) केला; (बं.) कला; (म.) केळ; (गु.) केळा; (अ., फा.) मौज तल्ह; (ले.) म्युसा सेपिएन्टम् (Musa sapientum)।

वर्णन—केला भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म—"मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम्। रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ॥" (सु. सू. अ. ४६)। "कदल्यास्तु फलं स्वादु कषायं नातिशीतलम्। रक्तपित्तहरं रुच्यं वृष्यं कफकरं गुरु ॥ कन्दस्तु वातलो रूक्षः शीतोऽसृक्कृमिकुष्ठनुत् ॥" (ध. नि.)। "मोचा गुर्वी हिमा स्निग्धा स्वाद्वी पित्तास्र-

नाशनी । योनिदोषभ्रमहरा तत्काण्डं गुरुशीतलम् । बल्यः कदल्या कन्दस्तु कफपित्तहरो लघुः । वातलो रक्तशमनः कषायो रूक्षशीतलः ॥ कर्णशूलं रजोदोषं सोमरोगं नियच्छति । रम्भातोयं शीतलं ग्राहि तृष्णाकृच्छ्रान्मेहान् कर्णरोगातिसारान् । अस्थिस्रावं स्फोटकान्रक्तपित्तं दाहं हन्यादस्रयोनिं विशेषात् ॥ कदलीकुसुमं तिक्तं कषायं ग्राहि दीपनम् । उष्णवीर्यं बलासघ्नं" (कै. नि.) ।

केला रस में मधुर, कषायानुरस, किंचित् शीतल, रुचिकारक, वृष्य, गुरु, कफकारक, स्निग्ध तथा रक्तपित्त, पित्त, रक्तप्रकोप, योनिरोग और भ्रम को दूर करनेवाला है । केले का कन्द कषाय, रूक्ष, शीतवीर्य, बलकारक, वातकर तथा रक्तविकार, कृमि, कुष्ठ, कफ, पित्त, कर्णशूल, रजोदोष और सोमरोग को दूर करनेवाला है । केले का काण्डस्तम्भ गुरु और शीतल है । केले का जल शीतवीर्य ग्राहि तथा तृषा, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, कर्णरोग, अतिसार, अस्थिस्राव, विस्फोटक, रक्तपित्त, दाह और रक्तप्रदर को दूर करनेवाला है । केले के फूल तिक्त, कषाय, ग्राही, दीपन, उष्णवीर्य और कफनाशक हैं ।

नव्यमत—केले के पंचांग को जलाकर बनाये हुए क्षार में अधिकांश यवक्षार होता है । पक्का केला छाल समेत जलाने से कोयला ७॥, चूना ७, यवक्षार ४५, सर्जिकाक्षार ६, लवणाम्ल और यवक्षार का मिश्रण २५ तथा तेजोवहाम्लक्षार (पोटेशिअम् फोस्फेट) ५। प्रतिशत मिलता है । काण्ड के स्वरस में यवक्षार २५।, सर्जिकाक्षार ९॥, चूना १५॥। और मेग्नेशिया ५ प्रतिशत होता है। अच्छे पके केले में २२ प्रतिशत शर्करा होती है । पका हुआ केला बल्य, रक्तपित्तप्रशमन, शोणितास्थापन, संग्राहक और जीवनीय है । कच्चे केले की छाल निकाल, सुखाकर बनाया हुआ आटा बल्य और संग्राहक है । काण्ड का स्वरस स्वेदजनन और तृष्णानिग्रहण है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

केशरादि वर्ग ८९.

N. O. Iridaceae. (इरिडेसी) ।

वर्गलक्षण--सपुष्प; एकबीजपर्ण एकान्तर, पतले, लंबे; पुष्प विविध रंग के; पुष्पबाह्यकोश के दल ३; नरकेशर ३; बीजकोश ३ खण्डवाला और अधरस्थ ।

(३१३) केशर ।

नाम--कुङ्कुम, रुधिर; संकोच; (हिं., म.; गु.) केस (श) र; (फ.) कुंग, कोंग; (बं.) कुमकुम्; (अ.) जाफरान; (फा.) कारकीमास; (ले.) क्रोकस सेटाइवस (Crocus sativus) ।

उत्पत्तिस्थान—काश्मीर, ईरान और स्पेन ।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) शोणितास्थापने महाकषाय (रुधिर नाम्ना) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) एलादिगणे कुङ्कुमं पठ्यते । 'कुंकुमं कटुकं तिक्तमुष्णं श्लेष्मसमीरजित् । व्रणदृष्टिशिरोरोगविषहृत् कायकान्तिदम् ।।" (ध. नि.) । "कुङ्कुमं कटुकं स्निग्धं शिरोरुग्व्रणजन्तुजित् । तिक्तं वमिहरं वर्ण्यं व्यङ्गदोषत्रयापहम् ।।" (भा. प्र.) ।

केसर कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, स्निग्ध, शरीर की कांति सुधारनेवाला तथा कफ, वात, व्रण, नेत्ररोग, शिरोरोग, विष, व्यंग, कृमि और तीनों दोषों को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत—केसर दीपन, पाचन, रुचिकर, वेदनास्थापन, संग्राहक, संकोचविकासप्रतिबन्धक और कामोत्तेजक है । मात्रा–५-२० रत्ती; पीड़ितार्तव में केशर पूर्ण मात्रा में देने से पीड़ा शान्त होती है और रक्त ठीक पड़ने लगता है । इस रोग में केशर की गोली बनाकर योनि में रखवाते हैं । स्तन पर केसर का लेप करने से दूध बढ़ता है । बच्चों के सरदी-जुकाम में केसर दूध में मिलाकर पिलाते हैं और कपाल, नाक तथा छाती पर केसर का लेप करते हैं । मसूरिका–रोमान्तिका आदि में दाने बाहर आने के लिये केसर देते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत—केसर दूसरे दर्जे में गरम, पहले दर्जे में खुश्क, मनःप्रसादकर, मूत्रजनन, आर्तवजनन, संग्राही, श्वयथु विलयन, लेखन, कामोत्तेजक, हृदय-मस्तिष्क और शरीर को बलप्रद, तथा अन्य औषधियों के अहितकर गुणों को दूर करनेवाला है ।

---

(३१४) हैमवतीवचा–बालवच ।

नाम—(सं.) हैमवती, पारसीकवचा; (क.) मजारपोश, मजारमुंड; (हिं.) बालवच; (म.) बाळवेखंड (गु.) बाळवज; (अ.) ईर्सा, सोसन; (ले.) आइरिस वर्सिकलर् (Iris versicolor) ।

उत्पत्तिस्थान—ईरान और काश्मीर ।

वर्णन—कश्मीर में यह अधिकतया मुसलमानों की कब्र पर लगाई हुई देखने में आती है, इसलिये वहाँ उसको मजारपोश (मजार–कब्र, पोश–फूल) या मजारमुंड (मुंडमूल) कहते हैं । इसका क्षुप देखने में बच के जैसा होता है । यह सफेद, लाल और आसमानी फूलवाली होती है । हकीमों ने सफेद फूलवाली को सोसन और आसमानी फूलवाली को ईरसा माना है ।

उपयुक्त अंग—मूल । यह यूनानी दवा बेचनेवाले पनसारियों के यहाँ बेखसोन नाम से मिलती है ।

गुण-कर्म—चरके षोडशमूलिनीषु (सू. अ. १), लेखनीये महाकषाये (सू. अ. ४) तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) मुस्तादौ गणे हैमवती पठ्यते ।

यूनानी मत--सोसन दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, दोषों को पतला करनेवाली, कफ-पित्तविरेचन, श्वयथुविलयन, लेखन, कफनि:सारक, व्रणशोधन-रोपण छिक्काजनन तथा प्रतिश्याय, कास, कृच्छ्रश्वास फुपफुसशोथ, पार्श्वशूल, उर:शूल, सुप्तता, पक्षवध, आमवात और कण्ठमाला में गुणकारक है ।

तालमूल्यादि वर्ग ९०.

N. O. Amaryllidaceae. (अॅमेरिलिडेसी) ।

वर्गलक्षण-सपुष्प; एकबीजपर्ण; पत्र लोमयुक्त; पुष्पबाह्यकोश के दल ६; पुंकेशर ६; बीजकोश ३ खण्डवाला और अध:स्थ ।

---

(३१५) तालमूली ।

नाम-(सं.) तालमूली, मुसली; (हिं.) काली मुसली, स्याह मुसली; (म., गु.) काळी मुसळी; (ले.) कर्क्युलिगो ऑर्किओइडिस् । (curculigo orchioides) ।

गुण-कर्म-"मुसली मधुरा शीता वृष्या पुष्टिबलप्रदा । पिच्छिला कफवा पित्तदाहश्रमहरा परा ॥" (रा. नि.) । 'मुसली मधुरा गुर्वी तिक्ता वृष्याच सायनी । वीर्योष्णा बृंहणी हन्ति दुर्नामानि प्रभञ्जनम् ॥ (कै. नि.) ।

काली मुसली मधुर, तिक्त, शीतवीर्य, गुरु, पिच्छिल, वाजीकर, रसायन, पौष्टिक, बल्य; कफकर तथा पित्त, दाह, थकावट, अर्श और वायु का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत--काली मुसली में स्निग्धद्रव्य १½, राल और कषायद्रव्य ४, लुआब २०, पिष्ट (श्वेतसार) ४३½ और जल ४½ प्रतिशत होता है । सूखे कंद से ८½ प्रतिशत राख मिलती है, उसमें चूना होता है । काली मूसली स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य और वृष्य है । इसकी क्रिया विशेषकर मूत्रमार्ग पर होती है । काली मुसली की दूध के साथ बनाई हुई पेया सुजाक; मूत्रकृच्छ्र और अत्यार्तव में देते हैं ।

वराहकन्दादि वर्ग ९१.

N. O. Taccaceae. (टॅकेसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प एकबीजपर्ण; पुष्प गुच्छों में लगते हैं ।

---

(३१६) वाराहीकन्द ।

नाम–(सं.) वराहकन्द; (हि.) वाराहीकंद; ((म.) डुकरकन्द; (गु.) डुक्करकन्द; (ले.) टेका एस्पेरा (Tacca aspera) ।

वर्णन—वाराहीकन्द की लता होती है । पत्र नागर पान के समान; कन्द लम्बा, काला, वराहलोमसदृश लोम से आवृत होता है । छिलका निकालने पर कन्द का रंग पिलाई लिये सफेद होता है । कई लोग गेंठी को वाराहीकंद मानते हैं; परंतु वह इससे भिन्न है ।

गुण--कर्म–वराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः । मेहकुष्ठोकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः । (सु सू. अ. ४६) ।

वराहकंद रस और विपाक में कटु, बल्य, वृष्य, रसायन तथा कफ, प्रमेह; कुष्ठ और कृमि का नाश करनेवाला है ।

रसोनादि वर्ग ९२.

N. O. Liliaceae. (लिलीएसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; एकबीजपर्ण; पर्णविन्यास अभिमुख; पत्र सादे, अवृन्त; फुल मध्यदण्ड के सिरे पर लगे हुए; पुंकेशर ६ दो चक्रों में; बीजकोश उपरिस्थ ६ खण्डवाला ।

---

(३१७) रसोन ।

नाम--(सं.) रसोन, लशुन; (हिं.) लहसुन; (क.) रोहन; (बं.) रशुन; (कु.) लासण; (म.) लसूण; (गु.) लसण; (मा.) लहसण; (पं., सिं.) थूम; (अ.) सूम, फूम; (फा.) सीर; (ले.) एलिअम् सेटाइवम (Allium sativum) ।

वर्णन--लहसुन भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है ।

गुण-कर्म--"कृमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः । स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः ॥" (च. सू. अ. २७) । "स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्य । वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षुर्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥ हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूलविबन्धगुल्मारुचिकासशोषान् । दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तुसमीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥" (सु. सू. अ. ४६) ।

लहसुन कटु, मधुर, गुरु, स्निग्ध, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, पिच्छिल, सर, बल्य, वृष्य, मेधा, स्वर और नेत्र की ज्योति को बढ़ानेवाला, भग्न अस्थि का सन्धान करनेवाला तथा कफ, वात, कृमि, कुष्ठ, किलास, गुल्म, हृद्रोग, जीर्णज्वर, उदरशूल, विबन्ध, कास, अरुचि, राजयक्ष्मा, अर्श, अग्निमान्द्य और श्वास को मिटानेवाला है ।

नव्यमत–लहसुन में एक उड़नेवाला तैल होता है। लहसुन उष्ण, लघु, दीपन, वातनाशक, कृमिघ्न, उत्तेजक, कफघ्न, कोथप्रशमन, मूत्रजनन और बल्य है। लहसुन का तैल त्वचा, फुफ्फुस और मूत्रपिंड द्वारा उत्सृष्ट होता है। इससे श्वासनलिका का कफ शिथिल होकर सरलता से निकलने लगता है, कफ की दुर्गन्ध कम होती है और रोगजन्तुओं का नाश होता है। नाड़ीव्यूह पर इसकी जोरदार उत्तेजक क्रिया होती है। गृध्रसी, पृष्ठग्रह, अर्दित, पक्षवध, एकांगरोग, ऊरुस्तम्भ, सन्धिवात आदि वातरोगों में लहसुन का क्षीरपाक करके देते हैं और लेप करते हैं। लेप अधिक समय तक रखना नहीं चाहिये, क्योंकि इससे शरीर पर फोड़ा हो जाता है। हृद्रोग में लहसुन देने से पेट का फूलना कम होकर हृदय पर का दवाव कम होता है, हृदय को शक्ति मिलती है और पेशाब छुटने लगता है। (डॉ.वा. ग. देसाई)।

काश्यपसंहिता के कल्पस्थान में **लशुनकल्प** नामक स्वतन्त्र अध्याय है। इसमें अम्ल रस को छोड़कर अन्य पाँचों रस विद्यमान हैं, इसलिये इसको रसोन कहते हैं।

---

(३१८) पलांडू–प्याज।

नाम–(सं.) पलाण्डू; (हि.) प्याज; (पं.) गंडा; (क.) प्राण; (बं.) पेंयाज; (म.) कांदा; (गु.) डुंगळी, डुंगरी, कांदो; (सि.) बसर; (अ.) वस्ल; (फा.) पियाज; (ले.) एलियम् सेपा (Allium cepa)।

वर्णन—प्याज भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म–"श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च पलाण्डुर्न च पित्तनुत्। आहारयोगी बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथ रोचनः" (च. सू. अ. २७)। "नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च तीक्ष्णोऽगुरुर्नातिकफावहश्च। बलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित् पलाण्डुरग्निं परिवर्धयेत्तु॥ (सु. सू. अ. ४६)।

प्याज, कुछ उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, कुछ कफ और पित्तकर, बलकारक, आहारयोगी, वाजीकर, रोचक, अग्निवर्धक तथा वातघ्न है।

नव्यमत–प्याज में एक कटु और उग्रगन्धि तेल तथा गन्धक होता है। प्याज उष्ण, लघु, कटु उत्तेजक, आनुलोमिक, कफघ्न और मूत्रजनन है। इससे कफ पतला होकर गिरने लगता है और नया कफ उत्पन्न होना बंद होता है। आँतों की शक्ति बढ़कर दस्त साफ होने के लिये तथा अर्श, गुदभ्रंश और कामला में प्याज देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–प्याज तीसरे दर्जे में गरम और पहले में खुश्क, श्वयथुविलयन, दोषपाचन, छेदन, श्लेष्मनिःसारक, लेखन, वाजीकर, मूत्रजनन, आर्तवजनन और

व्रणशोथपाचन है । हैजें में प्याज के रस के साथ चूने का पानी मिलाकर पिलाते हैं । प्याज के बीज दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, वाजीकर और लेखन हैं । इन्हें शहद के साथ पीसकर खालिज, व्यंग और झाई पर लगाते हैं ।

---

(३१९) कुमारी ।

नाम--(सं.) कुमारी, गृहकुमारी; (हिं.) घीकुआंर, ग्वारपाठा; (कु.) पतकुंवार; (प.) कुवारगंदल; (म.) कोरफड, कोरफांड; (गु.) कुंवार; (कच्छ) लेपरी; (अ.) सब्बारत; (ले.) एलोवेरा (Aloevera) ।

वर्णन—ग्वारपाठा भारतवर्ष में सर्वत्र होता है घोर प्रसिद्ध है ।

गुण-कर्म—'कुमारी भेदनी तिक्ता शीता नेत्र्या रसायनी । मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत् ।। गुल्मप्लीहयकृद्वृद्धिकफज्वरहरी हरेत् । ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान् ।।" (भा. प्र.) ।

ग्वारपाठा तिक्त, मधुर, शीतवीर्य भेदन, नेत्र के लिये हितकर, रसायन, बलकारक, वाजीकर तथा वात, बिष, गुल्म, प्लीहवृद्धि, यकृवृद्धि, कफ, ज्वर, ग्रन्थि, अग्निदग्ध, विस्फोटक, पित्त, रक्तविकार और त्वचा के रोगों को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत—ग्वारपाठा का रस कड़ुआ, शीतल, दीपन, पाचन, विरेचन, मूत्रजनन, बल्य, शोणितास्थापन, श्वयथुहर, दाहप्रशमन और व्रणरोपण है । अल्पमात्रा में एलुआ तिक्त, दीपन, पाचन और बल्य है । इससे पचन नलिका और यकृत् की क्रिया सुधरती है । बड़ी मात्रा में एळुआ विरेचन, मूत्रजनन, आर्तवजनन और कृमिघ्न है । एलुआ का लेप शोथहर और व्रणरोपण है । ग्वारपाठा का रस नेत्राभिष्यन्द, स्तनशोथ, विद्रधि, अर्श और अग्निदग्ध पर हलदी का चूर्ण मिलाकर या विना हलदी मिलाये लगाने से शोथ और दाह कम होता है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(३२०) कोलकंद-जंगली प्याज ।

नाम--(सं.). कोलकन्द, बनपलाण्डु, (क.) बनप्राण, (हिं.) जंगली प्याज, कांदा, (म.) रानकांदा, कोलकांदा, (गु.) जंगली कांदो, पानकंदो, (अ) उन्सुल, (फा.) पियाज सहराई, (ले.) अर्जिनिआ इन्डिका (Urginea indica) ।

वर्णन-जंगली प्याज कंद देखने में प्याज के समान होता है । पत्र प्याज से बड़े और चौड़े होते हैं । ताजा कंद खाने से जीभ पर कण्डू मालूम होती है । स्वाद कटु और तिक्त होता है । औषधार्थ प्रथम वर्ष का नीबू जितना बड़ा कांदा लेना चाहिये ।

गुण-कर्म—कोलकन्दः कटुश्चोष्णः कृमिकासकफापहः । उत्क्लेशवान्तिजननो हृद्यः श्वासनिवारणः” ।

जंगली प्याज कटु, उष्णवीर्य, उत्क्लेश और वमन करानेवाला, हृद्य तथा कफ, कृमि, कास और श्वास को दूर करनेवाला है ।

नव्यमत—जंगली प्याज की क्रिया डिजिटेलिस के समान होती है । यह अल्पमात्रा में स्वेदजनन, मूत्रजनन, कफघ्न और हृदयबल्य है । बडी मात्रा में इससे वमन और विरेचन होता है तथा आमाशय और अन्त्र का दाह होता है । जंगली प्याज अन्त्र, वृक्क और फुफ्फुस द्वारा उत्सृष्ट होता है । आंतों से निकलते समय मल को पतला करता है, वृक्क से निकलते समय मूत्र का प्रमाण बढ़ाता है और फुफ्फुस से निकलते समय कफ को पतला करता है । इससे हृदय को शक्ति मिलती है और हृदय का स्पन्दन स्पष्ट मालूम होने लगता है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत—जंगली प्याज गरम, खुश्क, श्वयथुविलयन, दोषपाचन, व्रणकारक, शोणितोत्क्लेशक, विषघ्न, मूत्रजनन, आर्तवजनन, कफनिःसारक और उदर कृमिनाशक है ।

(३२१) लाङ्गली ।

नाम—(सं.) लाङ्गली, कलिहारी, विशल्या; (हिं.) कलिहारी; (बं.) बिषलाङ्गलिया, ईशलाङ्गल; (म.) खड्या नाग, कळलावी; (गु.) दूधियो बछनाग; (ले.) ग्लोरिओझा सुपर्बा (Gloriosa superba) ।

वर्णन—वर्षा के आरम्भ में इसकी लता होती है । श्रावण-भाद्रपद में इसमें पिलाई लिये हुए लाल रंग के ५-६ अंगुल लंबे पुष्प लगते हैं । कन्द सरल नहीं परंतु एक बाजूपर हलवत् कुंचित होता है । कन्द श्वेत, मृदु, मांसल और स्वाद में तिक्त होता है ।

उपयुक्त अंग—कन्द ।

गुण-कर्म—“लाङ्गली कटुरुष्णा च कफवातविनाशनी । तिक्ता सरा च श्वयथुगर्भशल्यव्रणापहा ॥” (ध. नि.) “लाङ्गली कटुका तिक्ता सक्षारा पित्तला सरा । तीक्ष्णोष्णा गर्भहा लघ्वी बस्तिशूलनिबर्हणी ॥ बलासकुष्ठशोफार्शोव्रणजन्तुविनाशिनी ॥” (कै. नि.) ।

कलिहारी कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, लघु, सारक, गर्भपात करानेवाली तथा कफ, वात, शोथ, व्रण, बस्तिशूल, कुष्ठ, अर्श और कृमि का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत—कलिहारी कटु, उष्ण, दीपन, बल्य, वामक, रेचन और गर्भनाशक है । इससे आक्षेप और पचननलिका तथा गर्भाशय का दाह होता है । १-२ गुंजा की

मात्रा में देने से भूख और शक्ति बढ़ती है। कलिहारी के कंद के टुकड़े कर, चार पाँच दिन तक्र में भिगो, गरम जल से धोकर सुखा लेने से इसका विष कम हो जाता है। छाछ प्रतिदिन नया डालना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(३२२) जंगली उश्बा (उशबा)।

नाम--(हिं.) रामबातून, जंगली उशूबा; (म.) घोटवेल; (ले.) स्माइलक्स् झेलिनिका (Smilax zeylanica)।

वर्णन—इसकी विशाल काँटेदार आरोही लता होती है। पत्र लंबे चौड़े नोकदार और ५-७ मोटी शिराओं से युक्त होते हैं। मूल रक्ताभ होता है।

जंगली उशबा स्वेदजनन, मूत्रजनन, पौष्टिक और रसायन है। उपदंश की द्वितीयावस्था, जीर्ण आमवात, संधिशोथ, फोड़े-फुन्सी, अस्थिशोथ, जीर्ण त्वग्रोग, सुजाक और गण्डमाला में जंगली उशबा देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग-मूल। **मात्रा**-१-२ तोला चूर्ण का क्वाथ करके देना चाहिये।

---

(३२३) चोपचीनी।

नाम--(सं.) द्वीपान्तरवचा; (हिं.) चोब (प.) चीनी; (गु., म.) चोपचीनी; (बं.) तोपचिनि; (अ.) अस्लुस्सीनी; (फा.) चोबचीनी; (ले.) स्माईलेक्स् चायना (Smilax china)।

उत्पत्तिस्थान--चीन और जापान। **उपयुक्त अंग**--कन्द। **मात्रा**-३-माशा, चोपचीनी के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये, इसके क्वाथ से चूर्ण जितना लाभ नहीं होता।

गुण-कर्म-"द्वीपान्तरवचा किञ्चित्तिक्तोष्णा वह्निदीप्तिकृत्। विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी॥ वातव्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम्। व्यपोहति विशेषेण फिरङ्गामयनाशिनी॥" (भा. प्र.)।

चोपचीनी कुछ तिक्त और उष्ण, अग्निदीपन, मल और मूत्र को साफ लानेवाली तथा विबन्ध, आध्मान, शूल, वातरोग, अपस्मार; उन्माद, शरीर की पीड़ा और फिरंगरोग को दूर करनेवाली है।

नव्यमत-चोपचीनी स्नेहन, स्वेदजनन, वातहर, वेदनास्थापन, रक्तशुद्धिकर, पौष्टिक और रसायन। चोपचीनी की मुख्य क्रिया त्वचा, स्नायु (सन्धिबन्धन) और रसग्रन्थियों पर होती है। उपदंश और सुजाक से उत्पन्न सन्धिशोथ, सन्धिबन्धन की दृढ़ता, उपदंश की द्वितीय और तृतीयावस्था—इन रोगों में चोपचीनी से विशेष लाभ होता है। इससे प्रथम पीड़ा कम होती है और पीछे सूजन उतरती है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--चोबचीनी दोषों को पतला करनेवाली, स्वेदन, रक्तप्रसादन, उत्तमांगों को बलप्रद, मूत्रजनन, आर्तवजनन; बाजीकर, निद्राजनक और संशमन है। कुष्ठ, फिरंग व्रण, दद्रू, कच्छू, वातज शोथ, पुराना शिर:शूल और प्रतिश्याय बृद्धि, बिभ्रम, उन्माद, मद; पक्षवध, कंपवात; अर्श; भगंदर, अर्शोजात, अतिसार गर्भाशय के रोग, आमबात और वातज्वर में चोपचीनी का प्रयोग किया जाता है।

---

(३२४) सुरंजान मीठा और कडवा।

नाम—(हिं., म., गु.) सुरंजान; (फा.) सूरिंजान; (क.) विरवयुम; (ले.) कोल्चिकम् ल्युटिअम् (Colchicum luteum)।

वर्णन—सुरंजान की दो जातियाँ होती हैं-(१) सुरंजान मीठा (फा. सूरिजाने शीरी) और (२) सुरंजान कडुआ (फा. सूरिजाने तल्ख)। सुरंजान कड़वा काश्मीर से और सुरंजान मीठा ईरान से यहाँ आता है। सुरंजान मीठा सिंघाडे के मग्ज के जैसा होता है। सुरंजान कडुआ, पीला, स्वाद में तिक्त और आकार में मीठे से छोटा होता है। हकीम लोग मीठे सुरंजान को खाने और कडुए को वाह्य प्रयोग के काम में लेते हैं।

गुण-कर्म—सुरंजान कडुआ पचननलिका का उत्तेजक है, इसलिये इससे वमन और विरेचन होता है; यकृत के उत्तेजक होने से पित्त का स्राव ठीक होता है और वृक्कोत्तेजक होने से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है। बड़ी मात्रा में देने से दाह होकर कंफ (मद) चढ़ता है और ग्लानि आती है। अल्प प्रमाण में देने से जीवनविनिमयक्रिया सुधारती है। इसको सुगन्धि द्रव्यों के साथ देना चाहिये। जीवनविनिमयक्रिया बिगड़ कर कभी कभी संधियों में क्षार जमता है तथा उनमें शोथ और असह्य पीड़ा होती है; रक्तवाहिनियाँ मोटी होने से हृदय शिथिल होकर बढ़ता है तथा उदर और शोथ होता है, मूत्र गाढ़ा होता है और उसमें लाल रंग के क्षार आते हैं। ऐसी स्थिति में सुरंजान कडुआ देते हैं।

(डॉ. वा. ग. देसाई)।

(३२५) शतावरी।

नाम--(सं.) शतावरी, शतमूली, नारायणी, अतिरसा; (हिं.) सतावर, (कु.) कैरुवा; (म., गु.) श (स) तावरी; (ले.) एस्पेरेगस् रेसिमोसस (Asparagus racemosus)।

वर्णन—शतावरी भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और वैद्यों में प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) बल्ये, वयस्थापने च महाकषाये ('अतिरसा' नाम्ना), मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते (सू. अ. ३९) विदारिगन्धादौ, कण्टकपञ्चमूले गणे; पित्तप्रशमने वर्गे (सू. अ. २९) च

शतावरी पठ्यते । "वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी । महती चैव हृद्या च मेध्याऽग्निबलवर्धिनी ।। ग्रहण्यर्शोविकारघ्न वृष्या शीता रसायनी । कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवाङ्कुराः स्मृताः ।।" (सु सू. अ ४६) । "शतावरी हिमा तिक्ता स्वाद्वी गुर्वी रसायनी । सुस्निग्धा शुक्ला बल्या स्तन्यमेधोऽग्निपुष्टिदा ।। चक्षुष्या वातपित्तास्रगुल्मातीसारशोथजित् ।।" (कै. नि·) ।

शतावरी मधुर, तिक्त, गुरु, बल्य, वृष्य, रसायन, स्निग्ध, शुक्र-स्तन्य और अग्निवर्धक, पौष्टिक, चक्षुष्य तथा वात, पित्त, रक्तविकार, गुल्म, अतिसार और शोथ का नाश करनेवाली है। महाशतावरी हृद्य, मेध्य, अग्निवर्धक, बल्य, वयः स्थापन, वाजीकर, शीतवीर्य, रसायन तथा ग्रहणीरोग और अर्श को दूर करनेवाली है । शतावरी के अंकुर तिक्त तथा कफपित्तहर हैं ।

नव्यमत–शतावरी और महाशतावरी के ताजे कन्द में जलविलेय भाग ५२%, सीठी ३३% और जल ९ प्रतिशत होता है । जलविलेय भाग में शर्करा ७ प्रतिशत होती है। शतावरी मधुर, शीत, गुरु, स्नेहन, स्तन्यजनन, मूत्रजनन, शुक्रजनन, बल्य और वृष्य है। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

(३२६) सफेद मुसली ।

नाम—(सं.)श्वेतमुसली; (हिं.) सफेद मुसली; (गु.) धोळी मुसली; (अ. फा.) सकाकुले हिंदी; (ले.) एस्पेरेगस् एड्स्केन्डेन्स् (Asparagus adscendens) ।

उपयुक्त अंग-मूल । **मात्रा**—६–६ माशा चूर्ण के रूप में देना चाहिये ।

गुण-कर्म--सफेद मूसली में जलविलेय भाग ७७%, सीठी १२% और जल ६ प्रतिशत होता है । जलविलेय भाग में मांसल द्रव्य (प्रोटीन) होता है; श्वेतसार (स्टार्च) बिल्कुल नहीं होता । इसलिये इसका मधुमेह में प्रयोग हो सकता है । सफेद मुसली मधुर, शीतवीर्य, स्नेहन और उत्तम बल्य है । सर्व प्रकार की अशक्तता में सफेद मुसली शक्कर और दूध के साथ देते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

यूनानीमत–सफेद मुसली पहले दर्जे में गरम और खुश्क तथा वाजीकर है । नपुंसकता और शुक्रमेह में इसका उपयोग करते हैं ।

नारिकेलादि वर्ग ९३.

N. O. palmae (पामी) ।

वर्गलक्षण--

(३२७) नारिकेल ।

नाम––(सं.) नारिकेल, नालिकेर; (पं.) नरेल, खोया; (हिं.) नारियल, नरियल; (म.) माड (वृक्ष), नारळ (फल); (गु.) नारिअ (य) ल; (अ.) नारजील; (फा.) नारगील; (ले.) कोकोस् न्यूसिफरा (Cocos nucifora) ।

वर्णन – नारियल भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

गुण-कर्म––"××नारिकेलफलानि च। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च।। (च. सू. अ. २७)। "नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम्। बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम्।।" (सु. सू. अ. ४६)। 'स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं बस्तिशोधनम्। वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नालिकेराद्भिकं गुरु।।" (सु. सू. अ. ४५)।

नारियल मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, गुरु, बृंहण, बल्य, मांसवर्धक, हृद्य, बस्तिशोधन (मूत्रल) और पित्तघ्न है। नारियल का जल मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, गुरु, हृद्य, दीपन; वृष्य तथा पित्त और तृषा को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—नारियल के कवच को जलाकर पातालयन्त्र से निकाला हुआ तेल कुष्ठघ्न है। नारियल का तेल केश्य, कृमिघ्न, व्रणरोपण, कफघ्न, शोषघ्न और कर्शन है। कच्चे नारियल का पानी शीतल, मूत्रजनन, मूत्रविरजन और पिपासाहर है। कोमल नारियल का दूध (स्वरस) आश्वासजनन, वृत्तिकर, मूत्रजनन और स्रंसन है। नारियल का मद्य बल्य, सौमनस्यजनन, दीपन, पाचन, बृंहण, कोष्ठवातप्रशमन, ज्वरहर, निद्रा लानेवाला और वाजीकर है। पुराने नारियल का स्वरस स्रंसन और पौष्टिक है। खोपड़ा (सूखा नारियल) कृमिघ्न है। पके हुए ताजे नारियल का जल के साथ पकाकर निकाला हुआ तेल क्षयरोग में कॉडलिवर ऑइल के समान लाभ पहुँचाता है। मेदोवृद्धि में खोपड़े का तेल खाने से मेद कम होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(३२८) दरियाई नारियल ।

नाम––(हिं.) दरियाई नारियल, (गु.) दरी नारियेल, (अ.) नारजीले बहरी, (फा.) नारगीले दरियाई, (ले) लोडोसिआ सिचेलेरम् (Lodoicea seychellarum)।

वर्णन—बाजार में इसके सूखे मगज के फटे हुए सफेद रंग के टुकडे मिलते हैं। इसके कवच का कमण्डलु बनाते हैं।

मात्रा-४–८ रत्ती; यह बड़ा कठिन होता है, अतः इसको अर्कगुलाब में घिसकर पिलाते हैं।

यूनानी मत—दरियाई नारियल गरम और तर, प्रकृत देहोष्मा का वर्धक, विसूचिकाहर और विषनाशक है। इसको विसूचिका (हैजा) में तथा अफीम और बछनाग खाये हुए को जहरमोहरा खताई के साथ अर्क गुलाब में घिसकर पिलाते हैं।

वृश्चिक, भीड़ आदि विषधर प्राणियों के दंश स्थान पर इसको जल में घिसकर लगाने से सूजन, दाह और विष को दूर करता है। प्राकृत देहाग्नि को उद्दीप्त करने के कारण इसको जवाहरमोहरा के योग में डालते हैं।

---

(३२९) दम्म उल अखवैन ।

नाम–(सं.) रक्तनिर्यास; (क.) खूनखारा; (हिं.) हीरादोखी, खून खराबा; (म.) हिरादखण; (गु.) हीरादखण; (अ.) दम्मुलअखवैन; (फा.) खून सियावशाँ; (ले.) केलेमस् ड्रेको (Calamus draco)।

वर्णन·यह एक प्रकार का अति रक्तवर्ण का गोंद है जो अरबस्तान और अफ्रीका से आता है। जो गोंद गोल डलियों के आकार का, पीसने पर अति रक्त वर्ण का और काष्ठ रहित हो उसको औषध के लिये काम में लेना चाहिये।

गुण-कर्म–यूनानीमत से–खूनखराबा दूसरे दर्जे में रूक्ष और शीत, उत्तम रक्तस्तम्भन, ग्राही और व्रणरोपण है। उरःक्षत, रक्तार्श, रक्तप्रवाहिका और रक्तप्रदर में इससे विशेष लाभ होता है। सद्योव्रण पर इसका चूर्ण छिड़कने से रक्तस्राव को रोकता और व्रण को शीघ्र सुखाता है। मात्रा–१-१॥ माशा।

---

(३३०) ताड़ ।

नाम–(सं.) ताल, ताड़; (हिं., म., गु.) ताड़; (ले.) बोरेसस् फ्लेबेलिफेरा (Borassus flabellifera)।

वर्णन–ताड़ सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म–सुश्रुते (सू. अ. ३८) सालसारादिगणे तालः पठ्यते। "तालशस्यानि सिद्धानि × × ×। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च ॥" (च. सू. अ. २७) "फलं स्वादुरसं तेषां तालजं गुरु पित्तजित्। तद्बीजं स्वादुपाकं च मूत्रलं वातपित्तजित् ॥ ताल-नारिकेल-खर्जूरप्रभृतीनां मस्तकमज्जानः। स्वादुपाकरसान्याहू रक्तपित्तहरांस्तथा। शुक्रलाननिलघ्नांश्च कफवृद्धिकरानपि ॥" (सु. सू. अ. ४६)।

ताल का फल मधुर, शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध, बल्य, बृंहण तथा पित्तहर है। बीज विपाक में मधुर, मूत्रल तथा वात-पित्तहर हैं। ताल-नारियल और खजूर के वृक्ष की मज्जा (चोटी पर होनेवाला मीठा गूदा) रस और विपाक में मधुर, शुक्रल, वातहर तथा कफवर्धक है।

---

(३३१) खर्जूर ।

नाम–(सं.) खर्जूर; (हि., म, गु.) खजूर; (बं.) खेजुर; (अ.) तमूर; (फा.) खुर्मा ।

वर्णन–एक प्रसिद्ध फल है । इसकी दो जातियाँ होती हैं (१) पिण्डखजूर और (२) छु (छो) हारा, खारि (र) क; (म. खारीक, गु. खारेक) । इसके वृक्ष को खजूरी, सेंधी, सेंदी; लेटिन में फिनिक्स् डेक्टिलिफरा (Phoenix dactylifera) कहते हैं ।

गुण- कर्म–"मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम् । क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥" (च. सू. अ. २७) । "क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु । रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तनुत् ॥" (सु. सू. अ. ४६) । "खर्जूरिकावृक्षतोयं मदपित्तकरं परम् । वातश्लेष्महरं रुच्यं दीपनं बलशुक्रकृत् ॥" (कै नि.)।

खजूर (फल) रस और विपाक में मधुर, गुरु, शीतल, बृंहण, बृष्य, हृद्य, तर्पण, वातपित्तहर तथा क्षय, अभिघात, क्षतक्षय, दाह और रक्तपित्त को दूर करने वाला है । खजूर की ताड़ी मादक, पित्तकर, रुचिकर, दीपन, बलकारक, वीर्यवर्धक तथा वातकफहर है ।

यूनानीमत-खजूर दूसरे दर्जे में गरम और पहले दर्जे में तर, जीवनीय, रक्तजनक, वाजीकर, शुक्रल, बृंहण, उष्णताजनन, वातनाड़ीबलदायक तथा उष्ण प्रकृतिवालों को असात्म्य है ।

नव्यमत–नारियल (म. माड़), ताड़ और खजूर के वृक्ष से बहनेवाले रस को क्रमशः माड़ी (मराठी में), ताड़ी और खजूरी कहते हैं । यह रस ताजा होने पर शीतल, मूत्रजनन और पौष्टिक होता है । इसको सड़ाने से इसमें अम्लत्व और मद्य उत्पन्न होता है । इसको भपके में खींच कर मद्य तैयार करते हैं । यह मद्य दीपन, पाचन और उत्तेजक होता है । विदेशी मद्य से यह मद्य विशेष अच्छा है । रोगी को मद्य देने की आवश्यकता होने पर विलायती मद्य देने की अपेक्षया यह देना अधिक प्रशस्त है । नारियल, ताड़ और खजूर के रस से गुड़ तैयार करते हैं । यह गन्ने की चीनी से अधिक पौष्टिक और सारक है । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(३३२) पूग-सुपारी ।

नाम–(सं.) पूग, पूगफल; (हिं.) सुपारी, छालिया; (बं.) सुपारी; (म.) सुपारी, पोफळ; (गु.) सोपारी; (अ.) फोफळ; (फा.) पोपल; (ले.) एरेका केटेच्यु (Areca catechu) ।

वर्णन—सुपारी भारतवर्ष में सर्वजनपरिचित है। सुपारी अकेली या पान के साथ खाई जाती है। सुपारी को बालू में भूनकर या कच्ची सुपारी को जल में उबाल और सुखा कर खाने से उसके अवगुणों का परिहार हो जाता है।

गुण-कर्म—"कफपित्तहरं रूक्षं वक्त्रक्लेदमलापहम्। कषायमीषन्मधुरं किञ्चित् पूगफलं सरम्॥" (सु. सू. ४६) "पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्। मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम्॥" (भा. प्र.)।

सुपारी कषाय, किंचित् मधुर, गुरु, रूक्ष, शीतवीर्य, मादक, रुचिकर, कुछ सारक तथा कफ, पित्त और मुख के क्लेद-मल एवं वैरस्य को दूर करनेवाली है।

यूनानीमत-सुपारी दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष, संग्राहक, दोषविलोमकर्ता और उष्ण श्वयथुविलयन है।

नव्यमत-एक कच्ची सुपारी दूध में घिसकर पीने से चपटे कृमि मर जाते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई)।

केतक्यादि वर्ग ९४.

N. O. Pandanaceae. (पेन्डेनेसी)।

(३३३) केतकी।

नाम—(सं.) केतकी, तृणशून्य; (हिं., म.) केवड़ा; (गु.) केवडो; (बं.) केया; (अ.) कादी, कदिर; (फा.) गुलकेरी, गुलकबदी; (ले.) पेन्डेनस् टेक्टोरिअस् (Pandanus tectorius)।

वर्णन—केवड़ा अपने सुगन्धित पुष्प के कारण भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसकी दो जातियाँ होती हैं (१) सफेद केवड़ा और (२) पीला केवड़ा (सुवर्णकेतकी)।

गुण-कर्म—"केतकी कटुका पाके लघुतिक्ता कफापहा।" (ध. नि.)। "केतकीकुसुमं वर्ण्यं केशदौर्गन्ध्यनाशनम्। तस्य स्तनोऽतिशिशिरः कटुः पित्तगदापहः।" (रा. नि.)।

केवड़ा तिक्त, कटु, कटुविपाक, शीतवीर्य, वर्ण्य तथा पित्त, कफ और केश की दुर्गन्धता को दूर करनेवाला है।

यूनानीमत-केवड़ा अनुष्णाशीत, सौमनस्यजनन, रक्त की तीक्ष्णता का प्रशमन करनेवाला, ज्ञानेन्द्रिय-हृदय तथा मस्तिष्क को बल देनेवाला और दिल की धड़कन को दूर करनेवाला है। केवड़े के तेल की मालिश करने से कटिशूल, आमवात और

अंगों की थकावट दूर होती है; सूंघने से मन प्रसन्न होता है, कान में डालने से कर्णशूल आराम होता है और व्रणपर लगाने से उसका रोपण होता है। केवड़े के फूलों का अर्क और शर्बत बनाया जाता है।

सूरणादिवर्ग ९५.

N. O. Araceae (एँरेसी)।

वर्गलक्षण--सपुष्प, द्विबीजपर्ण, पत्र एकान्तर, विभिन्न वर्ण के, प्रायः सादे, क्वचित् विभक्त; पुष्प एकजातीय (नर या मादा), छोटे, अवृन्त; बीजकोश १-३ खण्डवाला; फल मांसल--रसाल--रसाल, बहुबीज।

---

(३३४) सूरण।

नाम--(सं.) सू (शू) रण, अर्शोघ्न; (हिं.) सूरन, जमीकन्द, ओल; (बं.) ओल; (म. गु.) सूरण; (ले.) एमोर्फोफेलस् कॅम्पेन्युलेटस् (Amorphophallus campanulatus)।

वर्णन—सूरण प्रसिद्ध कन्दशाक है और भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। सूरन ग्राम्य (खेतों में लगाया हुआ) और वन्य (अरण्य में स्वयंजात–जंगली) भेद से दो प्रकार का होता है। साग के लिये ग्राम्य और औषध के लिये वन्य सूरन का उपयोग करना चाहिये।

गुण-कर्म—"सूरणो गुदकीलहा।" (सु. सु. अ. ४६)। "सूरणः कटुको रुच्यो दीपनः पाचनस्तथा। कृमिदोषहरो वातशूलगुल्मार्शसां हितः॥ श्वासं कासं च प्लीहानं निवारयति सेविनः" (ध. नि.)।

सूरन कटु, रुचिकर, दीपन, पाचन तथा कृमि, वात, शूल, गुल्म, अर्श, श्वास, कास और प्लीहा के रोग–इनमें गुणकारक है।

नव्यमत—सूरन का साग खाने से यकृत् की क्रिया सुधरती है, दस्त साफ होता है और अर्श (मस्से) की रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है; इसलिये सूरन अर्श में लाभ पहुंचाता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(३३५) मान (ण) कन्द।

नाम--(सं.) मानकन्द, कासालु (रा. नि.); (हिं.) मानकन्द; (बं.) मानकचू; (म.) कासाळू; (ले.) एलोकेसिआ इन्डिका (Alocasia Indica)।

वर्णन--मानकंद का क्षुप अरवी (घुंईया) के सदृश परंतु उससे बड़ा होता है। कंद लम्बगोल, १-२ फुट लंबा होता है। यह कड़ुआ और मीठा दो प्रकार का होता है। कलकत्ता में सत्रागाछी मान नाम से जो मीठा मानकंद मिलता है उसका प्रयोग करना चाहिये।

गुण-कर्म---"मानकं स्वादु शीतं च गुरुं चापि प्रकीर्तितम् ।" (सु. सू. अ. ४६)। 'कासालुरुग्रकण्डूतिवातश्लेष्मामयापहः । अरोचकहर स्वादुः पथ्यो दीपनपाचनः ॥" (रा. नि.)। "मानकः शोथहृच्छीतो रक्तपित्तहरोऽलघुः ।' (भा. प्र.)।

मानकंद मधुर, शीतवीर्य, गुरु, पथ्य, दीपन, पाचन तथा उग्र कण्डू, वात, कफ, अरुचि, शोथ और रक्तपित्त को दूर करनेवाला है।

नव्यमत--मानकन्द के चूर्ण में चाँगेर्यम्लक्षार (पोटेशिअम् ऑग्झेलेट), चूना और पिष्ट (स्टार्च) पुष्कल होता है। कंद पचने में हलका, स्नेहन, पौष्टिक, मूत्रजनन और थोड़ा सारक है। डंडे का स्वरस रक्तसंग्राहक और व्रणरोपण है। कंद का साग कब्ज और अर्श में लाभ पहुँचाता है। सूखे कंद के चूर्ण का मंड देने से जलोदर और शोथ में लाभ होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

उपयुक्त अंग--कन्द। **मात्रा**--।-१ तोला।

---

(३३६) वचा।

नाम--(सं.) वचा; उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था; (पं.) वर्च, बरच; (क.) बय; (हिं.) वच, घोड़वच; (ब.) बच; (म.) वेखंड; (गु.) बज, घोडावज; (अ.) वज्ज, ऊबुल् वज्ज; (फा.) अगरे तुर्की, काह्नक; (सिं.) किनी काठी; (ले.) एकोरस् कैलेमस् (Acorus calamus)।

वर्णन--बच की जड़ (कन्द) अंगुलीतुल्य स्थूल, ५-६ पर्ववाली, खुरदरी, झुर्रीदार, रोमावृत, अरुणवर्ण, सुगन्धित तथा स्वाद में तिक्त और चरपरी होती है।

उपयुक्त अंग--जड़ (कन्द)। **मात्रा**-१-५ रत्ती; वमनार्थं १५-३० रत्ती।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. २) विरेचनद्रव्येषु (सू. अ. ४) लेखनीये, अर्शोघ्ने, तृप्तिघ्ने, आस्थापनोपगे, शीतप्रशमने, संज्ञास्थापने च महाकषाये; तथा (वि. अ. ८) तिक्तस्कन्धे, शिरोविरेचनद्रव्येषु च वचा पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) पिप्पल्यादौ; वचादौ, मुस्तादौ च गणे, तथा (सू. अ. ३९) "ऊर्ध्वभागहरे वर्गे वचा पठ्यते।" "वामनी कटुतिक्तोष्णा वातश्लेष्मरुजापहा। कण्ठ्या मेध्या च कृमिहृद्विबन्धाध्मानशूलनुत्॥" (ध. नि.)। "वचा तिक्ता कटुः पाके कटु:

उष्णाऽऽमपाचनी । दीपनी वामनी मेध्या जीवनी वाक्स्वरप्रदा ॥ हन्त्युन्माद-मपस्माररक्षोजन्तुकफानिलान् । शूलं विबन्धमाध्मानं शकृन्मूत्रविशोधनी ॥" (कै. नि.) ।

बच तिक्त, कटु, कटुबिपाक, उष्णवीर्य, वामक, विरेचन, लेखन, अर्शोघ्न, तृप्तिघ्न, आस्थापनोपग, शीतप्रशमन, संज्ञास्थापन, मेध्य, कण्ठ्य, कृमिहर, वाणी और स्वर को देने-सुधारने-वाली, आमपाचन, दीपन, मल-मूत्रविशोधन तथा उन्माद, अपस्मार, विबन्ध, आध्मान, शूल, कफ और वात का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत--बच उष्ण, स्वेदजनन, कासहर, कफघ्न, वामक, सुगन्धि, दीपन; वातनाशक, उत्तेजक, वेदनास्थापन और कृमिघ्न है । प्रतिश्याय-जुकाम, गले के अंदर की सूजन और श्वासनलिका के शोथ में बच का क्वाथ देते हैं । बच का टुकड़ा मुंह में रखने से सूखी खांसी और गले की सूजन कम होती है । दमे में ४० रत्ती बच का चूर्ण ॥-१ तोला सैंधव और आधासेर पानी मिलाकर एक साथ पीने से उलटी होकर दमे का जोर कम होता है । बच्चों को दांत आते समय तथा अपस्मार, उन्माद, लकवा और सन्निपातज्वर में बच देने से लाभ होता है। बच से गर्भाशय का संकोचन होता है इसलिये प्रसव के समय आवी का जोर बढ़ाने के लिये केशर और पीपलामूल के साथ बच देते हैं । पीड़ायुक्त अर्श को बच, भांग और अजवायन की धूनी देते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

मुस्तादि वर्ग ९६.

N. O. Cyperaceae (साइपरेसी) ।

वर्गलक्षण—सपुष्प; एकबीजपर्ण; क्षुप तृणसमान; कांड भरा हुआ, त्रिकोण, पर्वरहित; पर्ण अवृन्त; पुष्प छोटे, हरे रंग के, कांड के अग्रभाग में गुच्छों में लगते हैं ।

(३३७) मुस्ता ।

नाम—(सं.) मुस्ता (स्त), अम्भोद, भद्रमुस्ता, नागर (नागरमोथा), कुटन्नट, प्लव, वन्य, वितुन्नक, परिपेलव (केवटी मोथा); (क.) मोस्त; (पं.) मुथ्रा, मुथरां; (हिं.) नागरमोथा, मोथा; (बं.) मुता; (म.) नागरमोथा; (गु.) मोथ, नागरमोथ; (अ.) सोअद्द कूफी; (फा.) मुश्के जमीं; (लि.) साइपरस् स्केरिओसस (Cyperus scariosus), साइपरस् रोटन्डस् (Cyperus rotundus) ।

वर्णन—मोथा में तीन जातियाँ होती हैं--१. कैवर्तमुस्ता (हिं.) केवटी-मोथा, (गु.) चगीमोथ, (इसके छोटे ग्रन्थिसदृश कन्द होते हैं); २. भद्रमुस्त,

(इसके कंद लंबगोल ॥-१॥ लंबे होते हैं और अग्रभाग पर पत्तियों का अवशेष लगा रहता है); ३. नागरमुस्ता–इसके मूल लंबे, कुछ दबे हुए, टेढ़े और कालापन लिये होते हैं। तीनों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। एक के अभाव में दूसरे का प्रयोग कर सकते हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) लेखनीये तृप्तिघ्ने, कण्डूघ्ने, स्तन्यशोधने तृष्णानिग्रहणे च महाकषाये तथा सुश्रुते (सू. अ ३८) वचादौ मुस्तादौ च गणे मुस्ता पठ्यते। "मुस्ता तिक्तकषायाऽतिशिशिरा श्लेष्मरक्तजित्। पित्तज्वरातिसारघ्नी तृष्णाकृमिविनाशिनी ॥" (ध. नि.)। "भद्रमुस्ता कषाया च तिक्ता शीता च पाचनी। पित्तज्वरकफघ्नी च ज्ञेया संग्रहणी च सा ॥ तिक्ता नागरमुस्ता कटुः कषाया च शीतला कफनुत्। पित्तज्वरातिसारारुचितृष्णादाहनाशनी श्रमहृत् ॥ जलजं तिक्तकटुकं कषायं कान्तिदं हिमम्। मेध्यं वातान्ध्यवीसर्पकण्डूकुष्ठविषापहम् ॥" (रा. नि.)। "मुस्तं तिक्तं हिमं ग्राहि दीपनं पाचनं कटु। कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुजित् ॥ परिपेलं हिमं तिक्तं कषायं कटु कान्तिदम्। कफपित्तास्रवीसर्पकुष्ठकण्डूविषप्रणुत् ॥" (कै. नि.)।

मोथा तिक्त, कषाय, कटु, शीतवीर्य, लेखन, तृप्तिघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन, तृष्णानिग्रहण, ग्राही, दीपन, पाचन तथा कफ, रक्तविकार, पित्त, ज्वर, अतिसार, तृषा, अरुचि और कृमि का नाश करनेवाला है। भद्रमुस्ता कषाय, तिक्त, शीतवीर्य, पाचन, ग्राही तथा पित्त, ज्वर और कफ को दूर करनेवाला है। नागरमोथा तिक्त, कटु, कषाय, शीतवीर्य तथा पित्त, ज्वर, अतिसार, अरुचि, तृषा, दाह, और श्रम का नाश करनेवाला है। कैवटीमोथा तिक्त, कषाय, कटु, कान्तिवर्धक, शीतवीर्य, मेध्य तथा वात, विसर्प, कण्डू, कुष्ठ, कफ, पित्त, रक्तविकार और विष को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–नागरमोथा, कटुतिक्त, कषाय, शीतल, दीपन, पाचन, ग्राही, स्वेदजनन, कफघ्न, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, कण्डूनाशक, मूत्रजनन, उत्तेजक और जन्तुघ्न है। अरुचि, आमातिसार, रक्तार्श और कुपचन रोग में नागरमोथा गुणकारक है। पित्तज्वर और प्रसूतिज्वर में देने से पसीना आता है, तृषा कम होती है, जीभ सुधरती है, पेशाब साफ होता है और गर्भाशय का संकोचन होता है। नागरमोथा कृमिघ्न है, परंतु यह गुण बड़ी मात्रा में देने से देखने में आता है। दूध बढ़ाने और दूध की शुद्धि होने के लिये नागरमोथा खाने को देते हैं और उसका स्तन पर लेप भी करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(३३८) कसेरुक ।

नाम–(सं.) कसे (शे.) रुक; (हिं.) कसेरू; (म.) कचस; (ले.) स्किर्पस् कायसूर (Scirpus kysoor) ।

वर्णन–कसेरू आर्द्रभूमि में होता है। इसका कन्द जायफल के बराबर या उससे कुछ मोटा और गोल होता है। ऊपर का छिलका काला, काटने से भीतर सफेद, स्वाद में मधुर और कुछ सुगन्धित होता है। इसका ताजा कंद भूनकर, जल में उबालकर या वैसा ही खाया जाता है।

गुण-कर्म–"गुरु विष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ।" (सु. सू. अ. ४६)। "कसेरुकं हिमं रूक्षं मधुरं तुवरं गुरु। संग्राहि शुक्लं स्तन्यकफमारुत-वर्धनम् ॥ पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्। वृष्यं मेहतृषां हन्याद्विष्टम्भि कृमिकारि च ॥ कसेरुकस्य पुष्पं तु पित्तघ्नं कामलापहम्।" (कै. नि.)।

कसेरू मधुर, कषाय, शीतवीर्य, रूक्ष, गुरु, विष्टम्भि, ग्राही, शुक्रल, स्तन्य (दूध); कफ और वात को बढ़ानेवाला, वृष्य, कृमिकारक तथा पित्त, रक्तविकार, दाह, नेत्ररोग, प्रमेह और तृषा को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–कसेरू में पिष्ट (स्टार्च) ६३, मांसवर्धक द्रव्य ७, गोंद ७, सीटी ६ और राख २॥ प्रतिशत होती है।

यूनानीमत–कसेरू शीत, रूक्ष, संग्राही और हृद्य है। कसेरू तृषा, आमाशय- यकृत् आदि अंगों का दाह, रक्तातिसार, पित्तातिसार, हृदयदौर्बल्य, हृत्स्पन्दन और हैजे में गुणकारक है। हैजे में वमन और विरेचन द्वारा दूषित दोष निकल जाने के बाद कसेरू को गुलाब के अर्क में पीस, कपड़े से छान, उसमें मिश्री मिलाकर पिलाते हैं।

यवादि (तृण) वर्ग ९७.

N. O. Gramineae. (ग्रेमिनी)

वर्गलक्षण–सपुष्प; एकबीजपर्ण; पत्र अखण्ड; पुष्प देखने में वल्कलसदृश; पुंकेशर ३; बीजकोश पक्षाकार दो रजोवाहिनी नालियों से आवृत; बीज मांसल।

---

(३३९) यव ।

नाम–(सं.) यव; (हिं.) जौ, जव; (गु.) जव; (म.) सातु; (अ.) शईर; (ले.) होर्डिअम् वल्गेर् (Hordeum vulgaro)।

वर्णन–जौ एक प्रसिद्ध धान्य है।

गुण-कर्म—"रूक्षः शीतोऽगुरुः स्वादुर्बहुवातशकृद्यवः। स्थैर्यकृत् सकषायश्च बल्यः श्लेष्मविकारनुत् ॥" (च. सू. अ. २७)। "यवः कषायो मधुरो हिमश्च कटुर्विपाके कफपित्तहारी। व्रणेषु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं प्रबद्धमूत्रो बहुवातवर्चाः॥ स्थैर्याग्निमेधास्वरवर्णकृच्च सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च। मेदोमरुत्तृड्हरणोऽतिरूक्षः प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥" (सु. सू. अ. ४६)। "हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहानाहगलग्रहान्। कासं कफजमर्शांसि यावशूको व्यपोहति ॥" (च. सू. अ. २७)।

जव मधुर, कुछ कषाय, कटुविपाक, शीतवीर्य, रूक्ष, लघु, मल और उदरवायु अधिक उत्पन्न करनेवाला, शरीर को स्थिर-दृढ करनेवाला, बलकारक, व्रण में पथ्य; मूत्र कम करनेवाला, अग्निवर्धक, मेध्य, स्वर को अच्छा करनेवाला शरीर के वर्ण को अच्छा करनेवाला, स्थूल को पतला करनेवाला, रक्तशोधक, पित्तशामक तथा कफ, मेदोवृद्धि, वातविकार और तृषा को मिटानेवाला है। जवखार हृद्रोग, पाण्डुरोग, ग्रहणी, प्लीहावृद्धि, आनाह, गलग्रह, कफज कास और अर्श को दूर करनेवाला है।

नव्यमत—यवक्षार अम्लतानाशक, दीपन, रक्तशोधक, पांडु नाशक, मूत्रजनन, स्वेदजनन, कफशामक और पित्तक्रिया को सुधारनेवाला है। भोजन के पहिले देने से यह दीपन और आमाशय की पीड़ा को कम करता है, भोजन के बाद देने से आमाशय की अम्लता को कम करता है और वहां के कफ को विलीन करता है, रक्त में मिलने पर रक्तकणों की संख्या और रंग बढ़ाता है। रक्तशुद्धि के लिये जवखार कासीस और सुगन्धि द्रव्यों के साथ देते हैं। जवखार वृक्क को उत्तेजित करके मूत्र का प्रमाण बढ़ाता है। जवखार त्वचा को उत्तेजित करके पसीना लाता है। जवखार से कफ पतला होकर छुटने लगता है और श्वासनलिका का शोथ कम होता है। इससे पित्त पतला होता है और पित्तनलिका का शोथ कम होता है, इसलिये कामला और यकृच्छोथ में जवखार देते हैं। जव कि राख में सेलिसिलिक एसिड २९, फास्फरिक एसिड ३२½, पोटेश २२½ और चूना ३½ प्रतिशत होता है। फुफ्फुस के रोगों में जवखार की अपेक्षया जव की राख का उपयोग करना अच्छा है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

---

(३४०) इक्षु।

नाम—(सं.) इक्षु; (हिं.) ईख, ऊख, गन्ना; (कु.) रिखु; (मं.) आक्, (म.) ऊँस; (मा.) सांठा; (गु.) शेरडी; (सि.) कमंद; (अ.) कसबुस्सुक्कर; (फा.) नैशकर; (ले.) सेकेरम् ओफिसिनेरम् (Saccharum officinarum)।

वर्णन—गन्ना भारतवर्ष में सर्वत्र होता है। गन्ना चूसकर खाया जाता है और उसके रस से फाणित (हिं. राब, म. काकवी), गुड, शक्कर-खांड, मिश्री, सिरका आदि बनाये जाते हैं।

गुण-कर्म—"इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशमनाः कृमिकराश्चेति।" (सु. सू. अ. ४५)। "वृष्यः शीतः सरः स्निग्धो बृंहणो मधुरो रसः। श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रिकस्तु विदह्यते। (च. सू. अ. २७)। "अविदाही कफकरो वातपित्तनिबर्हणः। वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः॥ गुर्विदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः॥" (सु. सू. अ. ४५)। "मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मालसंकरात्। किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः॥" (वा. सू. अ. ३५)। "गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो मूत्ररक्तशोधनो नातिपित्तजिद्वातघ्नो मेदः कृमिकफकरो बल्यो वृष्यश्च। पित्तघ्नो मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः। स पुराणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः। मत्स्यण्डिका-खण्ड-शर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च।" (सु. सू. अ. ४५)।

गन्ना मधुर, मधुरविपाक, शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध, बल्य, वृष्य, मूत्रल, रक्तपित्तप्रशमन तथा कृमि और कफ को उत्पन्न करनेवाला है। दाँतों से दबाकर चूसा हुआ गन्ने का रस मधुर, शीतवीर्य, वृष्य, सारक, स्निग्ध, बृंहण, कफकर, अविदाही, मुख को आह्लाद देनेवाला तथा वात-पित्तनाशक है। यंत्र से निकाला हुआ रस गन्ने के मूल, अग्रभाग (तथा पर्व-सन्धि), कीड़ा लगा हुआ भाग इनका भी पीडनद्वारा रस आने, बाह्यमल के संसर्ग और कुछ समय खुला पड़ा रहने से विकृत हो जाने के कारण गुरु, विदाही और विष्टम्भी होता है। गुड़ कुछ क्षारधर्मी, मधुर, कुछ शीत, स्निग्ध, मूत्रल, रक्तशोधक, कुछ पित्तशामक, वातघ्न, मेद-कृमि और कफ को बढ़ानेवाला, बल्य और वृष्य होता है। साफ किया हुआ गुड़ मधुर, रक्तप्रसादन तथा-वातनाशक होता है। पुराना (एक साल के ऊपर और दो साल के भीतर का) गुड़ अधिक गुणवाला और पथ्य होता है। मत्स्यण्डिका, खांड और मिश्री उत्तरोत्तर निर्मल, शीत, स्निग्ध, गुरु, मधुर, वृष्य तथा रक्तपित्त और तृषा का शमन करनेवाली हैं।

नव्यमत—गुड़ से बनी हुई देशी शक्कर जिसको ही बनारसी शक्कर कहते हैं आर्यों की यही असली शक्कर है। इसी का औषधार्थ प्रयोग करना चाहिये। राब सौम्य रेचन है। राब इतर पदार्थ में मिलाने से उसको सड़ने नहीं देती। वनस्पतियों के घन द्रवों को कुछ समय उसी स्थिति में रखना हो और उसमें मद्य न डालना हो तो उसमें राब मिलाकर रखना चाहिये। शक्कर शीतल, पौष्टिक, स्नेहन, मूत्रजनन, उत्तेजक, कासहर, पाचन, आश्वासकर, श्रमहर, जीवन, कोथप्रशमन, व्रणरोपण और कण्ठ्य है। शक्कर हृदय को पुष्टि देनेवाली है, इसलिये वृक्क और हृदय के रोगों में शक्कर देना चाहिये। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(३४१) वंश।

नाम--(सं.) वंश, वेणु, त्वक्सार, कीचक; (हिं.) बाँस; (बं.) बाँश; (गु.) वांस; (म.) बांबू; (अ.) कसब; (ले.) बेम्बुसा एरन्डीनेसिआ (Bambusa arundinacea)।

नाम--**वंशलोचन**--(सं.) वंशरोचन; (हिं.) बंसलोचन; (गु.) वंश लोचन, वांसकपूर; (अ., फा.) तबाशीर।

वर्णन--बाँस भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। स्त्रीजाति के बाँस में एक प्रकार का मद-रस जमकर सूख जाता है,उसको बंशलोचन कहते हैं। बंसलोचन जावा और सिंगापुर से आता है। इस समय बाजार में कृत्रिम बंसलोचन मिलता है।

गुण-कर्म--"वंशस्तु शीतलः स्वादुः कषायो बस्तिशोधनः। छेदनः कफपित्तास्रकुष्ठशोथव्रणापहः॥ तद्यवास्तु सरा रूक्षाः कषाया; कटुपाकिनः। उष्णा पित्तानिलकरा बद्धमूत्राः कफापहाः॥" (कै. नि.)। "वेणोः करीरा गुरवः कफमारुतकोपनाः। रूक्षा वेणुयवा ज्ञेया वीर्योष्णाः कटुपाकिनः॥ बद्धमूत्राः कफहराः कषाया वातकोपनाः।" (सु. सू. अ. ४६)। "रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा। मेदःक्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः॥" (च. सू. अ. २७)। "कषाया मधुरा शीता कासघ्नी वंशरोचना। मूत्रकृच्छ्रक्षयश्वासहिता बल्या च बृंहणी॥" (ध. नि.)।

बाँस मधुर, कषाय, शीतवीर्य, बस्तिशोधन (मूत्रल), छेदन तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, कुष्ठ, शोथ और व्रण को दूर करनेवाला है। बाँस के अंकुर गुरु तथा कफ और वायु का प्रकोप करनेवाले हैं। बाँस के बीज(वेणुयव)मधुर, कषायानुरस, कटुविपाक, उष्णवीर्य, मूत्र को कम करनेवाले, बल्य, वातकोपन तथा कफ, पित्त, मेद, कृमि और विष को दूर करनेवाले हैं। वंशलोचन कषाय, मधुर, शीतवीर्य, बल्य, बृंहण तथा खांसी, मूत्रकृच्छ्र, क्षय और श्वास में हितकर है।

यूनानीमत--बाँस शीत एवं रूक्ष, लेखन, मूत्रल और आर्तवजनन है। बंसलोचन दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष, हृद्य, संग्राही, सौमनस्यजनन, रूक्षण, प्यास को बुझानेवाला और व्रणरोपण तथा उष्ण हृत्स्पंदन, पित्तज वमन, पित्तज अतिसार, शुक्रमेह, रक्तार्श, ज्वर और मुखपाक में गुणकारी है।

---

(३४२) दर्भ और कुश।

नाम--(सं.) दर्भ; कुश; (हिं.) डाभ, दाभ, कुशा; (पं.) दभ, द्रभ; (गु.) दरभ, दाभडो; (ले.) डिस्मोटेचिआ बाईपाइनेटा (Desmostachya bipinata)।

वर्णन--दर्भ भारतवर्ष में सर्वत्र होता है और प्रसिद्ध है। इसकी छोटी जाति को कुश और बड़ी जाति को दर्भ कहते हैं।

गुण-कर्म–चरके (सू. अ. ४) स्तन्यजनने, मूत्रविरेचनीये च महाकषाये तथा मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८); सुश्रुते (सू. अ. ३८) तृणपञ्चमूले गणे दर्भकुशौ पठ्यते। "दर्भः स्निग्धो हिमः स्वादुः कषायः कफपित्तहा। विसर्पदाहकृच्छ्राश्मतृष्णाबस्तिविकारनुत्॥" (कै. नि.) : "दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णाबस्तिरुक्प्रदरास्रजित्॥" (भा. प्र.)।

दर्भ और कुश मधुर, कषाय, शीतवीर्य, स्निग्ध, स्तन्यजनन, मूत्रविरेचन तथा कफ, पित्त, विसर्प, दाह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, तृषा, बस्ति (मूत्राशय) के रोग और प्रदर का नाश करनेवाले हैं। **उपयुक्त अंग**—मूल।

नव्यमत-दर्भ और कुश शीतल, मूत्रजनन और पिपासाहर है। आंव और अत्यार्तव में इसका प्रयोग करते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(३४३) दूर्वा।

नाम---(सं.) दूर्वा, शाद्वल, शतपर्वा, (हिं.) दूब, हरियाली; (कु.) दुबो; (पं.) खबल, दुबडा; (म.) दुरू, हरळी; (गु.) ध्रो, धरो, ध्रोखड; (सि.) छब (ड्र) र; (अ.) उश्ब; (फा.) मर्ग; (ले.) साइनोडोन् डेक्टीलोन (Cynodon dactylon)।

वर्णन—दूर्वा भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और प्रसिद्ध है।

गुण-कर्म-चरके (सू. अ. ४) वर्ण्ये ('सिता-लता' इति नामाभ्यां) प्रजास्थापने ('शतवीर्या-सहस्रवीर्या' इति नामाभ्यां) श्वेतदूर्वा, नीलदूर्वा च पठ्यते। "दूर्वा शीता कषाया च रक्तपित्तकफापहा।" (ध. नि.)। "दूर्वा स्वाद्वी हिमा तिक्ता कषाया जीवनी जयेत्। कफपित्तास्रवीसर्पतृष्णादाहत्वगामयान्॥" (कै. नि.)।

दूर्वा मधुर, कषाय, तिक्त, शीतवीर्य, जीवनीय, वर्ण्य, प्रजास्थापन तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, विसर्प, दाह, रक्तपित्त, तृषा और त्वचा के रोगों का नाश करनेवाली है।

नव्यमत--दूर्वा शीतल, रक्तस्कन्दन; व्रणरोपण और मूत्रजनन है। मूल का क्वाथ वेदनास्थापन और मूत्रजनन है; इसलिये वस्तिशोथ, सुजाक और मूत्रमार्ग के दाह में देते हैं त्वग्रोग में मल का क्वाथ पीने को देते हैं। नाक से रक्तस्राव होने पर स्वरस नाक में टपकाते हैं। सद्योव्रण, नेत्राभिष्यन्द और अर्श की जलन पर कल्क का लेप करते हैं। अतिसार, आंव, पैत्तिक, वमन; उदर, जलोदर, अत्यार्तव, उन्माद और अपस्मार में स्वरस पीने को देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

(३४४) उशीर

नाम--(सं.) उशीर, सेव्य, बीरण, अभय, अमृणाल; (हि.) खस; (बं.) बेणारमूल, खश; (म.) वाळा; (गु.) वालो; (ले.) वेटिवेरिआ झाइजेनिओइडस् (Vetiveria zizanioides)।

वर्णन--यह गाँडर नामक घास की सुगन्धित जड़ है।

वक्तव्य--लामज्जक भी उशीर (खस) की जाति का तृणविशेष है ऐसा भावमिश्र कहते हैं--"लामज्जकमुशीरवत् पीतच्छवि तृणविशेषः"। चरक ने लामज्जक और उशीर के लेप को दाह, त्वचा के रोग और स्वेद को दूर करनेवाला लिखा है--"लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्।"(च.सू.अ.२५)। कैयदेवनिघण्टु में लामज्जक के गुण इस प्रकार लिखे हैं--"लामज्जकं हिमं तिक्तं लघु दोषत्रयापहम्। निहन्ति दाहपित्तास्रस्वेदकृच्छ्रत्वगामयान्॥ --लामज्जक शीतवीर्य, लघु, त्रिदोषहर तथा दाह, पित्त, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र और त्वचा के रोगों का नाश करनेवाला है।" लामज्जक उशीर का ही एक भेद मालूम होता है। जबतक लामज्जक का विशेष निर्णय न हो तबतक लामज्जक के स्थान में खस का प्रयोग करना चाहिये। ह्रीबेर (उदीच्य-बालक) यह उशीर से भिन्न द्रव्य है।

गुण-कर्म--चरके (सू. अ. ४) वर्ण्ये, स्तन्यजनने ('वीरण' नाम्ना) छर्दिनिग्रहणे, दाहप्रशमने च महाकषाये तथा तिक्तस्कन्धे (वि. अ. ४) उशीरं पठ्यते। सुश्रुते (सू. अ. ३८) सारिवादिगणे, पित्तसंशमने वर्गे (सू. अ. ३९) च उशीरं पठ्यते। लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्' (च.सू.अ. २५)। "उशीरं स्वेददौर्गन्ध्यपित्तघ्नं स्निग्धतिक्तकम्।" (ध.नि.)। "उशीरं शीतलं तिक्तं दाहश्रमहरं परम्। पित्तज्वरार्तिशमनं जलसौगन्ध्यदायकम्।" (रा. नि.) "उशीरं शीतलं रूक्षं स्वादु तिक्तं हिमं लघु। पाचनं स्तम्भनं हन्ति शोषदाहमदज्वरान्॥ तृष्णास्रविषदौर्गन्ध्यकृच्छ्रकुष्ठवमिव्रणान्।" (कै. नि.)।

खस तिक्त, मधुर, शीतल, रूक्ष, लघु पाचन, स्तम्भन, स्तन्यजनन, छर्दिनिग्रहण, दाहप्रशमन, पित्तसंशमन, जल को सुगन्धित करनेवाला तथा स्वेद की दुर्गंध, श्रम, पित्तज्वर, मुखशोष, मद, तृषा, रक्तविकार, विष, मूत्रकृच्छ्र, कुष्ठ, वमन और व्रण का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--खस शीतल, मूत्रजनन, पिपासाहर, मृदु, स्वेदजनन, ज्वर में त्वचा का दाह कम करनेवाला और रोचन है। खस के फांट से वमन बंद होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत--खस दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष; हृदय और मस्तिष्क को बलप्रद, सौमनस्यजनन, ग्राही, पित्तशामक, रक्तोद्वेगकर, दीपन तथा रक्तज और पित्तज ज्वरनाशक है। इसका अर्क, हिम, फांट का शर्बत के रूप में उपयोग करना चाहिये। खस का इत्र सूक्ष्म, सुगन्धी और उष्ण प्रकृतिवालों के लिये हितकर है। दिल की धड़कन, हृदयदौर्बल्य और मूर्च्छा में इसका उपयोग करते हैं। तृष्णाधिक्य और वमन में १॥ माशा खस और तीन दाने कमलगट्टे की गिरी को अर्क केवड़ा में पीस, कपड़े से छानकर पिलाने से विशेष लाभ होता है।

---

(३४५) रोहिष।

नाम--(सं.) रोहिष, कत्तृण; (हिं.) रूसा, रूसा घास; मिरचागंध; (म.) रोहिसगवत; (गु.) रोंसडो; (ले.) साइम्बोपोगोन् स्कीनेन्थस् (Cymbopogon schoenanthus)।

वर्णन—रोहिष की पत्तियों से एक प्रकार का सुगन्धी तैल निकलता है। कोमल पर्ण से उत्तम और अधिक तैल निकलता है। तैल का रंग फीका ललाई लिये हुए जामुनी रंग का होता है। इसमें गुलाब जैसी गंध और स्वाद अदरख के समान चरपरा और रोचक होता है।

गुण-कर्म—चरके (सू. अ. ४) स्तन्यजनने महाकषाये कत्तृणं पठ्यते। ‘कत्तृणं श्वासकासघ्नं हृद्रोगशमनं परम्। विसूच्यजीर्णशूलघ्नं कफवातास्रनाशनम्।” (ध.नि.)। “कत्तृणं कटुकं तिक्तमुष्णं कटु विपाकतः। बलासवातरुधिरकण्डूहृद्रोगनाशनम्॥ कृमिकासज्वरश्वासशूलाजीर्णरुचिप्रणुत्।” (कै.नि.)।

रोहिषतृण कटु, तिक्त, कटुविपाक, उष्णवीर्य, स्तन्यजनन तथा श्वास, खांसी, हृद्रोग, विसूचिका, अजीर्ण, शूल, कफ, कण्डू, कृमि, ज्वर, वातरक्त और अरुचि का नाश करनेवाला है।

नव्यमत--रूसा का तेल उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, उत्तेजक और चेतनाकारक है। नूतन आमवात और गंज (खालित्य) में यह लगाया जाता है। सर्दी और कफयुक्त ज्वर में रूसे के क्वाथ से फायदा होता है। (डॉ.वा.ग. देसाई)।

---

(३४६) जम्बीर तृण।

नाम--(सं.) जम्बीरतृण; (हिं.) हरी चाय; (बं.) गन्धवेणा; (म.) ओला चहा, पाती चहा; (गु.) लीली चा; (ले.) साइम्बोपोगोन् साइट्रेटस (Cymbopogon citratus); (अ.) लेमन ग्रास (Lemon grass)।

वर्णन–यह तृण बागों में लगाया जाता है । इसको मसलने से नीबू के समान गंध आती है। इसमें प्रचुर प्रमाण में सुगन्धी तैल होता है, जो चाय के तेल (ओइल लेमनग्रास या ओइल वर्बेना) के नाम से बाजार में मिलता है । इस तृण का फांट बना, उसमें दूध और चीनी मिलाकर चाय के जैसा पिया जाता है । सुश्रुतद्वारा शाकवर्ग में और चरक द्वारा हरितबर्ग में लिखा हुआ जम्बरी यही है । जंबीरी नीबू को भी जम्बीर कहते हैं, सुश्रुतद्वारा इसका फलवर्ग में जम्बीर नाम से और चरक ने दन्तशठ नाम से उल्लेख किया है । इस तृण को मसलने से इसमें जम्बीर के सदृश गंध आती है, अतः इसका भी जम्बीर नाम रखा गया है ।

गुण-कर्म–"जम्बीरःपाचनस्तीक्ष्णःकृमिवातकफापहः। सुरभिर्दीपनो रुच्यो मुखवैशद्यकारकः ।" (सु. सू. अ. ४६) । 'रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिर्मुखशोधनः । जम्बीरः कफवातघ्नः कृमिघ्नो भक्तपाचनः ।।" (च. सू. अ. ४६) ।

हरी चाय पाचन, दीपन, सुगन्धित, रुचिकर, तीक्ष्ण, मुखशुद्धिकर तथा कफ, वात और कृमि का नाश करनेवाली है ।

नव्यमत-हरी चाय उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, वातनाशक, उत्तेजक, चेतनाकारक और संकोचविकासप्रतिबन्धक है । सर्दी-जुकाम और वातकफज्वर में इसकी चाय (फांट) बनाकर पीना और इसके क्वाथ का बाष्पस्वेद लेना हितकर है । जब आमाशय में कुछ भी ठहरता न हो तो तब यह उत्तम औषध है । हैजे में इससे वमन बंद होता है और शरीर में स्फूर्ति मालूम होती है । आक्षेपक में इसका उपयोग होता है । शरीर के किसी भी अंग की पीड़ा में इसके तेल की मालिश करते हैं । (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(३४७) भूतृण ।

नाम–(सं.) भूतृण; (हिं.) खवी; (गु.) अगाखर, गंधारु घास; (अ.) इजखिर; (ले.) साइम्बोपोगोन् ज्वरान्कुश (Cymbopogon jwarancusa)।

वर्णन-यह हरीचाय के जैसा सुगन्धी तृण है । यह १-२ फुट ऊँचा होता है। रोहिष आदि सुगन्धी तृणों में ऊचाई में यह सबसे छोटा होता है, इसलिये इसको भूतृण कहते हैं । यह यूनानी औषधविक्रेताओं के यहां इजखिर के नाम से मिलता है । कई आधुनिक लेखकों ने इसका लामज्जक नाम दिया है वह ठीक नहीं है । लामज्जक को आयुर्वेद में शीतवीर्य लिखा है, परंतु इजखिर उष्णवीर्य है ।

गुण-कर्म–"पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो भूतृणो वक्त्रशोधनः ।(च. सू.अ. २७)। "कफघ्ना लघवो रूक्षास्तीक्ष्णोष्णा पित्तवर्धनाः । कटुपाकरसाश्चैव सुरसाजकं-

भूतृणाः ॥" (सु. सू. अ. ४६) । "भूतृणो लघुरुष्णश्च रूक्षः श्लेष्मामयापहः । अस्य प्रयोगः सहसा हन्ति जन्तून् ॥ (ध. नि.) ।

यूनानी मत–इजखिर दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, पाचन, अवरोधोद्घाटक श्वयथुविलयन, वातानुलोमन, आर्तवजनन, मूत्रल, दीपन और ग्राही है। अंगघात, पक्षाघात, अर्दित, आक्षेप, विस्मृति, जलोदर, आमाशय-यकृत् और प्लीहा का शोथ, आर्तव और मूत्र की रुकावट, अश्मरी, अग्निमान्द्य, कफज्वर, उत्क्लेश और अतिसार में इजखिर का उपयोग करते हैं।

उपयुक्त अंग–पंचांग, विशेषतः मूल और पुष्प । **मात्रा**—३-६ माशा ।

नव्यमत–इजखिर में पुष्कल सुगन्धी तैल है। इसके फूल रक्तस्कन्दन, मूल और पत्र कोष्ठवातप्रशमन, उत्तेजक, आर्तवजनन, मूत्रजनन, स्वेदजनन और कफघ्न हैं। रक्तस्राव बंद होने के लिये इसके ताजे फूल जखमपर बाँधते हैं। पंचांग के कल्क का शोथपर लेप करते हैं। द्राक्षासव में पचांग का चूर्ण मिला; गरम करके देने से पुष्कल पेशाव आता है। यह गर्भाशयसंकोचक है, इसलिये प्रसूतिज्वर में इसका उपयोग करते हैं। आमवात, वातरक्त और कुपचन में इसका उपयोग करते हैं (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

हंसपद्यादि वर्ग ९८.

N. O. Filices. (फिलिसिस्) ।

वर्गलक्षण—अपुष्प ।

(३४८) हंसपदी ।

नाम–(सं.) हंसप (पा.) दी; (हिं.) हंसराज, समलपत्ती; (कु.) डुमशिणफो; (बं.) गोयालियालता; (म., गु.) हंसराज; (अ. फा.) परसियावशी; (ले.) ॲडिएन्टम् ल्युन्युलेटम् (Adiantum lunulatum) ।

गुण-कर्म–चरके–(सू. अ. ४) कण्ठ्ये महाकषाये; मधुरस्कन्धे (वि. अ. ८) च तथा सुश्रुते (सू. अ. ३८) विदारिगन्धादौ गणे हंसपदी पठ्यते । "हंसपदी गुर्वी रोपणी हन्ति शोणितम् । दाहातिसारवीसर्पलूताशोथविषव्रणान् ॥" (कै. नि.) ।

हंसराज मधुर; शीतवीर्य, गुरु, कण्ठ्य, रोपण तथा रक्तविकार, दाह, अतिसार, विसर्प, लूताविष, शोथ, विष और व्रण को दूर करनेवाला है।

नव्यमत–हंसराज तिक्त, कुछ ग्राही, कासहर, कफघ्न, बड़ी मात्रा में वामक और कुछ मूत्रजनन है। उपयुक्त अंग–पंचांग। पंचांग का शर्बत बनाकर देना चाहिये। शर्बत की मात्रा १/२-१ तोला। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यूनानीमत–हंसराज अनुष्णाशीत, विलयन, दोषों को पतला करनेवाला, कफपाचन, लेखन, मूत्रजनन, आर्तवजनन, अपरापातन और दोषविरेचन है। उरोवेदना, फुफ्फुसशोथ, प्रतिश्याय, कास और कृच्छ्रश्वास में इसका प्रयोग करते हैं। मात्रा--३-६ माशा।

शैलेयादि वर्ग ९९.

N. O. Lichenes (लाइचेनिस्)।

वर्गलक्षण– अपुष्प।

---

(३४९) शैलेय।

नाम–(सं.) शैलेय, शिलापुष्प; (हिं.) छरी(ड़ी)ला, बुढना, पत्थरफूल; (कु.) झोलो; (मा.) छाडछडीला; (म.) दगडफूल; (गु.) छडीलो; (अ. फा.) उश्नः; (ले.) पार्मेलिया पर्फोरेटा (Parmelia perforata)।

वर्णन–यह क्षुद्र वनस्पति पत्थर पर होती है। यह हरी पेड़ोसी संचित होकर जब सूखकर उतरती है तब इसके ऊपर का पृष्ठ काला और नीचे का सफेद होता है। स्वाद फीका तिक्त-कषाय होता है। नया और सुगन्धयुक्त छड़ीला औषध के लिये लेना चाहिये।

गुण-कर्म–"शैलेयं शिशिरं तिक्तं सुगन्धि कफपित्तजित्। दाहतृष्णा-वमिश्वासव्रणदोषविनाशनम्॥" (रा. नि.)। "शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु। कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविषहृल्लासरक्तजित्॥" (भा. प्र.)।

छरीला तिक्त, शीतवीर्य, सुगन्धि, हृद्य, लघु तथा कफ, पित्त, दाह, तृषा, वमन, श्वास, व्रण, कण्डू, कुष्ठ, अश्मरी, विष, हृल्लास और रक्तविकार को दूर करनेवाला है।

यूनानीमत–छड़ीला पहले दर्जे में गरम और खुश्क, हृदयोल्लासकारक, हृदयबलदायक, दीपन, वेदनास्थापन, ग्राही और श्वयथुविलयन है।

नव्यमत–छड़ीला मूत्रजनन है। एक तोला छड़ीले के क्वाथ में मिश्री और जीरे का चूर्ण मिलाकर पिलाने से पेशाब खुलता है। इसको गरम पानी में पीसकर सिरपर लगाने से सिर का दर्द आराम होता है। (डॉ. वा. ग. देसाई)।

छत्रक वर्ग १००.

N. O. Fungi. (फंगाई) ।

---

(३५०) छत्रक ।

नाम—(सं.) छत्रक; (हि.) खुमी; (म.) अळंबे; (गु.) बिलाडीनो टोप; (सि.) खुम्भी; (ले.) ॲगेरिकस् कॅम्पेस्ट्रिस् (Agaricus campestris) ।

वर्णन—यह एक प्रकार का छत्राकार उद्भिज्ज है। इसमें कई जातियाँ सविष और कई निर्विष होती हैं। कश्मीर तथा पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों में गुच्छी और ढींगरी ये दो छत्रक की जातियाँ होती हैं जो निर्विष हैं। इनका साग बनाकर खाते हैं, जो स्वादिष्ट और पौष्टिक होता है।

गुण-कर्म—"सर्पच्छत्रकवर्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः । शीता। पीनसकर्त्र्यश्च मधुरा गुर्व्यं एव च ॥" (च. सू. अ. २७) ।

सर्पछत्रक (साँप के छाते) को छोड़ कर अन्य छत्रकजातियाँ शीतवीर्य, जुकाम करनेवाली, मधुर और गुरु हैं।

नव्यमत—यह वनस्पति होने पर भी मांस के समान किंबहुना मांस से भी अधिक पौष्टिक और वाजीकर है। जब आमाशय की पचनशक्ति कम हो और रोगी सूखता जाता हो तब इसका साग खिलाते हैं। क्षयरोग में इसको दूध के साथ पकाकर देते हैं। (डॉ. वा. ग. देसाई) ।

---

(३५१) अर्गट ।

नाम—(म.) तांब; (गु.) गेरवो; (अं.) अर्गट (Ergot); (ले.) क्लेविसेप्स् पर्प्युरिआ (Claviceps purpurea) ।

वर्णन—अर्गट गेहूँ, मकई, जौ आदि धान्य में होने वाला एक प्रकार का रोग है। अर्गट .।।.--१ इंच लंबा, ललाई लिये भूरे रंग का, कुछ वक्र, साधारण त्रिकोण, विशेष दुर्गन्धयुक्त, कडुआ और अप्रिय स्वादवाला होता है।

गुणकर्म—अर्गट के दो प्रधानकर्म हैं—(१) छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करके रक्तस्राव बंद करना और (२) गर्भाशय का संकोचन करना। प्रसवोत्तर अपरा (आँवला-ऑवरी) पतन के बाद अर्गट देने से रक्तस्राव नहीं होता, गर्भाशय पूर्व स्थिति पर आता है, पेट दुखता नहीं और ज्वर नहीं आता। प्रसव के अनन्तर पांच छः दिन तक प्रतिदिन सवेरे-शाम अर्गट देना चाहिये। गर्भपात के बाद कभी-कभी गर्भाशय शिथिल होता है, उससे बार-बार रजःस्राव होता है, कमर तथा पेट में पीड़ा होती

है और पांडुरोग होता है । ऐसी स्थिति में अर्गट देते हैं । रक्तमिश्रित प्रदर में गूगल के साथ अर्गट देते हैं । फुप्फुस या अन्य अवयवों से रक्त आता हो तब अर्गट देते हैं । शिश्नोत्थान होने के बाद तुर्त शैथिल्य मालूम होता हो तो ऐसे नपुंसकत्व में अर्गट खाने को देते हैं और जल में पीसकर उसका शिश्न पर लेप करते हैं । स्वप्न में वीर्यपात और वीर्य के शीघ्रस्खलन में अर्गट देने से लाभ होता है । सुजाक में अर्गट देने से पूयस्राव बंद होता है । आंतों की शिथिलता से उत्पन्न कब्ज में अर्गट देने से आंतों की शक्ति-गति बढ़कर दस्त साफ होता है । वस्ति की मांसपेशी की शिथिलता से पेशाब रुक–रुक कर थोड़ा–थोड़ा होता हो तब अर्गट देते हैं । प्रसवावस्था में रक्तस्राव बंद करने और गर्भाशय का संकोचन करने के लिये अर्गट के समान दूसरा औषध नहीं है । वैद्यों को इसका अवश्य उपयोग करना चाहिये । मात्रा–१०-२० रत्ती । अर्गट का फांट बनाकर प्रयोग करना चाहिये । (डॉ. वा. ग. देसाई)।

यदि गर्भाशय का द्वार–मुख कठिन और अविकसित हो, वस्तिप्रदेश की आकृति के विकार से प्रसवमार्ग छोटा हो, किसी अर्बुदादि द्वारा गर्भाशय का मुख रुका हुआ हो अथवा बालक के बड़े होने से उसका सरलता से बाहर आना असंभव मालूम होता हो, तब अर्गट का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

इति द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे औषधद्रव्यविज्ञानीये द्वितीये खण्डे
उद्भिज्जद्रव्यविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जाङ्गमद्रव्यविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः।

पूर्व अध्याय में उद्भिज्जद्रव्यों का वर्णन किया गया है; अब इस अध्याय में जाङ्गम[1]वर्ग में से औषधोपयोगी और चिकित्सकों में विशेष प्रचलित प्रधान द्रव्यों का वर्णन किया जायगा। जांगम वर्ग से प्राप्त आहार[2] और औषधोपयोगी द्रव्यों को जाङ्गम, प्राणिज,जान्तव या जैव द्रव्य कहते हैं।

(१) अग्निजार अंबर।

नाम-(सं.) अग्निजार; (अ., हिं.) अंबर; (फा.) शाहबू; (अं.) अम्बर् ग्रिस् (Ambergris)।

उत्पत्तिस्थान-अंबर विशेषतः हिंद महासागर में सिलोन, माडागास्कर तथा अफ्रीका के लामू, मोग्वासा, जंजीबार आदि स्थानों में समुद्रतट पर पाया जाता है।

वर्णन—अंबर समुद्रचर केचेलॉट या स्पर्म[3] (Cachalot or Sperm Whale) नामक व्हेल की आंतों में होनेवाली रोगजन्य ग्रन्थि है स्पर्म व्हेल जब एक प्रकार की सींग जैसी वनस्पति खाती है तब वह उसकी आंतों में पहुँचने पर वहाँ क्षोभ उत्पन्न करती है जिससे अन्त्ररस का स्राव होकर वह उस वनस्पति के चारों ओर संचित होता है और ग्रन्थिरूप बन जाता हैं, यही अंबर है। व्हेल की आंतों में यह ग्रन्थि उत्पन्न होने पर वह क्रमशः दुर्बल होकर मर जाती है और अंबर की गांठ आंतों से बाहर आकर जल में अविलेय होने से समुद्र की लहरों से किनारे पर आ जाती है अथवा स्पर्म व्हेल का जब शिकार किया जाता है तब उसकी आंतों से प्राप्त होती है। अंबर जब ताजा होता है तब उसमें विष्ठा के समान दुर्गन्ध होती है। पर वह सूर्य के ताप से सूखने पर उसमें मिट्टी के समान मीठी सुगन्ध उत्पन्न होती है। जो अंबर बाहर से श्यामवर्ण, भीतर से कुछ श्यामता लिये श्वेतवर्ण,बीच-बीच में खशखश के जैसे सूक्ष्म दानेदार,

---

[1] 'जाङ्गम' शब्द की व्याख्या इस खण्ड में पृ.३.पर देखें। [2] "मधूनि गोरसाः पित्तं बसा मज्जासृगामिषम्। बिण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुश्रृङ्गनखाः खुराः॥ जाङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः॥" (च. सू. अ. १) "जाङ्गमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः।" (सु. सू. अ. १)।

[3] हिन्दुस्तानी एकेडेमी संयुक्तप्रान्त द्वारा प्रकाशित जन्तुजगत् नामक ग्रन्थ के पृ. ७८-८० पर स्पर्म व्हेल का वर्णन और रंगीन चित्र दिया हुआ है।

[4] प्राचीन रसतन्त्रकारों ने अंबर को 'अग्निनक्र' नामक समुद्र के प्राणि का जरायु बताया है—"समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झितः। संशुष्को भानुतापेन सोऽग्निजार इति स्मृतः॥" (रसेन्द्रचूडामणि अ. ११)।

वजन में हलकी तथा एक प्रकार की मीठी सुगन्धवाला हो वह उत्तम होता है। अंबर का विशिष्ट गुरुत्व ०.७८० से ०.९२५ होता है। १४५ तक अंश फेरनहीट की उष्णता पर अंबर पिघलकर चरबी या पिघलेहुए पीले मोम के जैसा द्रव हो जाता है और २१२ अंश फेरनहीट की उष्णता पर उसकी श्वेतवर्ण भाप होकर उड़ या जल जाता है। ईथर तथा गरम किये हुए अल्कोहल और तेल में अंबर विलीन हो जाता है, परंतु जल में अविलेय है। गरम किये हुए अल्कोहल में अंबर को मिलाने से उसमें से अल्कोहल ठंडा होने पर अॅम्बरीन नामक श्वेतवर्ण दानेदार सत्त्व २५ प्रतिशत प्राप्त होता है।

गुण-कर्म—अग्निजारस्त्रिदोषघ्नो धनुर्वातादिवातनुत् वर्धनो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तथा।" (र. चू. अ. ११)। "स्यादग्निजारः कटुरुष्णवीर्यस्तुन्दामयो[1]वातकफापहश्च। पित्तप्रदःसोऽधिकसन्निपातशूलार्तिशीतामयनाशनश्च।।' (रा. नि. पिप्पल्यादिवर्गं)।

अंबर त्रिदोषघ्न, धनुर्वात आदि (आक्षेपप्रधान) वातरोगों का नाश करनेवाला, पारद के योगों के साथ देने से उसके वीर्य, (गुण) को बढ़ानेवाला, दीपन तथा पाचन है (र. चू.); पेट की व्याधिरूप अंबर कटु, उष्णवीर्य, पित्तकर तथा वात, कफ, सन्निपात, शूल और शीतजन्य रोगों का नाश करनेवाला है। (रा. नि.)।

यूनानीमत—अंबर दूसरे दर्जे में गरम और पहले दर्जे में रूक्ष, ओज (प्राणशक्ति-अरवाह) और शारीर शक्तियों का संरक्षक, सौमनस्यजनन, ज्ञानेन्द्रिय-हृदय और मस्तिष्क को बल देनेवाला, दीपन, ग्राही तथा वाजीकर है। पक्षाघात, अर्दित, कम्पवात, धनुःस्तम्भ, स्वाप (सुप्तता), मस्तिष्क-हृदय और नाड़ियों का दौर्बल्य, हृदय और मस्तिष्क के शीतजन्य व्याधि, हृत्स्पन्दन, नपुंसकता, कफज उन्माद, पुराना नजला (प्रतिश्याय), मूर्च्छा, हिस्टीरिया, अति शोधन (वमन-विरेचन-सिरावेध आदि) से तथा अतिस्त्रीसंग से उत्पन्न अशक्तता आदि तथा वात-कफ और दौर्बल्यप्रधान रोगों में अंबर अकेला या अन्य माजूनबुफर्रेह और याकूती के योगों में संमिलित करके दिया जाता है। मात्रा १-३ रत्ती।

* * *

(२) अण्ड-अंडा।

नाम—(सं.) अण्ड, डिम्ब; (हिं.) अंडा; (गु.) ईंडा, (बं.) डिम्; (अ.) बैजा; (अं.) एग् (Egg)।

वर्णन—अंडा प्रसिद्ध प्राणिज द्रव्य है। मत्स्य और पक्षियों का विशेषतः कुक्कुट-मुर्गी का अंडा आहार और औषध के लियें उपयोग में लिया जाता है। अंडे के मुख्य

---

[1] राजनिघण्टुकार ने अंबर को तुन्दामय(पेट का रोग)यह विशेषण दिया है,इससे यह मालुम होता है कि उसका अंबर पेट की व्याधिरूप ग्रन्थि है इस बात का ज्ञान था

तीन भाग होते हैं-(१) अंडे की जर्दी (पीला भाग), (२) सफेदी और (३) छिलका (सं.) अण्डकपाल, अण्डत्वक्; (फा.) पोस्त बैजा मुर्ग।

गुण-कर्म–"निःस्राव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत् । हंसबर्हिणदक्षाणां-चैवमण्डानि भक्षयेत् ॥" (च. चि. अ. २) । नातिस्निग्धानि वृष्याणि स्वादुपाकरसानि च । वातघ्नान्यतिशुक्रानि गुरूण्यण्डानि पक्षिणाम् ॥ (भा. प्र. मांस वर्ग) । "धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि । चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥ क्षीणरेतःसु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च । मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च ॥" (च. सू. अ. २७) ।

पक्षियों (तथा मत्स्यादि) के अंडे रस और विपाक में मधुर, स्निग्ध, गुरु, अविदाही, वृष्य, शुक्रल, वातघ्न, सद्योबलकर तथा शुक्रक्षय, खाँसी, हृद्रोग और व्रण में हितकर हैं। चरक ने अंडे की जर्दी को गाय के घी में भूनकर वाजीकरण के लिये देने को लिखा है।

यूनानीमत–अंडे की जर्दी पहले दर्जे में गरम और तर, सफेदी पहले दर्जे में सर्द और तर, तथा छिलका दूसरे दर्जे में सर्द और खुश्क हैं। अंडे की जर्दी रक्त वर्धक, बलकारक और वजीकर; सफेदी संशमन और दाहप्रशमन; तथा छिलका संग्राही, उपशोषण और लेखन है। अंडे को हलका उबाल, उसकी जर्दी को शहद और दूध के साथ मिलाकर कृश और दुर्बल रोगी को पिलाते हैं। शुक्रमेह, श्वेतप्रदर और मधुमेह में छिलके की भस्म बनाकर खिलाते हैं।

अंडे के छिलके की भस्म बनाने की विधि–अंडे के छिलकों को सेंधानमक मिलाये हुए जल में चार पहर भिगोकर रख छोड़े। पीछे सावधानी से अंदर का पर्दा (झिल्ली) दूर करके स्वच्छ जल से धो लेवे। बाद सुखा, कपड़छान चूर्ण कर, नीबू का रस–ग्वारपाठा के गूदे या अर्कक्षीर में एक दिन मर्दन कर, टिकिया बना, सुखा, संपुट में रखकर गजपुट का अग्नि देवे। श्वेत वर्ण की भस्म होगी। मात्रा २–४। रत्ती अनुपान–शहद या ताजा मक्खन। **उपयोग**–श्वेतप्रदर में इसके सेवन से अच्छा लाभ होता है। इसके अतिरिक्त दमा, पुरानी खाँसी, रक्तकास, उराक्षत, राजयक्ष्मा, अतिसार और प्रमेह में भी इसके सेवन से लाभ होता है। अंडे के छिलके का अतिसूक्ष्म चूर्ण नेत्रव्रण, शुक्ल (फूली) आदि नेत्ररोगों में अकेला या अन्य द्रव्यों के साथ प्रयुक्त होता है। अंडे के तेल (रोगन बैजा) की पक्षाघात, अर्दित, वातशूल आदि रोगों में मालिश करते हैं तथा श्वसनकज्वर (न्यूमोनिया), नपुंसकता, दौर्बल्य आदि रोगों में शहद या दूध के साथ उसको खिलाते हैं। **अंडे का तेल निकालने की विधि**––अंडा उबाल, उसकी जर्दी निकालकर एक पात्र में रखे। फिर उस पात्र को मृदु अग्निपर या तीव्र धूप में जिस तरफ जर्दी हो उस तरफ का सिरा कुछ ऊँचा करके रखें और चमचे से दबाते रहें। जब संपूर्ण तेल निकल आवे तब कपड़े से निचोड़ शीशी में भर, डाट लगा कर रख छोड़ें।

(३) इन्द्रगोप-बीरबहूटी ।

नाम–(सं.) इन्द्रगोप; (हिं.) बीरबहूटी; (अ.) अरूसक, दूदुल्बितर; (फा.) किर्मे मखमल; फागनः; (ले.) म्युटेला ओक्सिडेन्टेलिस् (Mutella (Occidentalis) ।

वर्णन—यह एक वर्षारंभ में रेतीली जमीन से निकलनेवाला रक्त-वर्ण का, मखमल के समान नरम रेंगनेवाला कीड़ा है। सूखने पर केसरिया रंग का हो जाता है। सूखा कीड़ा बाजार में यूनानी दवा बेचनेवाला पन्सारियों के यहां से 'बीरबहूटी' नाम से मिल सकता है।

गुण-कर्म––आयुर्वेद में रक्त और आर्तव के वर्ण को इन्द्रगोप के वर्ण की उपमा दी गई है। इसका औषधीय उपयोग देखने में नहीं आता। हकीम लोग इसका प्रचुर उपयोग करते हैं।

यूनानीमत––तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क, बाजीकर तथा वात और कफ की व्याधियों को दूर करनेवाला है। संधिवात, पक्षाघात और उपस्थेन्द्रिय के शैथिल्य में इसका आन्तरिक उपयोग करते हैं और इसके तैल की मालिश-तिला करते हैं। पाण्डुरोग में इसको खिलाने से लाभ होता है। कोई-कोई हकीम मसूरिका की उस अवस्था में जब कि वह प्रकट होकर अंदर चली गई हो तो उसको बाहर निकालने के लिये इसको खिलाते हैं।

---

(४) कच्छपपृष्ठ (कछुए की पीठ)।

वर्णन–कछुआ एक प्रसिद्ध जलचर प्राणी है, जिसको (सं.) कच्छप, कूर्म; (बं.)काछिम; (म.) कांसव; (गु.) काचबो; कहते हैं। उसकी पीठ की सुखाई हुई हड्डी जो बड़ी सख्त (कठिन) होती है, उसका औषध के लिये उपयोग किया जाता है। कछुए की पीठ बड़ी सख्त होती है। उसका सरलता से चूर्ण नहीं हो सकता। अतः उसको पत्थर के चकले पर जल या अर्क गुलाब में चन्दन के समान घिस, सुखाकर चूर्ण किया जाता है या भस्म बनाई जाती है। मात्रा-२-८ रत्ती। भस्म बनाने की विधि-कछुए की पीठ के टुकड़े कर, उसको मकोय के रस, ग्वारपाठा के रस (गुदे) या पत्थरचटा (जख्म हयात) के रस में तीन दिन भिगो, सुखा, मिट्टी के पात्र के संपुट में रखकर गजपुट की अग्नि में पकाने से श्वेत वर्ण की भस्म होती है।

गुण--कर्म–इसमें सुधांश (चूने) का अंश अधिक होता है इसलिये जिन रोगों में सुधांश की कमी हुई हो उन रोगों में तथा बालशोष (बालकों का सूखा रोग), खांसी, श्वास, रक्तकास, उरःक्षत और राजयक्ष्मा में इससे विशेष लाभ होता है।

यूनानी वैद्य (हकीम) तथा पंजाब और मद्रास प्रांत के वैद्य इसका उपयोग करते हैं। अन्य प्रांत के वैद्यों को भी इसका उपयोग करना चाहिये।

---

(५) कपर्दिका-कौडी ।

नाम—(सं.) कपर्दिका, वराटिका, चराचर; (हिं.) कौडी; (म.) कवडी; (गु.) कोडी; (अ.) वद्अ; (फा.) कजक, खरमोहरा; (लि.) सायप्रिया मोनेटा (Cyproea moneta) ।

वर्णन–कौड़ी एक प्रकार के समुद्र में होने वाले प्राणी की अस्थि है। जो कौड़ी पीताभ पृष्ठभाग पर ग्रंथियुक्त, दीर्घवृन्तवाली और तौल में ३–४।।मासे की हो वह औषध के लिये उपयुक्त होती है। कौड़ी को कांजी में या नींबू का रस मिलाये हुए जल में एक प्रहर दोलायंत्र में पकाने से वह शुद्ध होती है । शुद्ध कौड़ी को मिट्टी के दो तवों के बीच में रखकर गजपुट की अग्नि देने से उसकी श्वेत वर्ण की भस्म बनती है । यदि केवल भस्म का प्रयोग करना हो तो उसको नींबू के स्वरस की एक भावना देकर प्रयोग करना चाहिये । रोगों में भावना दिये बिना भी काम में ले सकते हैं ।

गुण-कर्म--"कपर्दः कटुतिक्तोष्णः कर्णशूलव्रणापहः । गुल्मशूलामयघ्नश्च नेत्रदोषनिकृन्तनः ।।" (ध. नि.) । "परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणीक्षयनाशिनी । कटूष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफापहा ।।" (र. चु. अ. ११) ।

कौड़ी कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, दीपन, वृष्य तथा वात, कफ, कर्णशूल, व्रण, गुल्म, शूल, परिणामशूल, नेत्ररोग, ग्रहणीरोग और क्षय का नाश करने वाली है।

यूनानीमत–कौड़ी दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, तीव्र रूक्षण, लेखन, छेदन, उष्णताजनन और श्लेष्मश्वयथुविलयन है। इसका प्रलेप अवयवों के द्रवों को सुखाता और कफज सूजन को उतारता है। यह नेत्रगत व्रणशुक्ल (फूली) और त्वचा के चिन्हों को दूर करती है। सिरके में पीस कर लेप करने से मस्से दूर होते हैं।

------

(६) कर्कटक ।

नाम-(सं.) कर्कटक, कुलीर; (हिं.) के (कें) कड़ा; (बं.) कांकड़ा; (म.) खेंकडा; (गु.) करचलो; (अ.) सरतान; (फा.) पंजपाया; (ले.) सिल्ला सिरेटा (Seilla Serrata) ।

वर्णन-यह एक शीघ्रगामी जलजन्तु है जो कीचड़वाले स्थान में रहता है और छोटे पंजे के बराबर होता है। वर्णभेद से यह श्वेत और कृष्ण दो प्रकार का होता है । बहते हुए मीठे पानी में रहने वाला (सरतान नहरी) और बड़ा केकड़ा उत्तम होता है ।

---

१. "पीताभा ग्रन्थिला पृष्ठे दीर्घवृन्ता वराटिका । सार्धनिष्कमिता श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा ।। वराटाः काञ्जिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयुः ।।" (र. चू. अ. ११) ।

गुण-कर्म——"कर्कटो बृंहणो वृष्यः शीतलोऽसृग्गदापहः ।" (ध. नि.)। "शङ्खकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः । शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥ कृष्णकर्कटकस्तेषां बल्यः कोष्णोऽनिलापहः । शुक्लः सन्धानकृत्सृष्टविण्मूत्रोऽनिलपित्तहा ॥" (सु. सू. अ. ४६)।

केकड़ा रस और विपाक में मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, बृंहण, वृष्य, मल मूत्र और कफ को बढ़ानेवाला, सन्धानीय तथा पित्त, वात और रक्तविकार को दूर करनेवाला है।

यूनानीमत——केकड़ा दूसरे दर्जे में सर्द और तर है। **उपयोग**-केकड़े की मसी (सरतान मुहरक) का उरःक्षत, राजयक्ष्मा, अन्त्रक्षय तथा खाँसी में रक्त और पूय आना-इन रोगों में उपयोग करते हैं। इन रोगों में इससे अच्छा लाभ होता है। **मात्रा**–२–४ रत्ती। **केकडे की मसी बनाने की विधि**–बहते हुए मीठे पानी का केकड़ा ला, उसके पैर तथा उदरस्थ अन्त्र-मल आदि अलग करके प्रथम नमक मिलाये हुए जल से और पीछे स्वच्छ जल से धो, मिट्टी के कोरे पात्र में रख, ऊपर कपड़मिट्टी करके खूब गरम तनूर में चार प्रहर रखे और तनूर का मुंह बंद कर दे या इतना पुट देवे कि श्यामवर्ण की मसी हो, श्वेत वर्ण की भस्म न हो जाय। इसका हकीम लोग उरःक्षत और राजयक्ष्मा में खूब प्रयोग करते हैं। वैद्यों को भी इसका प्रयोग करना चाहिये।

यह मसी बड़े शहरों में यूनानी दवा वेचनेवाले पनसारियों के यहाँ से 'सरतान मुहरक' के नाम से तैयार भी मिल सकती है।

---

(७) कस्तूरी।

नाम——(सं.) कस्तूरी, मृगनाभि, मृगमद; (हिं., म., गु.) कस्तूरी; (अ.) मिस्क; (फा.) मुश्क; (अं.) मस्क (Musk)।

उत्पत्तिस्थान—तिब्बत, आसाम, भूटान, नेपाल, गढ़वाल, काश्मीर आदि हिमालय-पर्वत श्रेणी की ७०००–८००० फुट से ऊपर की चोटियों पर सघन वनों में कस्तूरा मृग मिलता है।

वर्णन—नर कस्तूरा मृग की नाभि के पास कस्तूरी की थैली होती है। उस पर बाल होते हैं और बीच में एक छोटासा छिद्र होता है। एक दो वर्ष की आयु तक कस्तूरी एक श्वेत रंग का तरल पदार्थ होता है। तत्पश्चात् वह रक्ताभ श्याम वर्ण की गाढी और दानेदार हो जाती है। इसका स्वाद तिक्त तथा गन्ध अतितीक्ष्ण और फैलनेवाली होती है। जो कस्तूरी श्यामवर्ण या रक्ताभ वर्ण की, गोल बड़े दानेवाली, तीक्ष्णगंधवाली और झिल्लीरहित हो वह उत्तम होती है।

गुण-कर्म—कस्तूरिका रसे तिक्ता कटुः श्लेष्मानिलापहा । उष्णा बल्या तथा वृष्या शीतदौर्गन्ध्यनाशिनी ॥

कस्तूरी रस में तिक्त और कटु, उष्णवीर्य, बल्य, वृष्य तथा कफ, वात, शीत और दुर्गन्ध को दूर करनेवाली है । **मात्रा**-१ रत्ती ।

यूनानीमत—कस्तूरी तीसरे दर्जे में गरम और दूसरे में रूक्ष, सौमनस्यजनन आमाशय-हृदय-ज्ञानेन्द्रिय और मस्तिष्क को बलप्रद, प्राकृत देहाग्नि को बढ़ानेवाली, दोषों को पतला करनेवाली, उष्णताजनन, वाजीकर और आक्षेपहर है । हृदय और मस्तिष्क की दुर्बलता, हृदय की धड़कन वातिक उन्माद, अपस्मार, अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), संन्यास, विस्मृति, पक्षाघात, अर्दित, स्वाप (सुन्नता), कम्पवात, काली खांसी आदि श्लैष्मिक, वातिक और आक्षेपयुक्त रोगों में कस्तूरी का उपयोग करते हैं । **अहित**—उष्ण प्रकृतिवालों के लिये । **निवारण**—अर्क गुलाब । **प्रतिनिधि**—जुंदबेदस्तर, अंबर और जबाद ।

---

(८) कोश ।

नाम--(सं.) कोश; (हिं.) रेशम का कोया, कोसा; (अ.) इबरेशम; (फा.) अबरेशम, आबरेशम; (अं.) सिल्क पॉड (Silk pod) ।

रेशम के कीडे को (सं.) कोशकार; (हिं.) कुसियारी, किरीम पिल्ला; (अ.) दूदुल हरीर; (फा.) किर्म आबरेशम; (अं.) सिल्कवर्म (Silk worm) कहते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष में रेशम कश्मीर, बिहार, बंगाल और महीसूर में होता है ।

वर्णन—अबरेशम एक कीडे (किरम पिल्ला) का घर है जिसे वह अपने मुख की लार से अपने ऊपर बनाता है । यह कीड़ा शहतूत के वृक्ष पर पाला जाता है और शहतूत के पत्ते खाकर अपना पोषण करता है । जब वह शहतूत की पत्तियाँ खाकर पुष्ट होता है तब उसके मुख से एक तार निकलने लगता है और किरमपिल्ला उस तार से पत्र पर अपना घर बनाने के लिये उसे बुनना प्रारम्भ करता है, जिसमें वह स्वयं आवृत हो जाता है । इस प्रकार इस कीडे के बनाए हुए लम्बगोल (अंडाकार) कोश को रेशम का कोया-अबरेशम कहते हैं । कीड़ा कोये के भीतर मर जाता है । अबरेशम का आसानी से चूर्ण नहीं होता, इस लिये मरा हुआ कीड़ा निकाल, कैंची से कतर कर चूर्ण करते हैं । इस प्रकार बनाया हुआ चूर्ण यूनानी दवा बेचनेवाले पन्सारियों के यहां 'अबरेशम मुकर्रज' के नाम से मिलता है ।

गुण-कर्म—**यूनानीमत**—पहले दर्जे में उष्ण और रूक्ष, सौमनस्यजनन, मस्तिष्क-हृदय-यकृत-फुफ्फुस और आमाशय को बल देनेवाला, चेहरे के रंग को

निखारनेवाला, दोषों को पतला करनेवाला, कफ को निकालनेवाला और जलाया हुआ लेखन तथा व्रणरोपण है। ऊपर लिखे हुए गुणों के कारण इसको मुफर्रेह, याकूती, जवाहर मोहरा और माजूनों के कल्पों में डालते हैं। जलाया हुआ (मसीकृत) अबरेशम, नेत्रव्रण, नेत्रस्राव, नेत्रकण्डू प्रभृति नेत्ररोगों में सुरमे की भाँति आँख में लगाया जाता है। मात्रा—१।।—३ माशा। रेशम को जलाकर बनाया हुआ चूर्ण सद्योव्रण पर छिड़कने से रक्तस्राव बंद होता है और व्रण शीघ्र भर जाता है।

(९) गन्धमार्जारवीर्य (जबाद)।

नाम—(सं.) गन्धमार्जारवीर्य; (दक्षिणभारत)–पुनुगु; (अ.) जबाद; (अं.) सिवेट[1] (Civet)।

वर्णन—यह गन्धमार्जार (मुश्कबिल्ली) नामक प्राणी की पूंछ के नीचे की थैली से मिलनेवाला सुगन्धि द्रव्य है। नया होने पर यह पिलाई लिये सफेद रंग का, नरम;

---

[1] हिंदुस्तानी एकेडेमी संयुक्तप्रान्त-प्रयागद्वारा प्रकाशित जन्तुजगत नामक ग्रन्थ में, पृ. ३६२ पर सिवेट बिल्ली का चित्र तथा पृ. ३७५–३७७ पर उसका वर्णन किया है। "कद बिल्ली का सा किन्तु दूम बड़ी लम्बी होती है। शरीर पर गहरे रंग के धब्बे होते हैं। ××× पूंछ के नीचे की थैली बहुत बडी और दो भागों में विभक्त होती है, उस में जो द्रव पदार्थ बनता है उसको भी सिवेट ही नाम दिया जाता है। प्राकृतिक दशा में सिवेट की गन्ध अत्यन्त तीक्ष्ण या असह्य होती है, किन्तु अन्य वस्तुओं के संग मिलाकर तैयार की जाती है, तो उसमें कस्तूरी की सी सुगन्ध आने लगती है। ×××। सिवेट को एक तंग पिंजरे में खड़ा कर देते हैं और थैली में से द्रव पदार्थ को निचोड़ लेते हैं (जन्तुजगत् पृ. ३७६)। इस ग्रन्थ में सिवेट की सिवेटा वाइवेरा (Civetta viverra) मालबार की सिवेट, वाइवेरा झीबेथा (Viverra Zibetha) भ्रान; और वाइवेरा मेलेसिन्सिस् (Virvera Malaccensis) मुश्कबिल्ली; इन तीन जातियों का वर्णन किया गया है। विशेष विवरण वहीं देखें।

कैयदेव निघण्टु में कविराज सुरेन्द्रमोहनजी लिखते हैं कि मालबार में कृषक लोग क्षेत्रों में बाँस गाड़ देते हैं। यह मार्जार उस पर अपना शिश्न घर्षण कर के वीर्य निकाल देता है जो बाँस पर लग जाता है। कृषक लोग उसे संग्रह कर के बेंच देते हैं। ×××। कई लोग इस गन्धबिड़ाल को मारकर उसका अंडकोष उलटा कर के ग्रन्थियाँ फेंक देते हैं और उल्टे हुए कोश में तृण भरकर शुष्क कर के बेच देते हैं। कलकत्ता में यह शुष्ककोश 'खट्टाशी' नाम से मिलता है। बंगाली वैद्य नारायण तैल आदि को सुगन्धित करने के लिये खट्टाशी उसमें छोड़कर मंद अग्नि से पकाते हैं। इसे एक रत्ती की मात्रा में शर्करादि में मिलाकर खिलाते हैं (क. नि. पृ. २४१–२४२ पर पादटिप्पणी)।

और गाढे मधु के समान होता है । पुराना होने पर रंग में कुछ श्यामता आ जाती है । दक्षिण भारत के बेंगलोर,मायसोर, मदुरा आदि शहरों में यह 'पुनुगु' या 'जबादी' नाम से सुगन्धि द्रव्य बेचनेवालों के यहाँ मिलता है ।

गुण-कर्म—"गन्धमार्जारवीर्यं तु वीर्यकृत् कफवातनुत् । कण्डुकुष्ठहरं नेत्र्यं सुगन्धिं स्वेदगन्धनुत् ।।" (भा. प्र.) ।

जबाद वाजीकर, नेत्र्य, सुगन्धि तथा कफ, वात, कण्डू और स्वेद की दुर्गन्ध को दूर करनेवाला है ।

यूनानीमत—जबाद दूसरे दर्जे में उष्ण तथा तरी और खुश्की में मातदिल (समस्निग्धरूक्ष),सौमनस्यजनन, आवीजनन (सुखप्रसवकर), हृदय और ज्ञानेन्द्रियों को बल देनेवाला और पीड़ाशामक है । १।। माशे जबाद को थोड़ा केशर और मुर्गे के मांसरस के साथ गर्भवती स्त्री को प्रसवकाल में पिलाने से सुखपूर्वक प्रसव होता है । प्रसव होने में विलंब होने पर तथा वातज मूत्रावरोध में जबाद का नाभि और पेडू पर लेप करने से प्रसव शीघ्र होता है और पेशाब छूटता है । इसे सूंघने से प्रतिश्याय, शिर:शूल और अर्धावभेदक आराम होता है । इसे बादाम के तैल में मिलाकर कान में टपकाने से श्रवणशक्ति बलवान होती है । शिश्न पर इसका लेप लगाकर संभोग करने से अधिक आनंद होता है और गर्भधारणा नहीं होती । इसके मर्दन से पीड़ा शांत होती है ।

(१०) गोरोचन ।

नाम—(सं.) गोरोचना; रोचना, गोपित्त; (हिं., बं., म.) गोरो (लो.)चन; (गु.) गोरोचन, गोरुचंदन; (उर्दू) गावरोहन; (अ.) हजरल् बकर; (फा.) संगगाव ।

वर्णन—यह गाय या बैल के पित्ताशय में होनेवाली अश्मरी (पथरी) है । इसका आकार गोल या अंडे जैसा, रंग श्यामता लिये पीला और स्वाद कड़ुआ (तिक्त) होता है । इसमें सुगन्ध भी होती है ।

गुण-कर्म—गोरोचना रसे तिक्ता उष्णवीर्या च पाचनी । हन्ति वातं कफं पाण्डुं कामलां श्वित्रमेव च ॥

गोरोचन रस में तिक्त, उष्णवीर्य तथा वात, कफ, पाण्डुरोग, कामला और श्वित्र को दूर करनेवाला है ।

यूनानीमत—गोरोचन दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, श्वयथुविलयन;वातहर, बृंहण, मूत्रल, आर्तवजनन तथा अश्मरीघ्न है । इसका लेप श्वित्र, चेहरे के काले

दाग और अर्श में लाभ पहुँचाता है। प्रतिदिन २। माशे गोरोचन को अर्क गुलाब में पीस कर अपस्मारी को पिलाने से फिर उम्रभर रोग का पुनराक्रमण नहीं होता। इसको नेत्र में लगाने से जाला कट जाता है और दृष्टि तीव्र होती है।

---

(११) जुंदबेदस्तर।

नाम—(अ.) जुंद, जुंदबेदस्तर; (फा.) गुंदबेदस्तर; (ले.) कॅस्टोरियम् (Castorium)।

वर्णन—यह शशा (खरगोश) जाति के कॅस्टर् फाइबर् या बीवर (Castor Fiber or Beaver) नाम के कुतरनेवाले जल-स्थलचर प्राणी के दो वृषणों से प्राप्त होनेवाला द्रव्य है। यह वृषण २॥ इंच लंबे, भारी और खाकी श्यामवर्ण ना होते हैं ऊपर की त्वचा निकाल कर भीतर का द्रव्य काम में लाया जाता है। यह स्वाद में तिक्त और कुछ चरपरा, रंग में कुछ श्यामता और पिलाई लिये गहरा लाल, कस्तूरी की सी विशेष सुगन्धवाला और राल जैसा होता है। ईथर और मद्य में विलीन होता है। इसमें उड़नेवाला तैल, राल तथा कॅस्टोरीन् नाम का सत्त्व पाया जाता है।

गुण-कर्म—यूनानी मत—तीसरे दर्जे में उष्ण और दूसरे दर्जे में रूक्ष, श्वयथुविलयन, उष्णताजनन, उपोषण, दोषों को पतला करनेवाला, नाडीबलदायक, वेदनास्थापन, वातानुलोमन, आर्तवजनन, मूत्रल, वात-कफनाशक और आक्षेपहर है। हिस्टीरिया, अपस्मार (मृगी), काली खांसी (Hooping Cough); श्वास-कास, नाडीदौर्बल्य, कम्पवात, स्वाप (सुप्तता), अर्दित, पक्षाघात, आमवात, नपुंसकता और मस्तिष्क के शीतजन्य रोगों में इससे लाभ होता है। इसका तिला (पतला लेप) ध्वजभंग में लाभ पहुँचाता है। मात्रा–२–४ रत्ती।

---

(१२) (तेलनी) मक्खी।

नाम–(सं.) तैलमक्षिका, स्नेहमक्षिका; (हिं.) तेलनी मक्खी; (अ.) जरारीह; माइलॅब्रिस् साइकोरिआई (Mylabris Chicorii)।

वर्णन–यह उत्तर भारतवर्ष और काश्मीर में वर्षा ऋतु में पाई जाती है। पाश्चात्य वैद्यक में यूरोप में पाई जानेवाली केन्थेरिस् वेसिकेटोरिया (Cantharis Vesicatoria) नामक इसकी जाति का प्रयोग होता है। यह एक इंच लम्बी और ½ इंच चौड़ी होती है। इसके काले रंग के दो लंबे पर होते हैं, जिन पर नारंगी

रंग की दो आड़ी रेखाएँ होती हैं। इन परों की जड़ की ओर एक बड़ा नारंगी रंग का बिन्दु होता है। इन बड़े परों के नीचे झिल्ली के समान दो भूरे पर और होते हैं।

गुण-कर्म--यूनानीमत-यह शोणितोत्क्लेशक, विस्फोटजनन; मूत्रल और वाजीकर है। इसके सूक्ष्म चूर्ण को तिलतैल में खूब मर्दन करके वाजीकरण के लिये शिश्नपर तथा किलास-सफेद कोढ़, छीप वा झाई, खालित्य और गंजपर इसका तिला (पतला लेप) करते हैं। वाजीकरण तथा मूत्र और आर्तव की प्रवृत्ति के लिये-।।-२ रत्ती की मात्रा में चूर्ण खिलाया जाता है।

नव्यमत—इसमें कॅन्थेराइडिन् (Cantharadin) नाम का सत्त्व, उड़नेवाला तैल, कषाय द्रव्य और चरबी होती है। बाह्य प्रयोग से यह प्रदाहकारक, प्रत्युग्रतासाधक और त्वचा पर फोड़ा उठानेवाली है। आभ्यन्तर प्रयोग से उत्तेजक, मूत्रकारक और कामोद्दीपक है। इसका वीर्य चर्मद्वारा शरीर में शोषित होता है। अन्नवह स्रोतस, मूत्रयन्त्र और जननेन्द्रिय पर उसकी क्रिया विशेषरूप से प्रकाशित होती है। बारंबार पेशाब करने की चेष्टा, पौरुषग्रन्थि (Prostate Gland) और मूत्रनलिका में अत्यन्त वेदना तथा लिङ्गोच्छ्राय में इसके टिंक्चर की १ बूंद एक औंस जल में मिलाकर देने से उपकार होता है। मात्रा से $\frac{१}{१०}$ से $\frac{१}{२}$ ग्रेन वटिका के रूप में देना चाहिये।

------

(१३) दुग्ध और दुग्धविकार।

नाम-(सं) दुग्ध, क्षीर, पयस्, स्तन्य; (हिं., म., गु.) दूध; (सि.) खीर; (ता.) पाल; (अ.) लबन; (फा.) शीर; (ले.) लेक्टस् (Lactus); (अं.) मिल्क (milk)।

वर्णन-दूध एक प्रसिद्ध द्रव पदार्थ है जो स्तन्यपोषित प्राणियों की मादा के स्तन को दबाने से प्राप्त होता है। आयुर्वेद में गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ी, गदही, हथिनी, ऊंटनी और नारी-इसके दूध का वर्णन पाया जाता है।

गुण-कर्म-प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयो मतम्। प्रीणनं बृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम्।। जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिबर्हणम्। हन्ति शोणितपित्तं च सन्धानं विहतस्य च।। सर्वप्राणिभृतां सात्म्यं-शमनं शोधनं तथा। तृष्णाघ्नं दीपनीयं च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च।। पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे। अतिसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विशेषतः।। योनिशुक्रप्रदोषेषु मूत्रेषु प्रदरेषु च। पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम्।। नस्यालेपावगाहेषु वमनास्थापनेषु च। विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र युज्यते।।" (च. सू. अ.१)। "तत्र सर्वमेव क्षीरं सर्वप्राणिभृतामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यत्वात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि

विकारेष्वविरुद्धं, जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममददाहपिपासाहृद्बस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोग-गर्भास्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं बृंहणं संधानं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम्।" (सु. सू. अ. ४५)। "स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्। गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥ तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्। प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्॥ महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः। स्नेहान्न्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत्॥ छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयः लघु रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम्॥ जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः। नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम्।" (च. सू. अ. २७)। "अल्पाभिष्यन्दि गोक्षीरं स्निग्धं गुरु रसायनम्। रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः॥ जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्। गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम्॥ दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत्। अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात्॥ नात्यम्बुपानाद्व्यायामात् सर्वव्याधिहरं पयः। आविकं मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफापहम्॥ पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसंभवे। महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निसादनम्। निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु॥ नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्। नस्याश्च्योतनयो पथ्यं जीवनं लघु दीपनम्॥ प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम्। रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा॥ दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात्। श्रमघ्नं वातनुच्चैव चक्षुष्यं चापराह्णिकम्॥ पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रायशः परिकीर्तितम्। वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम्॥ धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा। तदेवातिशृतं शीतं गुरु बृंहणमुच्यते॥ अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्। वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत्॥" (सु सू. अ. ४५)। "कासश्वासहरं क्षीरं गार्दभं बालरोगनुत् मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं गुरु॥" (ध. नि.)।

सर्व प्रकार का दूध प्रायः मधुर,स्निग्ध,शीतवीर्य,प्रीणन,(तर्पण),बृंहण,वृष्य, मेध्य,बल्य,मनोबल को बढ़ानेवाला(या मन को प्रसन्न करनेवाला),जीवनीय,श्रमहर, सर्वप्राणियों को जन्म से ही सात्म्य, शमन, शोधन; तृषाहर, दीपन, संधानीय,वयःस्थापन,आयुष्य,ओज को बढ़ानेवाला, रसायन, बालक-वृद्ध-क्षत से क्षीण तथा भूख-स्त्रीसंग और व्यायाम से कृश हुए-इनके लिये अति पथ्य है। दूध श्वास,खाँसी,रक्तपित्त,पाण्डुरोग,अम्लपित्त,शोष,राजयक्ष्मा,धातुक्षय,उदर,अतिसार,प्रवाहिका(पेचिश) जीर्ण ज्वर, दाह, शोथ, योनि(गर्भाशय के) रोग,शुक्रदोष, मूत्ररोग, प्रदर,मल का

ग्रथित होना (मल के सुद्द पड़ना), वातरोग, पित्तरोग, रक्तविकार, मानसरोग, गुल्म, उन्माद, मूर्च्छा, भ्रम, मद, तृष्णारोग, हृद्रोग, मूत्राशय के रोग, ग्रहणीरोग, अर्श, शूल, उदावर्त, गर्भस्राव, श्रम और क्लम को दूर करनेवाला है। नस्य, आलेपन, अवगाहस्वेद, वमन; आस्थापनबस्ति, विरेचन और स्नेहनक्रिया में दूध का उपयोग होता है। गाय का दूध अल्प अभिष्यन्दि, रस और विपाक में मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, गुरु, रसायन, उत्तम जीवनीय तथा वात, पित्त और रक्तपित्त को दूर करनेवाला है। बकरी का दूध–गाय के दूध के समान गुणवाला, कषाय, मधुर, शीतवीर्य, दीपन, लघु, संग्राहि तथा श्वास, खांसी, अतिसार, ज्वर और रक्तपित्त के रोगियों को-विशेष करके क्षयवालों को हितकर है। बकरियों का शरीर छोटा-हलका होने से तथा बकरियां कटु और तिक्त रसवाली वनस्पतियां खाती है, पानी कम पीती हैं और अधिक परिश्रम करती है इसलिये उनका दूध सर्वव्याधिहर होता है। भेड़ का दूध मधुर, स्निग्ध, गुरु, पित्त-कफवर्धक तथा केवल वात से उत्पन्न रोगों में और वातिक कास में हितकर है। भैंस का दूध विशेष अभिष्यन्दि, मधुर, जठराग्नि को मन्द करनेवाला, गाय के दूध से अधिक शीत, और स्निग्ध तथा निद्रा लानेवाला है। जिसकी जठराग्नि प्रबल हो उसके लिये भैंस का दूध हितकर है। नारी-स्त्री का दूध मधुर, कषायानुरस, शीत जीवनीय, लघु, दीपन, सात्म्य तथा रक्तपित्त में नस्य और नेत्ररोग में तर्पण और आश्च्योतन में पथ्य है। गधी का दूध मधुर, अम्ल, लवणानुरस, रूक्ष, गुरु, तथा श्वास, खांसी और बालकों के रोगों को दूर करनेवाला है। दिन की अपेक्षया रात्रि में शीत होता है और उस समय पशु व्यायाम नहीं करते इसलिये प्रातःकाल का दूध गुरु, विष्टम्भि और शीतल होता है। दिन में पशु सूर्य के ताप में और खुली हवा में फिरते हैं तथा चलने-फिरने का परिश्रम करते हैं इसलिये शाम का दूध श्रमहर, वातघ्न और चक्षुष्य होता है। धारोष्ण दूध गुणकारक है। कच्चा–ठंढा दूध अवगुण करता है। गरम किया हुआ दूध लघु और अभिष्यंद न करनेवाला होता है। नारी का दूध ठंडा ही हितकर होता है। पकाकर गाढ़ा किया हुआ (अतिसूत) दूध शीत, गुरु और बृंहण होता है। जिस दूध में अप्रिय गंध आती हो, जिसका वर्ण रस–स्वाद बदल गया हो, तथा जो अम्ल और किंचित् लवण रसवाला तथा फट गया हो ऐसे दूध का उपयोग नहीं करना चाहिये।

---

(१४) दधि–दही।

नाम—(सं.) दधि; (हि.) दही; (गु.) दहीं; (बं.) दई; (अ.) लुगरात; (फा.) जुगराज; (अं.) कर्ड्स (Curds)।

वर्णन—दही या किसी खटाई का जामन देकर जमाया हुआ दूध।

दधिगुणाः—"रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम् । पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि ।। पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे । अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते ।।" (च. सू. अ. २७) । "दधि तु मधुरमम्लमत्यम्लं चेति । तत् कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मङ्गल्यं चेति । महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदोविवर्धनम् । कफपित्तकृदम्लं स्यादत्यम्लं रक्तदूषणम् ।। विदाहि सृष्टविण्मूत्रं मन्दजातं त्रिदोषकृत् । स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम् ।। वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुचिप्रदम् । दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम् ।। दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम् । विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम् ।।बलासवर्धनं स्निग्धं विशेषाद्दधि माहिषम् । वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् ।। कुर्याद्भक्ताभिलाषंच दधि यत् सुपरिस्रुतम् । शृतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ।। वातपित्तहरं रुच्यं धात्वग्निबलवर्धनम् । दधि त्वसारं रूक्षं च ग्राहि विष्टम्भि वातलम् । दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ।।" (सु. सू. अ. ४५) ।

दही मधुर, अम्ल और अत्यम्ल तीन प्रकार का होता है । सब प्रकार के दही समान्यतः कषायानुरस,विपाक में अम्ल,उष्णवीर्य, स्निग्ध, रुचिकर, दीपन, वृष्य, बृंहण, बलकर, मङ्गल्य तथा (पक्व) पीनस, अतिसार, शीतपूर्व विषमज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र और कृशता को दूर करनेवाले हैं । मीठा दही अभिष्यन्दि तथा कफ और मेद को बढ़ानेवाला है । खट्टा दही कफ और पित्त करता है । अति खट्टा दही रक्त को दूषित करनेवाला, विदाही और मल मूत्र को साफ लानेवाला है । कच्चा (बराबर न जमा हुआ) दही तीनों दोषों को उत्पन्न करता है । गाय का दही स्निग्ध, विपाक में मधुर, दीपन, बलवर्धक, पवित्र, रुचिकर और वातहर है । बकरी का दही लघु, अग्निदीपन तथा कफ-पित्त वात को हरनेवाला और क्षय; अर्श, श्वास तथा खाँसी में हितकर है । भैंस का दही विपाक में मधुर, वृष्य, बलवर्धक, स्निग्ध तथा वात और पित का शमन करनेवाला है । कपड़े में बांधकर पानी निकाला हुआ दही वातघ्न, कफकर,स्निग्ध, किंचित् पित्तकर तथा अन्न-पर रुचि उत्पन्न करनेवाला है । कढ़ाये हुए दूध से जमाया हुआ दही गुणकर, वातपित्तहर, रुचिकर तथा रसादि धातु-जठराग्नि और बल को बढ़ानेवाला है । मक्खन (क्रीम) निकाले हुए दूध को जमाकर बनाया हुआ दही रूक्ष, ग्राही, विष्टम्भि, वातकर, दीपन, अति लघु, कुछ कषाय और रुचिकर होता है ।

* * *

(१५) तक्र ।

नाम—(सं.) तक्र, मथित, घोल, उदश्वित् ; (बं.) घोल; (हिं.) छाछ, मठा, मठ्ठा, मही; (म.) ताक; (गु.) छास, छाश, मठो; (अ.) मखीस; (फा.) दोग; (अं.) बटर मिल्क (Butter milk) ।

वर्णन–दही में जल मिला, मथकर तैयार किये हुए द्रव पदार्थ को तक्र कहते हैं। दही में बिना जल मिलाये मथकर तैयार किये हुए पदार्थ को घोल या मथित कहते हैं। गरम दूध में खटाई (मस्तु या नीबू का रस) डाल, फाड़कर द्रवांश पृथक् किये हुए गाढे पदार्थ को कूर्चिका कहते हैं। दही छाछ या कूर्चिका के ऊपर के केवल द्रवांश को मस्तु कहते हैं। कूर्चिका को हिन्दी में छेना, अरबी में जुब्न और फारसी में पनीर कहते हैं। मस्तु को (अ) माउल जुब्न,(फा.) आब पनीर और (अं.) व्हे (Whey) कहते हैं।

तक्रगुणा:–"तक्रं तु मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघुरूक्षमग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्श:प्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेद:श्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यं च। मन्थनेन पृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत्। नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे॥ तत् पुनर्मधुरं श्लेष्मप्रकोपणं पित्तप्रशमनं च; अम्लं वातघ्नं पित्तकरं च। वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं, पित्ते स्वादु सशर्करम्। पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम्॥" (सु. सू. अ. ४५)। "तद्वन्मस्तु सरं स्रोत:शोधि विष्टम्भजिल्लघु।" (अ. हृ. सू. अ. ५)। "रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्। तक्रं दोषाग्निबलवित्त्रिविधं तत् प्रयोजयेत्॥ स्रोत:सु तक्र शुद्धेषु रस: सम्यगुपैति य:। तेन पुष्टिर्बलं वर्ण: प्रहर्षश्चोपजायते॥ (च. चि. अ. १४)।

तक्र मधुर, अम्ल, कषायानुरस, मधुरविपाक, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, दीपन, हृद्य, अवृष्य तथा गर (कृत्रिमविष), शोथ, अतिसार, ग्रहणीदोष, पाण्डुरोग, अर्श, प्लीहा, गुल्म, अरुचि, विषमज्वर, तृषा, वमन, प्रसेक, शूल, मूत्रकृच्छ्र, स्नेहव्यापत्ति, मेदोरोग कफ और वात को दूर करनेवाला है। ये तक्र के गुण जिसमें दही से आधा जल डाल, मथकर स्नेहांश निकाल लिया हो, जो न बहुत पतला और न बहुत गाढ़ा हो तथा रस में मधुर अम्ल और कषाय हो, ऐसे तक्र के समझने चाहिये। मीठा (मधुररसाधिक) तक्र कफप्रकोपक और पित्तप्रशमन तथा खट्टा (अम्लरसाधिक) तक्र वातहर और पित्तकर है। वातप्रकोप में अम्ल और सैन्धवयुक्त, पित्तप्रकोप में मधुर और शर्करायुक्त तथा कफप्रकोप में त्रिकटु और यवक्षार का चूर्ण मिलाया हुआ तक्र देना चाहिये। वैद्य दोष और जठराग्नि का बल देखकर सर्व स्नेहांश (मक्खन) निकाले हुए, आधा स्नेहांश निकाले हुए या बिल्कुल स्नेहांश न निकाले हुए तक्र का प्रयोग करें। तक्र से स्रोतस्-मार्ग शुद्ध होने पर जो रस सम्यक्तया शरीर में पहुंचाता है,

---

(१) वैदिक साहित्य में कूर्चिका को आमिक्षा और कूर्चिका मस्तु को वाजिन कहते हैं। "आमिक्षा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्याद्दधियोगत:।" (अमरकोश १८)। "तन्मस्तुनि तु वाजिनम्।" (अभिधानचिन्तामणि)।

उससे पुष्टि, बल, वर्ण और हर्ष उत्पन्न होता है। मस्तु तक्र के समान गुणवाला, सारक, स्रोतों का शोधन करनेवाला, विष्टम्भ को दूर करनेवाला और पचन में हलका-लघु है।

---

(१६) नवनीत।

नाम–(सं.) नवनीत, हैयङ्गवीन; (बं.) नोनी; (हि.) मक्खन, माखन, मसका; (म.) लोणी; (गु.) माखण; (अ.) जबद; (अं.) बटर।

नवनीतगुणाः–"नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघुसुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोर्दितापहं च। क्षीरोत्थितं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्यमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च।" (सु. सू. अ. ४५)।

ताजा मक्खन मधुर, कषाय, कुछ अम्ल, शीतल, लघु, देह को सुकुमार करनेवाला, मेध्य, दीपन, हृद्य, संग्राहि, वृष्य, अविदाहि तथा पित्त, वात, धातुक्षय, खांसी, व्रण, राजयक्ष्मा, अर्श और अर्दित को दूर करनेवाला है। दूध से निकाला हुआ मक्खन उत्कृष्ट स्नेह और मधुरतावाला, अति शीत, सुकुमारता लानेवाला, नेत्र के लिये हितकर, प्रसादन तथा रक्तपित्त और नेत्ररोग को दूर करनेवाला है।

---

(१७) घृत।

नाम–(सं.) घृत, सर्पिस्; (हि., गु.) घी; (बं.) घि; (म.) तूप; (अ.) सम्न; (फा.) रोगन जर्द।

घृतगुणाः–"शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुः शुक्रचक्षुषाम्। बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्॥ क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्। वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥ स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्।" (अ. सू. हृ. अ. ५)। "घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्। निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम्॥" (च. सू. अ. १३)। "स्मृतिबुद्धयग्निशुक्रौजःकफमेदोविवर्धनम्। सर्वस्नेहोत्तमं सर्पिर्मधुरं रसपाकयोः॥" (च. सू. अ. २७)। "सर्पिर्मण्डस्तु मधुरः सरो योनिश्रोत्राक्षिशिरसां शूलघ्नो बस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते।" (सु. सू. अ. ४५)।

घृत रस और विपाक में मधुर, शीतवीर्य सर्व स्नेहों में उत्तम, दाहशामक, उत्तम वयःस्थापन, मार्दवकर, स्वर और शरीर के वर्ण को अच्छा करनेवाला, बुद्धि स्मरणशक्ति मेधा जठराग्नि-बल-आयुष्य-शुक्र-दर्शनशक्ति-ओज-कफ और मेद–इनको बढ़ानेवाला, बालक-वृद्ध तथा सन्तान और सौकुमार्य की इच्छा रखनेवालों के लिये हितकर तथा वातपित्त-विष-उन्माद-शोष–अलक्ष्मी और जीर्णज्वर को दूर

करनेवाला है। घृतमण्ड (घृत के ऊपर का द्रवांश) मधुर, सारक तथा योनि-कर्ण और सिर के शूल को दूर करने वाला है। बस्तिकर्म, नस्य और नेत्रपूरण में घृतमण्ड का उपयोग किया जाता है।

वक्तव्य–माता या धात्री का दूध बालक सीधा स्तन से ही सेवन करता है, उसमें बाह्य वायुस्थित धूल के कण और रोगोत्पादक जीवाणुओं का संसर्ग सर्वथा नहीं होता, इसलिये वह अधिक उत्तम होता है। उससे कुछ न्यून गुणवाला धारोष्ण दूध है। क्योंकि धारोष्ण दूध में किसी प्रकार का विषम परिवर्तन नहीं होता, उस में धूलिकण तथा जीवाणु प्रविष्ट नहीं होते, शरीर की उष्णता के समान गरम होता है, इसलिये पचनसुलभ होता है और दूध में होनेवाले शरीर–पोषक सर्व उपादान तथा जीवनीय द्रव्य (विटामिन्स) शुद्ध और नैसर्गिक अवस्था में मिलते हैं। धारोष्ण दूध भी स्वच्छ हाथों से स्वच्छ पात्र में स्वस्थ प्राणी के स्वच्छ स्तनों से निकालकर स्वच्छ वस्त्र से छानकर गरम-गरम पीना चाहिये। अन्यथा उसमें भी कुछ विकृति होने की संभावना है। जहां धारोष्ण दूध सुलभ हो वहां वही पीना चाहिये। धारोष्ण दूध न मिल सके तो अविकृत दूध को कंडे, लकड़ी या लकड़ी के कोयलों की निर्धूम मंद अग्निपर उबालकर पीना चाहिये। दूध को तेज अग्निपर और अधिक समय उबालने से उसके पोषक तत्त्व न्यून हो जाते हैं। दूध साधारण गरम हालत में पीना चाहिये। यदि रोगी को दिन भर केवल दूध के पथ्यपर रखना हो तो दूध को एकवार उबाल आवे इतना गरम करके अंगीठी में पानी गरम रहे इतनी अग्नि रखकर उस पर आधा पानी भरा हुआ बर्तन और उसपर दूध का बर्तन ढक कर रखना चाहिये। इससे दूध पीने लायक गरम रहता है और गाढ़ा भी नहीं होने पाता।

मिट्टी,काच,पत्थर या स्टेनलेश स्टील के पात्र में दही जमाना और रखना चाहिये। दूध को गरम कर,साधारण गरम हो ऐसी हालत में उसमें किंचित् अम्लदही का जामन दे कर दही तैयार करना चाहिये[१]। दही अधिक समय पड़ा रहने से अत्यम्ल और

---

[१] "लॅक्टिक अम्ल तैयार करनेवाले जीवाणुओं की प्रतिक्रिया (Reaction) दूध पर होने से दही बनता है। ये जीवाणु दूध में अभिषव (Fermentation) उत्पन्न करके दुग्धशर्करा का अधिकांश भाग लॅक्टिक अम्ल में परिवर्तित करते हैं। इस अम्ल के कारण दूध के मेद और प्रोटीन जम जाते हैं और दही बनता है। पौष्टिकता की दृष्टि से दूध के सर्व उपादान दही में भी मिलते हैं। केवल दुग्धशर्करा के स्थान में दुग्धाम्ल तथा दुग्धाम्लजनक जीवाणु होते हैं। ये दुग्धाम्ल–जनक जीवाणु अन्य जीवाणुओं का नाश करते हैं। यथाविधि दही सेवन करने से अन्न में होनेवाले जीवाणु तथा उनका विष नष्ट हो जाता है। पचनसंस्थान के अनेक विकारों में दही बहुत गुणकारक होता है (सुश्रुतसंहिता की व्याख्या में डॉ. घाणेकरजी के वक्तव्य से संक्षेप में उद्धृत)।

दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। ऐसे दही का उपयोग नहीं करना चाहिये। अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर आदि पचनसंस्थान के रोगों में दही और छाछ उत्तम पथ्य हैं।

खाद्य द्रव्यों में मक्खन सब से अधिक हलका पदार्थ है तथा उसका संपूर्ण पचन और शोषण आँतों में होता है। इसलिये क्षय, शरीरकृशता आदि रोगों में मक्खन बहुत उपकारी है।

(१८) नख।

नाम—(सं.) नख, व्याघ्रनख, (हिं.) नख; (बं.) नखी; (म., गु.) नखला; (अं.) अज्फारुत्तिब; (फा.) नाखून परियो।

वर्णन——यह एक प्रकार का नख के सदृश सीप की जाति के दरियाई जानवर का मुख के ऊपर का आवरण है, जो समुद्र के किनारे पर पाया जाता है। इसके दो भेद होते हैं—छोटा और बड़ा। छोटे को नख और बड़े को व्याघ्रनख कहते हैं। यह गहरे भूरे रंग का तथा अनेक पटलों से बना हुआ होता है। इसको जलाने से दुर्गन्ध आती है, परन्तु तैल के साथ पकाने से तैल सुगन्धित होता है। चरक ने प्रायोगिक धूम्रपान की वर्ति के योग में (सू. अ. ५, श्लो. २०) श्वयथुचिकित्सा (चि. अ. १६) में शैलेयकादि तैल और प्रदेह में, महासुगन्धहस्ती नामक अगद के योग में (चि. अ. २३), अमृतादि तैल (चि. अ. २८) में तथा वातरक्तचिकित्सा (चि. अ. २९) में शतपुष्पादितैल के योग में अन्य द्रव्यों के साथ नख का प्रयोग करने को लिखा है।

गुण-कर्म—सुश्रुते (सू. अ. ३८) एलादिगणे व्याघ्रनखं पठ्यते। "नखद्वयं ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठनुत्। लघूष्णं शुक्लं वर्ण्यं स्वादु व्रणविषापहम्॥" (भा. प्र.)। "नखः स्वादुष्णकटुको विषं हन्ति प्रयोजितः। कण्डूकुष्ठव्रणघ्नश्च भूतविद्रावणः परः॥" (रा. नि.)।

नख मधुर, कटु, उष्णवीर्य, लघु, शुक्ल, वर्ण्य तथा ग्रह, कफ, वातरक्त, ज्वर, कुष्ठ, व्रण, विष और कण्डू को दूर करनेवाला है।

यूनानीमत——नख दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, शीतजन्य यकृत्-आमाशय और गर्भाशय के दर्द को दूर करनेवाला, यकृत् को शक्ति देनेवाला, अर्शोघ्न, अपस्मार और मूर्च्छा को दूर करनेवाला तथा दोषों को पेशाब के रास्ते से निकालनेवाला है। इसकी धूनी लेना अपस्मार (मृगी) और अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) में लाभप्रद है। मात्रा–२ माशा।

(१९) पारावत ।

नाम–(सं.) पारावत; गृहकपोत; (हिं.) परेवा, कबूतर; (बं.) पायरा; (गु.) पारेवा, कबूतर; (अं.) पिजियन और डव (Pigeon or Dove) ।

वर्णन-यह एक प्रसिद्ध पक्षी है ।

गुण-कर्म–"रक्तपित्तप्रशमनः कषायविशदोऽपि च। विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥" (सु. सू. अ. ४६) । "योषितः सततं यस्या गर्भवत्याः स्रवत्यसृक । पारावतपुरीषं तां पाययेत्तण्डुलाम्बुना ॥'' (गदनिग्रह) ।

परेवा का मांस कषाय,विपाक में मधुर, गुरु, विशद और रक्तपित्त को दूर करनेवाला है। जिस गर्भवती स्त्री को रक्त का अतिस्राव होता हो उसको परेवा की शुष्क बिष्ठा २-५ रत्ती चावल भिगोये हुए जल (तण्डुलोदक) के साथ देने से रक्तस्राव बंद होता है ।

(२०) पित्त ।

नाम–(सं.) पित्त, मायु; (अ.) सफरा; (अं.) बाइल (Bile) ।

वर्णन–पित्तकोष में संचित कुछ पीले, लाल, भूरे या हरे रंग के द्रव को पित्त कहते हैं। इसका रस तिक्त, कुछ मधुर और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है[1]।

'महिषक्रोडमत्स्यानां छागस्य च शिखण्डिनः। कृष्णाहिरोहितानां च मार्जारस्य च मायुभिः ॥ प्रोक्तः पित्तगणः"(र. चू. अ. ९) । "पित्तं पञ्चविधं मत्स्यगवाश्वनरबर्हिजम् ।" (रसार्णव ५ पटल) ।

रसेन्द्रचूडामणि में––पित्तगण में भैंसा, वराह (जंगली सूअर), छाग, मयूर, कृष्णसर्प, रोहू मछली और बिल्ली के पित्त का तथा रसार्णव में मछली, गाय, घोड़ा मनुष्य और मयूर के पित्त का उल्लेख मिलता है। चरक में उलूक (चि. अ. ९), गाय (सू. अ. ३, चि. अ. ७–१४–२३–आदि में), शृगाल (चि. अ. ९), मयूर(चि. अ. २३),मत्स्य (चि. अ. ३०),रोहित (चि. अ.२३) और वराह (सू. अ. १४, चि. ३०) के पित्त का उपयोग पाया जाता है। नेपाल, कुमाऊं, गढवाल आदि पहाड़ियों के लोग न्यूमोनिया में भालू (रीछ) के पित्त का प्रयोग करते हैं। कई रसयोगों को मत्स्य आदि के पित्त की भावना दी जाती है। गोरोचन एक प्रकार का जमा हुआ पित्त ही है।

पाश्चात्य चिकित्सा में शोधित वृष(बैल के)पित्त (Purified ox-bile) का औषधार्थ उपयोग किया जाता है। पित्त मृदुविरेचक, पित्तनिःसारक, जीवाणु नाशक और मूत्रल हैं। पुरातन मलावरोध विशेषत: पित्तनि:सरण की अल्पता से उत्पन्न मलकाठिन्य, पाण्डुरोग और अन्त्रस्थ विषों को नष्ट करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

---

[1] विशेष विवरण शरीरक्रियाविज्ञान, अ. २३ में देखें।

एक औंस मत्स्यपित्त जल में मिलाकर बस्ति देने से मलावरोध दूर होता है।

गोह, नेवला, हाथी, हरिण, रीछ (भालू) और गाय इनमें से किसी एक के समभाग पित्त से सिद्ध किया हुआ तेल पान और अभ्यङ्ग से अपस्मार (मृगी) को दूर करता है[1]। पुष्य नक्षत्र में लिया हुआ कुत्ते के पित्त का अञ्जन करने से अपस्मार नष्ट होता है[2] ।

------

(२१) प्रवाल ।

नाम—(सं.) प्रवाल, विद्रुम; (हिं.) प्रवाल, मूंगा; (बं.) पला; (म.) पोंवळें; (गु.) परवाळा; (अ.) मर्जा (प्रवालशाखा), बुसुद (प्रवालमूल); (फा.) कामः; मर्जा, मर्गा; (लै.) कोरेलियम् रुब्रम् (Corallium Ruburm) । (अं.) कोरल् (Coral) ।

वर्णन--प्रवाल एक प्रकार का प्राणिज द्रव्य है। जो प्रवाल पके हुए बिम्बीफल (कुंदरू के फल) के समान रक्तवर्ण, गोल, अवक्र (टेढ़ा न हो ऐसा), स्निग्ध (स्पर्श में चिकना), व्रण (छेद) रहित तथा स्थूल (मोटा) हो और कसौटी के पत्थर पर घिसने पर अपना रंग न छोड़े वह उत्तम है। औषध के काम में ऐसा प्रवाल लेना चाहिये। जो प्रवाल सफेद या भूरे रंग का, रूक्षस्पर्श, छेदवाला, पोलवाला (पोला) और वजन में हलका हो वह त्याज्य है[3] । प्रवाल को मंगल ग्रह का रत्न माना जाता है।

रासायनिक संगठन—प्रवाल में कॅलशियम् कार्बोनेट्, मेग्नेसिअम् कार्बोनेट् और अल्प प्रमाण में लोह तथा सिकता होते हैं।

गुण-कर्म—"क्षयपित्तास्रकासघ्नं दीपनं पाचनं लघु । विषभूतादिशमनं विद्रुमं नेत्ररोगनुत् ।।" (र. चू. १२) ।" "प्रवालकं सरं शीतं क्षयकासत्रिदोषनुत् ।" (रा. नि.) । "प्रवालं मधुरं साम्लं कफपित्तादिदोषनुत् । वीर्यकान्तिकरं स्त्रीणां धृतं मङ्गलदायकम् ।।" (आ. प्र. अ. १३) । "पिबेत्तया तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे ।" (च. चि. अ. २६) ।

---

[1] "गोधानकुलनागानां पृषतर्क्षगवामपि । पित्तेषु सिद्धं तैलं च पानाभ्यङ्गेषु पूजितम् ।।" (सु. उ. अ. ६१) । [2] "पुष्योद्धृतशुनःपित्तमपस्मारघ्नमञ्जनात् ।" (च. चि. अ. ३१) [3] "पक्वबिम्बीफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम् । स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम् ।। पाण्डुरं धूसरं रूक्षं सव्रणं कोटरान्वितम् । निर्भारं च तथा सूक्ष्मं प्रवालं नेष्यतेऽष्टधा ।।" (र. चू. अ. १२) । 'बालार्ककिरणारक्ता सागरसलिलोद्भवा लता याऽस्ति । न त्यजति निजरुचिं निकषे घृष्टाऽपि सा स्मृता जात्या ।।"(आयुर्वेदप्रकाश) ।

प्रवाल मधुर, किंचित् अम्ल, शीतवीर्य, सारक, लघु, त्रिदोषहर, वीर्य और कान्ति को बढ़ानेवाला, पाचन, दीपन और क्षय, पित्तविकार, रक्तविकार, विष, कास और नेत्ररोग को दूर करनेवाला है। प्रवाल का सूक्ष्म चूर्ण (पिष्टी) चावल भिगोये हुए जल के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र दूर होता है।

प्रवालभस्मगुणाः—"प्रवालं सुमृतं क्षारं मधुरं लघु शीतलम् । दीपनं पाचनं चैव दृष्टिरोगनिषूदनम् ।। त्रिदोषशमनं बल्यं विशेषात् कफवातनुत् । क्षयकास-हरं चैव रक्तपित्तप्रणाशनम् ।। स्वेदातिनिर्गमहरं रात्रिस्वेदहरं परम् । विषघ्नं भूतशमनं वीर्यवर्णविवर्धनम् ।।" (र. त. २३ तरङ्ग)।

प्रवालभस्म—क्षारधर्मी, मधुर, शीतल, दीपन; पाचन, विषहर, बल्य, जीवाणु नाशक, वीर्यवर्धक, शरीर का वर्ण अच्छा करनेवाली तथा नेत्ररोग; क्षय, कास, रक्तपित्त; पसीना अधिक आना, रात्रि में स्वेद आना और तीनों दोष, विशेष कर कफ और वात इनका नाश करनेवाली है।

यूनानीमत—प्रवाल की शाखा (शाखे मर्जां) और जड़ (बुसुद) दूसरे दर्जे में शीत और रूक्ष, संग्राही, रूक्षण, रक्तस्तम्भन, हृदय और मस्तिष्क को बल देनेवाली तथा लेखन है। जीर्ण प्रतिश्याय, खाँसी, रक्तकास, रक्तार्श, रक्तातिसार, अन्त्रव्रण; हृत्स्पन्दन, प्लीहवृद्धि, अश्मरी, प्रमेह और प्रदर में प्रवाल से लाभ होता है। इसका अंजन दृष्टिवर्धक तथा आँख की फूली, नेत्रस्राव और नेत्रकण्डू को दूर करता है। व्रणस्थ दुष्ट मांस को नष्ट करने और व्रण को सुखाने के लिये इसका सूक्ष्म चूर्ण व्रण पर छिड़कते हैं। प्रवाल की भस्म या पिष्टी बनाकर उपयोग किया जाता है। मात्रा–१–३ रत्ती।

प्रवाल को नीबू का रस मिलाये हुए गरम जल में ३ घंटा भिगोकर जल से धो लेने से उसकी शुद्धि होती है। शुद्ध प्रवाल का सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण बना, उसको एक दिन नीबू के रस में और पीछे ३–४ दिन अर्क गुलाब में मर्दन करने से प्रवाल की पिष्टी बनती है। शुद्ध प्रवाल के कपड़छन चूर्ण को गाय के दूध, अर्कक्षीर या ग्वारपाठे के रस में मर्दन करके गजपुट देने से उसकी श्वेतवर्ण की भस्म बनती है। प्रवाल की पिष्टी सौम्य और भस्म तीक्ष्ण होती है। प्रवालभस्म को एक दिन अर्कगुलाब में मर्दन करने से वह विशेष गुणकारक होती है।

------

(२२) फादजहर हैवानी।

नाम—(अ.) फादजहर हैवानी (प्राणिज प्रतिविष); (फा.) बादजहर हैवानी; (बंबई) पेद्रुबझार; (अं.) बेझोर (Bezoar)।

वर्णन—यह एक प्रकार की पथरी (रोचना) है जो पहाड़ी बकरी, हिरण, बारहसिंगा, नीलगाय (गवय), ऊँट आदि चतुष्पाद प्राणियों के आमाशय या आँतों में उत्पन्न होती है। यह आकृति में प्रायः गोल या लम्बगोल होती है, परंतु कभी चौडी भी होती है। इसका रंग-भूरा होता है। वजन १ से १५ तोला तक होता है। इसमें प्याज के छिलकों की तरह परत होते हैं। किसी-किसी के भीतर लकडी का टुकड़ा, ऊन या बेर-छुहारे आदि की गुठली भी होती है। भारतवर्ष में यह आंध्र (तैलंग) और मैसूर में तथा अरबस्तान और ईरान में ऊपर लिखे हुए चतुष्पाद प्राणियों से मिलता है।

गुण-कर्म-यूनानीमत—फादजहर हैवानी दूसरे दर्जे में गरम और तीसरे दर्जे में रूक्ष, सर्व प्रकार के बिषों का निवारक, वाजीकर, बलकारक, प्राकृत देहोष्मा;हृदय-मस्तिष्क-और यकृत् को बल देनेवाला,शोक का निवारण करनेवाला और प्रसन्नता तथा आनन्द उत्पन्न करनेवाला है। प्लेग और हैजे में इससे लाभ होता है। प्लेग की ग्रन्थि और जहरीले जानवरों के दंशस्थान पर इसे जल या मद्य में घिसकर लगाते हैं। मात्रा—१-२ रत्ती। अधिक मात्रा में खाने से शरीर में जलन होती है और कभी-कभी दस्त में खून आने लगता है। निवारण-शीतल द्रव्य।

---

(२३) भूनाग (केंचुआ)

नाम—(सं.) भूनाग, गण्डूपद; (हि.) केंचुआ; केंचुवा; (म.) गांडवळ; (बं.) केंचा; (गु.) अणशळिया, अळशियुं; (अ.) खरातीन; (फा.) किर्म जमी; (अं.) अर्थ वर्म (Earth-Worm)।

वर्णन—यह वर्षा ऋतु में होनेवाला, पेट के बल चलनेवाला, एक वित्ता या उससे कम लंबा और लाल रंग का कीड़ा है।

गुण-कर्म-यूनानीमत—केंचुआ पहले दर्जे में गरम और तर; मूत्रल, अश्मरीघ्न, वाजीकर और श्वयथुविलयन है। ९ मासे केंचुए के चूर्ण का फांट पीने से पेशाब जारी होता है। केंचुए का चूर्ण मांसरस के साथ खिलाने से वृष्य है। इसके चूर्ण का तिला (पतला लेप) शिश्न के शैथिल्य को दूर करता है। मात्रा—१-३ माशा।

केंचुए को हलदी के क्वाथ से धो,उसको मिट्टी-विष्ठा आदि से साफ कर,सुखाकर उपयोग में लेना चाहिये। केंचुए से सत्त्वपातन कर के ताम्र निकालने की कई विधियाँ रसशास्त्र में वर्णित हैं। इस ताम्र को परम विषहर बताया है। चरकने राजयक्ष्मा में केंचुए को आहार के रूप में देने को लिखा है (भृष्टान्मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद्गण्डूपदानपि)।

(२४) मज्जा ।

नाम--(सं.)मज्जा; (अ.)रेड् बोन् मेरो (Red Bone Marrow)।

वर्णन-अस्थियों के मध्यभाग में रहे हुए स्नेह को मज्जा कहते हैं । वह दो प्रकार की होती है-(१) पीली और (२) लाल । नलकास्थियों के भीतर पीले रंग की तथा इतर अस्थियों में और नलकास्थियों के छेड़े के भाग में रक्तवर्ण की मज्जा होती है[1] ।

गुण-कर्म--"बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जाविवर्धन: । मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने हित: ।।" (च. सू. अ. १३) ।

मज्जा बल-शुक्र-वीर्य-रस-कफ-मेद और मज्ज को बढ़ानेवाली, स्नेहन और विशेष करके अस्थियों को बल देनेवाली है ।

दुर्बल बच्चों के पाण्डुरोग (रक्ताल्पता) और फक्करोग (रिकेटस्-Rickets) में तथा रक्तगत श्वेताणुओं की वृद्धि (Leukemia) में मज्जा के सेवन से लाभ होता है।

(२५) मधु ।

नाम--(सं.) मधु, क्षौद्र, माक्षिक, सारघ; (हिं.) मध, शहद (त); (बं.) मधु; (म., गु.) मध; (सि.) माखी; (अ.) अस्ल; (फा.) शहद, अंगबीन; (ले.) मेल (Mel); (अं.) हनी (Honey) ।

वर्णन-यह एक प्रसिद्ध मीठा पदार्थ है, जिसको अनेक प्रकार की मधुमक्खियाँ अनेक प्रकार के फूलों के मकरन्द से संग्रह करके अपने छत्तों में रखती हैं । इसके छत्ते में से शहद को निचोड़ने के बाद उस छत्ते को पानी में पकाकर छान लेने से मोम प्राप्त होता है । मोम को (सं.) मधूच्छिष्ट, सिक्थ (क); (हिं., फा;) मोम; (म.) मेण; (गु.) मीण; (अ.) शमअ्; (अं.) वेक्स (Wax) कहते हैं ।

शोधनविधि-एक जल भरे हुए पात्र के बीच में शहद भरा हुआ पात्र रखकर जल को उतना गरम करें कि शहद पतला हो जाय । बाद नीचे उतार, ऊपर का गाढ़ा भाग चम्मच से निकालकर ऊनी कपड़े (फलानेल) से छानने से मधु साफ हो जाता है । हिमालय की पहाड़ियों का मधु सफेद रंग का होता है । अन्यत्र पिलाई या ललाई लिये श्वेत वर्ण का होता है । मधु पुराना होनेपर दानेदार और कभी-कभी मिश्री के समान हो जाता है । उसको मधुशर्करा कहते हैं । मधु के स्वाद और गन्धपर से किन पुष्पों से वह मधु संगृहीत हुआ है उसका अनुमान हो सकता है । मक्खी पर वह उसमें डूब जावे उतना मधु गेरने पर यदि थोड़ी देर बाद वह उसमें से जीती बाहर निकल आवे तो उस मधु को सच्चा और मक्खी मर जाय तो उस मधु को कृत्रिम समझना चाहिये ।

---

[1] विशेष विवरण शरीरक्रियाविज्ञान, अ. २६ में देखें ।

मधुगुणाः—"मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षमनग्निदीपनं वर्ण्यं स्वर्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरणं शोधनं रोपणं चक्षुष्यं प्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारि पित्तश्लेष्मदोमेहश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाहिक्काप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषशमनं च। तल्लघुत्वात् कफघ्नं, पैच्छिल्यान्माधुर्यात् कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम्। बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम् । मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम्॥ दोषत्रयापहं पक्वमाममम्लं त्रिदोषकृत् । तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून् ॥ नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु॥" (सु. सू. अ. ४५)। "कषायानुरसं रूक्षं शीतलं मधुरं मधु । दीपनं लेखनं बल्यं व्रणरोपणमुत्तमम् ॥ सन्धानं लघु चक्षुष्यं स्वर्यं हृद्यं त्रिदोषनुत् ॥ छर्दिहिक्काविषश्वासकासशोषातिसारजित् । रक्तपित्तहरं ग्राहि कृमितृण्मोहहृत् परम् ॥" (ध. नि.) । "वर्ण्यं मेधाकरं वृष्यं विशदं रोचनं हरेत् । कुष्ठार्शःकासपित्तास्रकफमेहक्लमक्रिमीन् ॥ मेदस्तृष्णावमिश्वासहिक्कातीसारविड्ग्रहान् । दाहक्षतक्षयांस्तत्तु योगवाह्यल्पवातलम् ॥ नवं मधु भवेत् पुष्टयै नातिश्लेष्महरं सरम् । पुराणं ग्राहकं रूक्षं मेदोघ्नमतिलेखनम् ॥ मधुनःशर्करायाश्च गुडस्यापि विशेषतः । एकसंवत्सरेऽतीते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः ॥" (भा. प्र.) । "मधुशर्करा पुनश्छर्द्यतिसारहरी रूक्षा छेदनी प्रसादनी कषायमधुरा मधुरविपाका च।" (सु. सू. अ. ४५) ।

मधु मधुर, कषायानुरस, रूक्ष, लघु, शीतल, दीपन, लेखन, बल्य, सन्धान, चक्षुष्य; स्वर (आवाज) के लिये हितकर, हृद्य, वाजीकर, शोधन, रोपण, प्रसादन शरीर के सूक्ष्म मार्गों तक पहुँचनेवाला, मेधाकर, विशद, रोचन, त्रिदोषहर, परम योगवाही तथा मेदोरोग, प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास, अतिसार, वमन, तृषा, शोष, रक्तपित्त, कृमि, तष्णा, मूर्च्छा, क्लम, दाह और क्षत को दूर करनेवाला है, नया मधु बृंहण, सारक और कुछ कफहर तथा पुराना मधु ग्राहि, रूक्ष, मेद और स्थूलता को दूर करनेवाला तथा अति लेखन है। शहद शर्करा और गुड़ एक साल रखे रहनेपर पुराने माने जाते हैं। मधुशर्करा मधुर, कषाय, मधुरविपाक, रूक्ष; छेदन, प्रसादन तथा वमन और अतिसार को दूर करनेवाली है।

यूनानीमत—ताजा शहद पहले दर्जे में गरम और दूसरे दर्जे में रूक्ष है। पुराना शहद तीसरे दर्जे में गरम और दूसरे में खुश्क है। शहद कोथप्रतिबन्धक, शोथपाचनविलयन, बल्य तथा कफनिःसारक है। यह आहारपाचन में सहायता करता, रक्त में मीठे घटकों की वृद्धि करता, मलावरोध निवारण करता और कफज व्याधियों में लाभ करता है। औषधियों को कोथ (सड़ने) से बचाने, उनका स्वाद रुचिकर बनाने तथा उसकी शक्ति स्थिर रखने के लिये अवलेह, मुरब्बे आदि बनाने में मधु प्रयुक्त होता है। बल्य और वाजीकर के लिये इसे दूध में मिलाकर पिलाते हैं। दुष्ट एवं प्रकोथयुक्त व्रणों को शुद्ध करने और फोड़े-फुन्सियों को पकाकर फोड़ने के

लिये इसे लगाते हैं। दृष्टिप्रसादन के लिये इसे नेत्र में लगाते हैं। मात्रा-२-४ तोला।

सिक्थकगुणाः—"सिक्थकं स्निग्धमधुरं भूतघ्नं भग्नसन्धिकृत्। हन्ति वीसर्पकण्डूवामान् व्रणरोपणमुत्तमम्॥ (ध. नि.)। "सिक्थक शोथहृत स्वादु कुष्ठवातार्तिजिन्मृदु। कटु स्निग्धं च लेपेन स्फुटिताङ्गविरोपणम्॥" (रा. नि.)।

मोम मधुर, कटु, स्निग्ध, मृदु, भूतघ्न, व्रणरोपण, फटे हुए अङ्ग का रोपण करनेवाला, भग्न अस्थि का संधान करनेवाला तथा शोथ-विसर्प-कण्डू आदि को मिटानेवाला है।

यूनानीमत-मोम कठिन शोथ को विलीन और मृदु करनेवाला, वेदनास्थापन और व्रणरोपण है। शुष्ककास,स्वरभंग और छाती के दर्द में इसे खिलाते हैं। मोम को अधिकतया मलहमों में प्रयुक्त करते हैं। मात्रा-४-८ रत्ती।

(२६) मयूर।

वर्णन--मयूर एक प्रसिद्ध पक्षी है। उसको भाषा (हिं., म., गु.) में मोर कहते हैं। मयूर के पक्ष (मोरपंख), पादनाल और मांस का उपयोग होता है। ऊर्ध्वजत्रुरोगाधिकार में मयूराद्यघृत प्रसिद्ध योग है। रसशास्त्र में मयूरपिच्छ को जला कर उससे ताम्र निकालने का विधान लिखा हुआ है।

उपयोग-"मयूरपक्षं निर्दह्य तद्भस्मं मधुमिश्रितम्। लीढा निवारयत्याशु छर्दि सोपद्रवामपि॥" (यो. र. वमनाधिकार)। "शिखिपिच्छभस्मकृष्णाचूर्णं मधुमिश्रितं मुहुर्लीढम्। हिक्कां हरति प्रबलां श्वासं चैवातिदुस्तरं छर्दिम॥" यो. र. हिक्काधिकार)। "मयूरपादनालं वा ××× दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्। चूर्णं लिहञ्जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम्॥" (च. वि. अ. १)।

मोरपंख को जलाकर बनाई हुई भस्म-मसी शहद के साथ मिलाकर चाटने से उपद्रवयुक्त उलटी अच्छी होती है। मयूरपिच्छभस्म और पीपल के चूर्ण को साथ मिलाकर शहद के साथ चाटने से हिक्का, श्वास और वमन दूर होता है। मोर के पाद का नाल जला कर शहद के साथ चाटने से कास, हिक्का और श्वास निवृत्त होता है। मात्रा-२-५ रत्ती।

(२७) मांस।

नाम--(सं.) मांस, आमिष; (अ.) लह्म; (फा.) गोश्त; (अं.) मीट (Meat)।

वर्णन--मांस शरीर का एक प्रसिद्ध धातु है[1]।

गुण-कर्म-"तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः।" (च. शा. अ. ६)॥ "मांसं बृंहणीयानां" (च. सू. अ. २७)। 'शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद्विशिष्यते।" (च. सू. अ. २७)। "×× अशनं वद्या-

---

[1] मांस का विशेष विवरण शरीरक्रियाविज्ञान, अ. २२ में देखें।

न्मांसरसेन च। बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत्॥" (च. चि. ३.) !"शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्। दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥ मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्॥" (च. चि. अ. ८)। "सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेभ्यः प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीत। प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति।" (सु. सू. अ. ४६)।

मांस से मांस की वृद्धि होती है, इसलिये जब मांस का क्षय हुआ हो तब मांस देना चाहिये। शरीर को पुष्ट करने के लिये मांस से बढ़कर अन्य आहार नहीं है। ज्वरवाले को मांसरस देना चाहिये,क्योंकि वह उत्तम बलकारक है और शरीरबल रोग के बल को दूर करने में समर्थ है। राजयक्ष्मावाले को मांस खानेवाले प्राणियों का मांस खिलाना चाहिये। क्योंकि उनका मांस मांस से पुष्ट हुआ होता है, अतः वह अधिक बृंहण होता है। सर्व प्राणियों के शरीर में यकृत् का मांस प्रधानतम-अति उत्तम होता है, अतः वह देना चाहिये। यदि यकृत् का मांस पर्याप्त प्रमाण में न मिले तो मध्यम वय के और नीरोग प्राणी के अन्य अवयवों का ताजा मांस देना चाहिये।

मांसयोनि प्राणियों के वर्ग, भिन्न भिन्न प्राणियों के मांस के गुण, शरीरावयव और स्त्री पुरुष जातिभेद से मांस के गुण आदि अन्य ज्ञातव्य विषय चरकसूत्रस्थान, अ. २७ तथा सुश्रुत, सू. ४६ में देखें।

---

(२८) मुक्ता।

नाम--(सं.) मुक्ता, मौक्तिक, शुक्तिज; (बं.) मुक्ता; (हिं., म., गु.) मोती; (अ.) लूलू; (फा.) मरवारीद; (अं.) पर्ल (Pearl)।

उत्पत्तिस्थान—फारस (ईरान) की खाड़ी, लंका (सीलोन) तथा सौराष्ट्र में जामनगर।

वर्णन—यह एक प्रसिद्ध महारत्न है जो एक प्रकार की सीप में उत्पन्न होता है। जो मोती श्वेतवर्ण, पानीदार, वजनदार, गोल, बड़ा, स्निग्धस्पर्श, अनविद्ध और छिद्ररहित हो उसको औषध के काम में लेना चाहिये।

गुण-कर्म--!'मौक्तिकं सुमधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम्। राजयक्ष्मपरिकोपनाशनं क्षीणवीर्यबलपुष्टिवर्धनम्॥" (रा. नि.)। !'कफपित्तक्षयध्वंसिकासश्वासाग्निमान्द्यनुत्। पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्॥" (र. चू. अ. १२)।

मोती मधुर, शीतवीर्य, आयुष्य, वाजीकर; बलवर्धक, पुष्टिकारक तथा कफ, पित्त, क्षय, कास, अग्निमांद्य, नेत्ररोग, विष और दाह का नाश करनेवाला है।

यूनानीमत--मोती दूसरे दर्जे में शीत और रूक्ष, संग्राही, रक्तस्तम्भन, चक्षुष्य तथा हृदय और मस्तिष्क को बल देनेवाला है । हृदय मस्तिष्क-आमाशय-यकृत् और दृष्टि का दौर्बल्य, उन्माद; हृदयस्पंदन, शुक्रप्रमेह, श्वेत और रक्त-प्रदर, रक्तातिसार, रक्तार्श, राजयक्ष्मा और उर:क्षत में--मोती का उपयोग किया जाता है ।

मोती को नीबू का रस मिलाये हुए गरम जल से धो, कपड़े से पोछ, सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण बना, एक दिन नीबू के रस और ३-४ दिन अर्क गुलाब में मर्दन करके पिष्टी बना ले या एक हलका पुट देकर भस्म बना लेवे । मात्रा--१-४ रत्ती ।

(२९) मुक्ताशुक्ति ।

नाम--(सं.) शुक्ति, मुक्ताशुक्ति, मुक्तामाता; (हिं.) मोती की सीप; (म.) मोत्याची शिंपी; (गु.) मोतीनी छीप; (फा.) सदफ मरवारीद; (अं) मदर् ऑफ् पर्ल (Mother of Parl) ।

वर्णन--जिस सीप में मोती उत्पन्न होते हैं उसको मुक्ताशुक्ति कहते हैं । जो सीप बडी, अंदर की बाजू चमकदार, श्वेतवर्ण और छिद्ररहित हो उसको औषध के काम में लेना चाहिये ।

गुण-कर्म और उपयोग--मोती की सीप के गुण-कर्म मोती के समान हैं । परंतु सीप गुण-कर्म में मोती से कम दर्जे की है । मुक्ता के अभाव में उसके प्रतिनिधिरूप में इसका व्यवहार करते हैं । मुक्ताशुक्ति की शुद्धि तथा पिष्टी या भस्म बनाने की विधि मुक्ता के समान ही है ।

(३०) मुष्क और शुक्र ।

मुष्क नाम--(सं.) मुष्क, अण्ड, वृषण; (अं.) टेस्टिकल ((Testicle) ।

शुक्र नाम--शुक्र, वीर्य, रेतस् (अ.) मनी; (अं.) सीमेन् (Semen)।

वर्णन--प्राणियों के शरीर में शिश्न के नीचे अण्डकोश में दो वृषण होते हैं; जिनका प्रधान कार्य शुक्र धातु को उत्पन्न करना है ![1]

गुण-कर्म--"शुक्रं (आप्याय्यते) शुक्रेण" (च.शा. अ. ६) । "घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे । मर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि । ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः । एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः ॥ (च चि. अ २. पा. १)।"चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा । शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत ॥" (च. चि. अ. २, पा. २) । 'शुक्राणि इति यद्यप्युक्तं तथाऽपि चटकादिशुक्रग्रहणस्याशक्यत्वात समानगुणानि तदण्डान्यपीह

---

[1] शुक्र और वृषण का विशेष विवरण शरीरक्रियाविज्ञान के २७वें अध्याय में देखें।

गृह्यन्ते ।।" (चक्रपाणिदत्त) । ''पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे घृतसाधिते । शिशुमारस्य वा खादेत्ते हि वाजीकरे भृशम् ।। कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् । महिषर्षभबस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः ।।" (सु.चि. अ. २६) ।

शुक्र के (या शुक्रोत्पादक वृषण के) भक्षण से शुक्र की वृद्धि होती है। अतः शुक्र के क्षय में अथवा वाजीकरण के लिये शुक्र या वृषण खिलाना चाहिये । जिस प्राणी का शुक्र मिलना कठिन हो उसके अण्ड (अण्डे या वृषण) का उपयोग करना चाहिये । ('अण्ड' शब्द का अंडे और वृषण दोनों अर्थ होते हैं जिसके अंडे या वृषण जो मिल सकें उनका उपयोग किया जा सकता है) ।

(३१) मूत्र ।

नाम–(सं.) मूत्र प्रस्राव; (हिं.) मूत, पेशाब; (बं.) प्रस्राव; (म.) मूत, लघ्वी; (गु.) पेशाब, मूतर; (अ.) बो (बो) ल, (अं.) युरिन (urine) ।

वर्णन––आयुर्वेदीय चिकित्सा में मुख्यतया गाय, बकरी, भेड़, भैंस, हाथी, ऊँट, घोड़ा और गधा–इन आठ प्राणियों के मूत्रों का प्रयोग होता है । इनमें से गाय, बकरी, भेड़ और भैंस इनकी मादा का तथा हाथी, ऊँट, घोड़ा और गधा इनके नर का मूत्र प्रयोग में लिया जाता है[1] ।

गुण––कर्म–**मूत्रसामान्यगुणाः**–'उष्णं तीक्ष्णमथो रूक्षं कटुकं लवणान्वितम् । मूत्रमुत्सादने युक्तं युक्तमालेपनेषु च ।। युक्तमास्थापने मूत्रं युक्तं चापि विरेचने । स्वेदेष्वपि च तद्युक्तमानाहेष्वगदेषु च ।।उदरेष्वथ चार्शःसु गुल्मकुष्ठकिलासिषु । तद्युक्तमुपनाहेषु परिषेके तथैव च।दीपनीयं विषघ्नंच क्रिमिघ्नं चोपदिश्यते । पाण्डुरोगोपसृष्टानामुत्तमं शर्म चोच्यते ।। श्लेष्माणं शमयेत् पीतं मारुतं चानुलोमयेत् । कर्षेत् पित्तमधोभागमित्यस्मिन् गुणसंग्रहः ।। सामान्येन" (च. सू.अ. १) । ''मूत्राणिगोमहिष्यजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानिकटूनिलवणान्युत्सादनानि लघूनिशोधनानि कफवातकृमिमेदोविषोदरगुल्मार्शःकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनीयानिच च सामान्यतः । तत् सर्वं कटुतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु । शोधनं कफवातघ्नं कृमिमेदोविषापहम् ।। अर्शोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् । पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ।।" (सु. सु. अ. ४५) । **मूत्रविशेषगुणाः**–अविमूत्रं सतिक्तं स्यात् स्निग्धं पित्ताविरोधि च । आजं कषायमधुरं पथ्यं दोषान्निहन्ति च ।। गव्यं समधुरं किञ्चिद्दोषघ्नं कृमिकुष्ठनुत् ।।कण्डूं च शमयेत् पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम् ।। अर्शःशोफोदरघ्नं तु सक्षारं माहिषं सरम् ।। हास्तिकं लवणं मूत्रं हितं तु कृमिकुष्ठिनाम् ।। प्रशस्तं बद्धविण्मूत्रविषश्लेष्मामयार्शसाम् ।

---

[1] विशेष विवरण शरीरक्रियाविज्ञान, अ. ३२ में देखें ।

सतिक्तं श्वासकासमर्शोघ्नं चौष्ट्रमुच्यते ।। वाजिनां तिक्तकटुकं कुष्ठव्रणविषापहम् । खरमूत्रमपस्मारोन्मादग्रहविषापहम् ।।" (च. सू. अ. १) । "गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं पित्तलं कफवातनुत् । शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।। मूत्र प्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् । दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।। आनाहगुल्मशोफेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् । कासश्वासापहं शोथकामलापाण्डुरोगनुत् ।। कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम् । कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।। सक्षारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाविकम् । दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् ।। आश्वं कफहरं मूत्रं कृमिदद्रूषु शस्यते । सतिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।। तीक्ष्णं क्षारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् । गरचेतोविकारघ्नं तीक्ष्णं ग्रहणिरोगनुत् ।। दीपनं गार्दभं मूत्रं कृमिवातकफापहम् । शोफकुष्ठोदरोन्मादमारुतक्रिमिनाशनम् अर्शोघ्नं कारभं मूत्रं, मानुषं च विषापहम् ।।" (सु. सू. अ.४५) ।

गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, गधा और ऊँट इनका मूत्र सामान्यतः कटु, लवणानुरस, अरूक्ष, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, लघु, शोधन, विरेचन, भेदन, हृद्य, दीपन, पाचन, विषघ्न तथा कफ, वात, उदररोग, अर्श, गुल्म, कुष्ठ, किलास, पांडुरोग, कृमिरोग, मेदोज रोग, शोथ, आनाह और अरुचि का नाश करनेवाला है। मूत्र पीने से कफ का शमन करता है, वायु का अनुलोमन करता है और पित्त को अधोमार्ग से निकाल देता है। उत्सादन, आलेपन, आस्थापन वस्ति, स्वेदनक्रिया, अगद (विषहर योग), उपनाह और परिषेक में मूत्र का प्रयोग किया जाता है। विशेषतः गाय का मूत्र कटु, किंचित् मधुर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पित्तकर तथा कफ, वात, कृमि, कुष्ठ, शूल, गुल्म; उदर, आनाह और कण्डू को दूर करने वाला है। मूत्रप्रयोगसाध्य विरेचन आदि में गाय के मूत्र का प्रयोग करना चाहिये। भैंस का मूत्र किंचित् क्षार, सर तथा अर्श, शोथ, उदर शूल, कुष्ठ; आनाह, गुल्म, पाण्डुरोग और प्रमेह को दूर करनेवाला है। बकरी का मूत्र कषाय, मधुर, कटु, तिक्त, पथ्य, कुछ वातप्रकोप करनेवाला, दोषहर तथा कास, प्लीहोदर, श्वास, राजयक्ष्मा और मलावरोध में हितकर है। भेड का मूत्र तिक्त, कटु; कुछ क्षारधर्मी, उष्णवीर्य, स्निग्ध; पित्त में अविरोधि, तथा वातहर है। घोडे का मूत्र तिक्त, कटु तीक्ष्ण, उष्णवीर्य दीपन तथा वात, कफ, मानसरोग, कृमि, दद्रु, कुष्ठ, व्रण और विष को दूर करनेवाला है। हाथी का मूत्र लवण, कुछ तिक्त भेदन, तीक्ष्ण, वातघ्न, पित्तप्रकोपक, क्षार बनाने में उपयुक्त तथा कृमि, कुष्ठ, मल-मूत्र का अवरोध, विष, कफ के रोग; अर्श और किलास को दूर करनेवाला है। गधे का मूत्र दीपन तथा गर (कृत्रिमविष), अपस्मार, उन्माद, ग्रहणीरोग, कृमि और विष का नाश करनेवाला है। ऊँट का मूत्र कुछ तिक्त तथा श्वास; कास, अर्श, शोथ, कुष्ठ, उन्माद, वातरोग और कृमि का नाश करनेवाला है। मनुष्य का मूत्र विषहर है।

नव्यमत–गोमूत्र यदि स्वस्थ मनुष्य को दिया जाय तो उससे मूत्र का प्रमाण बढ़ता है; परंतु मूत्रपिण्ड (Kidney) विकृत हो तो मूत्र का प्रमाण बहुत बढ़ता है। **मात्रा**–२॥ तोला खाली पेट देना चाहिये। ऐसा कुछ दिन देने से धमनियाँ विकसित होती हैं और रक्त का दवाव (Blood pressure) कम होता है। रक्त का दवाव कम होने से मूत्र का प्रमाण और भी बढ़ता है। २४ घंटे में ६०-८० औंस तक बढ़ता है और शोथ-उदर आदि लक्षण कम होते है। गोमूत्र से भूख बढ़ती है और रोगी की जीभ सुधरती है। केवल गोमूत्र देने से दस्त १-२ से अधिक नहीं होते, इसलिये उसके साथ घनसुर(नागदन्तीमूल)देना पड़ता है। यह मूत्रपिण्ड के जीर्णशोथ (Chronic Nephritis) के लिये उत्तम औषध है। गोमूत्र की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी ही है। (**डॉ. व. ग. देसाई कृत भारतीय रसशास्त्र**)।

गोमूत्र को २–३ बार ऊनी कपडे से छानकर मृत्पात्र या लोहपात्र में वह गाढ़ा हो जाय इतना पकावे। पीछे नीचे उतार, धूप में शुष्क हो जाय इतना सुखाकर शीशी में भर ले। **मात्रा**–१-३ माशा पाँच तोला जल में मिलाकर देवे। **गुण-कर्म**–गोमूत्र के समान।

जंगल में चरनेवाली बकरी के २॥ तोले मूत्र में कालीजीरी (अरण्यजीरक) ३ माशा पीस, कपड़े से छानकर पिलाने से राजयक्ष्मा में लाभ होता है।

---

(३२) मूषक

नाम–(सं.) मूष (षि.) क, आखु; (हिं.) चूहा, मूसा; (बं.) इंदूर; (म.) उंदीर; (गु.) उंदर; (अ.) फार; (अं.) रेट (Rat)।

वर्णन–चूहा एक प्रसिद्ध बिलेशय प्राणी है।

उपयुक्त अंग–मांस, वसा और शुष्क मल।

उपयोग–"**मूषिकाणां वसाभिर्वा गुदभ्रंशे प्रलेपयेत्। स्विन्नमूषकमांसेन अथवा स्वेदयेद्गुदम् ॥ मूषकान् दशमूलानि गृह्णीयादुभयं समम्। तयोः क्वाथेन कल्केन पचेत्तैलं यथोदितम् ॥ अभ्यङ्गात्तस्य तैलस्य गुदभ्रंशो विनश्यति। विनश्यन्ति तथा तेन गुदशूलभगन्दराः ॥**" (यो. र.)। "**आखोः पुरीषं पयसा विलीय वह्नेर्बलादेकमहद्व्यहं वा। स्त्रियस्त्र्यहं वा प्रवरान्ननद्याः प्रसह्य पारं परमाप्नुवन्ति ॥**" (यो. र.)।

गुदभ्रंश में चूहे की चर्बी का लेप करने तथा चूहे के मांस को गरम करके बाँधने से लाभ होता है। चूहे के मांस और दशमूल का क्वाथ २५६ तोला, तिल का तेल ६४ तोला तथा ८ तोले चूहे के मांस और ८ तोले दशमूल के कल्क को तैलपाकविधि से एकत्र

पकाकर सिद्ध किये हुए तेल के लगाने से गुदभ्रंश (तथा योनिभ्रंश) अच्छा होता है। चूहे का शुष्क मल ५-१० रत्ती दूध में मिलाकर पिलाने से रक्तप्रदर अच्छा होता है।

(३३) मृगशृङ्ग ।

वर्णन-औषध के लिये मृगशृङ्ग के नाम से हरिण के शृंग या हरिण की जाति के बारहसिंगा जिसे (सं.) शम्बर, बहुशृङ्ग, भारशृङ्ग; (हि.) बारहसिंगा, साँभर; (म.) सांबर; (गु.) साँवर; (फा.) गौजन कहते हैं। उसके शृङ्ग (सींग) लिये जाते हैं। जो सींग मोटा, वजनदार, छिद्ररहित और ठोस हो वह औषध के लिये उत्तम समझा जाता है। सांभरसींग को घिसकर उसका लेप किया जाता है और भस्म बनाकर खाने को दिया जाता है।

भस्मनिर्माणविधि—साँभरसींग के करौत से १-२ इंच के टुकड़े कर, उनको मृत्पात्र में रखकर गजपुट की आँच दे। पीछे ग्वारपाठे के रस या अर्कक्षीर में मर्दन कर, टिकिया बना, सुखाकर गजपुट में पकावे। श्वेतवर्ण की भस्म बनेगी।

मात्रा--२-८ रत्ती। **अनुपान**--गोघृत या शहद।

गुण-कर्म और उपयोग-साँभरसींग उष्णवीर्य, लेखन, श्वयथुविलयन, पीड़ाशामक और कफवातहर है। फुफ्फुसशोथ (न्युमोनिया), फुफ्फुसावरणकलाशोथ (प्लूरसी) और पार्श्वशूल में साँभरसींग को जल में घिसकर उसका प्रलेप किया जाता है। हृदयशूल[1], पार्श्वशूल, ग्रन्थिशोथ, कमर का दर्द, गृध्रसी, सन्धिवात, खाँसी, श्वास, क्षय, हृद्रोग, मूत्र के साथ फॉस्फेटस का अधिक आना इन रोगों में साँभरसींग की भस्म का आभ्यन्तरिक उपयोग करते हैं।

(३४) यकृत् ।

नाम-(सं.) यकृत्; (अ.) कबिद; (फा.) जिगर; (अं.) लिवर (Liver)।

गुण-कर्म-"सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेभ्यः प्रधाना भवन्ति यकृत्प्रवेशवर्तिनस्तनावदीत ॥" (सु. सू. अ. ४६)। "विपाच्य गोधायकृदर्धपाटितं सुपूरितं मागधिकाभिरग्निना। निषेवितं तद्यकृदञ्जनेन निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु ॥ तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम्। प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं जयेत् क्षपान्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम् ॥" (सु. उ. अ. १७)।

---

[1] "पुटप्रदग्धं हरिणस्य शृङ्गं घृतेन गव्येन निपीयमानम्। हृत्पार्श्वशूलार्तिमपोहति द्राङ् नृणां हिताहारविहारभाजाम् ॥" (गदनिग्रह, शूलाधिकार)।

सर्व प्राणियों के शरीर में यकृत्प्रदेश का मांस श्रेष्ठ होता है। जहाँ मांस का विधान हो वहाँ यह मांस लेना चाहिये। गोह अथवा बकरी के यकृत् के दो टुकडे कर, बीच में पीपल रख, पुटपाकविधि से पकाकर यकृत् खाने तथा पीपल का अञ्जन करने से रतौन्धी दूर होती है।

वक्तव्य—यकृत् का मांसरस पाण्डुरोग (रक्ताल्पता) में उत्तम आहार और औषध है।

(३५) रक्त।

नाम–(सं.) रक्त, रुधिर, शोणित, असृक्; (हिं.) लहू; (अ.) दम; (फा.) खून; (अं.) ब्लड (blood)।

वर्णन—रक्त प्राणियों के शरीर का रक्तवर्ण का एक प्रसिद्ध धातु है[1]।

उपयोग–'मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्। पिवेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति॥" (च. सि. अ. ६)। "अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेवसृक्। यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥" (सु. उ. अ. ४५)। "मृगाजाविवराहासृग् दध्यम्लफलसर्पिषा। अरजस्का पिबेत॥' (च. चि. अ. ३०)।

वमन विरेचन के अतियोग से (या अन्य कारणों से) जब जीवरक्त (शुद्धरक्त) का अतिस्राव हुआ हो तब हरिण-अजा आदि जीवित प्राणियों का ताजा रक्त रोगी को पिलाना चाहिये (चरक)। रक्तपित्त व्याधि से जब रक्त का अतिस्राव हुआ हो तब मधुयुक्त ताजा रक्त रोगी को पिलाना चाहिये; अथवा बकरी का पित्तयुक्त कच्चा यकृत् रोगी को खिलाना चाहिये (सुश्रुत)। अरजस्का (जिसको आर्तव न आता हो वह) स्त्री, बकरी, भेड़ या जंगली सूअर का ताजा रक्त दही, खट्टे फल का रस और गाय का घी मिलाकर पीवे।

(३६) रेगमाही (रेत की मछली)।

नाम–(सं.) वालुकामत्स्य; (फा.) रेगमाही।

वर्णन– यह एक प्रकार की मछली है जो रेत में रहती है। यह रेत में इस प्रकार चलती है जैसे जल में साधारण मछलियाँ। इसका पेट फाड़ कर और अन्त्रादि से शुद्ध करके नमक लगा सुखाकर रखते हैं। यह यूनानी दवा बेचनेवाले पनसारियों के यहाँ रेगमाही नाम से मिलती है।

---

[1] रक्त का विशेष वर्णन शरीरक्रियाविज्ञान के १६ वें अध्याय में देखें।

उपयोग–"वालुकासंभवं मत्स्यं सुपक्वं भक्षयेद्घृतैः। षण्ढोऽपि जायते कामी वीर्यस्तम्भः प्रजायते ।" (रसरत्नाकर, रसायनखण्ड अ. ६) ।

रेत की मछली को घी में भूनकर खाने से नपुंसक को भी कामोत्तेजना होती है और वीर्यस्तम्भन होता है ।

यूनानीमत—रेगमाही दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क, नाडीबलदायक, उत्तेजक तथा वाजीकर है ।

(३७) वसा और मेद ।

नाम–(सं.) वसा, मेदस्; (हिं., म., गु.) चरबी, चर्वी; (अ.) शहम; (अं.) फॅट (Fat) ।

वर्णन—शरीर में त्वचा के नीचे मेद होता है । मांससूत्रों के मध्यगत जो मेद होता है उस को वसा कहते हैं[1] ।

गुण-कर्म––"विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि । पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥" (च. सू. अ. १३) । "व्यायामकर्षिता। शुष्करेतोरक्ता महारुजः । महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥" (सु. चि. अ. ३१)

जो बाण आदि से विद्ध हुए (वींधे गये) हों, जिनकी हड्डी टूटी हुई हो, जिन को चोट लगी हो, जिन स्त्रियों की योनि–गर्भाशय अपने स्थान से भ्रष्ट हुई हो, जो अति व्यायाम से कृश हुए हों, जिनका वीर्य और रक्त शुष्क-क्षीण हुआ हो, जिन को बहुत पीड़ा हो, जिनका जठराग्नि—वात और शक्ति प्रबल हो उनको तथा कान और सिर के रोगों में, वाजीकरण के लिये तथा शरीर की पुष्टि के लिये वसा देना चाहिये ।

यूनानीमत––चर्वी कठिन शोथ और पीड़ा को कम करती है, अवयवों में बिशेषतः नाडियों (पठ्ठों) में स्निग्धता उत्पन्न करती है, तथा शरीर में स्थूलता और शक्ति उत्पन्न करती है । वाघ-शेर और जंगली सूअर की चर्बी की पक्षाघात आदि वातरोगों में मालिश करते हैं तथा वाजीकरण के लिये उसे शिश्न पर लगाते हैं । मलहम बनाने के लिये चरबी का उपयोग किया जाता है ।

(३८) शङ्ख ।

नाम––(सं.) शङ्ख, कम्बु; (हिं., म., गु.) शंख; (बं.) शाँख ।

वर्णन––शंख समुद्र में होनेवाले प्राणी का अस्थिमय कोश है । जो शंख बड़ा, वजनदार, श्वेतवर्ण और छिद्ररहित हो उसको औषधार्थ ग्रहण करना चाहिये ।

---

[1] मेद का विशेष विवरण शरीरक्रियाविज्ञान अ. २३ में देखें ।

गुण-कर्म—"शङ्खः शीतः कटुः पाके वीर्ये चोष्णः प्रकीर्तितः । परिणामादिशूलघ्नश्चक्षुष्यो रक्तपित्तजित् ।" (ध. नि.) । "शङ्खः क्षारो हिमो ग्राही ग्रहणीरोगनाशनः । नेत्रपुष्पहरो वर्ण्यस्तारुण्यपिटिकाप्रणुत्" (भा. प्र.) ।

शंख शीत (बाह्यप्रयोग से), क्षार, कटुविपाक, उष्णवीर्य, चक्षुष्य, वर्ण्य, ग्राही तथा पेट का दर्द (शूल), रक्तपित्त, ग्रहणीरोग, आँख की फूली और तारुण्यपिटिका को दूर करनेवाला है ।

शंख को नीबू का रस मिलाये हुए जल में एक दिन भिगोकर रख छोड़ने से या दोलायन्त्र में तीन घंटे पकाने से वह शुद्ध होता है । पीछे उसका चूर्ण बना, नीबू के स्वरस में मर्दन कर के गजपुट में पकावे । फिर उसी प्रकार एक बार कुमारीस्वरस में मर्दन कर के गजपुट देवे । श्वेतवर्ण की भस्म तैयार होगी । मात्रा—२-४ रत्ती ।

अजीर्ण, पेट का शूल, अम्लपित्त, ग्रहणी, यकृत् और प्लीहा की वृद्धि, कास-श्वास और आमवात में योग्य अनुपान के साथ शंखभस्म का प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है ।

---

(३९) समुद्रफेन ।

नाम--(सं.) समुद्रफेन, अर्णवफेन, अब्धिफेन; (हिं.) समुन्दरफन, समुन्दरझाग; (म.) समुद्रफेण; (गु.) समुद्रफीण; (अ.) जुब्दुल बहर; (फा.) कफे दरिया ।

वर्णन--यह एक समुद्रचर प्राणी की पीठ की हड्डी है जो समुद्र के पानी पर तैरती हुई पाई जाती है, इसलिये इसे समुद्रफेन कहते हैं । यह ५-१० इंच लंबा, चपटा, खुरदरा, हलका एवं भंगुर होता है । इस में केलसियम कार्बोनेट और केलसियम फास्फेट के रूप में चूना पाया जाता है । चरक ने (चि. अ. २६, श्लो. २४८) चूर्णाञ्जन में अर्णवफेन (समुद्रफेन) डालने को लिखा है ।

गुण-कर्म--समुद्रफेनः शिशिरः कर्णपाकनिवारणः । लेखनो नेत्ररोगाणां हितो विषविनाशनः ।। चक्षुष्यो रक्तपित्तघ्नो गुल्मप्लीहहरः स्मृतः ।। "(ध. नि.) । "समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलः सरः । कर्णस्रावरुजागुल्महरः पाचनदीपनः ।। समुद्रफेनः संपिष्टो निम्बुतोयेन शुद्धयति ।।" (आ. प्र. अ. १०) । "समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलस्तथा । कषायो विषपित्तघ्नः कर्णरुक्कफहृल्लघुः ।।" (भा. प्र.) ।

समुद्रफेन कषाय, शीतवीर्य, लघु, पाचन, दीपन, लेखन, सर तथा पित्त, कफ, कर्णपाक, कर्णस्राव, नेत्ररोग, विष, गुल्म, प्लीहा और रक्तपित्त को दूर करनेवाला है ।

समुद्रफेन के ऊपर का कवच निकाल, नीबू के रस की एक भावना देकर सुखा लेने से शुद्ध होता है ।

यूनानीमत—समुद्रफेन तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क तथा लेखन है। आंख की फूली और जाला में इसका अंजन हितकर है। इसका मंजन दांतों को साफ और दृढ़ करता है। इसका लेप कफज शोथ और त्वचा के काले दागों को दूर करता है।

---

(४०) सर्प-साँप।

नाम–(सं.) सर्प; पन्नग, भुजङ्ग, उरग, अहि, नाग; (हिं.) साँप; (अ.) हय्य; (फा.) मार; (अं.) स्नेक (Snake); (ले.) सर्पन्ट (Serpent)।

साँप की केंचुली को–(सं.) सर्पकंचुक, सर्पनिर्मोक; (अ.) सल्खुलहय्य:; (फा.) पोस्तमार कहते हैं।

वर्णन—सांप एक प्रसिद्ध जहरीला प्राणी है। काले रंग का सांप (अ.अफई) अधिक जहरीला होता है और यही अधिकतया औषधार्थ व्यवहृत होता है।

उपयुक्त अंग--वसा (चर्बी), कञ्चुक, समग्र सर्प को अन्तर्धूम जलाकर बनाई हुई मसी और सर्पविष।

गुण-कर्म---दुर्नामानिलदोषघ्ना। कृमिदूषीविषापहा:। चक्षुष्या मधुरा: पाके सर्पा मेधाग्निवर्धना:।। दर्वीकरा दीपकाश्च तेषूक्ता: कटुपाकिन:। मधुराश्चाति चक्षुष्या: सृष्टविण्मूत्रमारुता:।। (सु. सू. अ. ४६)।। 'यस्मिन् वा कुपित: सर्पो योजयेद्धि फले विषम्। भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वर:।। तेनास्य दोषसंघात: स्थिरो लीनो विमार्गग:। विषेणाशु प्रमाथित्वादाशु भिन्न: प्रवर्तते।। विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम्। पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम्।।" (च. चि. अ. १३) "वर्मिशब्देन चोरगान्।।" (च. चि. अ. ८)।। "वसाऽथ गृध्रोरगताम्रचूडजा सदा प्रशस्ता मधुकान्विताऽञ्जने।" (सु. उ. अ. १७)। "कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुवग्धा बैभीतकं तैलमथ द्वितीयम्। एतत्समस्तं मृदितं प्रलेपाच्छित्रवत्राणि सर्वाण्यपहन्ति शीघ्रम्।।" (सु. चि. अ. ९)।

सर्प का मांस रस विपाक में मधुर, नेत्र के लिये हितकर, मेधा तथा अग्नि को बढ़ानेवाला और अर्श, वातविकार, कृमि और दूषीविष को दूर करनेवाला है। दर्वीकर (फणा वाले) सर्प का मांस रस मधुर, कटुविपाक, दीपन, मल-मूत्र और अधोवात को साफ लानेवाला तथा नेत्र को हितकर है।

चरक ने राजयक्ष्मा में सर्पमांस खाने को देने के लिये लिखा है। सूचिकाभरण आदि कई रसों में सर्पविष का प्रयोग रसग्रन्थों में पाया जाता है। काले सांप की चर्बी में मुलेठी का चूर्ण मिलाकर अञ्जन करने से वातज तिमिर रोग नष्ट होता है। जिस फल में क्रुद्ध सर्प दंश मारे उस फल को सान्निपातिक उदर रोगी को खिलाने से विमार्ग गामी, स्रोतों में लीन और स्थिर दोषसंघात भिन्न होकर विरेचन द्वारा निकल जाता है। विरेचन होने के बाद रोगी को शीतल जल से स्नान कराकर दूध अथवा यवागू पीने के लिये देना चाहिये।

काले सांप को अन्तर्धूम जलाकर बनाई हुई मसी बहेड़े की मज्जा के तेल में मिलाकर लगाने से श्वित्र नष्ट होता है।

यूनानीमत- सांप तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। सांप की चर्बी और राख बाह्य उपयोग से लेखन और शोणितोत्क्लेशक है। सांप की चर्बी को वाजीकरण के लिये शिश्न पर तथा मोतियाबिंद में नेत्र के भीतर लगाते हैं। काले सांप का पेट चीर, उसमें बावची और पँवाड के बीज भरकर पातालयन्त्र से निकाला हुआ तेल श्वित्र पर लगाते हैं। अर्श को सुखाने के लिये सर्पकञ्चुक की धूनी देते हैं। सर्पकञ्चुक की मसी जैतून के तेल में मिलाकर खालित्य पर लगाते हैं।

कृष्णसर्पविषशोधनम्–'यूनो बलवतो ग्राह्यं कृष्णसर्पाद्विषं नवम्। तत् सार्षपेण तैलेन संप्लुतं परिशोषयेत्॥ पर्णतोयैर्मुनितरोस्तुलसीपत्रजैः रसैः। क्वाथेनापि च कुष्ठस्य भावयेत्तत्त्रिधा त्रिधा। तदेव सर्वदा योज्यं नाविशुद्धं कदाचन्।" (आ. वि. सू. अ. ६७)।

युवा और बलवान् कृष्णसर्प का विष ले, उसमें थोड़ा सरसों का तेल मिलाकर सुखा ले। पीछे उसको अगस्त्यपत्रस्वरस, तुलसीपत्रस्वरस और कुष्ठ के क्वाथ की तीन तीन भावना दे, सुखाकर काच की शीशी में भरकर डाट लगा दे। इस प्रकार शुद्ध लिये हुए सर्पविष का ही औषधार्थ प्रयोग करना चाहिये।

(४१) हस्तिदन्त-हाथी के दाँत।

नाम–(सं.) हस्तिदन्त; (हिं., म., गु., बं.) हाथीदाँत; (अ.) आज; (फा.) दंदाने पी (फी) ल; (अं.) आइवरी (Ivory)।[1]

वर्णन–भारतवर्ष में स्त्रियां हाथी के दाँत की चूड़ियाँ पहनती हैं और उसका पहनना सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। हाथी के दाँत का खूब बारीक चूर्ण करके या उसको मिट्टी के बरतन में अन्तर्धूम जलाकर (मसी बनाकर) उपयोग किया जाता है। हाथी के चमडे का भी औषध के लिए उपयोग किया जाता है।

उपयोग--हाथी के दाँत की मसी और रसौत (रसाञ्जन) को बकरी के दूध या जल में अच्छी तरह पीसकर १-१ तोले की गोलियाँ बना, सुखाकर रख छोड़े। इसको जल में घिसकर जिस स्थान के बाल (केस) उड़ गये हों वहां लगाने से बाल फिर उग आते हैं।[2] हाथी के चमड़े को जलाकर बनाई हुई मसी तेल में मिलाकर श्वित्र पर लगाने से लाभ होता है। अर्श (बवासीर) के मसों को हाथी दांत के चूर्ण या हाथी के

---

[1] "हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम्। रोमाण्यनेन जायन्ते लेपात् पाणितलेष्वपि॥" (सु. चि. अ. ५)। [2] "द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रदेहः।" (सु. चि. अ. ९)।

चमड़े की धूनी देने से पीड़ा और रक्तस्राव बंद होता है। हाथी का मद तिक्त, स्निग्ध, केश्य तथा अपस्मार, विष, कण्डू, व्रण, दद्रु और विसर्प को दूर करनेवाला है।[1]

यूनानीमत–हाथी का दाँत दूसरे दर्जे में शीत और रूक्ष है। हाथी दाँत का चूर्ण शहद के साथ खाने से स्मरणशक्ति बढ़ती है और सन्धि की पीड़ा, अतिसार तथा रक्तस्राव बंद होता है। हाथी दाँत को जल में घिस कर अंजन करने से आंख साफ होती है और दर्शनशक्ति बढ़ती है।

प्राणिज द्रव्यों के उपयोग के विषय में सामान्य सिद्धान्त

"धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः। × × ×। सर्वधातूनां सामान्याद्वृद्धिः, विपर्ययाद्ह्रासः। तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः; शरीरधातुभ्यः; तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण। (च. शा. अ. ६)।

शरीरधातु (शरीर को धारण करनेवाले रक्त-मांस आदि) समानगुणवाले (समानजातिवाले) या समानगुण की अधिकतावाले आहारों के अभ्यास (बार-बार सेवन) से बढ़ते हैं और विपरीत गुणवाले या विपरीत गुण की अधिकतावाले द्रव्यों के सेवन से ह्रास को प्राप्त होते हैं। रक्त से रक्त की, मांस से मांस की, मेद से मेद की, वसा से वसा की, तरुणास्थि से अस्थि की, मज्जा से मज्जा की, शुक्र से शुक्र की और आम (कच्चे) गर्भ (अंडे आदि) से गर्भ की वृद्धि होती है।

वक्तव्य–शरीर को धारण करनेवाले पदार्थों में से जिस पदार्थ का क्षय हुआ हो उस पदार्थ की पूर्ति के लिये उसी पदार्थ का या उसके समान गुणवाले अन्य द्रव्य का सेवन करने से उस धातु की पूर्ति होती है और उस धातु के क्षय से उत्पन्न विकार नष्ट होते हैं। यह सिद्धान्त इस प्रकरण में चरकाचार्य ने प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार रक्तक्षय में रक्त और मांसरस का विशेषतः यकृत के मांसरस का, मूत्रक्षय में (पेशाब कम होने पर) गोमूत्र-अजामूत्र आदि मूत्रों का, शुक्रक्षय में शुक्र या शुक्रोत्पादक-अवयव-वृषण के रस क्वाथ का; अस्थिक्षय में तरुणास्थि का या प्रवाल-मुक्ता-मुक्ताशुक्ति आदि अस्थिप्रधान द्रव्यों का, मेद के क्षय में मेद (चर्बी)–घृत आदि द्रव्यों का सेवन कराया जाता हैं।

इति द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे औषधद्रव्यविज्ञानीये द्वितीये खण्डे जाङ्गमद्रव्यविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

---

[1] "स्निग्धो हस्तिमदस्तिक्तः केश्योऽपस्मारनाशनः। विषहृत्कुष्ठकण्डूतिव्रणदद्रुविसर्पनुत् ॥" (रा. नि.)।

औषध द्रव्यविज्ञानीयखण्डोक्तद्रव्यनाम्नां वर्णानुक्रमणिका ।

द्रव्यनाम पृष्ठ

अ

अंडा (हिं.) ३८९
अंब, अंभ (क.) १५०
अंबज (अ.) १५०
अंशुमती (सं.) १६६
अअर (क.) १९४
अक (क., पं., सि.) २६६
अकरकरा (हिं.) २४५
अक्कलकरा (म.) २४५
अक्कलकरो (गु.) २४५
अगथिया (हिं.) १६३
अगथियो (गु.) १६३
अगर (हिं., म., गु.) २३२
अगस्ता (म.) १६३
अगस्तिया (हिं.) १६३
अगस्त्य (सं.) १६३
अगुरु (सं.) ३२३
अग्निजार (सं.) ३८८
अग्निमन्थ (सं.) ३००
अग्नो (कु.) ३००
अघेडो (गु.) ३०९
अचोकम् (ता.) १८०
अजगन्धा (सं.) ९५
अजमा (गु.) २२९
अजमोद (हिं., गु.) २३०
अजमोदा (सं.) २३०
अजराक्कि (अ.) २७०
अजवायन (हिं.) २२९

द्रव्यनाम पृष्ठ

अञ्जलिकारिका (सं.) १९०
अटरुषक (सं.) २९५
अडकई (म.) २६४
अडविवादामु (तै.) ९७
अड़हुल (हिं.) १०९
अडाशनि (ता.) १२४
अडुळसा (म.) २९५
अडूसा (हिं.) २९५
अण्ड (सं.) ३८९
अतसी (सं.) १२१
अतिबला (सं) ११४
अतिविख (गु.) ६२
अतिगुहा (सं.) १६६
अतिविषा (सं.) ६२
अतीस (हिं.) ६२
अदरक (हिं.) ३५६
अनन्तमूल (हिं.) २६७
अनन्ता (सं.) २६७
अनार (हिं., फा.) २०८
अन्तः कोटरपुष्पी २८०
अपराजिता (सं.) १६०
अपविषा (सं.) ६४
अपामार्ग (सं.) ३०९
अफयून (अ.) ८३
अफसन्तीन (अ.) २४३
अफीम (हिं.) ८३
अफीण (गु.) ८३
अफू (म.) ८३

द्रव्यनाम पृष्ठ

अफसुल्बलूत (अ.) ३४२
अबरेशम (फा.) ३९४
अबहल (अ.) ३५०
अब्धिफेन (सं.) ४२१
अभया (सं.) २०१
अमरदवल्लि (का.) ७३
अमरूद (फा.) १९६
अमल (मा.) ८३
अमलतास (हिं.) १८१
अमलबेत (हिं.) १२९
अमृत (सं.) ५६
अमृता (सं.) ७३
अम्बष्ठा (सं.) ७५
अम्भोद (सं.) ३७४
अम्लपत्रिका (सं.) १२४
अम्लपर्णी (सं.) ३१०
अम्लवेतस (सं.) १२९
अम्लिका (सं.) १७८
अरडुशी (गु.) २९५
अरंड, अरंडी (हिं.) ३२७
अरणी (सं., हिं., गु.) ३००
अरण्यजीरक (सं.) २४०
अरण्यहरिद्रा (सं.) ३५६
अरसिनउम्मत्त (का.) ८६
अरिष्टक (सं.) १४९
अरूदम (मल.) १२६
अरूवदाण् (ता.) १२६
अर्क (सं.) २६६
अर्जुन (सं., हिं.) २०४
अर्जुनसादडा (म.) २०४
अर्णवफेन (सं.) ४२१

द्रव्यनाम पृष्ठ

अल (क.) २२१
अलकरूमी (अ.) १५७
अलसी (हिं.) १२१
अलिस (क.) १२१
अलविधम् (ता.) १३०
अवल्गुजा (सं.) १७४
अविद्धकर्णी (सं.) ७५
अव्यथा (सं.) २०१
अशोक (सं., हिं.) १८०
अशेळियो (गु.) ९१
अश्वकर्णबीज (सं.) ३०७
अश्वगन्धा (सं.) २८३
अश्वत्थ (सं.) ३३६
अश्वमारक (सं.) २६२
असमानी बूटी (पं.) ३४५
असालियो (मा.) ९१
असृक् (सं.) ४१९
अस्थिशृङ्खला (सं.) १४८
अस्पगोल (फा.) ३०७
अस्लुस्सीनी (अ.) ३६५
अस्लुल्सूस् (अ.) १६२
असगंध (हिं.) २८३
अहाळींव (म.) ९१
अहि (सं.) ४२२
अहिफेन (सं.) ८३
अहुरी (सि.) ८८
अळंर्वे (म.) ३८६

आ

आंधीझाडो (मा.) ३०९
आंबली (गु.) १७८
आंबा (म., गु.) १५०

द्रव्यनाम पृष्ठ

आंबाहलदी (हिं.) ३५६
आंबाहळदर (गु.) ३५६
आंबेहळद (म.) ३५६
आंवला (हिं.) ३३०
आक (हिं) २६६
आकडो (गु.) २६६
आकंद (बं.) २६६
आकल्लक (सं.) २४५
आकारकरभ (सं.) २४५
आकिरकिर्हा (अ.) ३४५
आखु (सं.) ४१७
आघाडा (म.) ३०९
आज (अ.) ४२३
आजाददरख्त (फा.) १४२
आडू (पं., हिं.) १९४
आतइच (बं.) ६२
आता (बं.) ७२
आत्तापळम् (ता.) ७२
आत्मगुप्ता (सं.) १७२
आदा (बं.) ३५६
आदी (हिं.) ३५६
आदु (गु.) ३५६
आपाङ् (बं.) ३०९
आमआदा (बं.) ३५७
आमलकी (सं.) ३३०
आम्ला (बं.) ३३०
आम्लज (फा.) ३३०
आम्रुल (बं.) १२४
आमाहलदी (हिं.) ३५६
आम्र (सं.) १५०
आम्रगंधिहरिद्रा (सं.) ३५७

द्रव्यनाम पृष्ठ

आयापान (हिं.) २४६
आरग्वध (सं.) १८१
आरुक (सं.) १९४
आरेवत (सं.) १८१
आर्चा (ग.) ३१०
आर्द्रक (सं.) ३५६
आलकुशी (बं.) १७२
आलुबुखारा (हिं.) १९४
आवर्तकी (सं.) १८४
आवळ (गु.) १८४
आविरै (ता.) १८४
आशुद् (बं.) १३६
आसंध (म., गु.) २८३
आ (अ) सारून (फा.) २३८
आसुरी (सं.) ८८
आसुर (क.) ८८

इ

इंगळक्के (का.) १३४
इंगोरियो (गु.) १३४
इंदूर (बं.) ४१७
इङ्गुदी (सं.) ३३४
इजखिर (अ.) ३८३
इन्दरवारणा (गु.) २१६
इन्द्रगोप (सं.) ३९१
इन्द्रजव (हिं.) २६०
इन्द्रयव (सं.) २६०
इटसिट (पं.) ३०७
इडलिबु (मं.) १२८
इन्दीवर (सं.) ८०
इन्द्रवारुणी (सं.) २१६
इन्द्रायन (हिं.) २१६

द्रव्यनाम पृष्ठ

इन्द्रावण (म.) २१६
इबरेशम (अ.) ३९४
इमली (हिं.) १७८
इलायची (हिं.) ३५४
इशरोड (बि.) ३१२
इसबगोल (हिं.) ३०७
इसरगज (बि.) २६४
इस्प (स्वं) द (अ.) १२५
इक्षु (सं.) ३७७
इक्षुरक (सं.) २९६

ई

ईडां (गु.) ३८९
ईश्वरी (सं.) ३१२
ईश्व (श) रमूल (हिं.) ३१२

उ

उंडी, उंडल (म.) १०३
उंदर (गु.) ४१७
उंदीर (म.) ४१७
उंबर (म.) ३३८
उग्रगन्धा (सं.) ९५,३७३
उजरकांटा (हिं.) ८६
उत्पल (सं.) ८०
उत्पलसारिवा (सं.) २६७
उत्रज (अ.) १२७
उदकीयं (सं.) १७१
उदुम्बर (सं.) ३३८
उदुल्बर्क (अ.) ३४१
उन्नाब (अ., हिं.) १४५
उन्मत्तक (सं.) २८५
उन्सुल (अ.) ३६३
उपरसाल (म.) २६७

द्रव्यनाम पृष्ठ

उपलसरी (म.) २६७
उपलेट (गु.) २४१
उभीरिंगणी (गु.) २८२
उरग (सं.) ४२२
उरबूक (सं.) ३२७
उरुमाण (सं.) १९५
उलटकंबल (हिं.) ११७
उशक (अ.) २२५
उशीर (सं.) ३८१
उश्नः (अ. फा.) ३८५
उस्तखुदुस (अ.) ३०५

ऊ

ऊख (हिं.) ३७७
ऊद (अ.) ३२३
ऊदसलीब (अ.) ६९
उभा गोखरू (गु.) २९४
ऊंस (म.) ३७७

ऋ

ऋष्यप्रोक्ता (सं.) १७२
ऋषभी (सं.) १७२

ए

एकनायक (मल.) २१२
एरण्ड (सं.) ३२७
एरण्डकर्कटी (सं.) २१२
एरण्डककडी (हिं.) २१२
एरण्डखर्बूजा (हिं.) २१२
एरण्डी (म.) ३२७
एरण्डो (गु.) ३२७
एलची (गु.) ३५४
एला (सं.) ३५४

द्रव्यनाम पृष्ठ

ए

ऐरण (म.) ३००

ओ

ओंगा (मा.) ३०९
ओं (ओ) बा (म.) २२९
ओकां (पं.) १००
ओड्रपुष्पा (सं.) १०९
ओथमी जीरुं (गु.) ३०७
ओल (वं.) ३७२
ओलटकंबल (वं.) ११७
ओला चहा (म.) ३८२

क

कंगही (हिं.) १४४
कंघी (हिं.) १४४
कंटैया (बि.) ८६
कंटोला, कंकोडा (गु.) २२०
कंडियारी (पं.) २८१
कंही (सि.) १८६
कंडीज (क.) ८६
कंदुरी (पं.) २१९
कँवल (हिं.) ८०
कंकड़सिंगी (पं.) १५३
ककहिया (बि.) १४४
ककुभ (सं.) २०४
ककोड़ा (हिं.) २२०
कङ्कतिका (सं.) ११४
कचनार (हिं.) १७९
कच्छपपृष्ठ (सं.) ३९१
कजक (फा.) ३९२
कटङ्कटेरी (सं.) ७७
कटुक (सं.) ११०

द्रव्यनाम पृष्ठ

कटुकपित्थ (सं.) ९७
कटुका (सं.) २८८
कटुकालाबू (सं.) २१७
कटुतुम्बी (सं.) २१७
कटुरोहिणी (सं.) २८८
कटेरी (हिं.) २८१
कट्फल (सं.) ३४१
कठगूलर (हिं.) ३३८
कठिल्लक (सं.) ३०७
कठूमर (हिं.) ३३८
कठोरी (सि.) १३०
कड़ुआ परवल (हिं.) २१८
कड़वा परवल (गु.) २१८
कड़वी जीरी (गु.) २४०
कड़वी तुमड़ी (हिं.) २१७
कड़वी लौकी (हिं.) २१७
कड़ू (गु.) २८८
कड़ू कविंठ (म.) ९७
कड़ू जिरें (म.) २४०
कड़ू भोपळा (म.) २१७
कणझी (गु.) १७१
कण्टकारी (सं.) २८१
कणेर (गु.) २६२
कण्हेर (म.) २६२
कण्ठगण (क.) १३५
कनक (सं.) २८५
कन्यूर (कु.) २६२
कपर्दिका (सं.) ३९२
कपस (क.) १०८
कपा (पं.) १०८

द्रव्यनाम पृष्ठ

कपास (गु) १०८
कपिकच्छु (सं.) १७२
कपित्थ (सं.) १३१
कपिशा (सं.) १४७
कपीलो (गु.) ३३५
कपूर (हिं.) ३१९
कपूरकचरी (हिं.) ३५३
कपूरी मधुरी (गु.) २६७
कफे दरिया (फा.) ४२१
कबाबः (फा.) ३१७
कबाबचीनी (हिं.) ३१७
कबिद (अ.) ४१८
कबिरुल् अक्षजार (फा.) ३३६
कमंद (सि.) ३७७
कमरखाक (हिं.) १२५
कमल (सं.) ८०
कमल काकडी (गु.) ८१
कमलगट्टा (हिं.) ८१
कमलाक्ष (सं.) ८१
कमलागुंडि (बं) ३३५
कमिला (हिं.) ३३५
कमून (अ.) २२७
कमून किरमानी (अ.) २२८
कमोद (म.) ८०
कम्पिल्लक (सं.) ३३५
कम्बु (सं.) ४२०
कयेद्, कयेत बेल (बं.) १३१
करंढियुं (गु.) ७५
करंबळ, करमळ (म.) ७०
करचलो (गु.) ३९२
करकीमास (फा.) ३५८

द्रव्यनाम पृष्ठ

करन्फूल (अ.) २०५
करफसे हिंदी (अ. फा.) २३०
करवीर (सं.) २६२
करहाटक (सं.) ८१
करीर (सं.) ९५
करील (हिं) ९५
करीं (पं.) ९५
करेला (हिं.) २१९
कर्कटक (सं.) ३९२
कर्कमेदा (म.) ३२२
कर्कोटक (सं.) २२०
कार्टोलि (म.) २२०
कर्णिका (सं.) ८१
कर्णिकार (सं.) १८१
कलंबा (हिं.) ७६
कलमकाचरी (म) ७६
कलिङ्गक (सं.) २६०
कलिहारी (हिं.) २६४
कलुंबो (गु.) ७६
कलौंजी (हिं.) ६८
कल्पनाथ (हिं.) २९७
कवच (गु.) १७२
कवडी (म.) ३९२
कस्तूरभेंड (म.) ११०
कस्तूरी (सं.) ३९३
कसबुस्सुक्कर (अ.) ३७७
कहवा (अ., फा.) २३५
कांकडा (बं.) ३९२
कांटेगोखरू (म.) १२२
कांडे(ढे)री (सिं.) २८१
कांदा (म., गु.) ३६२

द्रव्यनाम	पृष्ठ	द्रव्यनाम	पृष्ठ
कांसकी (गु.)	११४	कासविन्दा (म.)	१९३
काक्डुमुर (बं.)	३३८	किंशुक (सं.)	१६१
काकतिन्दुक (सं.)	२७०	किक्कर (पं.)	१८७
काकुलः (अ.)	३५५	किनगोड़ (ग.)	७७
काष्ठोदुम्बर (सं.)	३३८	किन्नी काठी (सिं.)	३७३
कागडाकेरी (गु.)	९४	किन्नुब (अ.)	३४०
काञ्चनक्षीरी (सं.)	८६	किमु (कु.)	३३९
काञ्चनार (सं.)	१७९	किरमाणी ओंवा (म.)	२४४
काजरा (म.)	२७०	किरमानी अजवायन (हिं.)	२४४
काठगिधरो (सिं.)	२१२	किरमालो (मा.)	१०१
कादी (अ.)	३७१	किराईत (म.)	२७२
काफूर (अ.)	३१९	किराततिक्त (सं.)	२७२
कापास (बं.)	१०८	किवांच (मा.)	१७२
कापसी (म.)	१०८	कीकर (हिं.)	१८७
काफल (गु., कु., ने.)	३४१	कीटमारी (सं.)	३१३
कामरांगा (बं.)	१२५	कीटमारी यवानी (सं.)	२४२
कायछाल (बं.)	३४१	कीडामारी (गु.)	२१३
कायफल (हिं., म., गु.)	३४१	कुंच (बं.)	१६२
कारलें (म.)	२१९	कुंचिला (बं.)	२७०
कारवी (सं.)	२२८	कुंदरु (हिं.)	२१९
कारवेल्लक (सं.)	२१९	कुंदुर (हिं.)	१३८
कारेला (गु.)	२१९	कुंदर रूमी (फा.)	१५७
कार्पास (सं.)	१०८	कुंभा (म.)	३०५
कालमेघ (बं.)	२९७	कुकडवेला (गु.)	२१५
काला दाना (हिं.)	२७८	कुचला (हिं.)	२७०
काळी कुटकी (म.)	२८८	कुटज (सं.)	२६०
कालीजीरी (हिं., गु.)	२४०	कूठ (हिं.)	२४१
काश्मरी (सं.)	३०१	कुडचि (बं.)	२६०
काश्मीरजीरक (सं.)	२२८	कूड़ा (हिं., म.)	२६०
कासन्दा (बं.)	१८३	कुपिलु (सं.)	२७०
कासमर्द (सं.)	१८३	कुबेराक्ष (सं.)	१७७

द्रव्यनाम पृष्ठ

कुमड़ा (बं.) २२१
कुम्मस्रा (अ.) १९६
कुम्हड़ा (हिं.) २२१
कुरैया (हिं.) २६०
कुलक (सं.) २१८
कुलेकाँटा (बं.) २९६
कुलेखाडा (बं.) २९६
कुवाडियो (गु.) १८२
कुश (सं.) ३७९
कुष्ठ (सं.) २४१
कुष्माण्ड (सं.) २२१
कुसर (म.) २५७
कुस्तेतल्ख (फा.) २४१
कुँई (हिं.) ८०
कूबो (गु.) ३०५
कृतवेधन (सं.) २१४
कृष्णगन्धा (सं.) १५७
कृष्णजीरक (सं.) २२८
कृष्णसारिवा (सं.) २६५
के (कें) कड़ा (हिं.) ३९२
केतकी (सं.) ३७१
केरडा (गु.) ९५
केवड़ा (हिं.) ३७१
केवाँच (हिं.) १७२
केशर (सं., हिं.) ३५८
केसुडा (गु.) १६१
कैथ (हिं.) १३१
केया (बं.) ३७१
कोकनद (सं.) ८०
कोठ (गु.) १३१
कोडेना (हिं.) २७९

द्रव्यनाम पृष्ठ

कोयल (हिं.) १६०
कोल (सं.) ३२५
कोश (सं.) ३९२
कोसा (हिं.) ३९२
कोहळा (म.) २२१
कोहळुं (गु.) २२१
कोडतुम्बा (पं.) २१६
कौड़ियाली (हिं.) २७९
कौड़ी (हिं.) ३९२
कौशिक (सं.) १३५
क्रोष्टुकपुच्छिका (सं.) १६७

ख

खजूर (हिं.) ३७०
खटकल (पं.) १२४
खट्टा (पं.) १२८
खट्टी तिपत्ती (हिं.) १२४
खट्टी बूटी (पं.) १२४
खट्टे मसर (पं.) १५४
खड्या नाग (म.) ३६४
खत्मी (फा.) ११३
खदिर (सं.) १८७
खपाट (गु.) ११४
खबल्ल (पं.) ३८०
खरकतान (अ.) ३२४
खरकांढेरी (सि.) ८६
खरजहर (फा.) २९२
खरदल (अ.) ८९
खयेर (बं.) १८७
खरबूजे तल्ख (फा.)
खरमोहरा (फा.) ३९२
खरयष्टिका (सं.) ११४

द्रव्यनाम पृष्ठ

खवी (हि.) ३८३
खरैंटी, खिरैंटी (हि.) ११४
खर्जूर (सं.) ३७०
खाकशी (फा.) ९२
खाखरो (गु.) १६१
खाजकुहिली (म.) १७२
खाटखटूंब्री (गु.) १९९
खाटी भाजी (गु.) ३१०
खापरा (म.) ३०७
खारखसक (फा.) १२२
खारी जाल (गु.) २५८
खियारशंबर (अ.) १८१
खिवंअ (अ.) ३२७
खीजडो (गु.) १८६
खुंभी (सि.) ३८६
खुभी (हि.) ३८६
खुरासानी अजवायन (हि.) २८६
खुरासानी ओंवा (म.) २८६
खुर्फा (फा.) ९९
खूर्मा (फा.) ३७०
खुर्मा (र्बा) नी (हि.) १९५
खुलिजान (अ.) ३५४
खूनखराबा (हि.) ३६९
खुबकला (हि., फा.) ९२
खेकडा (म.) ३९२
खेखसा (हि.) २२०
खेजडो (म.) १८६
खेतपापडा (बं.) २३२
खेर (गु.) १८७
खैर (म., हि.) १८७

द्रव्यनाम पृष्ठ

ग

गंगेटी (गु.) १२०
गंगेरन (हि.) १२०
गंडा (पं.) ३६२
गंधाबिरोजा (हि.) ३४७
गंधारुं घास (गु.) ३८३
गजभक्ष्या (सं.) १३८
गज्ञ (फा.) १००
गड़तुंबा (म.) २१६
गडू (कच्छ) ७३
गणियारी (बं.) ३००
गण्डगात्र (सं.) ७२
गदहपूरना (हि.) ३०७
गदापुण्या (बं.) ३०७
गन्धप्रियंगु (सं.) १९७
गन्धबोल (बं.) १३७
गन्धमार्जारवीर्यं (सं.) ३९५
गन्धरस (सं.) १३७
गन्धर्वहस्त (सं.) ३२७
गन्ना (हि.) ३७७
गरणी (गु.) १६०
गरमाळी (गु.) १८१
गम्भारी (सं., हि.) ३०१
गरल (सं.) ५६
गरुडफल (का.) ९७
गरुडवेल (को.) ७३
गर्जन (हि., बं.) १०७
गलकां (गु.) २१५
गलगल (पं.) २४७
गवाक्षी (सं.) २१६

द्रव्यनाम पृष्ठ

गहुला (म.) १९७
गळी (म.) १६४
गळो (गु.) ७३
गाङ्गेरुकी (सं.) १२०
गाडियां (पं.) २११
गाफिस (अ.) २७३
गामार (बं.) ३०१
गायत्री (सं.) १८७
गावजबान (हि., फा.) २७६
गिरिकर्णिका (सं.) १६०
गिरिमल्लिका (सं.) २६०
गिरिसानुजा (सं.) २७३
गिर्दनली (पं.) १८१
गिलकी (मा.) २१५
गिलोय (हिं.) ७३
गिलोर (सि.) ७३
गीसोडां (गु.) २१४
गुंज (म.) १६२
गूंदा (गु.) २७५
गुगरु (सि.) १३५
गुगल (गु.) १३५
गुञ्जा (सं.) १६२
गुडपुष्पा (सं.) २५१
गुड़हल (हिं.) १०९
गुडूची (सं.) ७३
गुम्नफचा (क.) ९६
गुलसुर्ख (फा.) १९१
गुलहजारा (फा.) २४७
गुलाब (हि., म., गु.) १९१
गुलिदावा (क.) २१०
गुहा (सं.) १६७

द्रव्यनाम पृष्ठ

गुळवेल (म.) ७३
गळो (म.) १६४
गूगल (हिं.) १३५
गूमा (हिं.) ३०५
गूलर (हिं.) ३३८
गेरवो (गु.) ३८६
गेळफळ (म.) २३३
गोकर्णी (म.) १६०
गोखरी (बं.) १२२
गोखरू-छोटा (हिं.) १२२
गोजिह्वा (सं.) २७६
गोडुम्ब्रा (सं.) २१६
गोपकन्या (सं.) २६७
गोपालककर्कटी (सं.) २१२
गोपी (सं.) २६७
गोयालियालता (बं.) ३८४
गोरखआमलो (गु.) ११२
गोरखइमली (हिं.) ११२
गोरखचिंच (म.) ११२
गोरक्षचिञ्चा (सं.) ११२
गोरखमुंडी (हिं., गु.) २४४
गोलाप (बं.) १९१
गोस्तनी (सं.) १४७

घ

घऊंला (गु.) १९७
घगड़वेल (पं.) २१५
घघरवेल (हिं.) २१५
घणसर (पं.) ३३४
घण्टारवा (सि.) १६६
घल्घसे (बं.) ३०५
घांगुड (म.) ८१
घागरी (म.) १६६

द्रव्यनाम पृष्ठ

घायमारी (म.) १९९
घियातो (तू) री (हिं.) २१५
घीतेला (गु.) ८१
घीसोडां (गु.) २१४
घूंघची (हिं.) १६२
घुघरियासन (हिं.) १६६
घुघरो (गु.) १६६
घुणवल्लभा (सं.) ६२
घुसरा (ला) इन (हिं.) २१५
घेटुली (म.) ३०७
घोटवेल (हिं.) ३६५
घोड़वच (हिं.) ३७३
घोडानिम (बं.) १४२
घोडाबज (गु.) ३७३
घोलां घोली (गु.) २१९
घोषा (वं.) २१४
घोसाळे (म.) २१५

च

चंदमरवा (बि.) २६४
चंपकमु (तै.) ७१
चंपा (हिं.) ७१
चंबा (पं.) ७१
चंवर (सि.) १८५
चकवड (हिं.) १८२
चक्रमर्द (सि.) १८२
चक्रलक्षणा (सं.) ७३
चणोठी (गु.) १६२
चतुरंगुल (सं.) १८१
चन्द्रशूर (हिं.) ९१
चन्सूर (हिं.) ९१
च (चि) मेढ (गु.) १८५

द्रव्यनाम पृष्ठ

चमेली, चंबेली (हिं.) २५७
चम्पक (सं.) ७१
चराचर (सं.) ३९२
चरिलछज (क.) ९२
चर्मकशा (सं.) १९०
चरैता (पं.) २७२
चर्मरङ्गा (सं.) १८४
चक्षुष्या (सं.) १८५
चांदड (र) (बं.) २६४
चांपा (बं.) ७१
चाङ्गेरी (सं.) १२४
चाकवत (म.) ३१०
चाकसू (हिं.) १८५
चाकुन्दा (वं.) १८२
चाकुले (वं.) १६७
चाम्पेय (सं.) १०१
चार (सं.) १५६
चारोळी (म., गु.) १५६
चालमोगरा (बं.) ९९
चालता (बं.) ७०
चिंच (म.) १७८
चिंत (ते.) १७८
चिकणा (म.) ११४
चिघरिंनिबम् (ता.) १४२
चिञ्चा (सं.) १७८
चिता (बं.) २४८
चित्तिगार (ते.) १३२
चित्रक (सं.) २४८
चित्रपर्णी (सं.) १६७
चिरचिरा (हिं.) ३०९
चिरजीवी (सं.) १११

द्रव्यनाम पृष्ठ

चिरफल (म.) १३२
चिरमी, चिर्मिटी (मा.) १६२
चिरायता (हिं.) २७२
चिरौंजी (हिं.) १५६
चीड़ (हिं.) ३४६
चीता (हिं.) २४८
चूकापालङ् (बं.) ३१०
चुका (गु.) ३१०
चुक्र (सं.) ३१०
चूंठ (क.) १९५
चूका (हिं.) ३१०
चूत (सं.) १५०
चोहार (सं.) २४४

छ

छड़ी (रां) ला (हिं.) ३८५
छतिवन (हिं.) २६१
छत्रक (सं.) ३८६
छवर (सिं.) ३८०
छाड़छडीला (मा.) ३८५
छातिम (बं.) २६१
छालिया (हिं.) ३७०
छिकाकाई (मा.) १९०
छिकुर (हिं.) १८६
छिन्नरुहा (सं.) ७२
छिमकणी (सं.) १८१
छुईमुई (हिं.) १९०
छुहारो (गु.) २४४
छोटा चांद (बं.) २६४

ज

जंगली अडद (गु.) १७५
जंगली उशवा (हिं.) ३६५

द्रव्यनाम पृष्ठ

जंगली प्याज (हिं.) ३६३
जंगली मग (गु.) १७५
जंगीगुलू (सि.) २६२
जंबीरी नींबू (हिं.) १२८
जँभीरी नीबू (हिं.) १२८
जमू (सिं.) २०६
जख्में हयात (हिं.) १९९
जटामांसी (सं., हि.) २२६
जटीला (सं.) २६३
जद्वार (अ., हिं.) ६४
जपा (सं.) १०९
जबा (बं.) १०९
जबाद (अ.) ३९५
जमीकंद (हिं.) ३७२
जमालगोटा (हिं.) ३३२
जम्बीर (सं.) १२८
जम्बीरतृण (सं.) ३८२
जम्बू (सं.) २०६
जयपाल (सि.) ३३२
जरण (सं.) २२७
जर्दआलु (फा.) १९५
जर्दालू (हिं.) १९५
जर्दचोब (फा.) ३५२
जलभांगरो (मा.) २३९
जलवेतस (सं.) ३४४
जव (हिं.) ३७६
जवस (म.) १२१
जवासा (हिं., म.) १६८
जवासो (गु.) १६८
जवैण (पं.) २२९
जहरबागुन (क.) २१६

द्रव्यनाम पृष्ठ

जांटी (मा.) १८६
जांबू (गु) २०६
जांभूळ (मु.) २०६
जाई (हिं., म., गु.) २५७
जाडब्बर (क.) २३९
जाति (सं.) २५७
जातिकोश (सं.) ३१८
जातिफल (सं.) ३१८
जाफरान (अ.) ३५८
जाम (बं.) २०६
जामन (म.) २०६
जामलु (पं.) २०६
जामीर नेबु (बं.) १२८
जामुन (हिं.) २०६
जायपत्री (हिं.) ३१८
जायफल (हिं.) ३१८
जाल (पं.) २५८
जावित्री (हिं.) ३१८
जाविन्द (क.) २२९
जासुद (गु.) १०९
जाखंद (म.) १०९
जिरें (म.) २२७
जीरक (सं.) २२७
जीरा (हिं.) २२७
जीरुं (गु.) २२७
जीरे (बं.) २२७
जीबन्ती (सं.) २६९
जुमरा (पं.) २०४
जुर (क.) २२७
जूफा (अ., फा.) ३०६

द्रव्यनाम पृष्ठ

जैत्री (बं.) ३१८
जौजबुवा (अ.) ३१८
जौजुल् कै (अ.) २३३
जोयान (बं.) २२९

झ

झऊआ (हिं.) १००
झण्डु (सं.) २४७
झनझनिया (हिं.) १६६
झलाकफल (क.) २८७
झांसडी (मा.) ९५
झाऊ (हिं.) १००
झांड चिभडुं (गु.) २१२
झाबुक (सं.) १००
झेंडु (म.) २४७
झेरकोचला (गु.) २७०
झेरी नारियल (गु.) ३६८
झोलो (कु.) ३८५

ट

टङ्कक (सं.) १९६
टंग (क.) १९६
टाकळा (म.) १८२
टाकळी (म.) ३००
टिंडोरा (गु.) २१९
टिटवीन (क.) २४३
टिण्डूक (सं.) २९१
टूटगंठा (हिं.) ३४५
टेंट, टेटी (व्रज) ९५
टेंटु (म.) २७१
टेसू (हिं.) १६१

ड

डमरो (गु.) २४३

द्रव्यनाम पृष्ठ

डवरा (कच्छ) ९५
डांसरिया (मा.) १५४
डानकुनी (बं.) २७९
डाबली (गु.) ११४
डिकेमाली (म.) २३४
डिजिटेलिस २९०
डिम् (बं.) ३८९
डिम्ब (सं.) ३८९
डीकामारी (गु.) २३४
डुंगळी ३६२
डुक्करकंद (म., गु.) ३६१
डोडी (गु.) २९६
डोरलें-ली (म.) २८२
डोलु (कु.) ३१०

ढ

ढांपणी (म.) ८१
ढाक (हिं.) १६१
ढेढऊंबरो (गु.) ३३८
ढोरगुंज (म.) २८३
ढोल दगडो (कु.) २९१

त

तगर (सं.) २३८
तगरगंठोडा (गु.) २३८
तज (हिं., म., गु.) ३२१
तमरेहिंदी (फा.) १७८
तम्बर (क.) १७८
तरवड (म.) १८४
तरिवुद (क.) ९१
तरुणी (सं.) १९१
तलवण-णी (गु.) ९५
तांब (म.) ३८६

द्रव्यनाम पृष्ठ

ताग (म.) १६५
तापसद्रुम (सं.) १३४
तामरै (ता.) ९००
तामलकी (सं.) ३३१
ताम्बूलवल्ली (सं.) ३१५
ताल, ताड़ (सं., हिं.) ३६९
तालमखाना (हिं.) २९६
तालमूली (सं.) ३६०
तालीसपत्र (सं., हिं.) ३४८
तिवर (म.) १३८
तिक्ता (सं.) २८८
तिक्तालाबू (सं.) २१७
तित्पटोल (वं.) २१८
तित् पल्ता (बं.) २१८
तिन्तिडीक (सं.) १५४
पिप्पतिगे (ते.) ७३
तिरफल (म.) १३२
तिरवी (पं.) २७७
तिल (सं., हिं.) २९३
तिलगगुल (क.) ९०
तिलपुष्पी (सं.) २९०
तिलवण (म.) ९५
तीतपाती (कु.) २४३
तीसी (हिं.) १२१
तुख्मे कतान (फा.) १२१
तुख्मे करफस (फा.) २३०
तुख्मे नील (फा.) २७८
तुख्म बंग (फा.) २८६
तुङ्ग (सं) १०३
तुण्डिकेरी (सं.) १०८, २१९
तुमरु, तोमर (हिं.) १३२
तुम्बरु (सं.) १३२

द्रव्यनाम पृष्ठ

तुरंज (फा.) १२७
तुरंजबीन (फा.) १६९
तुरियां (गु.) २१४
तुरुष्का (सं.) २८६
तुरेल (कं.) २१४
तुर्फाह (अ.) १००
तुर्बुद (फा.) २७७
तुलसी (सं,. हिं.) ३०२
तुवरक (सं.) ९९
तूत (फा.) ३३९
तूद (सं.) ३३९
तूरी (मा.) २१४
तूसतुंबा (मा.) २१६
तेउडी (वं.) २७७
तेजबल (हिं.) १३२
तेजस्विनी (सं.) १३२
तेजोवती (सं.) १३२
तेलियो देवदार (गु.) ३४६
तैलान (अ.) १४०
तोतरा (ग.) ७७
तोरुं (मा.) २१४
त्रायन्ती (सं.) २७३
त्रायमाणा (सं.) २७३
त्रिपर्णी (सं.) १६६
त्वक् त्वचा (सं.) ३२१

थ

थानकुनी (ब.) २२२
थुनेर (ग.) ३४८
थुल्कुडी (बं.) २२२
थूम (सि.) ३६१
थूहर (हिं.) ३२८
थोर (गु.) ३२८

द्रव्यनाम पृष्ठ

द

दंडकलश (बं.) ३०५
दशान (क.) २०८
दगडफूल (म.) ३८५
दच्छ (क.) १४७
दडशल (मा.) ३०५
ददहत्तर (क.) ८६
दन्ती (सं.) ३३३
दन्तीबीज (सं.) ३३२
दमनक (सं.) २४३
दम्मुलअखवेन (ज.) ३६८
दरखतशान (फा.) ११४
दराख (गु.) १४७
दरियाई नारियल (हिं.) ३६८
दर्भ (सं.) ३७९
दवणा (म.) २४३
दवना, दौना (हिं.) २४३
दांलिघर (क.) ७७
दाख (हिं., पं.) १४७
दाडम (गु.) २०८
दाडिम (सं., हिं.) २०८
दाडिमच्छद (सं.) २९२
दाडूं (मा.) २०८
दाभ (हिं.) ३७९
दारचोब (फा.) ७७
दारफिल्फिल् (फा.) ३१६
दारशीशआन (फा.) ३४१
दारसीनी (अ., फा.) ४२१
दारुडी (गु.) ८६
दारुहरिद्रा (सं.) ७७
दारुहल्दी (हिं) ७७
दारहळद (म.) ७७

द्रव्यनाम पृष्ठ

दार्वी (सं.) ७७
दालचीनी (हिं.) ३२१
दियार (पं.) ३४६
दिर्मना (फा.) २४४
दीप्यक (सं.) २३०
दुधियो वछनाग (गु.) ३६४
दुधिलो (कु.) २६५
दुरालभा (सं.) १२३
दुःस्पर्शा (सं.) २८१
दूब (हिं.) ३८०
दूर्वा (सं.) ३८०
देवकुसुम (सं.) २०५
देवडांगरी (म.) २१५
देवताड (बं.) २१५
देवदारु (सं.) ३४६
देवदाली (सं.) २१५
दोड्कें (म.) २१४
द्रवन्ती (सं.) ३३३
द्राक्षा (सं.) १४७
द्रुह (सिं.) २१६
द्रेक (सं.) १२४
द्रोणपुष्पी (सं.) ३०५

ध

धणे (म.) २३०
धत्तूर (सं.) २८५
धतूरा (हिं.) २८५
धनमरवा (बि.) २६२
धनिया (हिं.) २३०
धनुर्वृक्ष (सं.) ११९
धने (बं.) २३०
धनेल (प.) २३०
धन्वन (सं.) ११९

द्रव्यनाम पृष्ठ

धन्वयास (सं.) १२३
धमासा (हिं.) १२३
धमांह, धम्या (पं.) १२३
धमोय (बि.) ८६
धराख (गु.) १४७
धरेक (पं.) १४२
धाणा (गु.) २३०
धातकी (सं.) २१०
धात्री (सं.) ३३०
धानिवल (क.) २३०
धान्यक (सं.) २३०
धामार्गव (सं.) २१४
धाय (हिं.) २१०
धायटी, धावस (म.) २१०
धावडी, धावणी (गु.) २१०
धाबी (पं.) २१०
धामण (म.) ११९
धामी (म) न (हिं.) ११९
धाराफल (सं.) १२५
धुतुरा (बं.) २८५
धूपडो (गु.) १३८
धूम्रपत्रा (सं.) ३१३
धोत्रा (म.) २८५
ध्रामाऊ (कच्छ) १२३
ध्रेख (पं.) १४२
ध्रो (गु.) ३८०

न

नवतमाल (सं.) १७१
नगड, नगोड (गु.) २९८
नत (सं.) २३८
नमेरु (सं.) १०२
नरकचूर (हिं.) ३५३

द्रव्यनाम पृष्ठ

नरेल (पं.) ३६८
नलद (सं.) २३६
नसोतर (गु.) २७७
नाक (पं.) १९६
नाकुली (सं.) ३१२
नागकेशर (सं., हिं.) १०१
नागचांफा, नागकेशर (म.) १०१
नागबला (सं.) ११५
नागदन्ती (सं.) ३३४
नागरमोथा (हिं.) ३७४
नागरवेल (गु.) ३१५
नागवल्ली (सं.) ३१५
नाटाकरंज (बं.) १७७
नाडीहिंगु (सं.) २३४
नानखाह (अ., फा.) २२९
नारङ्ग, नारङ्ग (सं.) १३०
नारंगी (हिं., म., गु.) १३०
नारंज (अ.) १३०
नारगील (फा.) ३६८
नारजील (अ.) ३६८
नारिकेल (सं.) ३६८
नारियल (हिं.) ३६८
नासपाती (हिं.) १९६
निचूल (सं.) २०७
निदिग्धिका (सं.) २८१
निन्द्रताछ (क.) १८५
निम (बं.) १४०
निमु (सि.) १४०
निम्ब (सं.) १४०
निम्बूक (सं.) १२८
निर्गुण्डी (सं., म.) २९८

द्रव्यनाम पृष्ठ

निर्विषा (सं.) ६४
निर्विषी (हिं.) ६४
निवडुंग (म.) ३२८
निशिन्दा (बं.) २९८
निशोत्तर (म.) २७७
निशोथ (हिं.) २७७
नीबू, नीमू (हिं.) १२८
नील (सं., हिं, बं.) १६४
नीलज (फा.) १६४
नीलोफर (फा.) ८०
नूनपोश (क.) ९६
नूनर (क.) ९९
नेघेजा डेलू (सि.) २१५
नेनुआ (हिं.) २१५
नेपाली धनिया (हिं.) १३२
नेबु (बं.) १२८
नोनिया (हिं.) ९९
नोनी (बि.) ९९

प

पंजंगुस्तु (फा.) २३८
पवांड (हिं.) १८२
पखानभेद (हिं.) १९८
पचम्पचा (सं.) ७७
पर्टातिर (सिं.) ११४
पटोल (सं.) २१८
पतङ्ग (सं., म., गु.) १७८
पतीस (क., पं.) ६२
पथरचूर (हिं.) १९९
पत्थरफूल (हिं.) ३८५
पदमचालन (ने.) ३१०
पद्म (सं.) ८०

द्रव्यनाम पृष्ठ
पद्मक (सं.) १९३
पद्मकर्टिका (सं.) ८१
पद्मकाष्ठ (म., गु.) १९३
पद्माक-ख (हिं.) १९३
पपाया (म.) २१२
पपीता (हिं.) ११२
पम्पोश (क.) ८०
पम्बचालन (क.) ३१०
परजाता (हिं.) २५६
परसियावशां (अ., फा.) ३८४
परिपाठ (म.) २३२
परूषक (सं.) ११८
पर्णबीज (सं.) १९९
पलङ्कष (सं.) १३५
पळस (म.) १६१
पलाण्डु (सं.) ३६२
पलाश (सं.) १६१
पलाशपापडा (गु.) १६१
पसरकटाई (मा.) २८१
पहांड (क.) १९८
पांगारा (म.) १७३
पांडेरवो (गु.) १७३
पाक (ख) र (हिं.) ३३७
पाखाणभेद (म., गु.) १९८
पांढरी हळद (म.) ३५७
पाटला (सं.) २९१
पाठा (सं.) ७५
पाडल (हिं., म., गु.) २९१
पाढ (हिं.) ७५
पाणकंदो (गु.) ३६३
पाती चहा (म.) ३८२

द्रव्यनाम पृष्ठ
पाथरकुचा (बं.) १९९
पान (हिं.) ३१५
पानीफल (बं.) २११
पारिजात (सं., म.) २५६
पारिभद्र (सं.) १४०, १७३
पारुल (वं.) २९१
पार्थ (सं.) २०४
पालेकिराईत (म.) २९३
पाल्तेमादार (बं.) १७३
पिंपरी (म.) ३३७
पिंपळी (म.) ३१३
पिंवळा चांफा (म.) ७१
पिचुमर्द, पिचुमन्द (सं) १४०
पिठवण (म., गु.) १६७
पिठवन (हिं.) १६७
पिप्पल (सं.) ३३६
पिप्पली (सं.) ३१३
पियाज (फा.) ३६२
पियाज सहराई (फा.) ३६३
पियारांगा (हिं.) ६७
पियासाल (बं.) १७०
पिशाचकार्पास (सं.) ११७
पिस्ता (हिं., गु.) १५५
पोच (गु.) १९४
पीतफल (सं.) १२५
पीतमूला (सं.) ६५
पीपल (हिं.) ३३६
पीपळी (गु.) ३३६
पीला नागकेशर (हिं.) १०१
पीली जडी (हिं.) ६७
पीलु (सं., हिं.) २५८

द्रव्यनाम पृष्ठ

पीळो चंपो (गु.) ७१
पुंबह (फा.) १०८
पुण्डरीक (सं.) ८०
पुदीनः (फा.) ३०४
पुदीना (हिं.) ३०४
पुनर्नवा (सं.) ३०७
पुनुगु (द,. मा.) ३९५
पुन्नाग (सं.) १०३
पुर (सं.) १३६
पुष्करमूल (सं.) २४७
पूग (गी) फल (सं.) ३७०
पूतिकरञ्ज (सं.) १७७
पूतिहा (सं.) ३०४
पृथक्पर्णी (सं.) १६०
पृथ्वीका (सं.) ६८
पृश्निपर्णी (सं.) १६०
पेपे (बं.) २१२
पेटारि (वं.) ११४
पेठा (हिं.) २२१
पेठो साओ (सि.) २२०
पोपल (फा.) ३७०
पोपैयु (गु.) २१२
पीयणुं (गु.) ८०
पोशकरमूल (क.) २४७
पोस्तुल (क.) ३४८
प्याज (हिं.) ३६२
प्रग्रह (सं.) १८१
प्रतिविषा (सं.) ६३
प्रत्यक्पुष्पा (सं.) ३०९
प्रपुन्नाड (सं.) १८२
प्रभद्र (सं.) १४०

द्रव्यनाम पृष्ठ

प्रांस (गु.) १००
प्राण (क.) ३६२
प्रियंगु (सं.) १९७
प्रियाल (सं.) १५६
प्लक्ष (सं.) ३३०
प्लीहशत्रु (सं.) १७४

फ

फरकट (कु.) २९१
फरंजमुश्क (अ.) ३०२
फरवा (पं.) १००
फरहद (हिं.) १७३
फरीरबूरी (हिं.) ११५
फल (सं.) २३३
फल्गु (सं.) ३३९
फल्सा (बं.) ११८
फाजिरा कबाबा खदां (अ.) १३२
फारवां (सिं.) ११८
फालसा (हिं.) ११८
फाल्सा (फा.) ११८
फिल्फिल् अखद (अ.) ३१६
फिल्फिल् दराज (फा.) ३१३
फुंदुक फारसी (फा.) १४९
फ़ुदनज (अ.) ३०४
फ़ुदीनो (गु.) ३०४
फुस्तुक (फा.) १५५
फेनिल (सं.) १४९
फोफल (म.) ३७०

ब

बंदाल (हिं.) २१५
बंमचूंठ (क.) १९६
बंशलोचन (हिं.) ३७९

द्रव्यनाम पृष्ठ

बकाई (य) न (हिं.) १४२
बकाईणनिमु (सि.) १४२
बकाणानिंब (म.) १४२
बकानलिंबडो (गु.) १४२
बकुची (हिं.) १७४
बकुल (सं., बं., म.) २५२
बगरो (मा.) ९५
बज्जुल् बंज (अ.) २८६
बड़, बरगद (हिं.) ३३६
बड़ा गोखरू (हिं.) २९४
बड़ा भखड़ा (पं.) २९४
बडी कटेरी (हिं.) २८२
बडीशेप (म.) २२५
बतीस (पं.) ६२
बदाम (म., गु.) १९२
बदअ (अ.) ३९२
बनककड़ी (पं.) ७९
बनजाण (सि.) २३०
बणजोयान् (बं.) २३०
बननील (बं.) १७४
बनफ्शाह (का.) ९६
बनास्पती (मा.) १९६
बन्दाक (सं.) ३२४
बबुर (सि.) १८७
बब्बूल (सं.) १८७
बबूल (हिं.) १८७
बम्पोश (क.) ८०
बयडा (बं.) २०३
बरना (पं.) ९४
बरहटा (हिं.) २८२
बरुना (हिं.) ९४

द्रव्यनाम पृष्ठ

बरासकपूर (मु.) १०७
बरियारा (हिं.) ११४
बर्बर (सं.) १३७
बला (सं.) ११४
बलादुर (अ.) १५१
बलेलज (फा.) २०३
बसर (सि.) ३६२
बस्तज (फा.) १५५
बहेंकड (पं.) २९५
बांडगुल (म.) ३२४
बांदा (हिं.) ३२४
बांबू (म.) ३७९
बांस (हिं.) ३७९
बांसा (हि.) २९५
बांसा (मा.) १७४
बाकुची (सं.) १७४
बादाम (हिं.) १९२
बादियान (फा) २२५
बाभूळ (म.) १८७
बामुनहाटी (बं.) ३००
बायविडंग (हिं.) २५०
बालछड़ (हिं.) २३६
बालन्तनिंब (म.) १४०
बालवच (हिं.) ३५९
बालवेखंड (म.) ३५९
बावची (हि., म., गु.) १७४
बावळ (गु.) १८७
बावला (बं.) १८७
बिखमा (हिं.) ६३
बिजयसार (हिं.) १७०
बिजोरुं (गु.) १२७

द्रव्यनाम पृष्ठ
बिजोरो (मा.) १२७
बिजोरा (हिं.) १२७
बिज्ताड़क (बं.) २८०
बिधारा (हिं.) २८०
बिधताड्क (बं.) २८०
बिनौला (हिं.) १०८
बिवला (म.) १७०
बिब्बा (म.) १५१
बिभीतक (सं.) २०३
बिल् (पं.) १३०
बिलाडीनो टोप (गु.) ३८६
बिलादुर (अ.) १५१
बिलावा (फा.) १५१
बिल्व (सं.) १३०
बिष (हिं.) ५६
बिस (सं.) ८१
बिसूनी (मा.) १७४
बिह (फा.) १९६
बिही (हिं.) १९६
बीजक (सं.) १७०
बीजाबोल (मा.) १३७
बीयो (गु.) १७०
बीरबहूटी (हिं.) ३९१
बुंद (गु.) २३५
बुन्न (फा., अ.) २३५
बुस्पोश (फ.) ८०
बुंदकहिंदी (फा.) १४३
बूरएजहुदान (फा.) १३५
बृहती (सं.) २८२
बृहद्गोक्षुर (सं.) २९४
बृहल्लोणिका (सि.) ९९
बेडेला (बं.) ११४

द्रव्यनाम पृष्ठ
बेदमुश्क (हिं.) ३४३
बेदसादा (फा.) ३४४
बेल (हिं., म.) १३०
बेला (हिं.) २५६
बेलाडोना २८७
बेंसिग (कु.) २९५
बोल (सं., हिं.) १३७
बोलसरी (गु.) २५२
ब्रह्मवृक्ष (सं.) १६१
ब्राह्मणयष्टिका (सं.) ३००
ब्रिय (क.) १४५

भ

भंगरा (हिं.) २३९
भंगिरो (सि.) २३९
भखड़ा (पं.) १२२
भङ्गा (सं.) ३४०
भंगुरा (सं.) ६२
भटकटैया (हिं.) २१८
भरेंडा (बं.) २२७
भल्लातक १५१
भव्य (सं.) ७०
भसींड (हिं.) ८१
भांग (हिं., म., गु.) ३४०
भांगरो (गु.) ३९
भारंगी (हिं.) ३००
भार्गी (सं.) ३००
भिलावा (हिं., पं.) १५१
भिलामो (गु., मा) १५१
भिसें (म.) ८१
भीमराज (बं.) २३९
भीमसेनी कपूर (हिं., म., गु.) १०७
भुईचिकणा (म.) ११५

द्रव्यनाम पृष्ठ

भुयं कोहबुं (गु.) २२१
भूईआंवला (हिं.) ३३१
भुईकोहला (हिं.) २७८
भूईरिंगणी (म.) २८१
भूतजटा (क.) २३६
भूतिक (सं.) २२९
भूनिम्ब (सं.) २७२
भूमिकूष्माण्ड (सं.) २७८
भूमिबला (सं.) ११५
भूम्यामलकी (सं.) ३३१
भेला (वं.) १५१
भोकर (म.) २७५
भोयआंवळी (गु.) ३३१
भोंयबल (गु.) ११५
भोंयरिंगणी (गु.) २८१

म

मंगरेला (हिं.) ८२
मजिष्ठ (म.) २३२
मंमोली (मा.) ९९
मखाणा (गु.) ८२
मखाना (हिं.) ८२
मगासेहिंदी (अ.) ३२२
मगां (पं.) ३१३
मजारपोश (फ.) ३५९
मजारमुंड (क.) ३५९
मण्डूकपर्णी (सं.) २३२
मदनफल (सं.) २३२
मदयन्तिका (सं.) २०९
मदार (हिं.) २६६
मधुक (सं.) १६२
मधुजम्बीर (सं.) १२९

द्रव्यनाम पृष्ठ

मधुयष्टी (सं.) १६२
मधुरिका (सं.) २२५
मधुक (सं.) २५१
मनसासिज (बं.) ३२८
ममीरा, ममीरी (हिं.) ६६
मरडासिंग (गु.) ११८
मरवो (गु.) ३०३
मरिच (सं.) ३१५
मरी (गु.) ३१५
मरुरुह (सं.) ९५
मरुवक (सं.) ३०३
मरुवा (हिं.) ३०३
मरोडफली (हिं.) ११८
मर्कटी (सं.) १७२
मर्ग (फा.) ३८०
मर्जंञ्जोश (फा.) ३०२
मर्हमकी (अ.) १३७
मलपू (सं.) ३३८
मल्लिका (सं.) २५६
मशिना (बं.) १२१
मषतुल् गोल (अ.) ११४
मषवन (हिं.) १७५
मस्तकी (अ.) १५७
मह्लिब (अ.) १९७
महाजालिनी (सं.) २१४
महाळुंग (म.) १२७
महावृक्ष (सं.) ३२८
महासहा (सं.) १७५
महुड़ा (हिं.) २५१
महुडो (गु.) २५१
मह्दवः (अ.) २२१

द्रव्यनाम पृष्ठ

मांज (क.) २०९
मांसरोहिणी (सं.) १४३
माका (म.) २३९
मागधी (सं.) ३१३
माजू (फा.) ३४२
माजूफल (हिं.) ३४२
मान (ण) कन्द (सं.) ३७२
मामीरान (फा.) ६६
मामेख (पं.) ६९
मायां (गु.) ३४९
मार्कव (सं.) ३३१
मालकांगनी (हिं.) १४४
मालकागोणी (म.) १४४
मालती (सं.) २५७
माषपर्णी (सं.) १७५
माषानी (बं.) १७५
माहूबरबीन (बं.) ६४
मिचिरकुंड (क.) १२२
मिनका (मा.) १४७
मिरी (म.) ३१५
मिशमिश (अ.) १९५
मिशि (सं) २२५
मिश्क (अ.) २९३
मिश्रेया (सं.) २२५
मिष्टनिम्बू (सं.) १२८
मीआ साईआ (अ.) २००
मीठा (पं.) १२८
मीठा जहर (पं.) ५६
मीठा तेलिया (पं.) ५६
मीठा लिंबु (गु) १२८
मीठा लेवु (बं.) १२८

द्रव्यनाम पृष्ठ

मीठा विष (पं.) ५६
मीठी खरखोड़ी (गु.) २६९
मीठी जाल (गु.) २५८
मींढी आवळ (गु.) १८४
मींढोल (गु.) २३३
मीथ (क.) १६९
मुंडी (हिं.) २४४
मुकुलुल्यहूद (अ.) १३५
मुगवन (हिं.) १७५
मुगानी (बं.) १७५
मुञ्ज, मुञ्जी (क.) ९१
मुण्डिका (सं.) २४४
मुद्गपर्णी (सं.) १७५
मुनक्का (हिं.) १४७
मुनिद्रुम (सं.) १६३
मुरमकी (हिं.) १३७
मुरई (बि.) ९१
मुरार (हिं.) ८१
मुरुडशेंग (म.) ११८
मूरी (सि.) ९१
मूलक (सं.) ९१
मूळा (गु.) ९१
मूली (हिं.) ९१
मुश्क (फा.) २९३
मुश्कदाना (फा.) ११०
मुश्कबाला (क.) २३८
मृगनाभि (सं.) २९३
मृणाल (सं.) ८१
मृद्धिका (सं.) १४७
मेंदी (म., गु.) २०९
मेंहदी (हिं.) २०९

द्रव्यनाम पृष्ठ

मेखक (फा.) २०५
मेणफल (पं.) २३३
मेथरी (पं.) १६९
मेथिका (सं.) १६९
मेथी (हिं.) १६९
मेदासक (पं.) ३२२
मेवडो (हिं.) २९२
मैठ (सिं.) २३२
मैदानलकडी (हिं.) ३२२
मोगरा (हिं., म.) २५६
मोगरो (गु.) २५६
मोच (सं.) ११२
मोठी घोल (म.) ९९
मोथा (हिं.) ३७४
मोहंद (क.) ५६
मोहडा (म.) २५१
मोहरी (पं., क.) ५९
मोहरी (म.) ८८
मोज (फा.) ३५७
मोरी (बं.) २२५
मोल (बं.) २५१
मोलसरी (हिं.) २५२
म्होटी लूणी (गु.) ९९

य

यंग (क.) २२३
यज्ञडुमुर ३३८
यठुर (क.) ३५०
यव (सं.) ३७६
यवानी (सं.) २२९
यवासक (सं.) १६८
यष्टीमधु (बं.) १६२

द्रव्यनाम पृष्ठ

यष्ठीमधुक (सं.) १६२
यास (सं.) १६८
यासशर्करा (सं.) १६९
योजनवल्ली (सं.) २३२

र

रक्तचन्दन (सं.) १७०
रक्तपुष्प (सं.) १११
रक्तिका (सं.) १६२
रचफाल (क.) १६२
रतांजळी (गु.) १७०
रत्ती (हिं.) १६२
रसाल (सं.) १५०
रसोन (सं.) ३६१
राई (हिं., गु.) ८८
राईसरिषा (बं.) ८८
राजकोल (सं.) १४५
राजकोशातकी (सं.) २१५
राजबदरी (सं.) १४५
राजिका (सं.) ८८
राजियान (फा.) २२५
राजियानज (अ.) २२५
राजीव (सं.) ८०
राडारुडी (गु.) २६९
राढ (सं.) २३३
राती साटोडी (गु.) ३०७
रानउडद (म.) १७५
रानकांदा (म.) ३६३
रानमुग (म.) १७५
रामदातून (हिं.) ३६५
रायचंपो (गु.) ७१
रीठा (हिं.) १४९

द्रव्यनाम पृष्ठ

रीसामणी (गु.) १९०
रुई (म.) २६६
रुखडो (गु.) ११२
रू (गु.) १०८
रूई (हिं.) १०८
रूमी मस्तगी (हिं.) १५७
रूसाघास (हिं.) ३८२
रेंट (क.) १४९
रेंडी (हिं.) ३२७
रेठा (पं.) १४९
रेवंद चोनी (हिं.) ३१०
रेशम का कोया (हिं.) ३९४
रोंसडो (गु.) ३८२
रोहन (क.) ३६१
रोहिडा (म.) २९२
रोहिडो (गु.) २९२
रोहिष (सं.) ३८२
रोहीतक (सं.) २९२
रोहेडा (हिं.) २९२

ल

लई (सि.) १००
लघुलोणिका (सं.) ९९
लज्जालु (सं.) १९०
लजालू, लजनी (हिं.) १९०
लटजीरा (हिं.) ३०९
लताकस्तूरी (सं.) ११०
लवंग (सं.) २०५
लवो (मा.) १००
लशुन (सं.) ३६१
लसण (गु.) ३६१
लसूड़ा, लिसोड़ा (हिं.) २७५

द्रव्यनाम पृष्ठ

लहसुन (हिं.) ३६१
लाङ्गली (सं.) ३६४
लाजवन्ती (हिं.) १९०
लाजाळू (म.) १९०
लालडी (पं.) १६२
लाल नागकेशर (हिं., गु.) १०२
लिंबू (म., गु.) १२८
लिमो (सि.) १२८
लिसानुस्सोर (फा.) २७६
लींबडो, लीमडो (गु.) १४०
लीमू (फा.) १२८
लील (हिं.) १६४
लीला चा (गु.) ३८२
लूणक (पं.) ९९
लूणी (गु.) ९९
लूंग (मा.) २०५
लोढ (गु.) ८१
लोनिया (हिं.) ९९
लोध्र (सं.) २५३
लोध्र (हिं.) २५३
लोधर (गु.) २५३
लोबान (हिं.) २५४
लौंग (हिं.) २०५

व

वंश (सं.) ३७९
वंशरोचना (सं.) ३७९
वंशलोचन (म., गु.) ३७९
वखमो (गु.) ६३
वघारणी (गु.) २२३
वचा (सं.) ३७३
वछनाग (गु.) ५६

द्रव्यनाम पृष्ठ

वज (गु.) ३७३
वज्ज (अ.) ३७३
वज्रवल्ली (सं.) १४८
वञ्जुल (सं.) ३४४
वट (सं.) ३३६
वड (म., गु.) ३३६
वडफ (सिं.) २२५
वत्सक (सं.) २६०
वत्सादनी (सं.) ७३
वनजीरक (सं.) २४०
वनतिक्ता (सं.) ७५
वनवृन्ताक (सं.) ७९
वनहरिद्रा (सं.) ३५४
वरतिक्त (सं) ८७
वरणो (गु.) ९४
वरधारो (गु.) २८०
वराङ्ग (सं.) ३२१
वराहकन्द (सं.) ३६१
वरियाली (गु.) २२५
वरुण (सं.) ९४
वर्षाभू (सं.) ३०७
वस्मा (अ.) १६४
वस्ल (अ.) ३६२
वांस (गु.) ३७९
वाट्यायनी (सं.) ११४
वाताम (सं.) १९२
वानरी (सं.) १७२
वानीर (सं.) ३४३
वायवरणो (गु.) ९४
वायवर्णी (म.) ९४
वाराहीकंद (हिं., म., गु.) ३६१

द्रव्यनाम पृष्ठ

वावडिंग (म., गु.) २५०
वाळुंज (म.) ३४४
विकसा (सं.) २३२
विजया (सं.) ३४०
विटपकरञ्ज (सं.) १७७
विडङ्ग (सं.) २५०
विदारिगन्धा (सं.) १६६
विदुल (सं.) २०७
विविषा (सं.) ६४
विष (सं.) ५६
विषतिन्दुक (सं.) २७०
विष्णुक्रान्ता (सं.) २७९
" " १६०
वीर (क.) ३४४
वृक्षक (सं.) २६०
वृक्षादनी (सं.) ३२४
वृक्षाम्ल (सं.) १०३
वेखंड (म.) ३७३
वेणु (सं.) ३७९
वेतस (सं.) ३४३
वेलची (म.) ३५४
व्याकुड (बं.) २८२

श

शंखावली (गु.) २७९
शंखाहुली (हिं., म.) २७९
शईर (अ.) ३७६
शङ्खपुष्पी (सं.) २७९
शंगर (क.) १६२
शक्र (सं.) १६०
शजिना (बं.) १५७
शज्रतुल बतीख (अ.) २१२

द्रव्यनाम पृष्ठ
शज्रतुलहरं (अ.) १४२
शटी (सं.) ३५३
शण (सं., गु.; बं.) १६५
शणपुष्पी (सं.) १६६
शतपत्री (सं.) १९१
शतपुष्पा (सं.) २२६
शतमूली (सं.) ३६६
शतावरी (सं.) ३६६
शफ्तालू (फा.) १९४
शमी (सं.) १८६
शम्पाक (सं.) १८१
शम्लीज (फा.) १६९
शरपुङ्खा (सं.) १७४
शरीं (पं.) १८९
शरीफा (फा.) ७२
शल्लकी (सं.) १३८
शहतूत (हिं.) ३३९
शहाजिरे (म.) २२८
शाक (सं.) २९९
शाजीरा (बं.) २२८
शाल (सं.) १०४
शालपर्णी (सं.) १६६
शालपानी (बं.) १६६
शालूक (वं.) ८०
शालेडो (गु.) १३८
शालेय (सं.) २२५
शाल्मली (सं.) १११
शाहजीरुं (गु.) २२८
शिंगाडा (बं.) २११
शिकेकाई (म.) १९०
शिग्रु (सं.) १५७
शितरज फा. (सं.) २४८

द्रव्यनाम पृष्ठ
शिमुल (बं.) १११
शियालकांटा (बं.) ८६
शिरदोडो (म.) २६९
शिरस (म.) १८९
शिरसी (म.) ९०
शिरीष (सं.) १८९
शिलापुष्प (सं.) ३८५
शिलारस (हिं.; गु.) २००
शींघोडा (गु.) २११
शीतलचीनी (हिं.) ३१७
शीतलमिर्च (हिं.) ३१७
शी (शि) वण (म., गु.) ३०१
शीह (अ.) २४४
शुकनास (सं.) २९१
शुक्लकन्दा (सं.) ६२
शुल्फा (बं.) २२६
शूप्रक (हिं.) ६७
शूरण (सं.) ३७२
शूर्पपर्णी (सं.) १७५
शृगालविन्ना (सं.) १६७
शृङ्गाटक (सं.) २११
शृङ्गी (सं.) १५३
शृङ्गीविष (सं.) ५९
शेगटा (म.) १५७
शेतूर (गु.) ३३९
शपु (म.) २२६
शेफालिका (सं.) २९८
शेमळो (गु.) १११

शेरडी (गु.) ३७७
शेलारस (गु.) २००
शेलु (सं.) २७५

द्रव्यनाम पृष्ठ

शेवगा (म.) १५७
शैलेय (सं.) ३८५
शोणा (बं.) २९१
शोनिज (फा.) ६८
शोभाञ्जन (सं.) ११७
श्यामकन्दा (सं.) ६३
श्याममोहरी (प.) ५९
श्याह दाने (फा.) ६८
श्यामालता (बं.) २६५
श्योनाक (सं.) २९१
श्रीखण्ड (सं.) ३२५
श्रीपर्णी (सं.) ३०१
श्रीफल (मं.) १३०
श्रीवेष्टक (सं.) ३४७
श्लेष्मातक (सं.) २७५
श्वदंष्ट्रा (सं.) १२२
श्वेतचन्दन (सं.) ३२५
श्वेतजीरक (सं.) २२७
श्वेतमुसली (सं.) ३६७

स

षडङ्ग (सं.) १२२
षड्ग्रन्था (सं.) ३७३

ष

संतरा, संत्रा (हिं.; म., गु.) १३०
संदले अब्यज (अ.) ३२५
संदले अह्मर (अ.) १७०
संदल सुर्ख (फा.) १७०
संपुडो (गु.) ११२
संभालू, सम्हालू (हिं.) २९८
सकाकुले हिंदी (अ., फा.) ३६७
सजापोश (क.) ११३
सताप (म.) १२६
सताव (गु.) १२६
सतावर (हिं.) ३६६
सतौना (हिं., पं.) २६१
सत्फल (म.) २०७
सत्यानाशी (हिं.) ८६
सनाय (हिं.) १८४
सपिस्तान (फा.) २७५
सप्तकपी (म.) २१२
सप्तचक्रा (सं.) २१२
सप्तपर्ण (सं.) २६१
सप्तरंगी (म.) २१२
सप्तला (सं.) १९०
सफरचंद (गु., म.) १९५
सफरजल (अ) १९६
सफरजले हिंदी (अ.) १३०
सफेद चंदन (हिं.) ३२५
सफेद जीरा (हिं.) २२७
सफेद मुसली (हिं.) ३६७
सफेद हळदर (गु.) ३५७
समग अरबी (अ.) १८७
समङ्गा (बं.) १९०
समडी (गु.) १८६
समाकदाना (हिं.) १५४
समुद्रफल (हिं., म.) २०७
समुद्रशोष (गु.) २८०
सम्मुल् हिमार (अ.) २६२
समेरवो (गु.) १६७
सरकी (म.) १०८
सरगवो (गु.) १५७
सरतान (अ.) ३९२
सरपंख (पं.) १७४
सरफोंका (हिं.) १७४

द्रव्यनाम पृष्ठ

सरल (सं.) ३४६
सरला (सं.) २७७
सरसव (गु.) ९०
सरसों (हि.) ९०
सरिषा (बं) ९०
सरेयां (पं.) ९०
सरसु (म.) ९०
सरसडो (गु.) ९८९
सराटे (म.) १२२
सरिवन (हि.) १६६
सरीह (पं.) १८९
सर्ज (सं.) १०५
सर्पगन्धा (सं.) २६४
सर्पान (क.) १७४
सर्षप (सं.) ९०
सल्ल (कु.) ३४६
सहकार (सं.) १५०
सहजणो (म.) १५७
सहतूत (म.) ३३९
सहिजना (हि.) १५७
सांगर (मा.) १८६
सांठा (मा.) ३७७
सांब्राणि (ता.) २५४
सांवर (म.) १११
साखरलिंबु (म.) १२९
सागरगोटा (म.) १७७
सागवान (गु.) २९९
सागोन (हि.) २९९
सातला (सं.) १९०
सातविण (म.) २६१
सातु (म.) ३७६

द्रव्यनाम पृष्ठ

सापसन (म.) ३१२
सारिवा (सं.) २६७
सालई (हि., म.) १३८
सालममिश्री (हि.) ३५१
सालवण (म.) १६६
सिकोना (हि.) २३५
सिंगोडा (मा.) २११
सिंघाडा (हि.) २११
सिंगीमोहरा (मा.) ५६
सिंघोडा (गु.) २११
सिताब (हि.) १२६
सिंधी सोवा (मा.) २२६
सिन्दुरवार (सं.) २९८
सिद्धि (बं.) ३४०
सिम्बितिका (सं.) १९५
सियांचिटी (सि.) ९०
सिरस (हि.) १८९
सिल्हक (सं.) २००
सीताफल (सं. हि., म., गु.) ७२
सीमळो (गु.) १११
सीर (फा.) ३६१
सुदि (बं.) ८०
सुखड (गु.) ३२५
सुगन्धवाला (पं.) २३८
सुद्दाब (अ., फा.) १२६
सुधा (सं.) ३२८
सुपारी (हि.) ३७०
सुमाक (अ.) १५४
सुरंगी (म.) १०२
सुरंजान (फा., हि.) ३६६
सुरपुन्नाग (सं.) १०२

द्रव्यनाम पृष्ठ

सुर्ख (फा.) १६३
सुलतानचंपा (हिं.) १०३
सुबहा (सं.) २७७
सुवा (गु.) २२६
सुहांजना (पं.) १५७
सुहांजिडो (सि.) १५७
सूआ (सि.) २२६
सूची (पं.) २८७
सूफ (सि.) १९५
सूम (अ.) ३६१
सूरन (हिं.) ३७२
सभल (हिं.) १११
सेंवाली (कु.) २९८
सेकटो (गु.) १५७
सेगुन (बं.) २९९
सेब (हिं.) १९५
सेमल (हिं.) १११
सेलान (फा.) १४५
सेव्य (सं.) ३८१
सेहुंड (सं., हिं.) ३२८
सोंदाल (बं.) १८१
सोअद् कूफी (अ.) ३७४
सोनापाठा (हिं.) २९१
सोनाम (मु.) खा (म., गु.) १८४
सोपारी (गु.) १७०
सोम (सं.) ३४५
सोमराजी (सं.) १७४
सोया (हिं.) २२६

ह

हंजल (अ.) २१६
हंसपदी (सं.) ३८४

द्रव्यनाम पृष्ठ

हंसराज (हिं., म., गु.) ३८४
हड (हिं.) २०१
हडजोड़ (हिं.) १४८
हथजोडी (कु.) ३५१
हथिया (हिं.) १६३
हदगा (म.) १६३
हपुषा (सं.) ३५०
हब्बुल् अर अर (अ.) ३५०
हब्बुल् गुराब (अ.) २७०
हब्बुल् नील (अ.) २७८
हब्बुर्रसाद (अ.) ९१
हब्बुस्सौदा (अ.) ६८
हरडे (गु.) २०१
हरिद्रा (सं.) ३५२
हरियाली (हिं.) ३८०
हरी चाय (हिं.) ३८२
हरीतकी (सं.) २०१
हर्बीत (अ.) १४२
हर्रे (रें) (हिं.) २०१
हलदी, हल्दी (हि.) ३५२
हलेला (फा.) २०१
हळद (म.) ३५२
हळदर (गु.) ३५२
हशीशतुस्सुआल (अ.) २९५
हस्तिदन्ती (सं.) ३३४
हाऊबेर (हिं.) ३५०
हाकुच (बं.) १७४
हाडजोडा, हाडभांगा (बं.) १४८
हाडवर्णा (म.) ९४
हाडसांकळ (गु.) १४८
हारशणगार (गु.) २५६

द्रव्यनाम पृष्ठ

हारसिंगार (हिं.) २५६
हारहूरा (सं.) १४७
हालिम, हालों (हिं.) ९१
हालिया (पं.) ९१
हिंग (हिं.) २२३
हिंगण (म.) १३४
हिंगोट (हिं.) १३४
हिंगोरिया (मा.) १३४
हिङ्गु (सं.) २२३
हिङ्गुशिवाटिका (सं.) २३४
हिजल (बं.) २०७
हिज्जल (सं.) २०७
हिना (फा.) २०९

द्रव्यनाम पृष्ठ

हिनामजनुन (फा.) १६४
हिमसागर (बं.) १९९
हीरादखण (गु.) ३६९
हु (ह) म्माज (अ.) ३१०
हुरहुर, हुलहुल (हिं.) ९५
हुलवा (अ.) १६९
हूनिहेंद्र (क.) २१६
हैमवतोवचा (सं.) ३५९

क्ष

क्षुद्रसहा (सं.) १७५
क्षुद्रा (सं.) २८१
क्षत्रपर्वट (सं.) २३२
क्ष्वेड (सं.) ५६

उद्भिज्जाङ्ग-प्रत्यङ्ग-वाचक शब्दों की वर्णानुक्रमणिका ।

नाम पृष्ठ

अ

अंकुर ९
अकुण्ठिताग्र-शाखोद्भव २०
अक्षि १७,१९,४०
अखण्ड-पत्रधारा २६
अग्रोद्भूत-पुष्पोद्भव ३३
अग्र्य- " २०,३३
अङ्गि ८
अचर ३
अचेतन २
अण्डाकार-पत्र २७
अतिरिक्त अक्षि १९
अधरपृष्ठ २५
अधःस्थकोश ३९
अध:स्थगर्भाशय ३९
अधोगमनानुराग ९
अधोगामी,अधोवर्धिष्णु १८
अनशन २,३
अनियताकार-कन्द २२
" पुष्पबाह्यकोश ३५
अनियमित-अक्षि १९
अनियमित-मूल १२
अन्तश्चेतन ३
अन्तःसंज्ञ ३
अन्तस्त्वक ४४
अन्त:स्फुटन ३७
अन्तिमाङ्कुर १९
अपरपृष्ठ २५

नाम पृष्ठ

अपरिमितशाखोद्भव २०
अपुष्प ३
अपूर्ण उद्भिज्ज ८
अपूर्ण पुष्प ३४
अफल ६
अबीज-फल ४३
अभिमुख-पर्णविन्यास २९,३०
अर्धगोल-काण्ड १८
अलैङ्गिकी-सन्तानोत्पत्ति ४०
अवकेशी ६
अवन्ध्य ६
अवरोह-मूल ११
अवलम्बक-मूल १२,१५
अवलम्बन १७
अविदारी-फल ४३
अवृन्त-पत्र २५
अवृन्त-पुष्प ३४
असंयुक्त-स्त्रीकेशर ३८
असूत्र-पुंकेशर ३७
अष्टि ४१
अष्टिल-फल ४३
अस्थि ४१

आ

आकर्षक पत्र ३१
आकर्षण ३०
आदिमूल ९,४५
आभ्यन्तरकोश ३६
आभ्यन्तरकोश के दल ४६

नाम पृष्ठ

आभ्यन्तरपुट ३६
आरोहिणी–लता ७,१८
आवृतबीज ४,४४

उ

उद्भित् १
उद्भिज्ज १
उद्भिद १
उन्नतोदर–स्तवक ३३
उपपक्षयुक्त–पर्ण २९
उपपत्र २३,२४
उपबाह्यकोश ६६
उपमूल ११
उपाङ्ग ८
उभयलिङ्ग–पुष्प ३९
उभयोद्भव–कण्टक २१,२२
उल्ब ३८

ऊ

ऊर्ध्वगामी–भौमिककाण्ड १८
ऊर्ध्ववर्धिष्णु–भौमिककाण्ड १८
उर्ध्वस्थकोश ३९
उर्ध्वस्थगर्भाशय ३९

ए

एककोश ३८
एकदल–उद्भिज्ज ४
एकदलपर्ण २९
एकदलचक्र ३६
एकपर्शुक–शिरारचना २७
एकबीज ४३
एकबीजपत्र ४
एकलिङ्गपुष्प ३९
एकवर्षजीवी ५

नाम पृष्ठ

एकवर्षायु ५
एकाकी–पर्ण २८
एकाकी–पुष्पविन्यास ३३
एकाकी–फल ४२
एकान्तर–पर्णक्रम ३०

ओ

औषधि १

औ

औद्भिद १

क

कण्टकी–काण्डपृष्ठ १८
"—पत्रपृष्ठ २५
"—पुष्पबाह्यकोश ३५
कण्टकीभूत–काण्ड २०
"—पत्र ३२
कन्द २२
कन्दगुच्छ १५
कन्दाकार–मूल १५
कन्दुकाकारस्तवक ३३
करतलाकार–कन्द १५
करतलाकार–पत्रसिरा २६
"—पर्ण २९
कर्कश १८,२५,३५
कलिका ३२
कलिकावल्क ३२
काण्ड १६
काण्डकन्द २२
काण्ड प्ररोही ४
काण्डसंसक्त–पत्र २४
काण्डोद्भव–अक्षि १९
काण्डोद्भव–मूल १२

नाम पृष्ठ

कुड्मल ३२
कुण्ठितदन्तुरा-पत्रधारा २६
कुण्ठिताग्र-पत्राग्र २६
कुण्ठिताग्र-शाखोद्भव २०
कुसुमोच्चय ३३
केशरसूत्र ३७
कोरक ३२
कोशेयसदृश-पत्र ३०
क्षुप ६
क्षुपक ६

ख

खर १८,२५,३५

ग

गतिशील-पत्र ३२
गर्भाशय ३८
गलन्तिकाकार-पुष्पबाह्यकोश ३५
गुच्छ ३३
गुच्छाकार-पुंकेशर ३७
गुल्म ६
गुल्मक ६
गुह्यपुष्प ३३
गोल--काण्ड १८
गोलाकार--संयुक्तफल ४४
गोलाकार-कन्द २२
ग्रन्थि १७

घ

घण्टिकाकार--पुष्पबाह्यकोश ३५

च

चतुर्दल २९
चतुष्कोण--काण्ड १८

नाम पृष्ठ

चर ३
चर्मसदृश-पत्र ३०
चिपटा-काण्ड १८
चूडाकार ३३
चेतन २
चोषक-मूल १६

छ

छत्राकार ३३
छिन्नाग्र २६

ज

जङ्गम १
जङ्गम ३
जटा ११
जनक-अङ्ग ८
जलज ५
जलबासी-मूल १२
जलशोषक--पत्र ३०
जान्तव १
जालिनी--सिरारचना २६

त

तन्तुभूत-काण्ड २२
तन्तूभूत--पत्र ३१
तरङ्गसदृश-पत्रधारा २६
तीक्ष्णाग्र--पत्र २६
तीक्ष्णदन्तुरा--पत्रधारा २६
तुष ४४
तूलफल ४३
तैलग्रन्थि ३०
त्रिकोण-काण्ड १८
त्रिदल-पर्ण २९

नाम पृष्ठ

द
दक्षिणावर्तिनी-लता ७
दर्व्याकार-पत्र २८
दल २८
दलचक्र ३६
दीर्घमूलिनी-शाखा २०
दृढकण्टकी-काण्ड १८
द्विदल ४
द्विदलचक्र ३६
द्विदलपर्ण २९
द्विबीजपत्र ४
द्विवर्षायु ५
द्विविभक्त-शाखोद्भव २०
द्व्यर्तुजीवी ५
द्व्यर्त्वायु ५

ध
धारक-अङ्ग ८
धारक-वृन्तमूल ३१

न
नग्नबीज ४,४४
नतमूलिनी-शाखा २०
नताग्र २६
नतोदरस्तबक ३३
नपुंसकपुष्प ३९
नरफूल ३९
नलाकार-काण्ड १८
नलिकाकार-पुष्पबाह्यकोश ३५
नाभि ४४
नियतकार-पुष्पबाह्यकोश ३५
नियमित-मूल १२
निरिन्द्रिय २

नाम पृष्ठ

निर्जीव २
नीरस-फल ४३

प
पंखडी ३६
पखडी ३६
पक्षाकार-सिराक्रम २६
पक्षाकार-पर्ण २९
पञ्चाङ्ग ८
पञ्चाङ्गुल २८
पत्र २३
पत्रकोणोद्भव-अक्षि १९
पत्रकोणोद्भूत-पुष्पोद्भव ३३
पत्रधारा २६
पत्रपृष्ठ २५
पत्रमध्यलग्न--पर्णवृन्त २५
पत्रमय-कन्द २२
पत्रमूल २५
पत्रसंगठन ३०
पत्रसिरा २६
पत्राकृति २७
पत्राग्र २६
पत्रांगुल २८
पत्राभास-काण्ड २०,२१
पत्रारोहिणी ७
पत्रोद्भव-अक्षि १९
पत्रोद्भव-कण्टक २१
पत्रोद्भूत-बडिश ३१
पराग ३७
परागकोश ३७
परागकोशस्फूटन ३७
परागपिण्ड ३७

नाम पृष्ठ

परागवाहिनी ३८
परागवाहिनीमुख ३८
पराबलम्बी–काण्ड १८
परिमित–शाखोद्भव २०
परिवेष्टक २४
परिस्थकोश ३९
परुस् १७
परोपजीवी ५
पर्ण २३
पर्णक्रम २९
पर्णच्छद २४
पर्णतल २४
पर्णविन्यास २९
पर्णवृन्त २५
पर्व १७
पर्वसंधि १७
पश्चातपाती ३५
पाद ८
पार्थिव १
पर्शिवक शाखोद्भव २०
पुंकेशर ३४
पुंकेशर ३७
पुंकेशरमणि ३७
पुंजननेन्द्रिय ३६
पुंपुष्प ३९
पुङ्खपत्र २४
पुष्प ३२
पुष्पच्छद २३,२४,३४
पुष्पच्छदवलय ३४
पुष्पदण्ड ३४
पुष्पध्वज ३४

नाम पृष्ठ

पुष्पबाह्यकोश ३४
पुष्पबाह्यकोश के दल ३५
पुष्परज ३७
पुष्पविन्यास ३३
पुष्पवृन्त ३४
पुष्पव्यूह ३३
पुष्पसमूह ३३
पुष्पस्तम्भ ३४
पुष्पाभ्यन्तरकोश ३६
पुष्पासन ३४
पुष्पोद्भव ३३
पूर्ण उद्भिज्ज ८
पूर्ण पुष्प ३४
पूर्वपाती ३५
पृथगुभयलिङ्ग-पुष्प ३९
पेचदार २९,३०
पेड़ २
पोषक अङ्ग ८
पौधा २
प्रकाण्ड १६
प्रकाशानुराग ९
प्रतानिनी ७,१८
प्रत्यङ्ग ८
प्रधानमूल ११
प्ररोह ९
प्ररोहिणी शाखा २०,२१
प्रबालसदृश–मूल १६
प्रसर ७,१८
प्रसेव ३०
प्राणिज १
प्रामाणिकपत्र ३२

नाम पृष्ठ
प्रारम्भिकमूल ११
फ
फणाकार ३५
फल ४१
फलक २४,२५
फलकमूल २५
फलत्वचा ४१
फलमांस ४१
फलवृन्त ४१
फलाभास ४२
फलेग्रही ६
ब
बडिशारोहिणी ७
बहिरुद्भेद २२
बहिस्त्वक् ४४
बहि:स्फुटन ३७
बहुकोश ३८
बहुदल २९
बहुदलचक्र–आभ्यन्तरकोश ३६
बहुपर्शुक–सिरारचना २७
बहुबीज–फल ४३
बहुवर्षजीवी ५
बहुवर्षायु ५
बाह्यकोश ३४,३५
बाह्यकोशनलिका ३५
बाह्यपुट ३५
बाह्याभ्यन्तरसंयुक्तकोश ३६
बीज ४१.४४
बीजकवच ४४
बीजकोश ३८
बीजगर्भ ४४

नाम पृष्ठ
बीजत्वचा ४४
बीजनाल ३८
बीजपत्र २३
बीजप्ररोहि ४
बीजरन्ध्र ४४
बीजाङ्कुर ९
बीजाण्ड ३८
बुघ्न ४५
भ
भङ्गुर–पत्र ३०
भल्लाकार–पत्र २७
भौम १
भौमिक–काण्ड १८
म
मञ्जरी ३३
मधुग्रन्थि ३०
मध्यसिरा २६
मसृण १८,२५,३५
महावृक्ष ६
मांस ४१
मांसल–अक्षि १९
मांसल–पत्र ३०
मांसल–फल– ४३
मांसाहारी–पत्र ३१
माढि २६
मादा फूल ३९
मुकुटाकार ३३
मुकुल ३३
मूल ८
मूलकेश १०
मूलकोश १०

नाम पृष्ठ

मूलकाकार–कन्द १५
मूलसंस्थान ११
मूलारोहिणी ७
मूलिनी शाखा २०
मूलोद्भव-अक्षि १९

य

योनि ३८

र

रक्षकपत्र ३२
रक्षा ३१
रज ४०
रसाल–फल ४३
रेखाकार–पत्र २७
रोमश १८,२५,३५

ल

लट्वाकार–पत्र २८
लता ७
लम्बगोल २७
लम्बाग्र-पत्रधारा २६
लहरदार-पत्रधारा २६
लैङ्गिकी सन्तानोत्पत्ति ४०

व

वज्रकन्द २२
वनस्पति २
वन्ध्य ६
वन्ध्यपुष्प ३९
वर्तुल–पत्र २७
वर्तुल–पर्णक्रम २९
वर्धनशीलभाग १०
वल्ली ७,१८
वल्कपत्र २३,२४
वल्कीकन्द २२

नाम पृष्ठ

वातलम्बी–मूल १६
वान ४१
वामावर्तिनी ७
वायवीय–मूल १२,१५
वायवीय–काण्ड १८
वास्तवपर्ण २३
वास्तविक फल ४२
विदारीफल ४३
विपरीतलट्वाकार–पत्र २८
विभक्तदल ३५
विषमदल–पर्ण २९
विषमयुग्म ३७
वीरुध् ७
वृक्काकार–पत्र २७
वृक्ष ६
वृक्षक ६
वृक्षरुह ५
वृक्षादन ५
वृन्त ३४, ४१
वृन्तक ३४
वृन्ताग्र ३४

श

शंखवाकार–कन्द १५
शंखवाकार–असंयुक्तफल ४४
शलाटु ४१
शस्य ४२
शस्यवर्ग ४१
शाखायुक्तभाग १०
शाखारहित–काण्ड १८
शाखोद्भव २०
शाखोद्भव–कण्टक २१
शाखोद्भव-मूल १२,१५
शिफा ११

नाम पृष्ठ
शिम्बीफल ४२
शिम्बीवर्ग ४१
शृङ्ग १९
शूकधान्य ४२
शूकफल ४२
शूकवर्ग ४१
शोषकपत्र ३१
शोषणशील–भाग १०
श्वासग्राही मूल १५

ष

षण्ढपुंकेशर ३७

स

संयुक्त–स्त्री केशर ३८
संकीर्णफल ४३
संयुक्तदल–पर्ण २८
संयुक्तदल–पुष्पबाह्यकोश ३५
संयुक्तफल ४२;४३
संयोजक ३७
संग्राहक–मूल १४
सञ्चय ३१
संग्राही–पत्र ३२
सजीव २
सन्तानोत्पत्ति ३१
सन्तानोत्पादक–अङ्ग ८
सन्तानोत्पादक–पत्र ३१
सन्तानोत्पादक–मूल १६
सदल–पर्ण २८
सपक्ष–फल ४४
सपुष्प ३
सबीजक–पत्र २३,२४
समदल-पर्ण २९
समानान्तर–सिरारचना २६
सलगमाकार–मूल १५
सवृन्त–पर्ण २५
सवृन्त–पुष्प ३४

नाम पृष्ठ
ससूत्र–पुंकेशर ३७
सहायकमूल १२,१५
सादाफल ४४
सामान्यकन्द १५
सामूहिक फल ४२
साशन २
सिंहपुच्छाकार ३३
सिक्थसदृश–पराग ३७
सिराक्रम २६
सिरारचना २६
सुराहीसदृश–पुष्पबाह्यकोश ३६
सूचिकाकार–पत्र २७
सूत्रारोहिणी ७
सूत्रीभूत–काण्ड २०
सेन्द्रिय २
सेम ४२
स्कन्ध १६
स्कन्धोद्भव–अक्षि १९
स्कन्धोद्भव–अवरोहमूल १२,१५
स्तबक ३३
स्तम्भाकार–मूल १२,१५
स्त्रीकेसर ३४,३८
स्त्रीकेशरनलिका ३८
स्त्रीजननेन्द्रिय ३६
स्त्रीपुष्प ३९
स्त्री बीज ३८
स्थलज ५
स्थायी-पुष्पबाह्यकोश ३५
स्थावर ३
स्वावलम्बी ६,१८
स्फीतवृन्त ३१

ह

हस्तिशुण्डाकार ३३
हृदयाकार–पत्र २७
ह्रस्वमूलिनी–शाखा २०

Index of Latin (botanical) names

A

Abies webbiana, 349
Abroma augusta, 117
Abrus precatorius, 163
Abutilon indicum, 114
Acacia arabica, 187
Acacia catechu, 187
Acacia rugata, 190
Acanthaceae, (N. O.) 295
Achyranthes aspera, 309
Aconitum chasmanthum, 59
Aconitum ferox, 56
Aconitum heterophyllum, 62
Aconitum palmatum, 63
Acorus calamus, 373
Adansonia digitata, 112
Adhatoda vasica, 295
Adiantum lunulatum, 384
Aegle marmelos, 130
Agaricus campestris, 386
Albizzia lebbeck, 189
Alhagi camelorum, 168
Allium sativum, 361
Allium cepa, 362
Alocasia indica, 372
Aloes, 363
Aloe vera, 363
Alpinia officinarum, 354
Alstonia scholaris, 261
Althaea officinalis. 113
Altingia excelsa, 200
Amaranthaceae, (N. O.) 308
Amaryllidaceae, (N. O.) 360
Ambergris, 388
Amomum subulatum, 355
Amoora rohituka, 143
(Aphanamixis polystachya)
Amorphophallus campanulatus, 372
Anacardiaceae, (N. O.) 150
Anacyclus pyrethrum, 245
Andrographis paniculata, 297
Annona squamosa, 72
Annonaceae, (N. O.) 72
Apocynaceae, (N. O.) 259
Aquilaria agallocha, 323
Arabian lavander, 305
Araceae, (N. O.) 372
Areca catechu, 370
Argemone mexicana, 86
Argyreia speciosa, 280
Aristolochia bracteata, 313
Aristolochia indica, 312
Aristolochiaceae, (N.O.) 312
Artemisia absinthium, 243
Artemisia maritima, 244
Artemisia sieversiana, 243
Asclepiadaceae, (N. O.) 265
Asparagus adscendens, 367
Asparagus racemosus, 366
Asteracantha longifolia, 296
Atropa belladonna, 287
Averrhoa carambola, 125
Azadirachta indica, 140

B

Balanites aegyptiaca, 134
Baliospermum montanum, 333
Balsamodendron myrrha, 137
Balsạmodendron mukul, 135
Bambusa arundinacea, 379
Barringtonia acutangula, 207
Bassia latifolia, 251
Bauhinia variegata, 179
Benincasa hispida, 221
Berberidaceae, (N. O.) 77
Berberis aristata, 77
Bergenia ligulata, 198
Bezoar, 408
Bignoniaceae, (N. O.) 290
Bile, 406
Bixaceae, (N. O.) 97
Blood, 419
Boerhavia diffusa, 307
Bombacaceae, (N. O.) 111
Bombax malabaricum, 111
(B. cieba)
Boraginaceae, (N. O.) 275
Borassus flabellifer, 369
Boswellia serrata, 138
Brassica integrifolia, 89
Brassica juncea, 89
Brassica nigra, 90
Buchanania lanzan, 156
Buchanania latifolia, 156
Burseraceae, (N. O.) 135
Butea frondosa, 161
Butea monsoperma, 161
Butter milk, 401

C

Caesalpinia crista, 177
Caesalpinia sappan, 178
Caesalpiniaceae, (N. O.) 177
Calamus draco, 369
Calophyllum inophyllum, 103
Calotropis procera, 266
Cannabis sativa, 340
Capparidaceae, (N. O.) 93
Capparisaphylla, 95
Carica papaya, 212
Carụm carvi, 228
Carum copticum, 229
Carum roxburghianum, 230
Caryophyllus aromaticus, 205
Casearia esculenta, 212
Cassia absus, 185
Cassia angustifolia, 184
Cassia auriculata, 184
Cassia fistula, 181
Cassia occidentalis, 183
Cassia tora, 182
Castorium, 397
Catechu, 188
Cedrus deodara, 346
Celastraceae, (N. O.) 144
Celastrus panniculata, 144
Centratherum anthelminticum, 240
Cinchona succirubra, 235
Cinnamomum camphora, 319
Cinnamomum tamala, 321
Cinnamomum zeylanicum 321
Cissampelos pareira, 75

Citrullus colocynthis, 216
Citrus acida, 128
Cirus autrantium, 130
Citrus limetta, 129
Citrus limonum, 128
Citrus medica, 127
Civet, 395
Claviceps purpurea, 386
Cleome viscosa, 95
Clerodendron phlomidis, 300
Clerodendron serratum, 300
Clitoria ternatea, 160
Coccinia indica, 219
Cocos nucifera, 368
Coffea arabica, 235
Colchicum luteum, 366
Combretaceae, (N. O.) 201
Commiphora mukul, 135
Compositae, (N. O.) 239
Coniferae, (N. O.) 346
Convolvulaceae, (N. O.) 277
Coptis teeta, 66
Coral, 407
Corallium rubrum, 407
Cordia obliqua, 275
Coriandrum sativum, 230
Crassulaceae, (N. O.) 199
Crataeva nurvala, 94
Crataeva religiosa, 94
Crocus sativus, 358
Crotalaria juncea, 165
Crotalaria verrucosa, 166
Croton oblongifolius, 334
Croton polyandrum, 333
Croton tiglium, 332
Cruciferae (N. O.) 88
Cucurbitaceae (N. O.) 213
Cuminum, cyminum, 227
Cupiliferae (N. O.) 342
Curculigo orchioides, 360
Curcuma amada, 357
Curcuma aromatica, 356
Curcuma longa, 352
Curcuma zedoaria, 353
Curds, 400
Cyclea pelteta, 75
Cydonia vulgaris, 196
Cymbopogon citratus, 382
Cymbopogon jwarancusa, 383
Cymbopogon schoenanthus, 382
Cynodon dactylon, 380
Cyperaceae, (N. O.) 374
Cyperus rotundus, 374
Cyperus scariosus, 374
Cyproea moneta, 392

D

Dalbergia latifolia, 176
Datura alba, 285
Datura fastuosa, 285
Delphinium denudatum, 64
Desmodium gangeticum, 167
Desmostachya bipinnata, 379
Digitalis purpurea, 290
Dillenia indica, 70
Dilleniaceae, (N. O.) 70
Dipterocarpaceae, (N.O.) 104
Dipterocarpus alatus, 107
Dorema ammoniacum, 225
Dove, 406

Dryobalanops aromatica, 107

E

Earth worm 409
Eclipta alba, 239
Egg, 389
Elettaria cardamomum, 355
Embelia ribes. 250
Ephedra gerardiana 345
(Ephedra vulgaris)
Ergot, 386
Ericaceae (N. O.) 349
Eriodendron anfractuosum, 112
Eucalyptus rosteata, 207
Eugenia jambolana, 206
Eulophia compestris 351
Eupatorium ayapana, 246
(Eupatorium triplinerve)
Euphorbiaceae (N. O.) 327
Euphorbia nivulia, 328
(Euphorbia neriifolia)
Euryale ferox, 82
Evolvulus alsinoides, 279

F

Fagonia arabica, 123
(Fagonia cretica)
Fat, 420
Feronia elephantum, 131
Ferula narthex, 223
Ficus bengalensis, 336
Ficus carica, 339
Ficus glomerata, 338
Ficus hispida, 338
Ficus lacor, 337
Ficus religiosa, 336
Filices, (N. O.) 384
Foeniculum capillaceum, 225
Fumaria officinalis, 87
Fuphorbiaceae, (N. O.) 327
Fumaria pavriflora, 87
Fumariaceae, (N. O.) 87
Fungi, (N. O.) 386

G

Garcinia indica, 103
Garcinia pedunculata, 104
Gardenia gummifera, 234
Gentianiaceae, (N. O.) 272
Geraniaceae, (N. O.) 124
Gloriosa superba, 364
Glycyrrhiza glabra, 162
Gmelina arborea, 301
Gnetaceae, (N. O.) 345
Gossypium arboreum, 108
Gossypium herbaceum, 108
Gramineae, (N. O.) 376
Grewia asiatica, 118
Grewia populifolia, 120
(Grewia tenax)
Grewia tiliaefolia, 119
Guttifeae, (N. O.) 101
Gynandropsis pentaphylla, 95
(Gynandropsis gynandra)
Gynocardia odyorata. 99

H

Hedychium spicatum, 353
Helicteres isora, 118
Hemidemus indicus, 267
Hibiscus abelmoschus 110
Hibiscus rosa-sinensis, 110
Himalyan paeony, 69
Holarrhena antidysenterica, 260

Holostemma annulare; 269
(Leptadenia reticulata)
Honey, 410
Hordeum vulgare, 376
Hydnocarpus wightiana, 97
Hydrocotyle asiatica, 222
Hyoscyamus reticulatus. 286

I

Ichnocarpus frutescens, 265
Indigofera tinctoria, 164
Inula racemosa, 247
Ipomoca digitata, 278
Ipomoca hederacea; 358
Iridaceae, 358
Iris versicolor, 359
Ivory, 423

J

Jasminum arborescens, 257
Jasminum auriculatum; 257
Jasminum grandiflorum, 257
Jasminum sambac, 256
Jatrorrhiza palmata, 76
Juniperus communis; 350

K

Kalanchoe pinnata, 199

L

Labiateae, (N. O.) 302
Lactus, 398
Lagenaria vulgaris, 217
Lauraceae, (N. O.) 319
Lavandula stoachas, 305
Lawsonia inermis 209
Laguminoseae, (N. O.) 159
„ „ 177
Lemon grass, 382
Lepidium iberis, 93
Lepidium sativum, 91
Leptadenia raticulata, 269
Leucas cephalotes, 305
Lichenceae, (N. O.) 385
Liliaceae, (N. O.) 361
Linaceae, (N. O.) 121
Linum usitatissimum, 121
Litsea chimensis, 322
(Litsea polyantha)
Liver, 418
Lodoicea seychellarum, 368
Loganiaceae, (N. O.) 270
Loranthaceae, (N. O.) 324
Loranthus longifolia, 324
(Loranthus falcatus)
Luffa aegyptiaca, 215
Luffa amara; 214
Luffa echinata, 215
Lythraceae, (N. O.) 209

M

Magnoliaceae, (N. O.) 71
Mallotus philippinensis, 335
Malvaceae, (N. O.) 108
Mangifera indica, 150
Meat, 412
Mel, 410
Melia azedarach; 142
Meliaceae, (N. O.) 140
Menispermaceae, (N. O.) 73
Mentha arvensis, 304
Mentha viridis; 304
Mentha sylvestris, 304

Menthol; 304
Mesua ferrea, 102
Michelia champaca, 71
Milk, 398
Mimosa pudica; 190
Mimosaceae, (N. O.) 186
Mimusops elengi, 252
Momordica charantia, 219
Momordica dioica, 220
Moringa concanensis, 157
Moringa pterygosperma; 157
Moringa oleifera, 157
Moringaceae (N. O.) 157
Morus indica, 339
Mother of pearl, 414
Mucuna pruriens, 172
(Mucuna prurita)
Musa sapientum, 357
Musk, 393
Mutella occidentalis, 391
Mylabris chicorii, 397
Myrica nagi, 341
Myricaceae, (N. O.) 341
Myristica fragrans, 318
Myristicaceae, (N. O.) 318
Myrsinaceae, (N. O.) 250
Myrtaceae, (N. O.) 205

N

Nardostachys jatamansi, 237
Nelumbium speciosum, 80
(Nelumbo nucifera)
Nerium odorum, 262
Nigella sativa 68
Nyctaginaceae, (N. O.) 307
Nyctanthes arbor trisris, 256
Nymphaea stellata, 80
Nymphaeaceae, (N. O.) 80

O

Ochrocarpus longifolius, 102
Ocimum sanctum, 302
Oleaceae, (N. O.) 255
Onagraceae (N. O.) 211
Onosma bracteatum, 276
Operculina turpethum; 277
Opium, 83
Orchidaceae, (N. O.) 351
Origanum majorana, 303
Oroxylum indicum, 291
Oxalis corniculata, 124

P

Paeonia emodi, 69
Palmae, (N. O.) 367
Pandanaceae, (N. O.) 371
Pandanus tectorius, 371
Papaver somniferum, 83
Papaveraceae, (N. O.) 83
Papilionaceae, 159
Parmelia perforata, 385
Passifloraceae (N. O.) 212
Pearl, 413
Pedaliaceae, (N. O.) 293
Pedalium murex, 294
Peganum harmala, 125
Peucedanum graveolens, 226
Phaseolus trilobus, 175
Phoenix dactylifera, 370
phyllanthus emblica, 330
Phyllanthus urinaria, 331
Pierorrhiza kaurrooa, 288
Pigeon, 406

Pinus longifolia, 346
Piper betle, 315
Piper cubeba, 317
Piper longum, 313
Piper nigrum, 316
Piperaceae, (N.O.) 313
Pistacia integerrima, 153
Pistacia lentiscus, 157
Pistacia vera, 155
Plantaginaceae, (N. O.) 306
Plantago ovata, 307
Plumbaginaceae, (N. O.) 248
Plumbago rosea, 248
Plumbago zeylanica, 248
Podophyllum emodi, 79
polygonaceae, (N. O.) 310
Pongamia glabra, 171
Portulaca oleracea, 99
Portulaca quadrifida, 99
Portulacaceae, (N. O.) 99
Premna integrifolia, 300
Prosopis spicigera, 186
Prunus aloocha, 194
Prunus amygdalus, 192
Prunus armeniaca, 195
Prunus cerasoides, 193
Prunus cerasus 194
Prunus communis, 194
Prunus mahalab, 197
Prunus persica, 194
Psoralea corylifolia, 174
Pterocarpus marsupium, 170
Pterocarpus santalinus, 170
Punica granatum, 208
Punicaceae, (N. O.) 208
Pyrus communis, 196
Pyrus malus, 195

Q

Quercus infectoria, 342

R

Randia dumetorum, 233
Ranunculaceae, (N. O.) 56
Raphanus sativus, 91
Rat, 417
Rauwolfia serpentina, 264
Red barg, 235
Red bone marrow 410
Rhamnaceae, (N. O.) 145
Rheum emodi, 310
Rhododendron anthopogon, 349
Rhus praviflora, 154
Rhus succedanea, 153
Ricinus communis, 327
Rosa abba, 191
Rosa centifolia, 191
Rosaceae, (N. O.) 191
Rubia cordifolia, 232
Rubiaceae, (N. O.) 231
Rumex vesicarius, 310
Ruta graveolens, 126
Rutaceae, (N. O.) 125

S

Saccharum officinarum, 377
Salicaceae, (N. O.) 343
Salix caprea, 343
Salix tetrasperma, 344
Salvadora oleoides, 258
Salvadora persica, 258
Salvadoraceae, (N. O.) 258
Samydaceae, (N. O.) 211
Santalaceae, (N. O.) 325
Santalum album, 325

Sapindaceae, (N. O.) 149
Sapindus trifoliata, 149
Sapotaceae, (N. O.) 251
Saraca indica, 180
Saussurea lappa, 241
Saxifrageceae, (N. O.) 198
Scirpus kysoor, 376
Scitaminaceae, 352
Seilla serrata, 392
Semen, 414
Semicarpus anacardium, 151
Scrophulariaceae, (N. O.) 288
Serpent, 422
Sesamum indicum, 293
Sesbania grandiffora, 163
Shoe flower, 110
Shorea rubusta, 104, 107
Sida cordifolia, 114
Sida humilis, 115
(Sida veronicaefolia)
Sida rhombifolia, 116
Sida spinosa, 116
Silk pod, 394
Silk worm, 394
Simaroubaceae, (N. O.) 134
Sisymbrium irio, 92
Smilax china, 365
Smilax zeylanica, 365
Snake, 422
Solanaceae, (N. O.) 281
Solanum indicum, 282
Solanum nigrum, 283
Solanum xanthocarpum, 281
Soymida febrifuga, 143
Sphaerahthus indicus, 244
Sterculiaceae, (N. O.) 117
Stereospermum suaveolens, 291
Strychnos nuxvomica, 270
Styrax benzoin, 254
Sumatra camphor, 107
Swevertia chirata, 272
Symplocaceae, (N.O.) 253
Symplocos crataegoides, 253
Symplocos racemosa, 253

T

Tacca aspera, 361
Taccaceae, (N. O.) 360
Tagetes erecta, 247
Tamaricaceae, (N. O.) 100
Tamarindus indica, 178
Tamarix articulata, 100
(T. appylla)
Tamarix gallica, 100
(T. dioica)
Taxus baccata, 348
Tecomella undulata, 292
Tectona grandis, 299
Tephrosea purpurea, 174
Teramnus labialis, 175
Terminalia arjuna, 204
Terminalia belerica, 203
Terminalia chebula, 201
Terminalia tomentosa 107
Testicle, 414
Thalictrum foliolosum, 67
Thespesia lampas, 108
Thymelaeaceae, (N. O.) 323
Tiliaceae, (N. O.) 118
Tinospora cordifolia, 73
Trapa bispinosa, 211
Tribulus terrestris, 122

Trichosanthes dioica, 218
Trigonella foenum-graecum, 169

U

Umbelliferae, (N. O.) 222
Uraria picta, 167
Urginea indica, 363
Urine, 415
Urticaceae, (N. O.) 336

V

Valeriana wallichii, 238
Valerianaceae, (N. O.) 236
Vateria indica, 105, 107
Verbenaceae, (N. O.) 298
Vetiveria zizanioides, 381
Viola odorata (N. O.) 96
Violaceae, (N. O.) 96
Viscum album, 325
Vitaceae, (N. O.) 147
Vitex negundo, 298
Vitex trifolia, 298
Vitis quadrangularis, 148
Vitis vinifera, 147

W

Wedelia calendulacea, 239
Whey, 402
Withania somnifera, 283
Woodfordia frutlcosa, 210
Wrightia tinctoria, 260

X

Xanthoxylum alatum, 132
Xanthoxylum rhesta, 133

Z

Zingiber officinale, 356
Zizyphus jujuba, 146
Zizyphus nummularia, 146
Zizyphus sativa, 145
Zizyphus vulgaris, 145
Zygophyllaceae (N. O.) 122

औषधद्रव्यविज्ञानखण्डस्य परिशिष्टम् ।

चरकोक्ताः पञ्चाशन्महाकषायाः (गणाः)

जीवनीयगणः—जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति ॥१॥

बृंहणीयगणः—क्षीरिणीराजक्षवकाश्वगन्धाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनीभद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति ॥२॥

लेखनीयगणः—मुस्तकुष्ठहरिद्रादारुहरिद्रावचातिविषाकटुरोहिणीचित्रकचिरबिल्वहैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति ॥३॥

भेदनीयगणः-सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनीशकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति ॥४॥

सान्धानीयगणः— मधुकमधुपर्णीपृश्निपर्ण्यम्बष्ठकीसमङ्गामोचरसधातकीलोध्रप्रियङ्गुकट्फलानीति दशेमानि सन्धानीयानि भवन्ति ॥५॥

दीपनीयगणः-पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लातकास्थिहिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति ॥६॥

बल्यगणः—ऐन्द्र्यृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्तापयस्याश्वगन्धास्थिरारोहिणीबलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति ॥७॥

वर्ण्यगणः—चन्दनतुङ्गपद्मकोशीरमधुकमञ्जिष्ठासारिवापयस्यासितालता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति ॥८॥

कण्ठ्यगणः—सारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पलीद्राक्षाविदारीकैटर्यहंसपादीबृहतीकण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति ॥९॥

हृद्यगणः-आम्राम्रातकलिकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति ॥१०॥

तृप्तिघ्नगणः-नागरचव्यचित्रकविडङ्गमूर्वागुडूचीवचामुस्तपिप्पलीपटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति ॥११॥

अर्शोघ्नगणः—कुटजबिल्वचित्रकनागरातिविषाभयाधन्वयासकदारुहरिद्रावचाचव्यानीति दशेमान्यर्शोघ्नानि भवन्ति ॥१२॥

कुष्ठघ्नगणः—खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडङ्गजातीप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति ॥१३॥

कण्डूघ्नगणः— चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बकुटजसर्षपमधुकदारुहरिद्रामुस्तानीति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति ॥१४॥

कृमिघ्नगणः--अक्षीवमरिचगण्डीरकेबुकविडङ्गनिर्गुण्डीकिणिहीश्वदंष्ट्रावृषपर्णिकाखुपर्णिका इति दशेमानि कृमिघ्नानि भवन्ति ॥१५॥

विषघ्नगणः–हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहासूक्ष्मैलापालिन्दीचन्दनकतकशिरीषसिन्धुवारश्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति ॥१६॥

स्तन्यजननगणः– बीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति ॥१७॥

स्तन्यशोधनगणः--पाठामहौषधसुरदारुमुस्तामूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुरोहिणीसारिवा चेति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति ॥१८॥

शुक्रजननगणः–जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्ध(क्ष) रुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति ॥१९॥

शुक्रशोधनगणः–कुष्ठैलवालुककट्फलसमुद्रफेनकदम्बनिर्यासेक्षुकाण्डेक्षिवक्षुरकवसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति ॥२०॥

स्नेहोपगगणः— मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकजीवन्तीशालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति ॥२१॥

स्वेदोपगगणः– शोभाञ्जनकैरण्डार्कबृश्चीरपुनर्नवायवतिलकुलत्थमाषबदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानिा भवन्ति ॥२२॥

वमनोपगगणः–मधुमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पासदापुष्पाप्रत्यक्पुष्पा इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति ॥२३॥

विरेचनोपगगणः–द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाभयामलकबिभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति ॥२४॥

आस्थापनोपगगणः– त्रिवृद्विल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति ॥२५॥

अनुवासनोपगगणः– रास्नासुरदारुविल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदंष्ट्राग्निमन्थश्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति ॥२६॥

शिरोविरेचनोपगणणः- ज्योतिष्मतीक्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपापामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति ॥२७॥

छर्दिनिग्रहणगणः–जम्ब्वाम्रपल्लवमातुलुङ्गाम्लबदरदाडिमयवयष्टिकोशीरमृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति ॥२८॥

तृष्णानिग्रहणगणः–नागरधन्वयवासकमुस्तपर्पटकचन्दनकिराततिक्तकगुडूचीह्रीबेरधान्यकपटोलानीति दशेमानि तृष्णानिग्रहणानि भवन्ति ॥२९॥

हिक्कानिग्रहणगणः– शटीपुष्करमूलबदरबीजकण्टकारिकाबृहतीवृक्षरुहाभयापिप्पलीदुरालभाकुलीरशृङ्ग्य इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति ॥३०॥

पुरीषसंग्रहणीयगणः– प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थिकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मापद्मकेशराणीति दशेमानि पुरीषसंग्रहणीयानि भवन्ति ।।३१।।

पुरीषविरजनीयगणः– जम्बूशल्लकीत्वक्कच्छूरामधूकशाल्मलीश्रीवेष्टकभृष्टमृत्पयस्योत्पलतिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरजनीयानि भवन्ति ।।३२।।

मूत्रसंग्रहणीयगणः–जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोडुम्वराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति ।।३३।।

मूत्रविरजनीयगणः–पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधुकप्रियङ्गुधातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति ।।३४।।

मूत्रविरेचनीयगणः-वृक्षादनीश्वदंष्ट्रावसुकवशिरपाषाणभेददर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति ।।३५।।

कासहरगणः–द्राक्षाभयामलकपिप्पलीदुरालभाशृङ्गीकण्टकारिकावृश्चीरपुनर्नवातामलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति ।।३६।।

श्वासहरगणः—- शटीपुष्करमूलाम्लवेतसैलाहिङ्ग्वगुरुसुरसातामलकीजीवन्तीचण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति ।।३७।।

श्वयथुहरगणः–पाटलाग्निमन्थश्योनाकबिल्वकाश्मर्यकण्टकारिकावृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरका इति दशेमानि श्वयथुहराणि भवन्ति ।।३८।।

ज्वरहरगण.- सारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलकबिभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति ।।३९।।

श्रमहरगणः– द्राक्षाखर्जूरप्रियालबदरदाडिमफल्गुपरुषकेक्षुयवषष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति ।।४०।।

दाहप्रशमनगणः-लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूचीह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति ।।४१।।

शीतप्रशमनगणः–तगरागुरुधान्यकशृङ्गबेरभूतीकवचाकण्टकार्यग्निमन्थश्योनाकपिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति ।।४२।।

उदर्दप्रशमनगणः–तिन्दुकप्रियालबदरखदिरकदरसप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति ।।४३।।

अङ्गमर्दप्रशमनगणः-विदारिगन्धापृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकैरण्डकाकोलीचन्दनोशीरैलामधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति ।।४४।।

शूलप्रशमनगणः– पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गबेरमरिचाजमोदाजगन्धाजाजीगण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति ।।४५।।

शोणितास्थापनगणः-मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियङ्गुशर्करालाजा इति दशेमानि शोणितास्थापनानि भवन्ति ।।४६।।

वेदनास्थापनगण –शालकट्फलकदम्बपद्मकतुम्बमोचरसशिरीषवञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति ।।४७।।

संज्ञास्थापनगण:--हिङ्गुकैटर्यारिमेदवचाचोरकबयस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति ।।४८।।

प्रजास्थापनगण:— ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथाशिवाऽरिष्टावाटचपुष्पीविष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति ।।४९।।

वय:स्थापनगण:–अमृताभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वय:स्थापनानि भवन्ति ।।५०।। (च. सू. अ. ४)

सुश्रुतोक्ताश्चतुश्चत्वारिंशद्द्रव्यगणा: (वर्गा:) ।

विदारिगन्धादिगण:- विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिबा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति ।। विदारिगन्धादिरयं गण: पित्तानिलापहा: ।। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशन: ।।१।।

आरग्वधादिगण.–आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासीकुरुण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गेष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति ।। आरग्वधादिरित्येष गण: श्लेष्मविषापह ।। मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधन: ।।२।।

सालसारादिगण:- सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गतिनिशश्चन्दनकुचन्दनशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतीकाश्वकर्णागुरूणिकालीयकं चेति ।। सालसारादिरित्येष गण: कुष्ठविनाशन: ।। मेहपाण्ड्वामयहर: कफमेदोविशोषण: ।।३।।

वरुणादिगण:– वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवशिरचित्रकशतावरीबिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयं चेति ।। वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारण: ।। विनिहन्ति शिर:शूलगुल्माभ्यन्तरविद्रधीन् ।।४।।

वीरतर्वादिगण:— वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसुकवशिरभल्लुककुरण्टिकेन्दीवरकपोतवङ्का:श्वदंष्ट्रा चेति ।। वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत् ।। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहा: ।।५।।

लोध्रादिगण:– लोध्रसावरलोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफञ्जीकट्फलैलवालुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बशाला: कदली चेति ।। एष रोध्रादिरित्युक्तो मेद: कफहरो गण: ।। योनिदोषहर: स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशन: ।।६।।

अर्कादिगणः–अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणास्तापसवृक्षश्चेति ।। अर्कादिको गणो ह्येष कफमेदोविषापहः ।। कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद्व्रणशोधनः ।।७।।

सुरसादिगणः–सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकुठेरककासमर्दक्षवकखरपुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुकर्णिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति ।। सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः ।। प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ।।८।।

मुष्ककादिगणः– मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृक्षकशिंशपावज्रवृक्षास्त्रिफला चेति ।। मुष्ककादिर्गणो ह्येष मेदोघ्नः शुक्रदोषहृत् ।। मेहार्शःपाण्डुरोगाश्मशर्करानाशनः परः ।।९।।

पिप्पल्यादिगणः- पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ।। पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः ।। निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ।।१०।।

एलादिगणः–एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति ।। एलादिको वातकफौ निहन्याद्विषमेव च ।। वर्णप्रसादनः कण्डूपिडकाकोठनाशनः ।।११।।

वचादिगणः–बचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति ।।१२।।

हरिद्रादिगणः–हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति ।। एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ । आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ ।।१३।।

श्यामादिगणः– श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लकरम्यकक्रमुकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्णक्षीरी चेति ।। उक्तः श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविषापहः ।। अनाहोदरविड्भेदी तथोदावर्तनाशनः ।।१४।।

बृहत्यादिगणः--बृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठा मधुकं चेति । पाचनीयो बृहत्यादिर्गणः पित्तानिलापह ।। कफारोचकहृद्रोगमूत्रकृच्छ्ररुजापहः ।।१५।।

पटोलादिगणः--पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी चेति ।। पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः ।। ज्वरोपशमनो व्रण्यश्छर्दिकण्डूविषापहः ।।१६।

काकोल्यादिगणः–काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकं

चेति ॥ काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः ॥ जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥१७॥

ऊषकादिगणः–ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गूनि तुत्थकं चेति ॥ ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः ॥ अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः ॥१८॥

सारिवादिगणः- सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधुकपुष्पाण्युशीरं चेति ॥ सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः ॥ पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः ॥१९॥

अञ्जनादिगणः- अञ्जनरसाञ्जननागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पलनलदनलिनकेशराणि मधुकं चेति ॥ अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिवर्हणः ॥ विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं भृषम् ॥२०॥

परुषकादिगणः— परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफलानि त्रिफला चेति । परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः ॥ मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रुचिप्रदः ॥२१॥

प्रियङ्ग्वादिगणः– प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोजपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति ॥२२॥

अम्बष्ठादिगणः–अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्गमधुकविल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति ॥ गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनो । सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणो ॥२३॥

न्यग्रोधादिगणः-- न्यग्रोधोदुम्वराश्वत्थप्लक्षमधुककपीतनकुमाम्रकोशाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयप्रियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीशल्लकीरोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति ॥ न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः ॥ रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥२४॥

गुडूच्यादिगणः–गुडूचीनिम्बकुस्तुम्वुरुचन्दनानि पद्मकं चेति ॥ एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः ॥ हृल्लासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥२५॥

उत्पलादिगणः–उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥ उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ॥ पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥२६॥

मुस्तादिगणः–मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकबिभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति ॥ एष मुस्तादिको नाम्ना गणःश्लेष्मनिषूदनः ॥ योनिदोषहरःस्तन्यशोधनःपाचनस्तथा ॥२७॥

हरीतक्यादिगणः–(त्रिफला)हरीतक्यामलकबिभीतकानीति त्रिफला ॥ त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ॥ चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥८०॥

पिप्पल्यादिगणः- (त्रिकटुकं) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणीति त्रिकटुकम् ।। त्र्यूषण कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।। निहन्याद्दीपनं गुलमपीनसाग्न्यल्पतामपि ।।२९।।

आमलक्यादिगणः–आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्रकश्चेति ।। आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।। चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ।।३०।।

त्रप्वादिगणः–त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलश्चेति ।। गणस्त्रप्वादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः ।। पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ।।३१।।

लाक्षादिगण– लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकट्फलहरिद्राद्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ।। कषायतिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।। कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः ।।३२।।

लघुपञ्चमूलम्–– पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः- तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीयः ।। कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।। वातघ्न पित्तशमनं वृंहणं बलवर्धनम् ।।३३।।

बृहत्पञ्चमूलम्–बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मरी चेतिमहत् ।। सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम् ।। मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ।।३४।।

दशमूलम्–अनयोर्दशमूलमुच्यते ।। गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।। आमस्य पाचनश्चैव सर्बज्वरविनाशनः ।।३५।।

वल्लीपञ्चमूलम्–विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः ।।

कण्टकपञ्चमूलम्–करमर्दीत्रिकण्टकसैरेयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः ।। रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ ।। सर्वं मेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ ।।३६।।

तृणपञ्चमूलम्–कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृण संज्ञकः ।। मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च ।। अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ।।३७।।

ऊर्ध्वभागहरगणः––मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपबिडङ्गपिप्पलीकरञ्जप्रपुन्नाडकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीबिम्बीवचामृगेर्बारवश्चित्रा चेत्यूर्ध्वभागहराणि । तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि ।।३८।।

अधोभागहरगणः–विबृताश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशंखिनीविषाणिकागवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नुक्सुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीकुशकाशतिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकबिभीतकनीलिनीचतुरङ्गुलैरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योतिष्मती चेत्यधोभागहराणि । तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि,तिल्वकादीनां पाटलान्तानां

त्वचः कम्पिल्लकफलरजः, पूगादिनामेरण्डान्तानां फलानि, पूतीकारग्वधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराणीति ॥३९॥

उभयतोभागहरगणः–कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतोभागहराणि । एषां स्वरसा इति ॥४०॥

शिरोविरेचनगणः– पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकरवीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवचाज्योतिष्मतीकरञ्जार्कालर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसार्जकेङ्गुदीमेषशृङ्गीमातुलुङ्गीमुरङ्गीपीलुजातीशालतालमधूकलाक्षाहिङ्गुलवणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेचनानि । तत्र करवीरपूर्णानां फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीशपूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, इङ्गुदीमेषशृङ्ग्योस्त्वचः मातुलुङ्गीमुरङ्गापीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः,हिङ्गुलाक्षे निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः, मद्यान्यासुतसंयोगाः, शकृद्रसमूत्रे मलाविति ॥४१॥

वातसंशमनगणः–भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलातिबलार्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिर्द्वे चाद्ये पञ्चमूल्याविति समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥४२॥

पित्तसंशमनगण।–चन्दनकुचन्दनह्रीबेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द(द)लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिःसारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ॥४३॥

श्लेष्मसंशमनगणः–कालेयकागरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनाकाकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिर्बृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः ॥४४॥

(सु. सू. अ. ३८, ३९)

Vaidyaraj Zandu Bhatji
National Ayurvedic Library
Punjabi Bagh, New Delhi-26
Call No.........................
Book No.
Acc. No. 000049

पारद-संस्कार पर आधारित अत्युत्तम ग्रन्थ :—

पारद विज्ञानीयम्

(द्वितीय संस्करण)

—: लेखक :—

श्री वासुदेव मूलशंकरजी द्विवेदी
भूतपूर्व डायरेक्टर आफ आयुर्वेद-सौराष्ट्र, गुजरात।
सीनियर प्रोफेसर-रस शास्त्र व भैषज्य कल्पना, जामनगर।

विद्वान लेखक ने अपने लम्बे अनुभव के आधार पर पारद के अष्ट संस्कारों का संपादन करते हुए उनके परिणामों को इस ग्रन्थ में लेखबद्ध किया है। आयुर्वेद मर्मज्ञ वैद्यराज **पं. रामनारायणजी शर्मा** के व्यक्तिगत निरीक्षण में यह कार्य सम्पादित हुआ तथा लोकोपकार हेतु इतना बड़ा वहुमूल्य ग्रन्थ अत्यल्प मूल्य में प्रकाशित कराया। ग्रन्थ में पारद के संस्कारों का प्रात्यक्षिक विवरण दो बड़े-बड़े चार्टों द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राध्यापकों एवं छात्रों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है।

पृष्ठ संख्या ३७२, मूल्य १२.००

— प्रकाशक —

श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर
दतिया (म. प्र.)

रस-शास्त्र साहित्य का बेजोड़ ग्रन्थ :--

भारतीय रसशास्त्र

(प्रथम संस्करण)

– लेखक –

आचार्य श्री विश्वनाथजी द्विवेदी

विभागाध्यक्ष-आयुर्वेद संस्कृत विश्व विद्यालय, काशी ।

रस-शास्त्र एक क्रियात्मक प्रयोगशील विषय है । रस शास्त्र के सभी साहित्य एकत्र करके प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहीत किया गया है । भारतीय रस-शास्त्र का स्वरूप उत्पादन करने में अनेकानेक रस-साहित्य का विवरण जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं थे, उनका समावेश है । रस-शास्त्र के ऐतिहासिक व क्रियात्मक विवरण सहित इस अभिनव 'भारतीय-रसशास्त्र' से छात्रों व अध्यापकों दोनों को लाभ होगा साथ-साथ अन्वेषणशील व्यक्तियों के लिए भी इसके द्वारा आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त होगा । पुस्तक के कलेवर की वृद्धि का ध्यान न रखकर छात्रों के लिए जितना चाहिए उतना ही रखने का प्रयास किया गया है ।

पृ० संख्या ५९२, मूल्य १८.००

– प्रकाशक –

श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर

दतिया (म. प्र.)

आयुर्वेद जगत के लिये अमूल्य देन :

पारदविज्ञानीयम्

(द्वितीय संस्करण)

ले० – **श्री वासुदेव मूलशंकरजी द्विवेदी**

विद्वान् लेखक **श्री वासुदेव मूलशंकरजी द्विवेदी** द्वारा लिखित पारद संस्कार पर आधारित रसशास्त्र का यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। पारद के अष्ट संस्कारों का संपादन करके लेखक ने उनके परिणामों को इस ग्रन्थ में लेखबद्ध किया है। ग्रन्थ में पारद के संस्कारों का प्रात्यक्षिक विवरण दो बड़े-बड़े चार्टों द्वारा स्पष्ट किया गया है। आयुर्वेद के प्राध्यापकों एवं छात्रों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है।

पृष्ठ संख्या ३५५ : मूल्य १८) रुपये

भारतीय रसशास्त्र

(द्वितीय संस्करण)

ले० – **आचार्य श्री विश्वनाथजी द्विवेदी**

आयुर्वेद संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी के विभागाध्यक्ष **आचार्य श्री विश्वनाथजी द्विवेदी** द्वारा लिखित रसशास्त्र साहित्य का यह बेजोड़ ग्रन्थ है। विद्वान् लेखक ने रसशास्त्र के सभी साहित्य को एकत्र करके प्रस्तुत ग्रन्थ में संगृहीत किया है। रसशास्त्र के ऐतिहासिक व क्रियात्मक विवरण से सम्बद्ध यह अभिनव ग्रन्थ छात्रों, प्राध्यापकों व अन्वेषणकर्ताओं के लिए बहुत ही उपयोगी है।

पृष्ठ संख्या ५९२ : मूल्य २४) रुपये

प्रकाशक :

श्री शर्मा आयुर्वेद मन्दिर, दतिया (म० प्र०)